प्रकाशक
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना-४

प्रथम संस्करण, वैशाख, १८७९ शकाब्द
विक्रमाब्द २०१४, खीष्टाब्द १९५७

अजिल्द छह रुपये पचास नये पैसे   सजिल्द सात रुपये पचास नये पैसे

मुद्रक
युगान्तर प्रेस
पटना-४

वक्तव्य

'अध्यात्मयोग और चित्त-विकसन'-नामक यह ग्रन्थ, पूज्य राष्ट्रपति देशरत्न डॉक्टर राजेन्द्रप्रसादजी ने, परिषद् से प्रकाशित करने के लिए, भेजा था। परिषद् के संचालक-मण्डल ने नियमानुसार दो विशेषज्ञों—पटना-विश्वविद्यालय के दर्शन-शास्त्र विभाग और मनोविज्ञान विभाग के प्रोफेसर पण्डित हरिमोहन झा और कुमार दुर्गानन्द सिंह—से इसको जँचवाकर प्रकाशनार्थ स्वीकृत किया। तत्पश्चात् संचालक-मण्डल के ही आदेशानुसार गया कॉलेज के मनोविज्ञान विभाग के प्रोफेसर और हिन्दी-त्रैमासिक 'दार्शनिक' के अन्यतम सम्पादक श्री अर्जुन चौबे काश्यप से इसका संशोधन सम्पादन कराया गया। उन्होंने लेखक की मौलिकता की सुरक्षा पर ध्यान रखा।

दक्षिण-भारत के एक स्वर्गीय हिन्दी-लेखक इस ग्रन्थ के निर्माता हैं। एक तो यह ग्रन्थ पूज्य राष्ट्रपतिजी द्वारा प्राप्त हुआ था दूसरे यह एक आन्ध्र-राज्य-निवासी और राष्ट्रभाषानुरागी युवक द्वारा एक गहन विषय पर सफलतापूर्वक लिखा गया था, इसलिए परिषद् ने इसका विधिवत् निरीक्षण-परीक्षण और सम्पादन कराने के बाद प्रकाशन किया।

यद्यपि इस ग्रन्थ के प्रकाशन में कुछ अधिक समय लग गया, तथापि हमें हर्ष और सन्तोष है कि स्व० ग्रन्थकार के वयोवृद्ध पिता और उनकी विधवा के जीवन-काल में ही यह प्रकाशित हो गया। ग्रन्थकर्ता के अत्यन्त वृद्ध पिता इसको प्रकाशित देखने के लिए बहुत उत्सुक और व्यग्र थे। वे नाममात्र हिन्दी जानते हैं, पर लेखक की विधवा हिन्दी लिखने-पढ़ने में कुछ अभ्यस्त हैं और उन्हीं के द्वारा परिषद् से इस विषय में बराबर पत्र-व्यवहार होता रहा। परिषद् की फाइल में सुरक्षित वृद्ध पिता के अँगरेजी पत्र और उक्त विधवा देवी के हिन्दी-पत्र अत्यन्त कारुणिक हैं। हम नहीं कह सकते कि प्रस्तुत ग्रन्थ को हस्तगत करके उन दोनों के हृदय में कैसी करुणा उद्वेलित होगी, यह तो सहृदयजनों के लिए ही अनुभूति का विषय है।

लेखक-परिचय[1]

लेखक का शुभ जन्म आन्ध्र-राज्य के 'निलोर' जिले के 'कवाली' तालुक में, एक विद्या-वैभव-सम्पन्न ब्राह्मण-परिवार में, सन् १९ ६ ई० में, हुआ था। यह परिवार अपनी सदाचारिता उदारता और धर्मपरायणता के लिए प्रसिद्ध है। लेखक के पिता, पितामह और प्रपितामह नामी वकील थे। सन् १९२१ ई० में, महात्मा गाँधी के असहयोग-आन्दोलन में पिता ने अर्थकरी वकालत छोड़ दी। लेखक ने भी हाई स्कूल की अन्तिम परीक्षा से चार मास पूर्व ही पढ़ाई छोड़कर आयुर्वेद तथा संस्कृत-साहित्य का अध्ययन आरम्भ किया और दो वर्षों में ही 'आयुर्वेद-विद्वान्' की परीक्षा में सफलता प्राप्त की। किन्तु, क्रान्तिकारी विचार रखने के कारण चिकित्सकों की धनलोलुपता देखकर चिकित्सक होना पसन्द नहीं किया।

१—लेखक के पिता से प्राप्त सामग्री के आधार पर संक्षिप्त निर्मित।

उसी समय नवयुवक लेखक राष्ट्रभाषा हिन्दी की ओर आकृष्ट हुए। आप इतने उत्साह से उसके साहित्य के अध्ययन में तत्पर हुए कि दो ही वर्षों में हिन्दी के अच्छे वक्ता और लेखक हो गये। सन् १९२५ ई० में आप काशी-विद्यापीठ में पढ़ने चले आये। वहाँ डॉ० भगवान दास, आचार्य नरेन्द्रदेव, श्री सम्पूर्णानन्दजी और श्रीयुत श्रीप्रकाशजी के स्नेहपात्र छात्र रहकर चार वर्षों तक बड़े मनोयोग से विद्याध्ययन किया। विद्यापीठ में आप योगेश बाबू—वर्तमान स्वामी प्रज्ञानपादजी, राँची—के भी स्नेहभाजन थे। उनमें आपकी असीम श्रद्धा-भक्ति थी। वे भी आपकी कुशाग्र बुद्धि, सुशीलता और स्वाध्याय की लगन देखकर बहुत संतुष्ट रहते थे। आप श्री गोपाल शास्त्री दर्शन केसरी से संस्कृत-साहित्य तथा दर्शन-शास्त्र पढ़ा करते थे। किन्तु आप केवल विद्या-व्यसनी ही नहीं थे, कई कलाओं में भी दक्ष थे। हरद्वार में हुई अखिलभारतीय चर्खा प्रतियोगिता में आप सर्वप्रथम हुए थे। गुरुकुल विश्वविद्यालय (काँगड़ी) की हिन्दी-वाद-विवाद प्रतियोगिता में आपने एक पदक तो प्राप्त किया ही, अपने विद्यापीठ के लिए एक ट्रॉफी भी जीती।

सन् १९२९ ई० में आप काशी-विद्यापीठ से दर्शनशास्त्री हुए। उसी साल सितम्बर में इस ग्रन्थ को पूरा तैयार कर लिया। इसमें आपको अपने गुरु योगेश बाबू से पर्याप्त प्रोत्साहन और पथ प्रदर्शन प्राप्त हुआ। इसके अन्तिम अध्याय में योगेश बाबू से आपको यथेष्ट सहायता लेनी पड़ी। ग्रन्थ समाप्ति के पश्चात् आन्ध्र लौटकर आपने सैकड़ों व्यक्तियों को हिन्दी की निःशुल्क शिक्षा दी। आप ऐसे सरल अध्यापक थे कि विद्यार्थी दिन-रात आपके घर रहते थे। आपकी प्रसन्न मुद्रा और सरल प्रकृति से विद्यार्थी अनायास आकृष्ट हो जाते थे। जिन छात्रों से आपका सम्पर्क होता था उनमें देश-भक्ति, हिन्दी सेवा, खद्दर प्रेम और राष्ट्रीय शिक्षा के महत्त्व की भावना सदा जगाया करते थे। समाज सुधारक के रूप में आप एक सजीव संस्था थे। घर पर आपके चारों ओर जिज्ञासुओं की भीड़ लगी रहती थी। वाद-विवाद में अपने प्रतिद्वन्द्वियों के लिए आप एक आतंक थे किन्तु उसमें कभी आप अशिष्टता या असभ्यता नहीं दिखाते थे। जो कुछ आप दूसरों को उपदेश करते थे उसी के अनुसार स्वयं आचरण भी करते थे।

इस ग्रन्थ के अतिरिक्त आपने दक्षिण भारत के विश्व-विख्यात सन्त महर्षि रमण की जीवनी भी हिन्दी में लिखी है। आपने पाल ब्रंटन की अँगरेजी पुस्तक 'सर्च इनटु सिक्रेट इण्डिया' (Search into Secret India) का सुन्दर हिन्दी-अनुवाद भी किया है। उक्त दोनों पुस्तकें रमणाश्रम (तिरुवण्णामलै, मद्रास) से प्राप्त हो सकती हैं। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा (मद्रास) के तत्त्वावधान में आपने 'हिन्दी-तेलुगु शब्दकोष' तैयार किया। 'बोधि चर्या' का और डॉ० सम्पूर्णानन्द के समाजवाद-विषयक हिन्दी-निबन्धों का तेलुगु में जो अनुवाद किया था वह अभी तक अप्रकाशित है।

सन् १९३२ ई० के सविनय अवज्ञा आन्दोलन में सत्याग्रही होने और सार्वजनिक स्थान में विदेशी वस्त्रों को जलाने के कारण आपको एक वर्ष का सख्त कारावास का दण्ड मिला था। उधर साथ पाँच सौ रुपये का अर्थ दण्ड भी था। परन्तु, गोरी सरकार आपसे कुछ वसूल न कर सकी। आपके वृद्ध पिता चार बार और वृद्धा माता

तथा छोटे भाई दो-दो बार कृष्ण-जन्म-स्थली की यात्रा कर आये हैं। स्वतन्त्रता-संग्राम में आपका सारा परिवार बलिदानी वीर बना रहा।

कारा-मुक्त होने पर आप कुछ दिन गण्टूर जिले में स्वामी सीताराम के विनयाश्रम में जन-सेवा-कार्य करते रहे। तदुपरान्त आन्ध्र-विश्वविद्यालय में 'हिन्दी-पण्डित' के पद पर नियुक्त हुए। विश्वविद्यालय में अपनी अद्भुत मेधाशक्ति के प्रभाव से स्नातकों को ऐसा आकृष्ट किया कि वे आपके अनुगत हो गये। उनको आप दर्शन, इतिहास राजनीति, अर्थशास्त्र हिन्दी, तेलुगु, संस्कृत अँगरेजी आदि विषयों पर वाद विवाद करने के लिए तैयार करते थे। आपके चरित्र-बल से स्नातक इतने प्रभावित थे कि उन्होंने सन् १९४२ ई० में आपके आकस्मिक निधन के पश्चात् पर्याप्त धन-संग्रह करके विश्वविद्यालय की ओर से आपके नाम पर हिन्दी के सर्वोत्तम छात्र को प्रति वर्ष एक पुरस्कार देने का नियम कराया तथा आपके शोकाकुल बच्चों के लिए पाँच सौ रुपये भेजकर गुरु-भक्ति का आदर्श उपस्थित किया।

आपके शोक में जो सभा विश्वविद्यालय में हुई, उसमें वक्ताओं ने आपको विश्वविद्यालय का सर्वश्रेष्ठ आदर्श अध्यापक' कहकर श्रद्धाञ्जलि अर्पित की। स्थानीय पत्रों ने भी लिखा था कि 'आन्ध्र के आकाश का एक दीप्त नक्षत्र अस्त हो गया। आपने अनेक विषयों पर ऐसी टिप्पणियाँ लिख छोड़ी हैं, जो कई स्वतन्त्र पुस्तकों के रूप में विकसित की जा सकती हैं और उनमें हिन्दी का पारिभाषिक कोश तैयार करने योग्य प्रचुर सामग्री भी है।

लेखक के पिता[1] के उद्गार[2] का सारांश

"जिस भाषा में यह मनोवैज्ञानिक पुस्तक लिखी गई है उसका मुझे अत्यल्प ज्ञान है किन्तु जो उसके मर्मज्ञ हैं उनका कथन है कि यह महान् ज्ञान का उद्घाटन करती है और गवेषणापूर्ण तथा मौलिक चिन्तन से संवलित है। इसका प्रणयन सन् १९२७ और १९२९ ई० के मध्य हुआ था। उस समय इसके लेखक की अवस्था तईस वर्ष की थी। इसकी रचना की प्रेरणा भी योगेश बाबू से मिली थी और उन्होंने ही अन्त तक मार्ग-प्रदर्शन किया था। यद्यपि यह पुस्तक पचीस वर्ष पूर्व लिखी गई थी, तथापि इसमें वर्णित अध्यात्म विषय चिरनवीन और शाश्वत है।

"इतने अधिक विलम्ब से भी इस पुस्तक का प्रकाशन हो सका यह डा० राजेन्द्रप्रसाद की कृपा का फल है। उन्होंने मेरी अपील सहानुभूतिपूर्वक सुन ली और इसे प्रकाशित करने के लिए बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से सिफारिश कर दी। अतः मैं उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। मैं बिहार श्री वियोगीहरि का भी आभार मानता हूँ जिन्होंने इसपर अपनी सम्मति[3] देने की कृपा की, जिससे प्रमाणित

१—Voruganto Venkata Subbaiya.

२—यह उद्गार के गुरु पिता ने लेखक की विस्तृत जीवनी और ग्रन्थ का महत्त्व अँगरेजी में लिखकर भेजा था। उसी का संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद यहाँ दिया गया है।

३—इसी ग्रन्थ में अन्यत्र प्रकाशित।

होकर राजेन्द्र बाबू ने इसमें दिलचस्पी लेने की कृपा की। मैं अपने पुराने मित्र श्री डी॰ दयिता (मन्त्री, अखिलभारतीय आदिमजाति-सेवा-संघ दिल्ली) का भी बड़ा उपकार मानता हूँ जिन्होंने श्री वियोगीहरि के पास इसकी पाण्डुलिपि ले जाकर दिखलाई और उनकी सम्मति के साथ इसे राजेन्द्र बाबू की सेवा में विचारार्थ उपस्थित किया। मैं बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद् का भी बहुत धन्यवाद करता हूँ, जिसने इसका सम्पादन कराके इसे शीघ्र छपवाया।

मेरे पुत्र वेंकटेश्वर शर्मा के मरे चौदह वर्ष हो गये। उठती जवानी में ही वे चल बसे। किन्तु, उनकी आत्मा यह देखकर प्रसन्न होगी कि उनका परिश्रम व्यर्थ नहीं हुआ, बल्कि विद्यानुरागी परिवारों में उसका आदर हो रहा है।

"यह पुस्तक राँची के स्वामी भवानन्दजी को श्रद्धा-भक्तिपूर्वक समर्पित है जो पहले योगेन्द्र बाबू के नाम से परिचित थे और जो काशी विद्यापीठ में ग्रन्थकार के गुरु थे तथा जिनके अविरल स्नेह एवं अनवरत प्रोत्साहन से लेखक को इस पुस्तक के लिखने की प्रेरणा मिली और जिन्होंने इसे सम्पूर्ण करने में भी बड़ी सहायता दी।"

नेल्लोर (मद्रास)
१४-९-५६ ई॰

भरूजटे वेंकट सुब्बय्या

लेखक के पिता ने भारतरत्न डॉ॰ भगवानदास जी और आचार्य नरेन्द्रदेव जी से ग्रन्थकार को प्राप्त हुए दो प्रशंसापत्र भी भेजे हैं और उनकी इच्छा है कि पुस्तक में वे भी छपें। अतः उन दोनों की अविकल प्रतिलिपि अन्यत्र प्रकाशित है।

स्वर्गीय श्रीभगवानदासजी ने इस ग्रन्थ पर अपनी सम्मति देते हुए लिखा है कि भारतीय भाषाओं म ऐसा कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं देखने में आया है। आशा है कि हिन्दी-पाठकों को भी यह दार्शनिक ग्रन्थ रुचिपूर्ण और ज्ञानवर्द्धक प्रतीत होगा।

श्री रामनवमी, शकाब्द १८७९
दि॰ ता॰ ८।४ सन् १९५७ ई॰

शिवपूजन सहाय
(संचालक)

ग्रन्थकार—स्वर्गीय श्री वेंकटेश्वर शर्मा
(आन्ध्र-राज्य निवासी)

लेखक को प्राप्त डा० भगवानदास के प्रशंसा-पत्र की अविकल प्रतिलिपि

Shri O Venkateshwara studied in the Kashi Vidyapith of Banaras for some time. As President and Principal of that institution, I had occasion to see his work. He has acquired very great proficiency in the Hindi language. At a debate in Hindi in the Gurukula Mahavidyalaya (of Kangri) he won a medal for himself once and also a trophy for the Kashi Vidyapith.

He had compiled, in Hindi, a work on Psycho-analysis based on some standard works on the subject in English I have seen portions of it and found it very promising If a teacher of Hindi be needed by any institution in the Andhra country it would be difficult to find one better qualified for the work than Shri Oruganti Venkateshwara

I have seen in part the book Adhyatma Yoga and am very greatly pleased with it I think there is no such book in any of the Indian languages.

3, Canning Lane
New Delhi
12 193.

Sd /- (Dr) Bhagwan Das.
(President Kashi Vidyapith.)
BANARAS

लेखक को प्राप्त आचार्य नरेन्द्रदेव के प्रशंसा-पत्र की अविकल प्रतिलिपि

Shri Venkateshwar Sharma passed the Shastri Examination of the Kashi Vidyapith in the year 19*0 with English Hindi and Philosophy (both Eastern and Western) as his optional subjects and was placed in the First Division

He has a fair Knowledge of Hindi He has passed the Visharad Examination of the Hindi Sahitya Sammelan and has also worked as a Hindi teacher in Guntur His stay in Banaras for more than four years has been of special benefit to him in this subject He has not only come in living contact with the language but has also had an opportunity of meeting some of the best writers of Hindi. His character is exemplary

Shri Kashi Vidyapith
Banaras
1 1935

Sd /- Narendra Dev
Principal,
Kashi Vidyapith

विषय-सूची

अध्यात्मयोग और चित्त-विकलन

विषय प्रवेश

संसार में किसी को सदा तृप्ति नहीं मिलती। आशा निराशा तृप्ति अतृप्ति, सुख दुःख आदि सभी को होते हैं। यद्यपि जीवन-संग्राम में मनुष्य निराशा अतृप्ति और दुःख को मूल से उखाड़ फेंकना चाहता है, पर वे पुनः पुनः उसे आ घेरते हैं। जितने वेग से वह उनको हटा देना चाहता है उतने ही वेग से वे आकर उससे लिपट जाते हैं। इस कारण मनुष्य प्रायः हमेशा ही व्यस्त रहता है और चाहता है कि उसे कोई ऐसा आलम्बन या आधार मिले जिससे वह संतुष्ट हो जाय। वह ऐसे आधार की खोज में निकल पड़ता है जो शाश्वत सुख देनेवाला हो जो सदा एक-सा रहता हो, जो पूर्ण हो और हो जो नित्य। वह उस आलम्बन के लिए सारे विश्व को खोज डालता है। इस खोज में उसकी इन्द्रियाँ उसे बहुधा धोखा देती हैं क्योंकि वे स्वभाव से बाह्य दर्शिनी होती हैं। उपनिषद् का कहना है—स्वयंभू ने इन्द्रियों को बाह्योन्मुख उत्पन्न किया। अतः व्यक्ति बाह्य को ही देखता है।[1] वह अन्तरात्मा को नहीं देखता। यह बात ठीक ही है। मनुष्य जन्म से ही बाह्य वस्तुओं को अर्थात् विषयों को देखता है। अतः वह समझने लगता है कि इन्हीं विषयों से उसे तृप्ति मिलेगी। वह इन्हीं विषयों में अपनी तृप्ति का आलम्बन पाना चाहता है। वह देखता है कि अपना सुख वह स्वयं नहीं पा सकता। संसार में अनेक विषम परिस्थितियाँ उसे दिखाई पड़ती हैं। उन्हें जीते बिना उसे शान्ति या सुख की तनिक भी आशा नहीं मालूम होती। उन परिस्थितियों में वह केवल अपने ही बल पर विश्वास नहीं करता अपितु उसे अपने ही सदृश विचारोंवाले अन्य लोगों की सहायता की अपेक्षा होती है। अतः समान उद्देश्यवाले समान विचारोंवाले व्यक्तियों के इस समवाय से एक समाज की स्थापना होती है।

व्यक्ति देखता है कि समाज में रहने से उसे अनेक सुविधाएँ हैं। किन्तु साथ ही समाज के लिए उसे अपने कतिपय स्वार्थों की तिलांजलि भी देनी पड़ती है, यद्यपि वे स्वार्थ साधारण स्वार्थ ही होते हैं। फिर भी साधारणतया दुःख की अपेक्षा सुख की मात्रा अधिक मिलती है। अतः समाज की संगठित धारा से भागकर अलग होने के लिए वह अपनी राह नहीं ढूँढ़ पाता। वह समाज को सर्वोपरि मानने लगता है और समझने लगता है कि समाज के सुख में ही उसका सुख है तथा समाज की आकांक्षाओं के लिए उसका अस्तित्व है। वह जानता है कि समाज उसकी रक्षा करेगा। अतः वह अपना

---

[1]—पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कठोपनिषद् ४।१

है कि यदि समाज के लिए उसे प्राण भी देने पड़ें तो भी उसे हिचकना नहीं चाहिए। ऐसी स्थिति में समाज के नियम उसे अटल और शाश्वत प्रतीत होते हैं। उसे लगता है कि समाज की सुस्थिति सर्वोपरि है। अतः समाज की उन्नति उसके लिए अन्तिम लक्ष्य है और उसके नियमों का पूर्णतया प्रतिपालन उसका परम कर्तव्य है। ऐसी स्थिति में जीवन के अन्य उच्चतर ध्येयों को वह समाज के लिए ही, उसके विकास एवं संस्थिति के लिए ही महत्त्व देता है और उनकी प्राप्ति के लिए सतत सचेष्ट रहता है। किन्तु इस प्रकार का जीवन लक्ष्य एक आदर्शमात्र है, उसका अनुसरण करना कठिन है। इसी आधार पर यह कहता है— आदर्श प्राप्त करना सम्भव नहीं है, इसके आसपास ही पहुँचा जा सकता है।[1] इस प्रकार व्यक्ति समाज के नियम तथा समाज के विधाता एवं सम्बन्धी लोगों के प्रति विशेष जागरूक रहता है।

बहुधा यह देखने में आता है कि व्यक्ति अपने ही समाज को अन्य समाजों से श्रेष्ठ मानता है, अपने ही समाज के नियमों को वह दैवी समझता है। व्यक्ति दूसरे समाजों पर अपने समाज की धाक जमाना चाहता है। इस कारण वह जिस सुख की खोज में आगे बढ़ता है उसे ही भूल जाता है। उसके स्थान पर वह यह मान बैठता है कि समाज जैसे एक कल्पित ध्येय के लिए ही अस्तित्व रखता है। वह चेष्टा करता है कि दूसरे लोग भी समाज का सिक्का मानें। इस विचारधारा में पड़कर मानव-समाज के अनेक उत्साही व्यक्तियों ने साम्राज्यों की स्थापना की। यही भावना 'ब्रिटेन राज्य करे, उसकी (उसके सिंधु की) लहरें राज्य करें' 'पितृ-भूमि' एवं 'मातृ भूमि'[2] आदि उद्घोषणों का रूप धारण कर विकसित हुई। समाज के सुख साधन में ही उसका सुख है। ऐसा समझकर वह समाज के भीतर रहना पसन्द करता है। अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता को भी तिलांजलि देकर वह सीमाबद्ध होता है और अपनी सारी शक्तियाँ समाज की उन्नति के लिए लगाता है। फलतः समाज में उपकरणों की भरमार हो जाती है, सम्पत्ति बढ़ती है और सुख सामग्री से दुनिया भर जाती है। उसकी इन्द्रियानुभूतियाँ जिन जिन वस्तुओं तक पहुँच पाती हैं उनकी उन्नति में वह लग जाता है—पृथ्वी, समुद्र, आकाश सभी पर उसका आतंक छा जाता है। प्रकृति उसे प्रत्येक स्थल पर आह्वान करती सी प्रतीत होती है। उसके आह्वान को स्वीकार कर वह उसे मनुष्य के वश में करता है। इस प्रकार व्यक्ति विषय सुख या भौतिक सुख की प्राप्ति के लिए प्रकृति की सारी शक्तियों को अपनी प्रजा की शृंखला में बाँध लेना चाहता है। वह प्रकृति के अनुकूल अपने को परिवर्तित नहीं करता वरन् अपनी इच्छा के अनुकूल प्रकृति को मोड़ देना चाहता है।

इस प्रकार की विचारधारा के अनुयायी पश्चिम के रहनेवाले हैं। वे प्रवृत्ति के मूर्तिमान अवतार हैं। बाह्य विषय उनके लिए प्रधान हैं। भुक्ति उनके लिए साधन और साध्य दोनों है। इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए वे प्रयत्न करते हैं। वे

१—The weal is only pproximately pproachable.

२—Rule Britania, rule the waves' Fatherland Motherland.

समझा है कि बिना युक्ति के प्रयोग के प्रकृति वश में नहीं की जा सकती। अतः वे भौतिक विकास पर भी ध्यान देते हैं। किन्तु उनके लिए विशेषतः बाह्यजगत् ही, विषय ही तथा समाज ही प्रधान है। उनकी दृष्टि में मानसिक शक्तियाँ गौण हैं। उन्हें इनकी आवश्यकता वहीं तक प्रतीत होती है जहाँ तक प्राकृतिक शक्तियों को वश में करने में उनसे सहायता मिले। फलतः मानसिक शक्ति की विशेष उन्नति नहीं होती। भौतिक उन्नति तो पराकाष्ठा को पहुँच जाती है, लेकिन मानसिक उन्नति प्रायः प्राथमिक अवस्था में ही रह जाती है। अतः सुख के सभी साधनों एवं उपकरणों के उपस्थित रहते हुए भी मनुष्य की तृप्ति नहीं होती। उपकरण और भौतिक विज्ञान बढ़कर एक दूसरे के विध्वंस में व्यक्तियों की सहायता करते हैं। अतः अतृप्त व्यक्ति सोचने लगता है कि उसे समाज में वांछित सुख नहीं मिल सकता; कोई बाह्य विषय उसे अभिलषित परम सुख या शान्ति की प्राप्ति नहीं करा सकता। तीनों कालों में एक ही प्रकार की शान्ति प्रदान करनेवाली कोई वस्तु उसे दिखाई नहीं देती। वह सब-कुछ अध्ययन करता है और अन्त में हार मानकर बैठ जाता है। जैसे फौस्ट ने कहा है—

कठिन परिश्रम करके मैंने
किया अध्ययन गहरा
दर्शन वैद्यक न्याय धर्म का।
किन्तु खड़ा हूँ आज किए मैं
विफल प्रयासों और परिश्रम
बदले मूढ़ ही।
जाना केवल यही सत्य है
नहीं जान सकते हम कुछ'।[1]

भौतिक विज्ञान ने बहुत उन्नति की है परन्तु व्यक्ति की तृषा अब भी नहीं बुझी। भौतिक विज्ञान के समर्थक पाश्चात्य विद्वानों के विचार डाँवाडोल हो रहे हैं। वे कहाँ जा रहे हैं, उन्हें नहीं ज्ञात है। उनका कहना है 'हम अपने आविष्कारानुसार प्रतिमा एवं विज्ञान का गर्व करते हुए भी अपने को स्वभावरूप एवं उसकी प्रगतियों में मौलिक रूप से अनभिज्ञ हैं। हम कहाँ जा रहे हैं नहीं जानते और न हमें यही ज्ञात

1—I have alas! Philosophy
Medicine Jurisprudence too
And to my cost Theology
With ardent labour studied though
And here I stand with all my lore
Poor fool no wiser than before
.... and learn
That we in truth can nothi[ng] know

Faust Part I

है कि हम अपने अनुकूल मार्ग पर हैं। यदि भविष्य में कोई वांछनीय लक्ष्य है भी, तो कदाचित् हम उससे बहुत दूर जा पड़े हैं।[1]

'यह आश्चर्य किन्तु सत्य है कि प्रतिवर्ष मानव मन प्रकृति की शक्तियों पर विभुता स्थापित करता जा रहा है किन्तु उसे अपने पर ही संयम नहीं है और वह ज्यों-का त्यों अबौद्धिक एवं असभ्य पड़ा हुआ है।'[2]

'हम सब अन्धे
जब तक हम यह समझ न पायें
कोई भी निर्माण न सार्थक
यदि इस मानव-अभियोजन से
मानव का निर्माण न होता।'[3]

इस प्रकार पाश्चात्य विद्वानों को विदित हो रहा है कि मानव नियमों में सुख-शान्ति नहीं पा सकता। सभी बाह्य उपकरणों के मिलने पर भी मनुष्य का अन्तरङ्ग जीवन नहीं बदलता। वह 'मानव' नहीं बन सकता। अतः पाश्चात्य विद्वान् अब अपनी दृष्टि बाह्य जगत् से हटा रहे हैं और मानव मनोवैज्ञानिक साधनों के लिए अन्यत्र खोज कर रहे हैं। उनकी दृष्टि बाह्य रूप को छोड़कर क्रमशः अपनी ओर लौट पड़ती है और अन्त में अपनेमें आकर ठहर जाती है।

अपनेको प्रत्येक व्यक्ति 'मैं' कहता है। उसी 'मैं' को वह अपने आलम्बन समझने लगता है। बाह्य जगत् के सभी पदार्थ बदलते हैं। किन्तु 'मैं' का जो बोध होता है वह नहीं बदलता। मैं हूँ या नहीं हूँ?[4] यह सन्देह किसी को नहीं होता

१—With all our boasted ingenuity and science we are almost fundamentally ignorant of the character of our civilization and its tends. We do not know where we are going, neither do we know that we are on our way. If there is desirable goal somewhere in the future we may be far out of our way.—*Wilson D. Wallis, Scientific Monthly May 1929, p. 454.*

२—It is strange that but true that year by year the human mind tends towards omnipotence over the forces of nature remaining an irrational primitively in the lack of command over himself.—*Scientific Monthly April 1929.*

३—We are all blind until we see
That, in the human plan
Nothing is worth the making, if
It does not make the man

—*Edwin Markham, Scientific Monthly June, 1929.*

४—सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति न नाहमस्मीति। शांकरभाष्य।

डेकार्ट (Descartes) ने कहा 'Cogito ergo sum' (मैं सोचता हूँ, अतः मैं हूँ।) यह उचित नहीं है, क्योंकि बिना 'मैं' के अस्तित्व के वह सोच भी नहीं सकता। Sum ergo cogitb (मैं हूँ अतः सोचता हूँ) अधिक उपयुक्त होगा।

क्योंकि सन्देह करनेवाली चेतन-शक्ति भी तो 'मैं' ही है। 'मैं' कहने से प्रायः देह विशिष्ट चैतन्य लिया जाता है क्योंकि 'मैं' कहते ही व्यक्ति को 'अमुक का पुत्र मैं' 'अमुक नामधारी मैं' इसी प्रकार का अनुभव होता है। व्यवहार में चैतन्य और शरीर का भेद नहीं दिखाई देता। चेतन और जड़ के बीच के तादात्म्य पर व्यवहार अवलम्बित है। इसी व्यवहार में मनुष्य को सुख-दुःख, तृप्ति अतृप्ति आदि का अनुभव होता है। सुख और दुःख वेदनाएँ हैं। बाह्य प्रपञ्चगत विषयों के सम्पर्क से व्यक्ति को सुख-दुःख का बोध होता है। विषय बाह्य प्रपञ्च में है। उनसे होनेवाली वेदनाएँ तथा भाव व्यक्ति के अन्दर होते हैं। इससे पता चलता है कि अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों को जाननेवाला कुछ है और वह दोनों के मध्यदेश में है। इस मध्यवर्ती 'कुछ' को मन कहते हैं। इसी दृष्टि से 'मनु' का यह कथन है :—

'उद्बबर्हात्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम्।'[१]

फिर आत्मा से सत् और असत् भावमय, दृश्य अदृश्य स्वरूप, चेतन-जड़-स्वभाववाले मन को प्रकट किया।

मन मध्यवर्ती है। अपने स्थान के बल से वह दो राज्यों का प्रभु है। उसकी शक्ति से दो प्रान्त रक्षित होते रहते हैं। यदि हम मन को वश में कर लें तो दोनों अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग हमारे वशीभूत हो जायँगे क्योंकि जितने संवेद्य हैं, उन मन से ही संवेदना पाते हैं। अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों संवेद्य हैं। मन इन दोनों के लिए कीलक स्वरूप है। अतएव संसार के सभी विद्वानों ने मन की प्रधानता स्वीकार कर ली है।

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।'

मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का कारण मन ही है।

'जीवश्चित्तपरिस्पन्दः पुंसां चित्तं स एव च।'

जीव चित्त का परिस्पन्द है और पुरुष का चित्त जैसा है पुरुष वैसा ही है। मन को छोड़कर और कुछ नहीं है। हम मन के अभिव्यक्त रूप हैं। शरीर केवल नश्वर विश्वासमात्र है। जैसे विचार होते हैं मनुष्य वैसा ही होता है।[२]

'जाकी रही भावना जैसी हरि मूरति देखी तिन तैसी'—ऐसे अनेक वाक्य मिलते हैं जिनसे स्पष्ट मालूम होता है कि मन एक मुख्य अवयव है।

सुख या शान्ति के आलम्बन का अन्वेषण करते-करते मनुष्य ने मन को पाया जो विशिष्ट-स्थानवर्ती है जिसके द्वारा स्थान से अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों करतलगत होते हैं। अतः मानवी प्रज्ञा ने मन का अध्ययन किया और अब भी कर रही है।

इस विषय का अध्ययन करते समय पाश्चात्य देशों के लोग प्रायः मन के भौतिक रूप का ही अध्ययन करते हैं। भौतिक जगत् में अभिलषित शान्ति पाने पर भी उसकी प्रसन्नता पर उन्हें विश्वास नहीं होता। अतः मन में और भूत जगत् में क्या

१—मनुस्मृति १-१४।

२—There is nothing but mind we are expressions of the one mind body is only a mortal belief, as a man thinketh so is he —*W. James, Varieties of Religious Experience P. 104*

सम्बन्ध है, इसी का पाश्चात्य लोग अध्ययन करते हैं। वे देखना चाहते हैं कि मानव शास्त्र के अध्ययन से समाज में रहते हुए व्यक्ति को 'मानव' बनाया जा सकता है या नहीं।

कभी-कभी वहाँ के प्रमुख विद्वानों का ध्यान अन्तरात्मा की ओर जाता है। वे समाज की सीमा से ऊपर उठकर एक क्षण के लिए चारों ओर दृष्टि दौड़ाते हैं। उन्हें शान्ति दिखाई पड़ती है किन्तु समाज के प्रति उनका जो राग है वह नहीं छूटता। अतः वे उस कल्पनाशून्य परम शान्ति के आभास में भी हिचकते हैं और उसकी ओर से आँखें बन्द कर लेते हैं। वे स्थूल प्रत्यक्ष रूपयुक्त विषय चाहते हैं। जर्मनी के प्रमुख दार्शनिक गेटे कहते हैं :—

"भारत के विरुद्ध मेरे मन में कुछ नहीं है। परन्तु मुझे उससे भय है क्योंकि वह मेरी कल्पना को अरूप तथा निराकार के राज्य में खींच लिए जाता है। इस परिस्थिति से मुझे अपने को सदा से अधिक बचाना चाहिए।"[1]

एक स्थान पर जर्मनी के प्रमुख मनोविज्ञानवेत्ता डा० सिगमण्ड फ्रायड भी यही संकोच दिखाते हैं —

"जो बातें उद्धृत होती हैं वे यदि गम्भीर और रहस्यपूर्ण दिखाई दें तो यह हमारी भूल नहीं होगी, क्योंकि हमने उस प्रकार के सिद्धान्त पर पहुँचने के लिए कोई कोशिश नहीं की है।"[2]

पश्चिम के लोग वास्तविकता के उपासक हैं। इसी कारण पूर्ण तत्त्वज्ञ नहीं बन सके। पाश्चात्यों की यह परिस्थिति केवल उन्हीं की नहीं है। 'मानव' बनने के लिए जो कोई भी प्रयत्न करेगा उसका भी आरम्भ में यही हाल होगा। उसे पहले भौतिक जगत् का ज्ञान होता है और विविध भोगों का भागी बनना पड़ता है। बाह्य विषयों के भोग द्वारा तृप्ति होने के बाद ही व्यक्ति साधक बन सकता है। उपनिषद् की कहानी है कि नारद ने अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया। किन्तु उन्हें शान्ति प्राप्त नहीं हुई। भगवान् सनत्कुमार से वे शान्ति का मार्ग पूछते हैं—

"अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदस्तं होवाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति ॥१॥ स होवाचर्ग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां

---

[1] —I have absolutely nothing against India, but I am afraid of it for it drags my imagination into the realm of the formless and misshapen, against which I must defend myself more than ever.—*Goethe to Wilhem Von Humboldt Oct 22 1826*

[2] —If what results gives an appearance of 'profundity' or bears resemblance to mysticism still we know ourselves to be clear of the reproach of having striven against anything of the sort.—*Freud, Beyond the Pleasure Principle P 46*

ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि ॥२॥ सोऽहम् भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहम् भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति ।[1]

"नारद सनत्कुमार के पास शिक्षा प्राप्त करने के लिए गये और उनसे बोले, भगवन्! मुझे शिक्षा दीजिए। सनत्कुमार ने कहा—जो आप जानते हैं, वह मुझे बता दीजिए। इसके बाद मैं कहूँगा। नारद ने कहा—मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, व्याकरण, पित्र्य (तर्पण आदि की विधि) राशि (अंकगणित) दैव (भविष्य जानने की विद्या) निधि (समय विज्ञान) वाकोवाक्य (तर्कशास्त्र) एकायन (कर्तव्यशास्त्र) देवविद्या (अक्षरज्ञान), ब्रह्मविद्या (उच्चारण वाक्य-रचना, छन्दोरचना आदि) भूत-विद्या क्षत्र विद्या नक्षत्र विद्या सर्प विद्या देवजन विद्या जानता हूँ। भगवन्! मैं केवल मन्त्रवित् हूँ कुछ शब्दों को ही जानता हूँ, आत्मवित् नहीं। आप-जैसे लोगों से सुना है कि आत्मवित् ही शोक का विनाश कर सकता है। भगवन्! मैं चाहता हूँ कि आप मुझे शोक के पार पहुँचाये।"[2]

नारद अधिलोक अधिविद्य और अधिप्रज १४ विद्याओं में पारंगत हुए। परन्तु उन्हें शान्ति नहीं मिली। शोक समुद्र से पार होने के लिए उन्हें इन सबों से मुँह मोड़ कर आत्म विज्ञान् या अध्यात्म विद्या का अन्वेषण करना पड़ा। याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का भी संवाद उल्लेखनीय है :—

'मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य उद्यास्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति ॥१॥ सा होवाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्कथं तेनामृता स्यामिति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यादमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति ॥२॥ सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति ॥३॥'[3]

"याज्ञवल्क्य ने कहा—मैत्रेयि! मैं इस स्थान से चला जाता हूँ। तुम कात्यायनी के साथ धन को बाँट लो। मैत्रेयी ने कहा यदि यह पृथिवी वित्त से पूर्ण रहे तो क्या मैं अमृत हो जाऊँगी? याज्ञवल्क्य ने कहा नहीं तुम्हारा जीवन जैसे उपकरण वालों का है, वैसा ही होगा। वित्त से अमृतत्व पाने की आशा नहीं है। तब मैत्रेयी बोली—जिससे मैं अमर नहीं बन सकती उससे मेरा क्या प्रयोजन! भगवन्! जो आप जानते हैं वही मुझे बताइए।"

इस प्रकार व्यक्ति भोग और उपकरणों की अनित्यता का अनुभव कर भौतिक जगत् से अपना मुँह मोड़ लेता है और अध्यात्म मार्ग की ओर चलने लगता है। फलतः व्यक्ति की निजता का महत्त्व अधिक हो जाता है। समाज की उपयोगिता के स्थान पर व्यक्ति की पूर्णता ध्येय बन जाती है। इसी दृष्टि से समाज का पुनः संगठन होता है। इस प्रकार की संस्कृति के उदाहरण आध्यात्मिक हैं। उनकी विचार

१—छान्दोग्य उपनिषद् [illegible]।
२—[illegible] उपनिषद् १ १-१
३—बृहदारण्यक उपनिषद् चतुर्थ ब्राह्मण।

धारा पश्चिम के लोगों के विचार-प्रकार से विपरीत है। वे समाज को अपनी उन्नति के लिए साधनमात्र समझते हैं। अतः व्यक्ति की उन्नति उनके यहाँ परम ध्येय है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वे समाज का तिरस्कार करते हैं। वे भी समाज निर्माण करते हैं। वे भी समाज की सुस्थिति चाहते हैं। किन्तु वे समाज को यह अधिकार नहीं देते कि वह उसकी सीमा को पार कर और अपनी मुख्य परम और चरम उन्नति के मार्ग पर आनेवाले साधक को रोके। प्राच्यवादी आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। उनकी धारणा यह है कि आत्मा अभौतिक है अनिर्वचनीय है। उसे जान लेने से भवबाधा से मुक्ति होगी दुःख का ऐकान्तिक और आत्यन्तिक नाश होगा। यही परम पुरुषार्थ है। इस साधन के लिए हरएक को प्रयत्न करना चाहिए। साथ ही जो भौतिक अनुभूति है जो भोग है वह भी अवश्य चाहिए, क्योंकि उसके बिना आत्मज्ञान के लिए वाञ्छनीय निर्वेद प्राप्त नहीं हो सकता। भागवत का कहना है—

'विषयों का अनुभव किये बिना किसी प्राणी को उनकी तीक्ष्णता का ज्ञान नहीं होता। अतः वह स्वयं निर्वेद पावें यही ठीक है। दूसरों के वचनों से कोई वैसा निर्विण्ण नहीं हो सकता।'[१]

अतः भौतिक विषयों का अनुभव आवश्यक है; किन्तु साधन के रूप में। प्राच्य के लोग चतुर्वर्गवादी हैं। धर्म अर्थ काम और मोक्ष ये चतुर्वर्ग हैं। अर्थ और काम किसी प्राच्य सन्तान को ऐकान्तिक ध्येय नहीं बताये जाते। ये दोनों धर्म के लिए, तथा धर्म, अर्थ और काम ये तीनों मिलकर मोक्ष के लिए साधन हैं। मोक्ष परम पुरुषार्थ है। जबतक निर्वेद प्राप्त नहीं होता तबतक धर्म, अर्थ काम में प्रवृत्त रहना चाहिए। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि पूर्व के रहनेवालों के लिए मोक्ष ही सर्वोत्कृष्ट प्राप्य है। उपनिषद् कहती है—

'आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः।'

आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रवृत्ति की विधि है। समाज प्रवृत्ति का सोपान है। भारतीय कहते हैं :—

'त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथ्वीं त्यजेत्॥'

कुल के लिए एक को छोड़ें ग्राम के लिए कुल छोड़ें ग्राम को जनपदार्थ त्यागना चाहिए और आत्मलाभ के लिए पृथ्वी त्याज्य है।

भारतीय प्रवृत्ति मार्ग को धर्म का अंग मानते हैं। परमार्थ दर्शन में यह गौण स्थान धारण करता है। भारतीय निवृत्ति मार्ग के पथिक हैं। प्रवृत्ति से कहीं कहीं उदासीन होते हैं और अन्तरंग की ओर अभौतिक की ओर बढ़ते हैं।

निवृत्ति मार्ग में वे परम सुख की कामना में प्रवृत्त होते हैं। सुख के लिए मनुष्यमात्र की इच्छा होती है। किन्तु संसार में दुःख की मात्रा अधिक दिखाई पड़ती

१—नानुभूय न जानाति पुमान्विषयतीक्ष्णताम्।
निर्विद्येत स्वयं तस्मात् तथा निर्विण्णो परैः॥—भागवत पुराण।
Bhagawan Das, Science of Social Organisation, P. 81

है। फिर भी, प्राणिमात्र दुःख का नाश कर सुख पाने की चेष्टा करता है। भारतीयों ने देखा कि सुख भी दुःखान्त है—'सुखमेवाहि दुःखान्तं'। जबतक शरीर है तबतक दुःख है। 'अशरीरं वा वसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः।' भारतीय चिन्तन की जिज्ञासा इसी उद्देश्य से होती है कि दुःखत्रय कैसे काटे जायें। उसकी कामना होती है—

सुखमेव हि दुःखान्तं कदाचिद्दुःखतः सुखम्।
तस्मादेतद्द्वयं जह्याद्य इच्छेच्छाश्वतं सुखम्॥[1]

सुख ही दुःखान्त है। कभी दुःख से सुख होता है। अतः जो शाश्वत सुख चाहता है, वह दोनों को छोड़ दे।

गुरु गोविन्द सिंह से किसी ने पूछा—'गुरुजी, सुख क्या वस्तु है?' गुरु ने उत्तर दिया—'निशित करवाल की धार पर रहनेवाली शहद की बूँद। चाहो तो चाटो। मीठा अवश्य मालूम होगा। पर साथ ही जीभ चिर जायगी।' जबतक द्वन्द्व है तबतक दुःख अवश्य ही रहेगा। अतः द्वन्द्व को काटना चाहिए। अद्वैत शिव है। विषयाग्नि का वहाँ प्रदाह नहीं है। एक योगी कहता है—'यह शीतल शमभू क्या ही रम्य है। इसमें सुख दुःख की ज्वालाएँ निर्वापित होती हैं।' यही शमभूमि प्राच्यवासियों का गन्तव्य स्थान है। इसी की प्राप्ति के लिए पूर्व के ग्रन्थ निर्मित होते हैं। ब्रह्मविद्या या आत्मविद्या सब विद्याओं की प्रतिष्ठा है।

ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥[2]

सब देवताओं के पहले विश्व के कर्ता और भुवन के पालयिता ब्रह्मा उत्पन्न हुए। ब्रह्मा ने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्व के लिए ब्रह्मविद्या कही जो सभी विद्याओं की प्रतिष्ठा है।

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम्॥[3]

समस्त देवता आत्मा ही हैं। सब कुछ आत्मा में अवस्थित है। शरीरियों का कर्मयोग आत्मा से ही उत्पन्न होता है।

इस प्रकार से प्राच्यों का और पाश्चात्यों का प्रस्थानभेद हुआ। दोनों दो ओर चले। एक आत्मा की ओर, दूसरा संसार की ओर। एक मोक्ष की ओर, दूसरा भोग की ओर। एक अपरोक्षानुभूति के मार्ग पर दूसरा परोक्षानुभूति के मार्ग पर। मानस शास्त्र इस दृष्टिकोण के भेद से रञ्जित हुए बिना नहीं रहा। पूर्व और पश्चिमवाले दोनों अद्वैत मानते हैं। भेद इतना ही है कि पश्चिमवाले जडाद्वैतवादी हैं और पूर्व के रहनेवाले चेतनाद्वैतवादी। अतः पाश्चात्य लोगों ने मन की सभी स्थूल प्रत्यक्ष व्यक्त वृत्तियों का अध्ययन किया और वहाँ एक जड़ मनोविज्ञान की स्थापना हुई। इसके विपरीत प्राच्य विद्वानों ने मन की सूक्ष्म अप्रत्यक्ष अव्यक्त चेतनवृत्तियों का अध्ययन किया। फलतः उन्होंने योगशास्त्र की रचना की।

१—महाभारत शान्तिपर्व १-२४।
२—मुण्डक उपनिषद् १-१।
३—मनुस्मृति १-११९।

इन दोनों प्रकारों के भिन्न भिन्न अध्ययन से पूर्ण लाभ नहीं हुआ क्योंकि दोनों ने मन के आंशिक चित्र खींचे। प्राच्य शास्त्र के अध्ययन में पाश्चात्य शास्त्रों से जितनी सहायता मिलनी चाहिए, उतनी नहीं मिली। यदि किसी प्रकार पाश्चात्य और प्राच्य विचारों के मेल से नवीन शास्त्र का निर्माण हो तो उससे अधिक लाभ होने की सम्भावना है क्योंकि 'विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः'। सभी विद्याएँ एक ही शक्ति के अभिव्यक्त रूप हैं। दृष्टिकोण के भेद से रूप भेद दिखाई पड़ता है। सब वस्तुएँ एक ही शक्ति से विनिर्गत होती हैं। उसी को प्रेम धर्म संयम आदि भिन्न नामों से पुकारते हैं। इसका कारण भिन्न भिन्न दृष्टिकोण ही है। समुद्र जिस प्रकार तटभेद से भिन्न नाम धारण करता है उसी प्रकार एक ही शक्ति उपयोग के भेद से अनेक नाम धारण करती है।[1] प्रत्येक मनुष्य में शरीर और चेतनधर्म होता है। भारतीयों ने चेतन धर्म का अध्ययन किया तो पश्चिमवालों ने शरीर धर्म का; एक ने अध्यात्म का दूसरे ने अधिभूत का। परन्तु एक का भी अध्ययन दूसरे की सहायता के बिना पूर्ण नहीं हो सकता। अतः जिज्ञासु की इच्छा होती है कि दोनों में कुछ ऐसी बातें मिलें जिनसे दोनों की पूर्णता हो सके।

अनेक वर्ष बीत गए पर कोई ऐसा समान धर्म नहीं मिला जो पूर्व और पश्चिम को एक ही सूत्र में बाँध देता। घटनाचक्र के फेर से पाश्चात्य मनोविज्ञान के क्षेत्र में एक महान् परिवर्तन हुआ। यह चित्त विकलन शास्त्र का जन्म है। चित्त विकलन मन के चेतनधर्म का अध्ययन भौतिक शास्त्र प्रकार से करता है। इसका झुकाव अध्यात्म की ओर है; किन्तु यह अपने पैरों को भौतिक शास्त्र और नियमों की दृढ़ स्थूल पृथ्वी पर जमाये रखना चाहता है। इसके अध्ययन से प्राच्य शास्त्रों के अनेक अस्पष्ट नियम और सिद्धान्त स्पष्टरूपेण भासित होने लगते हैं। आज तक प्राच्य शास्त्रों के सिद्धान्त सनातन हैं और प्राच्य जीवन में व्यवहार में उनका प्रयोग होता है। पर जिज्ञासु को इसका पता नहीं चलता कि किस प्रकार और क्यों कर आचार्य इन नियमों पर पहुँचे। चित्त विकलन शास्त्र से इन बातों की कुछ कुछ झलक दिखाई पड़ती है। अभी चित्त विश्लेषण उस चिड़िया के समान है जो अपार समुद्र में जहाज से उड़-उड़कर भी फिर अपनी बलहीनता का स्मरण कर उसी जहाज पर लौट पड़ती है। उसके डैनों में अध्यात्म शास्त्र के बिना बल नहीं आ सकता। योग की अपूर्व दृष्टि से चित्त विकलन शास्त्र की उन्नति देखी जाय तो उसका सारा रहस्य और भावी उन्नति का मार्ग दिखाई पड़ने लगता है। हम इस ग्रन्थ में यही चाहते हैं कि दोनों विचार धाराओं के मिलाप से एक ऐसा अपूर्व संगम उत्पन्न करें जिसमें अवगाहन कर जिज्ञासु का श्रान्त हृदय कुछ शान्ति का अनुभव करे। हमारा विश्वास है कि इस प्रकार के अध्ययन से भौतिक और आध्यात्मिक मार्गों के बीच की अप्रत्यक्ष मेल प्रतीत हो रहा

१—For all things proceed from the same spirit which is differently named love justice temperance in its different applications just as *the ocean receives different names on the several shores which it washes.*
—*Emerson Address to the graduating class at Divinity College in 1838; Quoted W. James, Varities of Religious Experience.*

है, उसे दूर करने के उपाय सूझ पड़ेंगे। क्योंकि, उपनिषद् के शब्दों में हमें दोनों ही विद्याएँ चाहिए। दोनों के मिलाप से ही बीच वांछित शान्ति को प्राप्त हो सकता है।'

'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा चैव।'[1]

ब्रह्मविद् कहते हैं कि परा और अपरा—दोनों विद्याएँ जाननी चाहिए।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभय सह।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥[2]

विद्या और अविद्या दोनों को जो जानता है वह अविद्या से मृत्यु को जीतकर विद्या से अमृतत्व पाता है।

लेकिन इस ज्ञान की आवश्यकता किसके लिए है? सभी व्यक्ति सभी शास्त्रों का अध्ययन नहीं कर सकते। इसी दृष्टि से प्राचीन विद्वानों ने यह बताया है कि किस व्यक्ति को किस शास्त्र के पढ़ने का अधिकार है। इस शास्त्र के कौन अधिकारी हैं? यह प्रश्न अवश्य उठता है।[3] अधिकारी के लिए शास्त्रों का क्या कहना है यह बताने का प्रयत्न हम करते हैं जिससे मालूम हो कि इस शास्त्र का सत्य कौन जान सकता है। वेदान्त दर्शन का कहना है कि अधिकारी के लिए—(1) नित्यानित्यविवेक, (2) इहामुत्रफलभोगविराग (3) शमदमादिसाधनसम्पत् और (4) मुमुक्षुत्व चाहिए। नित्य और अनित्य वस्तुओं का विवेक, ऐहिक और पारलौकिक भोग के प्रति वैराग्य शम (अन्तरिन्द्रिय संयम), दम (बहिरिन्द्रिय संयम) तितीक्षा (शीतोष्ण क्षुधा तृष्णा इत्यादि द्वन्द्व आदि की सहिष्णुता) उपरति (विषयानुभव में इन्द्रियगण की विरति) समाधान (आत्मतत्व का ध्यान) श्रद्धा (गुरु और वेदान्त वाक्यों में सम्यक् आस्था) और मुमुक्षुत्व (मोक्ष के लिए प्रबल इच्छा) चाहिए। इनके बिना साधक अभिलषित साध्य को नहीं पा सकता। इनपर ध्यानपूर्वक विचार करें तो सत्य की पहचान के लिए अपेक्षित उपकरणों का ज्ञान हो जायगा। प्रत्येक वस्तु को सत्यस्वरूप में देखने की शक्ति चाहिए, क्योंकि राग के रहने से सम्भव है कि सत्य का वास्तविक रूप ज्ञानगोचर न हो सके। इसके साथ साथ इन्द्रियादि का संयम भी चाहिए। प्रत्येक उपनिषत्कार इस इन्द्रिय आप्यायन पर विशेष ध्यान रखता है। जबतक व्यक्ति की वान्छाएँ पूर्ण नहीं होंगी और जबतक वह तटस्थ भाव से निःस्वार्थ भाव से सत्य को नहीं देखेगा तबतक उसका ठीक ठीक रूप उसके देखने में नहीं आवेगा। अतः सभी उपनिषद् पहले उसी इन्द्रिय निरुक्ति पर जोर देते हैं जिससे जिज्ञासितव्य पर, ध्यानविग्रह के बिना चित्त का नियोग किया जा सके। उपनिषद् के वचन हैं —

"ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु।"[4]

1—मुण्डक उपनिषद्, 1-4।

2—ईशावास्य उपनिषद्, 11।

3—इस सम्बन्ध में देखिए डा० गंगानाथ झा—*Philosophical Discipline, Calcutta University 1928*.

4—केनोपनिषद्।

मेरे अंग आप्यायन पावें। मेरी वाक्, प्राण, चक्षु, कर्ण, बल और सभी इन्द्रियाँ प्रसाद पावें। मैं ब्रह्म का निराकरण न करूँ। शान्त ब्रह्म मेरा निराकरण न करे। अनिराकरण हो, अनिराकरण। जो धर्म आत्मा में निरत होने पर प्राप्त होते हैं, वे मुझमें हों। मुझे वे प्राप्त हों। इसके साथ साथ सत्य को जानने के लिए प्रबल इच्छा की आवश्यकता है।

> अहं बद्धो विमुक्तः स्यामिति यस्यास्ति निश्चयः।
> नात्यन्तमज्ञो नोतज्ञः सोऽस्मिञ्छास्त्रेऽधिकारवान्॥[1]

मैं बद्ध हूँ, मैं विमुक्त हो जाऊँ इस प्रकार का जिसे निश्चय है, जो अत्यन्त अज्ञ न हो जो इस शास्त्र को पूर्णतया नहीं जानता हो वह इस शास्त्र का अधिकारी है।

> हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
> तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥[2]

हे पूषन् (पोषण करनेवाले)! मैं सत्यधर्मा हूँ, सत्यदर्शन का मैं अधिकारी हूँ, सत्य के ऊपर का सब आवरण हटा दो।

उपनिषदों का विधान, वेदान्त का कथन, योगवासिष्ठ की उक्ति सभी शास्त्रों के अध्येताओं के लिए ध्यान देने योग्य है। विज्ञान के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। इस ग्रन्थ का उद्देश्य है भौतिक विज्ञान का परिचय देकर उसमें और प्राच्य दर्शनों के सम्बन्ध का उत्पादन। हम जिज्ञासु को, साधक को उसकी विषम परिस्थितियों और समस्याओं में कुछ सहायता देने की, कुछ आश्वासन प्रदान की चेष्टा करना चाहते हैं। साथ ही हम कुछ ऐसे नियमों का जिनके अनुसार भौतिक एवं आध्यात्मिक जगत् का संचालन होता है एवं मनुष्य की जाग्रत स्वप्न आदि चित्त-वृत्तियों पर प्रभाव पड़ता है संक्षिप्त परिचय देना चाहते हैं। संस्कृति, सभ्यता, धर्म, कला आदि क्षेत्रों का दिग्दर्शन कराना इस ग्रन्थ का उद्देश्य है। विषय गम्भीर है। उसका सम्बन्ध है—उस सत्य आदि तत्त्व से जो मनुष्य के लिए गहित-से-गहित और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म समझा जाता है जो मानव जीवन पर अधिक प्रकाश डालता है। ऐसे विषय के अध्ययन में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि जो उपस्थित है उसकी परीक्षा और समीक्षा तटस्थभाव से की जाय। इसके लिए वैज्ञानिक दृष्टि चाहिए अर्थात् विशुद्ध भाव, सत्य पर अटल श्रद्धा और बौद्धिक विद्रोह की आवश्यकता है।

वैज्ञानिक का क्या काम है? वह कोई नवीन वस्तु उत्पन्न नहीं करता। अवस्थित वस्तु का ही वह अध्ययन करता है। उसका परिशीलन करता है। वह जो कुछ प्रतिपादन करता है उसकी परीक्षा हो सकती है। विज्ञान का काम सत्य की खोज है, उस सत्य की खोज जिसका परीक्षण पुनः सम्भव हो सकता है।

व्यवस्थित ज्ञान एवं उसके अन्वेषण का ही दूसरा नाम विज्ञान है। वह उन सत्यों का और उनके सम्बन्धों का ज्ञान है जो पुनः परीक्षित हो सकते हैं; वह उन

१—योगवासिष्ठ वैराग्य प्रकरण, सर्ग श्लोक २।
२—ईशोपनिषद्, १५।

परिणामों का ज्ञान है जो प्रयोग और गवेषणा द्वारा तथा व्यक्त एवं ज्ञात से अव्यक्त और अज्ञात की ओर उन्मुख होते हुए कोई सामान्य सिद्धान्त स्थित करने की सूचना देता है और परीक्षण करता हुआ ज्ञात (वस्तुओं के विस्तृत क्षेत्र) से ले-लेकर हमारे ज्ञान-भाण्डार की वृद्धि करता जाता है।[1]

वैज्ञानिक प्रकृति के मर्म जानने का प्रयत्न करता है, उन्हें सुचारु रूप से ग्रथित करता है, और किस तरह काम कर रहे हैं, यह दिखाने की चेष्टा करता है।

प्रकृति अपूर्व शक्तिशालिनी देवी है। विशेष व्यक्ति ही उसे जान सकता है। उसकी दैवी मूर्ति पञ्चांगुलियों से मन्द स्पर्श से जिज्ञासु को आह्वान करती है। उसकी पूर्ति अति पवित्र है। उसके आलय में प्रज्ञावान् पुरुष ही प्रवेश कर सकता है। जबतक व्यक्ति शिशुभाव से उसके सामीप्य लाभ की चेष्टा नहीं करेगा, तबतक न तो वह उसके दिव्य रूप का दर्शन कर सकेगा और न उसकी दृग्वाणी का मधुर स्वर ही उससे श्रुतिगोचर हो सकेगा।

शिशु माता के पास प्रेम तथा विश्वास के साथ जाता है। वह जानता है कि माता के हृदय में उसके प्रति प्रेम है। वह जानता है कि माता उसके सभी प्रश्नों का उत्तर देगी। इसी से कहा गया है—

'प्रकृति के पास शिशु-भाव से जानने की चाह से पहुँचो।'[2]

शिशु किसी वस्तु को नहीं फेंकता। अत्यल्प वस्तु भी उसके लिए ग्राह्य है। उस वस्तु की वह परीक्षा करता है। यदि वह अनुपयुक्त पँचती है तो उसे फेंक देता है। उसके मन में उस वस्तु के प्रति पूर्व से इच्छा अनिच्छा नहीं रहती। वह समाज के नियमों को नहीं जानता। वह वस्तु को ठीक उसी रूप में देखता है जिस रूप में वह रहती है। उसकी रुचि वस्तु-तन्त्र है। शिशु का ज्ञान प्रसन्नता और प्रयोग से बढ़ता है। पूर्ण तटस्थ भाव से वह प्रकृति के इंगितों को समझने की चेष्टा करता है। फोस्ट का निम्नलिखित उद्घोष विचारणीय है—

जब प्रकृति देवी अपने विचारों का उन्मेष करती है तब तुम्हारी आत्मा (विषय से असंसक्त होकर) उसके साथ उसी प्रकार का सम्पर्क प्राप्त करने की चेष्टा करती है जिस प्रकार का दो आत्माओं में होता है।[3] प्रकृति के इंगितों को,

---

1—Science is simply other name for organized Knowledge and the pursuit of it. It is the knowledge of verifiable facts and of the relations between them, the results of experiment research generalization proceeding from the known to the unknown predicting verifying and gradually adding to our stores of the known from the vast stores of the unknown. —*Science and Religion* P 73

2—Go to Nature with a child like mind asking that you may know —*Science and Religion P 74.*

3—When Nature doth her thoughts unfold
To thee, thy soul shall rise and seek
Communion on high with her to hold
As spirit doth with spirit speak!

—Faust-Part I, page 16

कारण सारे संसार का कोपभाजन बन जाता है और अपने प्रति घृणा उत्पन्न करता है। इनमें से एक तो बौद्धिक पक्षपात को और दूसरी सौन्दर्यमूलक एवं नैतिक पक्षपात को रुष्ट करती है। चित्त विश्लेषण शास्त्र की रुष्टकारक मान्यताओं में से एक यह है कि चित्त वृत्तियाँ स्वतः अचेतन हैं और जो चेतन अथवा ज्ञात हैं वे सम्पूर्ण मानसिक जीवन की स्वतंत्र आंशिक एवं पृथक्कृत प्रक्रियाएँ हैं। दूसरी मान्यता जिसे चित्त विश्लेषण-शास्त्र ने अपनी खोजों में एक खोज उद्घाटित किया है प्रमाणित करती है कि वे मूलप्रवृत्यात्मक उत्तेजनाएँ, जिन्हें कोई भी व्यक्ति संकीर्ण तथा अपेक्षाकृत विशाल अर्थ में काम सम्बन्धी ही कह सकता है, स्नायविक एवं मानसिक व्याधियों को उत्पन्न करने में एक असाधारण भाग लेती हैं और वे इस प्रकार की कारणभूत उत्तेजनाएँ हैं जिन्हें भली प्रकार अभी तक मानित नहीं किया गया है। इतना ही नहीं सचमुच चित्त विश्लेषण शास्त्र यह दृढ़ता के साथ दावा करता है कि इन्हीं मूलप्रवृत्यात्मक उत्तेजनाओं ने मानव मन के उत्तम से-उत्तम सांस्कृतिक सौन्दर्य सम्बन्धी (कला विषयक) एवं सामाजिक प्राप्तियों में अमूल्य सहायता दी है। किन्तु यह मानव का स्वभाव है कि वह अरुचिकर भावना को पहले से असत्य ठहरा लेता है और तभी उसके विरोध में तर्क उपस्थित करना उसके लिए सरल हो उठता है।"[१]

प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक निट्शे के कथनानुसार 'मानवजाति नूतन संगीत को कर्णकटु समझती है।'[२] सत्य मार्ग का अनुसरण करनेवाले को समाज द्वारा कौन

१—Psycho-analysis is learned first of all from a study of one's ownself, though the study of one's own personality ... with two of its assertions psycho-analysis offends the whole world and draws aversion upon itself. One of these assertions offends and intellectual prejudice the other an aesthetic-moral one ... The first of these displeasing assertions of psycho-analysis is this, that the psychic-processes are in themselves unconscious, and that those which are concious are merely isolated acts and parts of the total psychic life. The next assertions which psycho-analysis proclaims as one of its discoveries affirms that those instinctive impulses which one can only call sexual in the narrower as well as in the wider sense play an uncommonly large role in the causation of nervous and mental diseases, and that those impulses are a causation which has never been adequately appreciated. Nay indeed psycho-analysis claims these same sexual impulses have made contributions whose value can not be overestimated to the highest cultural artistic and social achievements of the human mind. page 8. But it is a predisposition of human nature to consider and unpleasant idea untrue and then it is easy to find arguments a against it.—Dr Sigmund Freud A General Introduction to Psycho-analysis. Borio and Liveright, N. Y., 1922. pages 7-9.

२—'Mankind has a very bad ear for new music.—Nietzsche.

कौन-सी यातनाएँ प्राप्त नहीं हुईं! सत्य की बलिवेदी पर कितनी पूत आत्माएँ स्वाहा नहीं हुईं! किन्तु फिर भी सत्यवक्ता समाज से कभी नहीं डरते हैं। उन्हें सत्य के प्रति जो अविचल प्रेम है जो असीम श्रद्धा है, उसके कारण वे असत्य को अपने मन से निकाल बाहर करते हैं। जो कुछ सत्य है अथवा ठहराया जा चुका है उसके लिए वे अपना उत्सर्ग कर देते हैं। जबतक सत्य की कसौटी पर किसी आधार या किसी सम्प्रदाय की परख नहीं हो पाती तबतक वे उसे मान्यता नहीं दे सकते। सत्य के प्रति ऐसी ही अटल श्रद्धा चित्त विश्लेषण-शास्त्र के अध्ययन के लिए परम आवश्यक है और तभी सत्य का ज्ञान हो सकता है नहीं तो पाठकों के भ्रम में पड़ जाने की सम्भावना है क्योंकि चित्त विश्लेषण शास्त्र का विरोध होना स्वाभाविक है। भी निम्नलिखित रूप में लिखा है :—

"एक मनोविज्ञान पर—जो समझने में कठिन है तथा जो युगों तक मानव जाति की चली आई हुई भावनाओं में उथल पुथल कर देनेवाला है—विरोध में उठनेवाली समीक्षा तथा आलोचना का समझना कठिन नहीं है विशेषतः जबकि इसे समझने के लिए एक विशिष्ट प्रक्रिया अपेक्षित है और एक अनुभवी पर्यवेक्षक ही मानसिक गतियों को पहचानकर उनकी सत्यता प्रमाणित कर उसका महत्त्व स्वीकार कर सकता है कि कोई भी वस्तु आकस्मिक नहीं होती, प्रत्येक मानस क्रिया एवं अभिव्यक्ति सार्थक होती है क्योंकि वह व्यक्ति के अन्तरभावों एवं कांक्षाओं से निर्णीत होती है।[1]

चित्त विश्लेषण शास्त्र व्यक्ति की प्रत्येक क्रिया का तथा कारण उसकी अचेतन मानस क्रियाओं में दिखा देता है। वह यह भी बतलाता है कि हम उन कारणभूत नैसर्गिक आवेगों एवं मनोभावों का संयमन किस प्रकार कर सकते हैं; और मानसिक जीवन में आंतरिक साम्य एवं शान्ति ला सकते हैं। प्राच्य दर्शन शास्त्रों में भी इस शास्त्र का समन्वय है। प्राच्य दार्शनिक कहते हैं—यदि हम गम्भीरतापूर्वक भारतीय दर्शन शास्त्रों का अनुशीलन करें तो चित्त विश्लेषण शास्त्र का उनमें भी समन्वय हो सकता है, प्रकट हो जाय। भारतीय दार्शनिक कह उठता है :—

'मनसा मनसो मन्ता मनो हि पुरुषः स्मृतः।'[2]

1—It is easy to understand that criticism and opposition should develop against a psychology so difficult of comprehension and so disturbing to the ideas which have been held by humanity for ages a psychology which furthermore requires a special technique as well as an observer trained to recognise and appreciate in psychologic phenomena a verification of the statement that there is no such thing as chance and that every act and every expression has its own meaning determined by the inner feelings and wishes of the individual.—*Beatrice M. Hinkle Introduction to Jung Psychology of the unconscious*

2—[illegible]

अर्थात् वासना मन से अन्य नहीं है; मन ही पुरुष है। वासना-नाश से मनोनाश होता है। मन के अमनीभाव होने और ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है। वासनाओं का मन पर अधिक प्रभाव है। चित्त विश्लेषण शास्त्र से चित्त वृत्तियों का निरूपण या विश्लेषण होता है। ग्रन्थियाँ शिथिल पड़ जाती हैं। तब वेदान्त-ज्ञान की तीक्ष्ण कृपाण से उनका उच्छेद करना सुसाध्य हो जाता है। चित्त विश्लेषण-शास्त्र निवृत्ति मार्ग और प्रवृत्ति मार्ग दोनों के ही पथिकों को उपादेय है। यह अध्यात्म शास्त्र का सहकारी है। उससे व्यक्ति को पता चलता है कि कौन-सी शक्ति किस प्रकार मानस में अधीन रह कर जीव की सब वृत्तियों का परिचालन कर रही है। उसके सम्यक् ज्ञान से व्यक्ति का जीवन शान्तिमय होगा, क्योंकि चित्त विश्लेषण-शास्त्र का ध्येय, योगवासिष्ठ के शब्दों में, यही है —

इच्छामात्रं विदुश्चित्तं तच्छान्तिर्मोक्ष उच्यते ।
एतावदेव शास्त्राणि तपांसि नियमाः यमाः ॥[1]

चित्त इच्छामात्र है। उसकी शान्ति मोक्ष है। सभी शास्त्र सभी यम और नियम की पहुँच यहीं तक है। इसी इच्छा-शान्ति, निर्वासन-भाव को प्राप्त करना 'मानवधर्म' है। यही 'मानव' का सत्स्वरूप है और यही है 'आप्तकामं आत्मकामं अकामं रूपं शोकान्तरम् ।'

१—यो० निर्वाण प्रकरण उत्तरार्ध सर्ग १६, श्लो० १४ ।

चित्त विश्लेषण का इतिहास

'चित्त विश्लेषण' उस प्रक्रिया और शास्त्र का नाम है जिसकी सहायता से व्यक्ति का मानसिक अभियोजन होता है। इस शास्त्र का उद्देश है—व्यक्ति की अज्ञात अथवा अचेतन इच्छाओं और भावों को ज्ञात अथवा चेतन में लाना एवं व्यक्ति को शान्ति देने में सहायता करना। चित्त विश्लेषण में व्यक्ति उन सभी अज्ञात शक्तियों को ज्ञात करता है जिनके अचेतन रूप के कारण ही उसकी मानसिक शान्ति में बाधा पहुँचती है और प्रायः उसे अपस्मार आदि वातव्याधियों का शिकार बनना पड़ता है। एक बार उन अज्ञात शक्तियों को जानने के बाद व्यक्ति उनके वश में आकर एक नवीन दृष्टिकोण से जीवन पर विचार करने लगता है जिससे उसे पुनः उस प्रकार की अशान्ति और व्याधियाँ न सतावें।

चित्त-विश्लेषण का प्रमुख उद्देश्य यही है कि प्रत्येक व्यक्ति के मूल में जो इच्छा या तद्रूप पाया जाता है उसे प्रकट कर और व्यक्ति को सदा जागरूक एवं वातावरण के आधार में रखे जिससे वह अपने जीवन को वाह्य परिस्थितियों के अनुकूल बना सके।

चित्त विश्लेषण अथवा चित्त विकलन एक विशेष प्रकार का शास्त्र है। यह उस हेतु फल-सन्तति का जिसे ऋषियों और दार्शनिकों ने अपनी 'अन्तःप्रेरणा' से निरूपित किया था विज्ञान की सुदृढ़ भित्ति पर खड़ा करता है और उसे मानव क्रियाओं में भी दिखाता है। इस शास्त्र का उद्भव पूर्वगामी विद्वानों की लगन और परिश्रम के कारण सुलभ हुआ है। प्रारम्भ में यह मूर्च्छा (हिस्टीरिया) आदि अपस्मार व्याधियों के निदान खोजने उनके लक्षणों को हेतु फल-सन्तति से बाँधकर दिखाने और उन लक्षणों और व्याधियों के उपशमन के प्रयोगों तक ही सीमित था। किन्तु आज उसका क्षेत्र बहुत ही विस्तृत हो गया है और उसने धर्म, पुराण कला कविता आदि क्षेत्रों को भी रक्षित किया है तथा उन्हीं के अनुकूल आज बहुत से शास्त्रों ने अपने रूप-रंग में परिवर्तन किया है। इसके सब सिद्धान्तों में 'मैथुन-मीमांसा' का भार विशेष हुआ। इसके सिद्धान्तों के कारण पश्चिम की जनता उद्वेलित हो गई। अनेक वर्षों तक इस शास्त्र की निन्दा वर्णन होती रही थी। प्रायः जनता गतानुगतिक है—'गतानुगतिको लोकः।' उसे मनन करने की शक्ति है किन्तु वह उसका प्रयोग नहीं करती है। कहने को सभी मानव हैं पर उनमें वास्तव में न्यायसंगत विचार करनेवाले थोड़े ही हैं। प्रत्येक व्यक्ति सुखमय जीवन के यापन करने में अपनेको कृतकृत्य समझता है। समाज ने उसे शान्ति दी। उसकी छाया में वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। वैचारिक जीवन में उसे कुछ भी प्रयोजन नहीं है। मनुष्य के जीवन में प्रायः द्रुत गति से कोई परिवर्तन नहीं होता है। मानव एक हजार वर्ष के पूर्व जैसा था आज मूलतः प्रायः वैसा ही है। बहुधा शारीरिक आवश्यकताओं को पूरा करने में ही उसका जीवन बीतता है किन्तु मानव बौद्धिक प्राणी है उसका मानसिक जीवन भी है। वह कुछ परम्परानुगत

विचार रखता है। कुछ बातों में विश्वास करता है जिनमें भी वह किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं चाहता। वस्तुतः उसका जीवन कोई जीवन नहीं है क्योंकि जीवन-संग्राम में वह कभी उद्यत नहीं दिखाई पड़ता। वह एक भाँति के तामसिक मोह में डूबा रहता है और उसी को शान्ति के नाम से पुकारता रहता है। उस शान्ति में यदि कोई बाधा पहुँचाती है तो वह क्रोधोन्मत्त हो जाता है और समाज के अधिकाधिक लोग उसकी हाँ-में हाँ मिलाकर बाधक को दण्ड देने के लिए तत्पर हो जाते हैं। यदि किसी कारणवश उस बाधक का बल बढ़ता जाय तो क्रमशः समाज का विरोध घटता जाता है, और एक दिन वह समाज उसी सिद्धान्त की रक्षा के लिए प्राण देने के निमित्त उद्यत हो जाता है जिसके नाममात्र से एक दिन उसे असह्य घृणा उत्पन्न होती थी। यह मानव समाज का स्वभाव है। नया संगीत कर्णकटु है।[1]

चित्त-विश्लेषण के उदय से पश्चिम की जनता की यही दशा हुई। उसके विरोध का स्वाभाविक कारण भी है क्योंकि उससे उसके अभिमान एवं परम्परानुगत धारणाओं पर तीव्र आघात हुआ। व्यक्ति अपनेको सबसे श्रेष्ठ समझता है। वह किसी प्रकार से भी इस अभिमान की हानि नहीं सह सकता है। अभिमान अहंकार है।[2] धर्म सदा से अहंकार का पुष्टिपोषक रहा है। यहाँ हमारा तात्पर्य उस धर्म से है जो पैतृक धन के समान सन्तान से सन्तान को प्राप्त होता जाता है। साधारण जनता पर धर्म का प्रबल प्रभाव है। उसके लिए धर्मप्रवक्ताओं का प्रत्येक शब्द दैवी वाणी है, जिसका उल्लङ्घन महान पाप है। शास्त्रों के विरुद्ध सामान्य जनता कुछ भी नहीं सुनना चाहती। युक्तियुक्त होने पर भी यदि वह बात[3] 'आचार' के विरुद्ध हो तो निन्द्य हो जाती है। धर्म के कारण व्यक्ति के अभिमान अथवा अहंकार की प्रकारतः तीन उपाधियाँ हैं—(१) आश्रयगत (२) योनिगत और (३) गुणगत।

(१) व्यक्ति को अपने स्थान का, अपने जन्म का और अपने गुणों का गर्व होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने देश को देवनिर्मित समझता है। अपने ही जन्म को अपनी ही जाति को, अपने ही कुल को सर्वश्रेष्ठ मानता है। उसे अपने ही गुण निराले और दैवी लगते हैं। इस गर्व में धर्म से अधिक सहायता प्राप्त होती है। व्यक्ति जब अपनेको मानव समझता है तब उसका आश्रय कोई विशेष प्रान्त या देश नहीं रहता है, प्रत्युत वह अपने स्थान को अन्य स्थानों से, अपनी योनि को दूसरी योनियों से, अपने गुणों को दूसरों के गुणों के सादृश्य में श्रेष्ठतर समझता है। प्राचीन काल में सभी धर्मशास्त्र और सभी सम्प्रदाय इसी की पुष्टि करते थे कि मनुष्य का आश्रय पृथ्वी ही सभी ग्रहों का केन्द्र है। वह सब ग्रहों में विशिष्ट है और उनकी धारणा थी कि यदि देवताओं को भी मुक्ति पाना है तो पृथ्वी पर जन्म ग्रहण करना होगा। पृथ्वी को केन्द्र बनाकर सभी ग्रह घूम रहे हैं। किन्तु इस प्रकार का आश्रयगत गर्व अधिक दिन नहीं रहा। कॉपर्निकस नामक विख्यात शास्त्रज्ञ ने दिखा दिया कि हमारा जगत सौरजगत है।

१—'Man kind has a very bad ear for new music.'—नीत्शे।

२—'अभिमानोऽहंकारः'—सांख्यकारिका।

३—परम्परागत आचार जो पीढ़ी-से पीढ़ी तक चलता रहता है।

सूर्य को केन्द्र बनाकर सभी ग्रह उसकी परिक्रमा कर रहे हैं। उन्होंने अपने इस आविष्कार से जनता में, विशेष कर धर्माचार्यों में खलबली मचा दी।

(२) कुछ ही सदियों के अनन्तर कॉपर्निकस के सिद्धान्त से भी तीव्र आघात मनुष्य के अभिमान पर हुआ और वह था विकासवाद' के सिद्धान्त का अवतरण। विकासवाद के जन्मदाता श्री डार्विन तथा वालेस आदि ने यह सिद्ध किया कि मनुष्य आदम और हौवा की सन्तान नहीं है वे ईश्वर की इच्छा से उत्पन्न नहीं हुए, प्रत्युत अन्य पशुओं से विकसित हो होकर मनुष्य योनि में उत्पन्न हुए। विकासवादी जैव शास्त्र विकसित शरीर रचना के समर्थन में मानव शरीर के कुछ अनुपयोगी अवयव जो कतिपय अन्य प्राणियों में उपयोगी हैं दिखाने लगे। इस प्रकार अभिमान का दूसरा आधार निकल गया।

(३) तीसरा अभिमान बुद्धिगत है। लोग अपनेको सदा कारणवान् समझते हैं। मानव बौद्धिक प्राणी है। वह पशुओं के समान वासना के वश में कोई काम नहीं करता है प्रत्युत उसे चिन्तन-शक्ति प्राप्त है। इस प्रकार के अभिमान के नाश करने का श्रेय वियना के एक वैद्य को प्राप्त हुआ है। फ्रायड आस्ट्रिया के प्रमुख मनोविज्ञानवेत्ता थे। उन्होंने दिखाया कि चित्त की अधिकांश वृत्तियाँ पशुवत् होती हैं। शरीर रचना में जिस प्रकार मनुष्य पशुओं का विकसित रूप सिद्ध हुआ उसी प्रकार चित्त के विषय में भी है। फ्रायड के उद्घोषों से लोग आगबबूला हो गये। उनके पहले शापनहॉवर आदि दार्शनिकों ने फ्रायड के समान विचार प्रकट किये थे। उन्होंने भी विशेष मिथुन शक्ति प्रबलता पर अपने ढंग से प्रकाश डाला था। किन्तु वे विचार विचार-मात्र रह गये थे क्योंकि उनके कारण व्यक्ति का अपना वैचारिक दृष्टिकोण नहीं बदलना पड़ा। फ्रायड उन दार्शनिकों के विचारों से परिचित न रहने पर भी रोगियों के लक्षणों से उनका परिज्ञान किया और उन लक्षणों के भीतर जो गूढ़ नियम काम कर रहे हैं उनका रहस्योद्भेदन करने लगे। फलतः उनके विचार दार्शनिकों के विचारों के समान होते हुए भी विज्ञान की नींव के ऊपर स्थापित किये जाने के कारण अधिक शक्तिशाली एवं क्रान्तिकारी सिद्ध हुए। फ्रायड की अचेतन मानस भूमि की स्थापना निरोध या अवदमन का सिद्धान्त और तीव्र मिथुन प्रवृत्ति आदि सिद्धान्तों ने मनुष्यमात्र के स्वीय प्रेम पर आघात पहुँचाया। अतः इस शास्त्र का विरोध पश्चिम में स्वभावतः सतत होने लगा। चित्त विश्लेषण शास्त्र नया ही है। उसकी अपनी महत्ता है। उसमें अपूर्व शक्ति है। यह सहस्रों मनुष्यों की परीक्षा और उनकी घटनाओं के सम्यग्ज्ञान पर अवस्थित है। अतः यह मैक्समूलर के शब्दों में वैज्ञानिक है:—

"विभिन्न घटनाओं की अनेकता के मूल में जब मन एक सुगठित एकता की खोज कर लेता है तब घटनाओं का अनुभूतिजन्य ज्ञान ही वैज्ञानिकता का स्थान ग्रहण कर लेता है।

—An empirical acquaintance with facts rises to a scientific Knowledge of facts as soon as the mind discovers beneath the multiplicity of single productions th unity f an organic system. *The Science of Language* First series, P 25 as quoted in the Intord ction on Jung's Psychology of the Unconscious. P VIII

इसी प्रकार के अनुभव और परिशीलन से 'चित्त-विश्लेषण शास्त्र' का उदय हुआ। उसने सभी प्रकार के शाखाशियों से बच कर आज की प्रवर्द्धमान स्थिति की प्राप्ति की है। जबतक उसके आरम्भिक विकास का सम्यक् ज्ञान न हो तबतक हम उसके सम्पूर्ण विकास का भलीभाँति परिचय नहीं पा सकते। चित्त विश्लेषण प्रारम्भ में मूर्च्छा (हिस्टिरिया) नामक वातव्याधि से सम्बद्ध था। हिस्टिरिया एक विचित्र मानस व्याधि है। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम भाग तक लोग ऐसे रोगियों को कुछ दिन पूर्व और कुछ दिन भूताविष्ट समझते थे। उनकी पीड़ा के निवारण के उपाय में सफलता कोई नहीं लगा था। वह समय ही ऐसा था। वैद्य केवल शरीर-ज्ञान तक ही अपने को सीमित रखते थे। चित्त के अस्तित्व में उन्हें किसी प्रकार का ज्ञान न था। अतः अन्य व्याधियों की भाँति हिस्टिरिया के निदान के लिए किसी विशेष पेशी का ज्ञान ही पर्याप्त समझा जाता था। जब इस व्याधि के कारणभूत पेशी का पता नहीं चलता था तब वे इसकी चिकित्सा करना ही छोड़ देते थे और बताने लगते थे कि रोगी पर कोई शैतान सवार है। *फलतः रोगियों की स्थिति बड़ी दयनीय हो उठती थी।*[1]

इस व्याधि के कारण की खोज के लिए जिन्होंने विशेष ध्यान और दृढ़ता के साथ परिश्रम किया उनमें पेरिस के चारको अग्रगण्य हैं। चारको परिस के नामी वैद्य थे। उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप हिस्टिरिया के रोगियों के प्रति जो उदासीनता प्रकट की जाती थी अथवा जो अमानुषिक व्यवहार किया जाता था वह सब लुप्त-सा हो गया। 'नैतिक पतन से अथवा भूतावेश से हिस्टिरिया होती है।'—इस प्रकार की धारणा का चारको ने मूलोच्छेद कर दिया। उन्होंने हिस्टिरिया के कई विभिन्न लक्षण देखे। उनके लक्षण (१) मृदुरूप में सिर दर्द अग्निमांद्य तथा अजीर्ण है (२) तीव्र रूप में पूर्ण अथवा आंशिक पक्षाघात, हिचकी, कास, मूकता, तीव्र वेदना, अहेतुक शंकाएँ और सन्ताप आदि हैं। हिस्टिरिया में होनेवाले पक्षाघात में एक विशेषता दिखाई पड़ी। साधारणतः जो पक्षाघात होता है उसमें एक अवयव का पक्षाघात हो जाने पर अन्य अवयवों का कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार के रोगी की अन्य अवयवगत धमनियाँ नाड़ियाँ आदि कुछ विकृत होंगी। परन्तु मूर्च्छा व्याधिजन्य पक्षाघात में दूसरी ही बात होती है। इसमें किसी प्रकार के शारीरिक विकार नहीं होते हैं। कारण के बिना ही शारीरिक अवयव काम करना छोड़ देते हैं अथवा अन्यथा काम करने

[1]—The determination of the existence of the devils claw (a patch of ensensitive skin somewhere upon the body of the alleged witch a sign frequently met with in the modern hospital under the less lurid name of hysterical anaesthesia) together with a member of other fantastic tests constituted the witch trial. This atrocious institution obtained firm hold upon the nations of Europe and praisted even into the eighteenth century Some idea of its extent may be gained from the fact that within a few years six thousand five hundred peopl were executed for witch craft in the prin ipality of treves alone" Hart *The Psychology of Insanity p. 5*

लग जाते हैं। दूसरी विशेषता शारको को यह दिखाई दी कि हिस्टिरिया के रोगी के वश में पूर्व से ही कोई न कोई असाधारण बात दिखाई पड़ती थी। शारको की धारणा हुई कि यह व्याधि रोगी को परम्परा से प्राप्त है। उनके परिशीलन ने उन्हें यह भी दिखा दिया कि हिस्टिरिया पुरुषों को भी होती है। तबतक लोग समझते थे कि यह स्त्रियों को ही हुआ करती है। यहाँ तक कि शारको के यहाँ से कुछ वर्ष के अध्ययन के बाद जब फ्रायड वियना गये और जब वहाँ अनुभवी वैद्यों के सामने पुरुषों में हिस्टिरिया के अस्तित्व सिद्धान्त की चर्चा की तब वहाँ के एक वृद्ध सर्जन ने उनका तिरस्कार करके कहा—'परन्तु मेरे प्रिय महाशय आप इस प्रकार का अनर्थ कैसे करते हैं! हिस्टिरान का अर्थ गर्भाशय है। तब पुरुषों को हिस्टिरिया हो कैसे सकता है?'[१] इस प्रकार के भ्रम को शारको ने दूर किया और अनेक पुरुषों में हिस्टिरिया के अस्तित्व को सिद्ध करके बता दिया। हिस्टिरिया के कारण शारको की दृष्टि में कुछ (मानसिक) 'क्षत' हैं।[२] उन्हें विदित हुआ कि किसी न किसी शारीरिक क्षत के अनन्तर ही यह व्याधि उत्पन्न होती है। वही क्षत सभी में रोग उत्पन्न नहीं कर सकता है। किसी व्यक्ति-विशेष में उसका बीज जमता है। रोग की उत्पत्ति जन्मगत परिस्थिति पर अवलम्बित है। शारको ने यह परीक्षण करना चाहा कि कृत्रिम उपाय से रोगी में हिस्टिरिया के लक्षण उत्पन्न होते हैं या नहीं। उन्होंने उपाय करके रोगियों को संमोहित या (Hypnotise) मस्तापित किया। उस अवस्था में वे रोगी को सूचित करते थे कि उसे पक्षाघात हो गया। और सचमुच उस रोगी को पक्षाघात हो जाता था। इससे सिद्ध हुआ कि रोगी के चित्त में दूसरी एक भूमि है जो सूचित विषय की जानकारी से उसके अनुसार काम करती है। शारको इस विचार प्रणाली को पकड़कर आगे नहीं बढ़े। उनकी दृष्टि व्याधि के शारीरिक कारण खोजने की सीमा तक ही बँधी रही। लेकिन उनके कार्य ने आगे के वैज्ञानिकों के लिए एक महत्त्व मार्ग खोल दिया। 'हिस्टिरिया भूतों का खेल है'—अब यह भ्रम दूर हो गया और यह व्याधि भूतों और भूतों में विरक्त कुचलकर मनोविज्ञान एवं मनोवैज्ञानिक उपचार का एक रोचक विषय बन गई। स्पष्ट है शारको के प्रभाव से औपचारिक शास्त्र को एक विशिष्ट गति मिली। शारको का सूत्र तदनुकूल विचारकों का बंधित भया। दूसरे वैद्य जिन्होंने हिस्टिरिया के विषय में खोज की है फ्रान्स के बरनहाईम और जीना हैं। ये शारको के समकालीन थे। उन्होंने शारको के प्रयास पर ध्यान दिया। शारको ने सिद्ध किया था कि रोगी के चित्त में गुप्त भूमि का चलना है जो निर्देशित विषय को अपनाती है। बरनहाईम को सूझा कि प्रस्थापित स्थिति में निर्देशित रोगी में भरे का कथा करते हैं। शारको ने इस मत में एक रोग-लक्षण उत्पन्न किया। उसी भांति में सम्पूर्ण व्याधि पर बेरनहाईम ने

---

[१]—One of them an old surgeon actually broke out with the exclamation — But my dear sir how can you talk such nonsense! Hysteron (sic) means the uterus. So how can a man be hysterical?
—S Freud *The Problem of Lay Analysis*; Brentano N Y 1927 p 204

[२]—Trauma.

दृष्टि खोजाई। उन्होंने सोचा, 'यदि चारको ने पक्षापात उत्पन्न किया तो मैं उसके निवारण का प्रयत्न करूँगा। बेरनहाईम् उसी प्रस्थापित अवस्था में रोगी से विशेष प्रकार से बातचीत करते थे। धीरे धीरे उन्हें विदित हुआ कि इस प्रक्रिया से रोग के लक्षण दूर होते हैं। उन्हें विश्वास हुआ कि अपनी ही बातों के कारण लक्षण लुप्त हो गये। अतः उन्होंने प्रस्थापन निर्देश का सिद्धान्त प्रकट किया। इतना हुआ, पर रोग क्यों हुआ? इस प्रश्न पर अधिक प्रकाश नहीं पड़ा। हिस्टिरिया को दूर करने में प्रस्थापन (Hypnosis) और निर्देश (Suggession) की आवश्यकता प्रकट हुई। लेकिन व्याधि की समाप्ति पर किसी प्रकार का प्रकाश न पड़ा, और खोज ज्यों-की त्यों रह गई।

इस काम को फ्रैंने ने उठाया। उन्हें यह शङ्का हुई कि निर्देश के कारण ही व्यक्ति को हिस्टिरिया हुई। निर्देश से रोग निकल जाता है तो सम्भवतः उसी के कारण रोग उत्पन्न हुआ हो। रोगी ने अपने आपको निर्देशित किया होगा और उस बात को भूल गया होगा। निर्देशित विषय चित्त में रह जाता है और रोग का कारण बन जाता है। फ्रैंने सोचने लगे व्यक्ति उस बात को क्यों भूल जाता है। उन्हें चारको के वंशानुक्रिवाद का स्मरण हुआ। चारको ने कहा था कि रोगी की शरीर-रचना में जन्म से ही अपूर्णताएँ थीं। फ्रैंने ने कहा कि इन्हीं अपूर्णताओं के कारण व्यक्ति अपनी गुप्त शक्ति की बातें भूल जाता है और व्याधि से पीड़ित हो जाता है। सम्भवतः विस्मृति को दूर करने से रोग का निवारण हो सकता है। जेने को उपाय सूझा। प्रस्थापित (सम्मोहित) स्थिति में हम रोगी से मनोनुकूल प्रक्रियाएँ करा सकते हैं—यही बेरनहाईम् का कहना था। निर्देश से व्यक्ति की गुप्त शक्ति की सभी बातों को प्रभावितकर उन्हें परिवर्तित कर दें तो अच्छा होगा। अपने प्रभाव से रोगी के चित्त में नवीन बातें प्रविष्ट कराने का जेने ने यत्न किया। उसी से रोग के लक्षण मिट जाते थे। उन्होंने देखा कि एक स्त्री आग से बहुत डरती थी। किसी प्रकार से भी वह उसका कारण नहीं बता सकती थी। किन्तु सम्मोहन के प्रभाव में उसके कारणों का अति स्पष्ट रूप से वर्णन करती थी।[१] हिस्टिरिया की यही विशेषता है। कारणों के पता बताने में रोगी से किसी प्रकार की सहायता मिलने की आशा नहीं रहती है। अस्तु, जेने ने उस स्त्री को सम्मोहित किया और वे उसकी कारणभूत बातें जानने लगे। इससे जेने ने यह सिद्धान्त निकाला कि व्यक्ति में दो शक्तियाँ हैं: एक अज्ञात (अचेतन) और दूसरा ज्ञात (चेतन) जो एक दूसरे को नहीं जानतीं। सम्मोहित दशा में जैसे निर्देश से उन बातों स्थितियों को एक रूप में रोगी से जैसा कहा तो रोग का उपशम हो जाता है। इसमें जेने ने व्यक्तिभेद का सिद्धान्त निकाला। प्रत्येक व्यक्ति में, वास्तव में दो भिन्न तत्त्व हैं: एक ज्ञात और दूसरा अज्ञात, जो आपस में एक दूसरे को नहीं जानते हैं। अज्ञात तत्त्व का प्रभाव ज्ञात तत्त्व पर पड़ता है। ज्ञात तत्त्व उससे अभिभूत होता है लेकिन वह यह नहीं जानता कि क्यों और किससे वह अभिभूत हुआ है। इस प्रकार से अज्ञात का ज्ञात पर आक्रमण ही हिस्टिरिया का निदान है।

१—Van der Hoof Character and The Unconsious, Chap I

जैने के सिद्धान्त के प्रकट होने के पूर्व ही विएना के वैद्य फ्रायड इसी नतीजे पर पहुँचे किन्तु उनका साधन दूसरा था। जैने के सिद्धान्त में जो छूट गया, वह फ्रायड के सिद्धान्त में भी नहीं है। जैने यह नहीं बता सके कि (१) समाज में रहनेवाली शक्ति के *कारण उसी प्रकार के व्याधि लक्षण क्यों होते हैं? (२) अज्ञातगत विचारों का क्या* स्वरूप है? (३) उनमें और लक्षणों में क्या सम्बन्ध है? (४) निर्देश से वे लक्षण दूर कैसे होते हैं? (५) रोगी ने क्यों अपने-आपको ऐसा निर्देशित किया कि जिससे वह व्याधिग्रस्त हो सकता है? जैने की पद्धति में भी कुछ त्रुटियाँ हैं (१) उन्होंने बिना परीक्षा के ही चारको के इस मत को स्वीकार कर लिया कि वंश परम्परा से सम्प्राप्त शारीरिक दोषों के कारण व्यक्ति हिस्टिरिया से अभिभूत होता है (२) वे व्यक्ति के मन में अपने विचार प्रवेश कराते थे और व्यक्ति की व्याधि थोड़े दिनों तक सुसुप्त दिखाई पड़ती थी पर वह फिर अपना सिर उठाती थी। अतः उनकी प्रक्रिया से स्थायी लाभ प्राप्त नहीं होता था।

फ्रायड ने उपर्युक्त दोषों को कुछ हद तक दूर किया। इसमें उन्हें ब्रायर से सहायता प्राप्त हुई। फ्रायड ने अपने परिश्रम से कोई प्रक्रिया ढूँढ़ नहीं निकाली। परिस्थिति से ही उन्हें एक नई वैद्यक-प्रक्रिया का पता चला। ब्रायर के यहाँ चिकित्सा के लिए अनेक रोगी आते थे। उनमें एक समय एक स्त्री भी थी। उसकी दशा के परिशीलन ने ब्रायर को नवीन बातें सिखला दीं। संक्षेप में रोगिणी और रोग का परिचय यह है:—रोगिणी नवयौवना स्त्री थी। वह कुलीना, सुसंस्कृता और विदुषी थी। अपने रोगी पिता की सेवा करते समय वह रोगग्रस्त हुई थी। पिता बीमार थे। उसी को पिता की सेवा करनी पड़ी। सेवा करते समय उसमें मनोव्याधि के लक्षण दिखाई देने लगे। पिता के मरण के बाद उसे हिस्टिरिया हो गई। वह चिकित्सा के लिए ब्रायर के पास आई। उस समय व्याधि के ये लक्षण थे—दाहिना हाथ जड़ हो गया था उससे उसे कोई संवेदना नहीं मालूम होती थी, वह अपनी मातृभाषा जर्मन को अच्छी तरह जानती और समझती थी। पर रोग की दशा में वह सदा अंग्रेजी बोलने लग गई थी।

ब्रायर इस समय में विशेष ध्यान देने लगे। दिन प्रति दिन उन्हें यह व्याधि विचित्र मालूम होती गई। जब वैद्य रोगी का 'दर्शन स्पर्शन प्रश्नैः' परीक्षा करते हैं। इन तीनों से ब्रायर को कुछ नहीं मालूम हुआ। क्योंकि वह नवयुवती अपने रोग के विषय में कुछ भी नहीं कह सकती थी। एक दिन ऐसा हुआ कि वह उनसे बातचीत करते करते ऊँघने लग गई। उस तन्द्रा की अवस्था में वह अनूठी बातें *करने लगी।* वह उस समय अपनी व्याधि के विषय में ऐसी बातें कहने लगी, जिसे जाग्रतावस्था में वह किसी प्रकार भी नहीं कह सकती थी। ब्रायर को आश्चर्य हुआ। इसी तन्द्रा की अवस्था पर उनको विशेष औत्सुक्य हुआ। तब से वे उससे प्रस्थापित दशा में व्याधि के कारणों के विषय में प्रश्न करने लगे। फलतः उन्हें ऐसी बातों का पता चला जो उस रोग के निदानभूत परिस्थितियों से सम्बन्ध रखती थीं जिनमें और व्याधि-लक्षणों में हेतु-फल-संगति का परिवर्तन होता था। क्रमशः ब्रायर महोदय

को उस समय नवयुवती से निम्नलिखित बातें ज्ञात हो गईं। उसने बताया—"मैं पिता की सेवा करती थी। डाक्टर की प्रतीक्षा करते एक दिन बैठी थी। उनके ध्यान में देर हो रही थी। मैं एक कुर्सी पर बैठ गई और अपना दाहिना हाथ उस कुर्सी की पीठ पर डाल दिया। मन में विभिन्न कल्पनाएँ उठती थीं और तन्द्रा सी मालूम होने लगी। उसी अवस्था में मुझे एक साँप सामने दिखाई दिया। वह पिताजी की ओर बढ़ता आ रहा था। मालूम होता था कि वह उन्हें डसने के लिए आ रहा है। उसे भगाने की प्रबल इच्छा से मैं विह्वल हो उठी। हाथ से उसे हटाने गई, किन्तु हाथ उठा नहीं। वह जड़ हो गया था। इतने में देखती क्या हूँ कि सारी अँगुलियाँ छोटे छोटे साँप बन गई हैं। उनके सिर मृत्यु-देवता के सिर के समान प्रतीत होते थे। मैं भयभीत हो गई। पुकारना चाहा किन्तु स्वर कहाँ! प्रार्थना करने की इच्छा हुई पर शब्द नहीं निकले। अन्त में एक अँगरेजी गाना स्मरण आया। मैं गाने लगी। आपत्काल में मैं सदा वही गाना गाया करती थी।"

उस नवयुवती के रोग-लक्षणों में और कथित वृत्तान्त में अनेक बातें मिलती सी हैं। पिता के पास बैठी हुई उसने जब वह घोर दृश्य देखा था तब उसका दाहिना हाथ कुर्सी की पीठ पर डाला गया था, और जड़-सा हो गया था। इसमें उसके रोग में भी वही हाथ जड़ हो गया। उसने उस समय प्रार्थना करनी चाही। कोई प्रार्थना स्मृति-पट पर नहीं आई। अन्त में उसे अँगरेजी गाना का स्मरण हुआ, जिसे उसने अपने शैशव में अपनी दाई से सीखा था। इसीसे उस रोग की दशा में वह केवल अँगरेजी ही बोल सकती थी और लिख सकती थी। इस प्रकार लगभग डेढ़ साल तक उसे अपनी मातृभाषा जर्मन का स्मरण तक न हुआ। इस घटना के अन्तर्गत किसी शरीर क्षत (घाव) की कोई चर्चा नहीं है। हाथ का जड़ हो जाना अथवा अँगरेजी गाने का स्मरण आना क्षत नहीं कहा जा सकता है। लेकिन उस घोर दृश्य की भीषणता ने क्षत का रूप लिया। अतः व्याधि के मूल में कोई भी बात विशेष स्वरूपेण विद्यमान नहीं थी। वास्तव में अनेक साधारण घटनाएँ व्यूह बनकर अज्ञातरूपेण रहती थीं और रोग के कारण बन जाती थीं। उन सबमें आपस में सम्बन्ध रहता था किन्तु उनमें और रोग की ज्ञात चित्त-वृत्तियों में किसी प्रकार का सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता था। उन सभी अज्ञात घटनाओं में भाव की समानता दिखाई देती थी। साधारण दशा में नवयुवती उन सब बातों को नहीं बता सकती थी। किन्तु सम्मोहन की दशा में उसकी शक्ति का क्षेत्र विस्तृत होता विदित हुआ। उस समय में स्वस्थ नवयुवती अतीत स्मृतियों को जानती थी। घटनाओं का उल्लेख करते समय वह भावाविष्ट होती थी। उसकी कही हुई कथा पूर्ण वृत्तान्त का अंशमात्र थी। बतान समय उसे दुःख होता था। घटना काल में जो जो भाव उसके मन में उठ थे, उन्हें वह मनसाविष्ट दशा में स्पष्ट प्रकट करने लगी थी। सम्मोहित स्थिति में मालूम होता था कि वह पुनः एक बार घटनाकाल में रहने लगी है। ज्यों-ज्यों अज्ञात बातें विदित होती थीं, त्यों-त्यों भाव का रेचन होता जाता था और लक्षण लुप्त होते जाते थे। रोग-लक्षणों को निकाल देने के लिए वैद्य को विशेष परिश्रम नहीं करना

पड़ता था। निदान के साथ-साथ उनकी व्याख्या से लक्षण मिट जाया करते थे। इन सभी बातों के आधार पर जैने महोदय के सिद्धान्तों से भिन्न ब्रयार ने कुछ सिद्धान्त प्रकट किये :—

(१) जैने ने 'व्यक्तिभेद' का सिद्धान्त निकाला। पर व्यक्तिभेद का कारण वे नहीं बता सके। ब्रयार ने कहा कि कई तन्द्रा-सदृश अवस्थाएँ होती हैं। उसमें व्यक्ति को अपनी क्रियाओं पर पूर्ण अधिकार नहीं रहता है। उस समय व्यक्ति की विचार-शक्ति और तर्कण शक्ति शिथिल रहती है। इन बातों से छोटी बात भी प्रबल वेगवाली सिद्ध होने लगती है और वे अपने वेग से व्यक्ति को अभिभूत करती हैं। इन स्थितियों का नाम तन्द्रारूप अवस्थाएँ है।

(२) सभी तन्द्रारूप अवस्थाओं की बातों में परस्पर सम्बन्ध रहता है, किन्तु और व्यक्ति के ज्ञान चैतन्य में कोई सम्बन्ध नहीं रहता है।

(३) इन बातों को व्यक्ति भूल जाता है, किन्तु वे अचेतन रूप से अपने भावावेग के साथ जाग्रत रहती हैं।

(४) व्यक्ति इन अज्ञातगत अर्थात् अचेतन मन में स्थित विषयों का स्मरण नहीं कर सकता है क्योंकि उनके बताने में लज्जा और घृणा होती है।

(५) प्रभाव मात्र शारीरिक रूप धारण करके व्याधि लक्षणों के रूप में परिणत होता है। इसी को फ्रायड ने परिवर्तन का नाम दिया।

(६) अतः रोग का निवारण वैसे ही तन्द्राकल्पावस्था में हो सकता है जैसा कि सम्मोहितावस्था में प्रकट है।

(७) रोग के निवारण के लिए निर्देश की कोई आवश्यकता नहीं है। अचेतन मन के रेचन से ही लक्षण मिट जाते हैं।

ब्रयार ने इस प्रकार की चिकित्सा का 'निर्मली' अथवा विरेचन (Catharsis) नाम रखा। रोगी इस चिकित्सा-पद्धति को 'बातचीत चिकित्सा' (टाकिंग क्योर) 'चिमनी सुहार' (चिमनी स्वीपिंग) कहते थे। बातचीत में ही रोगी की व्याधि शमीभूत होती थी। इस प्रकार भावों के प्रबल का अवधान हुआ। श्री ब्रयार और डा० फ्रायड में मित्रता थी, अतः ब्रयार ने डा० फ्रायड से इन सभी प्रक्रियाओं की चर्चा कर दी। दोनों इसी प्रणाली से प्रयोग करने लगे। लेकिन कुछ ही दिनों के उपरान्त डा० फ्रायड को ब्रयार से अलग होना पड़ा। दोनों के विचार एक साथ नहीं मिलते थे। फ्रायड अलग हुए और हिस्टिरिया के साथ अपना निजी प्रयोग करने लगे।

(१) दोनों के मतभेद का कारण आरम्भ में रोग की उत्पत्ति के विषय में था। श्री ब्रयार का रोग निदान तन्द्रारूप अवस्थाओं तक ही सीमित था। उनका अधिक विचार व्यक्तिभेद (रुग्ण भेद) में होकर तन्द्रारूप अवस्थाओं पर था। उनके मत में व्यक्तिभेद गौण था किन्तु फ्रायड को वही मुख्य प्रतीत होने लगा। उनके विचार में व्यक्तिभेद की तह में अज्ञातरूपेण अनेक इच्छाएँ और शक्तियाँ काम करती दिखाई देती थीं। प्रत्येक विस्मृत घटना के मूल में व्यक्ति के कुछ विशेष उद्देश्य दिखाई पड़ते हैं और अचेतन मन की वृत्तियों के प्रभाव रहने से तन्द्रारूप अवस्थाएँ किसी प्रकार की

सहायता पहुँचाती नहीं दृष्टिगोचर होती थीं। (२) श्रमार महोदय के रोगी की चिकित्सा की परिणाम-दशा डा० फ्रायड को ज्ञात नहीं हुई। श्री श्रमार ने उनसे कुछ बातें अवश्य छिपाई हैं ऐसा उन्हें भान हुआ। (३) इसके साथ ही डा० फ्रायड को प्रारम्भ से ही प्रस्वापन (सम्मोहन) की प्रक्रिया में एक प्रकार का अविश्वास था। उन्हें इस प्रक्रिया में रोग निवारण का उचित साधन नहीं प्रतीत हुआ। किन्तु विरेचन (कथार्सिस) के लिए किसी अन्य साधन के अभाव में डा० फ्रायड ने कुछ दिनों तक उसी का अनुसरण किया। सम्मोहन प्रक्रिया के विषय में उनके विरोध के प्रारम्भिक कारण ये हैं — (१) वे प्रत्येक रोगी को प्रस्वापित (सम्मोहित) नहीं कर पाते थे। प्रस्वापित होना या न होना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर रहता है, अतः सब के, सभी व्यक्ति प्रस्वापित नहीं भी हो सकते थे। (२) यदि रोगी व्यक्ति थोड़ा-बहुत किसी प्रकार प्रस्वापित हुए भी तो उनकी प्रस्वापितावस्था इतनी प्रगाढ़ नहीं थी जितनी कि अपेक्षित थी। (३) प्रस्वापन-प्रक्रिया से रोग के लक्षण के एकबार शमित हो जाने पर भी फिर उनका पुनरावर्तन हो जाया करता था। रोग के उपशम और रोगी तथा वैद्य के पारस्परिक सम्बन्ध पर उपशम की स्थायी सफलता निर्भर रहती थी। वैद्य के रोगी से अलग हो जाने पर रोग पुनः सिर उठाता था। इससे यह विदित होता था कि निर्मलीकरण अथवा विरेचन की सारी प्रक्रियाओं से भी वैद्य और रोगी का पारस्परिक सम्बन्ध ही व्याधि की उपशान्ति में अधिक सहायता पहुँचाता है। एक घटना ने इन शंकाओं का समर्थन-सा किया और डा० फ्रायड को विवश किया कि वे सम्मोहन प्रक्रिया छोड़ दें। एक समय उनके निरीक्षण में मानसिक व्याधि से पीड़ित एक नवयौवना थी, जो डा० फ्रायड के प्रत्येक आदेश का पालन करती थी। डा० फ्रायड उसे प्रस्वापित करके रोग का इतिहास पूछा करते थे और भाव के रेचन से व्याधि के उपशम करने का प्रयत्न करते थे। एक दिन उस स्त्री ने प्रस्वाप से उठते ही डा० फ्रायड को गले से लगा लिया। जिस बात की आशंका डा० फ्रायड को पहले से थी, वह प्रत्यक्ष हो गई। इसके उपरान्त उन्होंने सम्मोहन प्रक्रिया का सहारा छोड़ दिया। इस प्रकार सम्मोहन प्रक्रिया के परित्याग से चित्त विश्लेषण शास्त्र का वास्तविक उदय हुआ। चित्त विश्लेषण प्रक्रिया की पूर्वपीठिका से उसका उत्तरकाल अधिक मादक है।

डा० फ्रायड ने सम्मोहन प्रक्रिया छोड़ तो दी किन्तु उन्हें अभी कोई ऐसी प्रक्रिया नहीं उपलब्ध हुई जिसके द्वारा वे अचेतन में अथवा स्मृति के गर्भ में पैठी अनुभूतियाँ जगा सकें। अतः उनकी विशिष्ट खोजों का अध्यवसाय प्रारम्भ हुआ। उन्हें अन्त में, एक ऐसी अनुभूति का स्मरण हुआ जिससे उन्हें विशेष गति मिली। उन्होंने अपने प्रारम्भिक अध्ययन-काल में एक बार बेरनहाईम के यहाँ प्रस्वापन के कुछ प्रयोग देखे थे। बरनहाईम् प्रसिद्ध प्रस्वापक थे। बहुधा वे उस प्रक्रिया के अनूठे मर्म पर प्रकाश डाला करते थे। डा० सिग्मण्ड फ्रायड ने देखा कि प्रस्वापन के उपरान्त बरनहाईम् रोगी के मस्तक पर हाथ रखते थे, थोड़ा उसे दबाते थे और कहते थे "स्मरण कीजिए, प्रस्वापित अवस्था में आपको कौन सी बातें कही गईं और आपने क्या-क्या कहा ?" इस प्रयोग में प्रारम्भ में मालूम पड़ता था कि रोगी को सम्मोहित

अवस्था की कोई बात स्मरण नहीं है। किन्तु जब बेरनहाईम् मस्तक पर हाथ रखकर उसे आश्वासित करते थे तब रोगी प्रारम्भ में धीरे धीरे किन्तु कुछ देर के उपरान्त सम्मोहित अवस्था की सारी बातें धाराप्रवाह कहने लग जाता था। अब फ्रायड ने भी उसी प्रणाली से आगे बढ़ने का निश्चय किया तब उन्होंने सोचा कि यदि प्रस्वापित दशा की सभी विस्मृत घटनाओं को कुछ प्रयास से उस दशा के अनन्तर भी स्मरण कराया जा सकता है तो अचेतन के गर्भ में बैठी सभी घटनाओं एवं अनुभूतियों को बिना सम्मोहन किया के स्मरण कराया जा सकता है। थोड़ी सहायता से रोगी सभी बातों का स्मरण कर सकता है। डा० फ्रायड ने ठीक बेरनहाईम् के समान ही अपनी प्रक्रिया आरम्भ की। अन्तर इतना ही था कि जो बेरनहाईम् एक रोगी को प्रस्वापित करते थे और डा० फ्रायड ने ऐसा करना श्रेयस्कर नहीं समझा। किन्तु यही अन्तर बहुत महत्त्व का था। प्रस्वापन (सम्मोहन क्रिया) के परित्याग से हिस्टिरिया की समाप्ति पर विशेष प्रकाश पड़ा। सम्मोहन प्रक्रिया के परित्याग से अन्य नवीन बातें भी ज्ञात होने लगीं। प्रस्वापित हुए बिना विस्मृत घटनाओं के उल्लेख में रोगी को बहुत ही श्रम करना पड़ता था। सभी बातें याद नहीं आती थीं। स्मरण आने पर भी उन बातों की व्याख्या वह नहीं कर सकता था। उन सभी बातों में कुछ न कुछ दुःख अनिच्छा जुगुप्सा अथवा लज्जा होने की सम्भावना प्रतीत होती थी, और इसी कारण रोगी को अत्यन्त वेदना और श्रम का अनुभव करना पड़ता था। ऐसा लगता था मानों अपने भीतर ही भीतर कुछ शक्तियों का विरोध कर रहा है और उसके अन्तस्तल में कोई घोर संग्राम हो रहा है। ऐसी स्थिति में जब वैद्य उन बातों को अर्थात् अनुभूत घटनाओं को स्मरण करने के लिए रोगी को उत्तेजित करता था तब रोगी ऐसे प्रयत्न का प्रतिरोध करता था। इन बातों में चैत्र जीवन का सच्चा स्वरूप दिखाई पड़ने लगा। हिस्टिरिया का कारण न तो 'प्रसमेद' था और न सम्मोहनावस्थायें। उसका कारण बाधाओं के अवदमन (निरोध) एवं प्रतिरोध में पाया जाता है। इसके कारण के मूल में मानस नियमों की शृङ्खलायें भी पाई जाती हैं। चैत्र-यन्त्र जड़ नहीं है। यह चैतन्यविशिष्ट है। उसमें सदा भाव और अभाव अथवा चेतन और अचेतन क्रम से शक्तियाँ और संस्कार स्फुरित और निष्क्रिय होते रहते हैं। चित्त-वृत्तियाँ आविर्भूत और तिरोभूत हुआ करती हैं। किन्तु डा० फ्रायड ने देखा कि इस प्रकार की उद्धारात्मक प्रक्रिया में विशेष बाधायें पड़ जाया करती हैं। किसी विशेष लक्षण के बारे में जिज्ञासा करने से और उसके मूलभूत स्मृति संस्कार (स्मृति चिह्न) को जगाने में रोगी को अत्यन्त पीड़ा होती थी और वैद्य को बहुत ही परिश्रम करना पड़ता था। अतः उन्होंने निश्चय किया कि किसी विशेष लक्षण के बारे में न पूछा जाय बल्कि रोगी को सम्पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जाय जिससे जो कुछ उसके मन में आवे वह वही कहे। न केवल अपनी कहानी ही, प्रत्युत मन में आनेवाले सभी चित्रों अथवा प्रतिरूपों को बता देने के लिए डा० फ्रायड रोगी को अनुप्राणित करते। साथ ही साथ वे रोगी को यह भी स्पष्ट बता देते थे कि उसे कुछ भी छिपाना नहीं चाहिए। पूर्णतया असम्बन्धित साधारण-से-साधारण अर्थशून्य से अर्थशून्य बातें या प्रतिरूप भी मन में आ जावें तो उन्हें भी बता देना श्रेयस्कर होगा। इस

प्रकार उन्होंने देखा कि इस प्रकार की प्रणाली से भी रोगी अवदमित कांक्षाएँ प्रकट कर देता था और भाव का रेचन हो जाता था। इस प्रक्रिया का उन्होंने स्वच्छन्दानुबन्ध अथवा स्वतन्त्र या सहज साहचर्य (फ्री एसोसिएशन) की संज्ञा दी क्योंकि रोगी यथाभिमत जो कुछ कहता जाता था, उन सभी बातों में एक अनुबन्ध-परम्परा (अतीत स्मृति-साहचर्य-क्रम) दिखाई पड़ती थी[1]।

स्वच्छन्दानुबन्ध अथवा स्वतन्त्र साहचर्य अन्य प्रक्रियाओं से कई बातों में श्रेष्ठतर एवं सुगमतर है—(१) इस प्रक्रिया द्वारा रोगी पर किसी प्रकार का अप्राकृतिक बल नहीं पड़ता (२) वैद्य को किसी प्रकार का विशेष परिश्रम उठाना नहीं पड़ता है और न वैद्य की ओर से रोगी पर किसी प्रकार का अनीप्सित या ईप्सित प्रभाव ही डाला जाता है। (३) इसमें कभी भी अनुबन्ध-परम्परा नहीं टूट सकती क्योंकि मन में कोई-न-कोई अनुबन्ध उठता ही रहता है। रोगी को यह समझने का कोई कारण नहीं है कि उसपर कोई अपना प्रभाव डालता है, क्योंकि इस प्रक्रिया में रोगी को अपनी आँखें बन्द नहीं करनी पड़ती हैं। वैद्य रोगी को छूता तक नहीं। रोगी को किसी प्रकार से अपनेको अभिभूत समझने की सम्भावना नहीं है। केवल रोगी को सुखासन पर लेटना पड़ता है। वैद्य उसके पीछे बैठता है और पीड़ित रोगी की सभी प्रक्रियाएँ सुनता एवं देखता है। वह स्वयं रोगी की आँखों की ओट में रहता है जिससे रोगी अपने कथन में किसी प्रकार के संकोच का अनुभव न करे। इन सभी बातों के होते हुए भी स्वच्छन्दानुबन्ध को स्वच्छन्द नहीं कह सकते हैं क्योंकि अनुबन्धों पर चिकित्सा की परिस्थिति कुछ प्रभाव डालती ही है। "मैं अपने रोग की शान्ति के लिए आया हूँ और वैद्य मेरे रोग का निवारण करेगा, इस प्रकार की भावना का उठना तो रोगी के मन में अवश्यम्भावी है और इस विचार का प्रभाव अनुबन्धों पर पड़ता ही है। लेकिन यह दोष सभी चिकित्सा-प्रकारों में पाया जाता है और इसके बिना चिकित्सा हो ही नहीं सकती है। लेकिन यह आश्चर्य की बात है कि बातचीत करने में ही रोग का निवारण हो जाता है। बातों में कौन-सा प्रभाव है, यह बहुत कम लोग जानते हैं। अतः उन्हें स्वच्छन्दानुबन्ध अथवा स्वतन्त्र साहचर्य की सचाई में शङ्का होती है। इस विषय में डा० सिगमण्ड फ्रायड का निम्नलिखित कथन पठनीय एवं विचारणीय है—

१—"कल्पनोत्पन्नकुम्भोत्कलमोलनाम्।
न हि येन कृता त्वत्ता देहस्य येन तुष्यसि॥ (त्वत्ता=ममत्व)
—योगवासिष्ठ, वैराग्य प्रकरण, सर्ग ११ श्लोक ३४।

यथाभिमतमातु यं न हि प्रासयसि यानर।
स्वमेव दुर्लभं भोरसन्ने त्वांतु भाषय॥ वही, ११-३।

"कल्पनोत्पन्न" के समान, चित्त के कारण अथवा लोकप्रवृत्ति को छोड़कर क्या भिन्न कारण से दुःख पा रहे हो। हे वानर, यथाभिमत बातें जो प्रत्यक्ष न करो और स्वयं इस प्रकार की बातें बताओ। इनसे तुम यथाभिमत को पाओगे और अपनी दुःख पूरी हो जाएगी।

"पहले शब्द इन्द्रजाल थे और शब्द की पुरानी ऐन्द्रजालिक शक्ति आज भी बहुत सीमा तक पाई जाती है। शब्दों के द्वारा मनुष्य दूसरों को धन्य बना सकता है, अथवा निराशा के गर्त में डाल दे सकता है। गुरु अपना ज्ञान-भाण्डार शिष्य को वचनों से ही प्रदान करता है, वचनों से ही वक्ता श्रोताओं को अपने साथ बहा ले जाता है तथा उनके निर्णयों एवं मतों को निश्चित रूप देता है। वचनों से भावावेग उत्पन्न होते हैं तथा ये मानव हृदय को मुग्ध करने के विश्वजनीन साधन हैं। अतः मानसिक चिकित्सा में शब्दों की प्रधानता पर हम ध्यान देने में कमी न रखें।"[1] इसी प्रकार से मनु महाराज ने कहा है—"सभी अर्थ वाणी में हैं। सभी का मूल वाक् (वाणी) है। इसी से सभी अर्थ निकलते हैं। अतः जो अपनी वाणी का दुरुपयोग करता है, वह सभी प्रकार के स्तेय का करनेवाला है।" महाकवि 'भवभूति' का कथन है : सुवृत्त वाक् को लोग सभी महत्तों की मा महत्ता का देनेवाली गाय कहते हैं। ऋषियों ने उन्मत्त एवं गर्वित के वचनों को राक्षसी कहा है। वाणी से ही वैर आदि का उद्भव होता है। यही इस लोक की निष्कृति है। अतः स्पष्ट है कि बातें सर्वप्रधान हैं। इन्हीं के बल से प्रसिद्ध मानसिक चिकित्सक डा० फ्रायड व्याधि निवारण करने में समर्थ हुए हैं।

रोग शान्ति के लिए प्रयत्न करते समय डा० फ्रायड को सदा यह निश्चित होता था कि रोगी अपने जीवन के सभी गूढ़ रहस्यों को प्रकट कर देता है। उन्होंने यह देखा कि गूढ़ रहस्यों में प्रधानतया मिथुन सम्बन्धी बातें ही रहती हैं। ये बातें प्रायः समाज की दृष्टि में निन्द्य इच्छाएँ ही रहती हैं। एक भी ऐसा रोगी उन्हें नहीं मिला जिसने अपने कथन में मैथुन सम्बन्धी बातों की चर्चा न की हो। उन्हें यह स्पष्ट प्रतीत होता था कि रोग के मूल में मिथुन सम्बन्धी इच्छाओं का अवदमन अथवा निरोध ही निदान स्वरूप रहता है। इन बातों को बार-बार देखने से डा० फ्रायड को दृढ़ विश्वास हो गया कि काम सम्बन्धी इच्छाओं का इस प्रकार का दमन या निरोध हिस्टिरिया आदि व्याधियों का एकमात्र कारण है।

इसी 'मैथुन सिद्धान्त' के कारण चित्त विश्लेषण शास्त्र को समाज द्वारा उतनी मान्यता नहीं मिली जितनी कि अपेक्षित थी। जितना विरोध इस सिद्धान्त का हुआ उतना और किसी का नहीं हुआ होगा। लोग कहने लगे कि हिस्टिरिया का मूल कारण काम प्रवृत्ति नहीं हो सकती। विरोध यहाँ तक बढ़ा कि स्वयं डा० फ्रायड के कुछ मित्रों ने भी उनका साथ छोड़ दिया। फ्रायड सोचने लगे—"मैंने तो भूल की है।

1—Words were originally magic and the word retains much of its old magical power even to day. With words one man can make another blessed or drive him to despair, by words the teacher transfers his knowledge to the pupils, by words the speaker sweeps his audience with him and determines its judgments and decisions. Words call forth affects and are the universal means of influencing human beings. Therefore let us not under-estimate the use of words in Psyco-Therapy. S. Freud. A General Introduction to Psycho analysis, Boni and Liveright, N. Y. 1922, page 3.

कदाचित् मेरा मिथुनवाद भ्रमात्मक है।" किन्तु उनकी यह शंका बहुत दिनों तक न ठहर सकी। अनुदिन के परिशीलन ने उन्हें इस सिद्धान्त के विषय में अटल बना दिया। उन्हें स्मरण आया कि संसार के कुछ प्रसिद्ध वैद्यों का भी यही मत है। उन्होंने इस वाद की स्थापना में अपने समकालीन डाक्टर सर्वश्री ब्रयार, छ्रोबक आदि से तथा चारको से बहुत महत्त्व की बातें सुनी थीं। अपने सिद्धान्त की पुष्टि में उन्हें वे सब तथ्य स्मरण हो आये और वे अपनी स्थापना में दृढ़तर हो उठे।

एक दिन डा० फ्रायड डा० ब्रयार के साथ टहल रहे थे कि एक भद्र पुरुष आकर श्री ब्रयार से मिला। डा० फ्रायड थोड़ा पीछे रह गये। जब वह चला गया तब श्री ब्रयार ने डा० फ्रायड से कहा—"उस भद्र पुरुष की स्त्री विचित्र प्रकार से व्यवहार करती है। और यह कहते-कहते श्री ब्रयार ने कह ही दिया—"These things are always secrets alcove." आश्चर्यचकित डा० फ्रायड ने उनके कथन का तात्पर्य पूछा तो श्री ब्रयार ने उत्तर में कहा, 'alcove' का अर्थ वासक-सज्जा अर्थात् विवाह-शय्या है। उसके कुछ वर्ष बाद जब डा० फ्रायड श्री चारको के यहाँ अध्ययन करने के लिए गये थे तब उन्होंने एक दिन यह देखा कि चारको महोदय बहुत आवेग के साथ अपने एक मित्र से किसी व्याधि के विषय में कुछ कह रहे थे। वे कह रहे थे— एक विवाहित स्त्री पुरुष थे, जिनमें पहले पत्नी बीमार पड़ गई। पति या तो नपुंसक था या विकृत।" और चारको महोदय बार-बार जोर से कहते जा रहे थे— "धैर्य धारण करो अतः यत्न करो तुम जहाँ पहुँचना चाहते हो पहुँच जाओगे।" श्री चारको अतीव उमंग के साथ बीच में बोल उठे—"किन्तु इन समान बातों में सदा जननेन्द्रिय ही प्रधान है सदा सदा सदा" " यह कहते हुए उन्होंने अपने हाथों को छाती पर रखा अपनेको कुछ आकुंचित किया और अपने अँगूठे पर धीरे-धीरे अपने स्वाभाविक उत्साहपूर्ण रीति से कूदने लगे।"[१] एक तीसरी घटना लीजिए। विएना के प्रसिद्ध वैद्य छ्रोबक ने डा० फ्रायड से एक रोगी स्त्री को अपनी निगरानी में ले लेने को कहा। उस स्त्री में एक विचित्रता उत्पन्न हो गई थी। उसे यह जानकर ही शान्ति की प्राप्ति होती थी कि छ्रोबक महाशय कहाँ कहाँ रहते हैं। छ्रोबक महोदय ने यह बताया कि उस स्त्री का विवाह हुए अठारह साल हो गए थे; किन्तु वह अब भी कुमारी ही कही जा सकती थी, क्योंकि उसका पति नपुंसक था। छ्रोबक महोदय के शब्दों में उसकी व्याधि की एकमात्र औषधि भी पुरुष का उससे संयोग होना।[२] इतने प्रसिद्ध चिकित्सकों के मत ने भी डा० फ्रायड को मैथुन प्रवृत्ति वाली धारणा को प्रधानता देने को प्रेरित नहीं किया। किन्तु अपसंख्य

१—"Hearten yourself"......"Therefore strive forth I assure you will arrive there...... But in these similar cases, it is always the genital thing (matters always,......always......always"—S. Freud! Collected Papers, vol I. pt 2045.

२—"The sole prescription for such a melady he added is familiar enough to us but we can not order it. It runs R. Penis normalis dosism respectam S. Freud, Collected Papers vol I p 296

रोगियों के निरन्तर कथन से कि मैथुन प्रवृत्ति का निरोध ही उनकी व्याधि का कारण है फ्रायड को मिथुनवाद में स्थिर किया। अवदमित कामाभिकांक्षाएँ व्यक्ति को ज्ञात नहीं रहती थीं। वे उनके अचेतन में बैठी भी शक्तियुत रहती थीं। इस प्रकार से फ्रायड का निश्चय हुआ कि व्यक्ति के चित्त में एक अज्ञात या अचेतन भाग भी रहता है जिसका ज्ञान व्यक्ति को कभी नहीं रहता है। यही 'अज्ञात निरुद्धेच्छा व्यूहों (अवदमित कांक्षा ग्रन्थियों) का रूप है। इन अवदमित कांक्षाओं के व्यूह में मैथुन सम्बन्धी इच्छाएँ अति प्रबल हैं। इस प्रकार से डा० फ्रायड ने मिथुनवाद की स्थापना की और साथ-साथ व्यक्ति के असम्बन्धित वचनों की यथार्थता की पहचान के लिए उन्होंने एक 'अनुव्याख्यान' (इन्टरप्रेटेशन) की प्रक्रिया भी निकाली।

अनुव्याख्यान से उन्हें व्यक्ति में कामज वृत्तियों की अनुरूप प्रबलता का भान हुआ। उनके रोगियों का कथन प्रायः उनके बाल्यकालीन संस्कारों से संगुम्फित रहता था और यह विदित होता था मानों शैशवकाल में भी उन्हें किसी प्रकार की काम वासनाएँ रहती थीं। इस प्रकार की शैशव काम-वासनाओं पर जब बाह्य अवरोध अपना भार डालता है तब व्यक्ति अपनेको सँभालने में असमर्थ हो जाता है और उसकी वे दमित कांक्षाएँ क्रमशः अचेतन में बैठकर अन्य समान स्वभावों से मेल खाती हुई अन्त में वातव्याधि का कारण बन जाती हैं। इससे यह प्रकट हुआ कि बाल्यकालीन काम सम्बन्धी जीवन की विषमता ही वात व्याधि का कारण है, न कि वह जो साधारण जीवन में काम प्रवृत्ति दमन से होता है।

अनुव्याख्यानों से और एक लाभ हुआ। डा० फ्रायड ने देखा कि रोगी अपनी कथा कहते समय स्वप्नों को भी बताते हैं। उन्हें उत्सुकता हुई। उन्होंने इस प्रकार के स्वप्न-कथन के मूल में पहुँचने का उद्योग किया। इस प्रकार डा० फ्रायड को स्वप्नों के निगूढ़ विपिन में प्रवेश करने का शुभ अवसर प्राप्त हो गया। प्रारम्भ में उन्हें बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। किन्तु स्वप्नों से रोग का सम्बन्ध अवश्य है ऐसा उन्हें निश्चित होने लगा। अब वे स्वप्नों को रोग लक्षण समझकर उनकी अभिज्ञता के लिए भी स्वच्छन्दानुबन्ध (स्वतन्त्र साहचर्य मार्ग) का प्रयोग करने लगे। अतः उन्होंने इस स्वप्न के प्रत्येक चित्र को अलग अलग अनुबन्धों का विषय बनाया। प्रयोगों से उन्हें विदित हुआ कि सभी के अनुबन्ध एक ही केन्द्र में अवस्थित हो जाते थे। केन्द्र में कोई-न-कोई अवदमित अभिकांक्षा विद्यमान रहती थी और उसी की तृप्ति के लिए इस स्वप्न का वैचित्र्य निर्मित हुआ प्रतीत होने लगा। अभिलाषा तृप्ति को ध्यान में रखकर सारे स्वप्न का मर्म और विपर्याय समझाया जा सकता था। डा० फ्रायड ने इसी उपयोगिता को यथासम्भव प्रमुखता देकर स्वप्नों के अनुव्याख्यान के लिए एक प्रक्रिया निकाली और एक विशिष्ट शास्त्र का निर्माण किया। उस शास्त्र का नाम 'स्वप्नानुव्याख्यान'[1] है। रोग-लक्षणों के और स्वप्नों के अनुव्याख्यान से रोगी के बाल्यजीवन पर अधिक प्रकाश डाला है। उनके अध्ययन से बाल्य जीवन में अत्यन्त प्रभावशाली एक व्यूह (ग्रन्थि) का पता चला। वह पितृ-ग्रन्थि अथवा

[1]—Die Traum deutung The Interpretation of Dreams.

ईडिपस व्यूह[1] है। इस व्यूह के परिशीलन से पता चलता है कि शिशु में 'काम' रहता है। उसका ध्येय सन्तान की उत्पत्ति की भाँति केवल शिशु को तृप्ति और सुख पहुँचाना ही रहता है। बाल्यकाल में इस काम सम्बन्धी ग्रन्थि का उत्तरदायित्व माता पिता पर है। शिशु यदि लड़का हो तो माता को और यदि वह लड़की हो तो बाप को अपने 'काम' का विषय बनाता है। इस काम की तृप्ति या अतृप्ति पर बच्चे का भावी जीवन निर्भर करता है। बच्चे के भावी जीवन के सुखमय या दुख मय प्रासाद की नींव इसी पितृ-ग्रन्थि पर अवलम्बित रहती है।

अब डा॰ फ्रायड को व्याध्याधि के निदानों का पूर्ण परिचय प्राप्त हुआ। क्रमशः उन्होंने इस प्रकार अपने अनुभवों के आधार पर हेतु पक्ष-सन्तति[2] निरोध बाल्यकालीन मिथुन-प्रवृत्ति मिथुनवाद आदि के सिद्धान्त उद्घोषित किये जिनकी सहायता से वे रोग का निवारण करने लगे। उन्होंने देखा कि प्रत्येक रोगी के व्याधि निवारण के अन्तिम दिनों में एक विशेष प्रकार की स्थिति सामने आती है। रोगी वैद्य के प्रति विशेष प्रकार का व्यवहार करने लगता है। रोगी नारी तो प्रायः चित्त विश्लेषक से प्यार करने लगती है। यह स्थिति प्रायः एक अतीत अवस्था के पुनरावृत्त रूप का द्योतक है। इस अवस्था को डा॰ फ्रायड ने 'अपवर्तन'[3] की संज्ञा दी है। डा॰ फ्रायड ने चित्त विश्लेषण की प्रक्रिया द्वारा देखा कि इस प्रकार की अवस्था में प्रायः रोगी वैद्य से वैसा ही व्यवहार करते थे, जैसा कि उन्होंने अपने बाल्यकाल में माता पिता आदि से किया था। अतः वैद्य ने इस भी रोग के लक्षण के निदान की जानकारी के लिए एक अच्छा उपकरण माना। चित्त विश्लेषक लोग रोगी से यह प्रकट करते थे कि यह एक अतीत घटना को दुहरा रहा है और वे इस प्रकार से अन्तिम प्रतिरोध को हटाकर व्याधि लक्षणों का समूल उच्छेदन करने में समर्थ होते थे।

यह प्रक्रिया पहले असाधारण रोगियों के परिशीलन में लागू होती थी और डा॰ फ्रायड उनके रोगों के भीतर कौन-से नियम लागू होते हैं उन्हें स्पष्ट समझाने का प्रयत्न करते थे। किन्तु अवदमन (निरोध) का सिद्धान्त साधारण जीवन में भी उपयुक्त है। निरोध साधारण जीवन में भी हुआ करता है और उसी से मानसिक रोग भी हो सकता है। अतः डा॰ फ्रायड को ऐसा मान हुआ कि रोग के सभी नियम साधारण जीवन में भी लागू हो सकते हैं क्योंकि स्वास्थ्य मृदु रोग के समान तथा रोग असाधारण स्वास्थ्य है। साधारण व्यक्तियों के स्वप्नों में भी वे ही नियम काम करते दृष्टिगोचर होते हैं। बाल्यकालीन मिथुन-जीवन सभी बच्चों में उसी रूप में दिखाई पड़ता है। अतः डा॰ फ्रायड ने अपने सिद्धान्तों को केवल निदान में सम्बद्ध न रखकर

1—Oedipus Complex

2—हेतु-पक्ष-सन्तति को ही कार्य-कारण-श्रृंखला कहते हैं। कार्य एक तो कारण होगा। कारण एक न एक कार्य अवश्य रहेगा। इस प्रकार से हेतु और फल [illegible] का [illegible] बना रहता है।

3—Transference

उनके मन का अति विस्तृत बना दिया और एक साधारण मनोविज्ञान की नींव डाली जिसमें विचार, भाव एवं आवेग आदि का यथा तथ्य अध्ययन किया जा सके।

रोगियों के विषयों में विरेचन प्रक्रिया (कथार्सिस प्रणाली) पर ही अधिक ध्यान देने के कारण डा० फ्रायड का ध्यान भावना आदि की उत्पत्ति पर गया। वे अपने कौतुहल को नहीं दबा सके और भावना का अध्ययन प्रत्यक्ष दृष्टिकोण से करने लगे। इस प्रकार उन्हें भावनाओं सुख दुःख आदि भावनाओं का मर्म समझना पड़ा। अतः उन्होंने साधारण मनोविज्ञान के विषय से आगे बढ़कर एक अतिमानस शास्त्र[१] का निर्माण किया जिसमें उन्होंने यह दिखाने की चेष्टा की कि किसी भी मानस क्रिया का अध्ययन तीन दृष्टिकोणों से हो सकता है—(१) यह क्रिया कहाँ होती है ज्ञात (चेतन) में अथवा अज्ञात (अचेतन) में ? (२) यह क्यों किस कारण और किस उद्देश्य से होती है सुख के लिए अथवा दुःख के लिए, निरोध या किसी अन्य कारण से ? (३) यह क्रिया किस प्रकार से होती है भाव के परिवर्तित होने से अथवा व्यूह (ग्रन्थि) बन जाने से ? इन्हीं तीन प्रकार की अध्ययन रीतियों को उन्होंने भौमिक दृष्टिकोण[२] आर्थिक दृष्टिकोण तथा स्पान्दनिक या क्रियात्मक दृष्टिकोण कहा। सुख दुःख आदि की मीमांसा ने उन्हें मानव जीवन के सभी व्यवहारों को विभक्त करने पर विवश किया। उन्होंने देखा कि मनुष्य सुख भी चाहता है और रक्षित भी होना चाहता है। मनुष्य के जीवन में अस्तित्व और आनन्द की कामना का संघर्ष अथवा साम्य पाया जाता है। इस दृष्टि से डा० फ्रायड ने मानव चित्त के दो विभाग किये : (१) अहंकार और (२) अज्ञात या इदम्[३]। मनुष्य की रक्षा के लिए जितनी आवश्यक बातें हैं उन सभी का संपादन अहंकार करना चाहता है। और इदम् (अचेतन) केवल प्राकृत इच्छाओं की तृप्ति के लिए प्रयत्न करता है। इदम् का साम्राज्य प्रायः सुखेच्छा से रक्षित है अर्थात् अचेतन में सुखतत्त्व का प्राबल्य पाया जाता है। किन्तु अहंकार सुख का संपादन करता हुआ भी कहीं कहीं यदि कुछ दुःख के भोगने से मनुष्य की रक्षा हो सकती है तो सुख तत्वाश्रित होकर ही बाह्य संसार की परवा करता है। इससे स्पष्ट है कि सुखतत्त्व का उसपर अधिकार है। मनुष्य का जीवन इन्हीं दोनों तत्त्वों के आश्रित होकर आगे बढ़ रहा है। इन तत्त्वों को चलानेवाली शक्ति बीज रूप में निसर्गतः समवेत है। यही डा० फ्रायड के अनुसार कामशक्ति[४] है। कामशक्ति के यथार्थ रूप के ज्ञान बिना डा० फ्रायड का कोई भी सिद्धान्त अच्छी तरह से समझ में नहीं आ सकता। इसी सहज शक्ति से मानव की सारी क्रियाओं का मूल उसी महाशक्ति में पाई जाती है। उस शक्ति में अनेक उल्लास हैं। मानव का सारा मानस संसार इस शक्ति से प्रभावित है। विषय-भेद से इस महाशक्ति के दो भेद हैं। उसका अधिकांश व्यक्ति के अहंकार को ही अपना विषय बना लेता है। व्यक्ति

१—Metapsychology

२—Topographical, Economic and Dynamic points of view

३—Ego and Id

४—Libedo

अपने आपको प्रेम करता है अपने आपको सर्वश्रेष्ठ समझता है। इस प्रकार की शक्ति के समुद्रेक को फ्रायड ने स्वीय कामशक्ति[1] की संज्ञा दी है। कुछ शक्ति विषयों को रञ्जित करके उनके द्वारा शक्ति को सुख पहुँचाना चाहती है। इसी को विषयगत कामशक्ति[2] की संज्ञा मिली। एक का विषय बाह्य प्रपञ्च में है तो दूसरी स्वयं अपने ही अहंकार को विषय बना लेती है। एक शक्ति वस्तुतत्त्वाधीन होकर काम करती है तो दूसरी सुखतत्त्वाधीन होकर। एक का नियन्ता अहंकार है तो दूसरे का अज्ञात (अचेतन)। वस्तुतत्त्व और सुखतत्त्व का अध्ययन करते समय डा० फ्रायड को एक अन्य तत्त्व का भी पता चला जिसका नाम उन्होंने मृत्युतत्त्व या मुमूर्षा[3] रखा। इस तत्त्व की खोज में डा० फ्रायड ने अपने सभी परिशीलनों के रूप में परिवर्तन ला दिया। उन्हें लगा कि भूख प्यास कामेच्छा आदि सभी वासनायें उस अतीत अवस्था को लाना चाहती हैं जो वास्तव में जड़ है। उसमें अहङ्कार केवल उस तत्त्व का सेवक है जो बाह्य आघातों से जीव की रक्षा करता हुआ उसे अपने ढङ्ग से मृतावस्था, शान्तावस्था या मोक्ष की ओर उन्मुख करना चाहता है। मिथुन प्रवृत्ति सभी भिन्न विषयों को अपनी मोहिनी शक्ति से एक बनाकर उस अगम्य शान्तावस्था में, जो जड़ पदार्थ की अद्वैतता की द्योतक है समाहित होना चाहती है। इन्हीं दोनों के संघर्ष से प्रवृत्ति निवृत्ति के चक्र में तथा जीवन मरण के संग्राम में जीवन आगे बढ़ता जाता है। इस संग्राम में व्यक्ति जन्म से लेकर अज्ञात (अचेतन) के हाथ का कठपुतला बना रहता है। जिस ओर उसकी वासनायें उसे बहा ले जाती हैं उसी ओर प्रवृत्त होता है तथा उन्हीं वासनाओं की तृप्ति की खोज में निरत रहता है। व्यक्ति का यह अहङ्कार इसी कार्य को साधने में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में लगा रहता है। अहङ्कार स्वयं वस्तुतत्त्व की अधिक अपेक्षा रखने के कारण कहीं कहीं अज्ञात का शक्ति-निरोध करता है। यदि उसे पूर्ण रूपेण अज्ञात शक्ति स्रोत को अवरुद्ध करना पड़ा और यदि बाह्य संसार की अधिक परवा करके अपनी प्रकृति की तृप्ति नहीं करेगा तो व्यक्ति के अन्दर रहनेवाली अज्ञात काम-शक्ति किसी-न किसी रूप में अपनेको प्रकटकर निम्नलिखित उक्ति की सार्थकता प्रकट करेगी —

"बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ।"

इन्द्रिय समूह बलवान है। विद्वान को भी वह अपने साथ घसीटता है।

"प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥"

प्राणिगण प्रकृति के अनुसार कार्यशील हैं निग्रह क्या कर सकेगा। उन प्राकृतिक वासनाओं से अभिभूत होकर व्यक्ति पस्त हो जायगा।

इस प्रकार से डा० फ्रायड ने एक नवीन मनोविज्ञान की स्थापना की, जिसका नाम 'चित्त विश्लेषण शास्त्र' है। इसकी पूर्ण स्थिति केवल पागलपाविरों के निवारण

१—Narcissistic Libid

—Object Libido.

३—Death Principle

तक ही सीमित थी। लेकिन फ्रायड में यह अतिविस्तृत रूप धारण करने तथा और सारी मानसिक क्रियाओं को समझाने में सहायता पहुँचाने के कारण यह एक सामाजिक शास्त्र का अंग बना। उसके मूल सिद्धान्त दो हैं—(१) मनुष्य की वातव्याधियाँ, रोग-लक्षण, भूलचूक, स्वप्न, कला-कौशल आदि सभी का मूल भावना प्रपंच में है। ये सब भावना के परिवर्तन से समझाये जा सकते हैं। (२) भावना का कला-कौशल आदि रूप धारण करना अथवा रोग-लक्षणों में परिवर्तित होना मनुष्य की बुद्धिहीनता और अज्ञान आदि पर अवलम्बित नहीं है, प्रत्युत अचेतन के मूल में अवस्थित उसकी निरोध शक्ति पर निर्भर है।

चित्त विश्लेषण शास्त्र का उद्देश्य है—अचेतन को टटोलना एवं सारी मानसिक क्रियाओं को वस्तुतत्त्व और गुणतत्त्व के यथोचित सामंजस्य से साम्यावस्था में लाकर मनुष्य को प्रसन्न और शान्त बनाना। इस उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त यह शास्त्र प्रत्येक प्रकार के निरोध को नष्ट कर देने के लिए प्रयत्न करता है। अतः प्रारम्भ में सर्वश्री चारको, बेरनहाईम, जैने और फ्रायड के सिद्धान्तों के कारण जो अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न हुई उनकी सहायता से डा० फ्रायड ने 'चित्त विश्लेषण शास्त्र' का आविष्कार किया। इस शास्त्र के लिए उन्होंने एक प्रक्रिया ढूँढ़ निकाली, जिसके लिए उन्हें मस्तापन (सम्मोहन) निर्मेली आदि प्रक्रियाओं को तिलांजलि देकर एक स्वतन्त्र प्रक्रिया प्रकट करनी पड़ी। इस प्रकार क्रान्तदर्शी चित्त विश्लेषक डा० फ्रायड ने इस शास्त्र की परिधि को विस्तृत करते करते उसे निदान के क्षेत्र से उठाकर सामान्य मनोविज्ञान का रूप दे दिया। वे यहीं तक नहीं रुके, प्रत्युत उन्होंने संसार की सारी मानसिक प्रवृत्तियों के मर्मों पर सर्वतोमुखी प्रकाश डालने का महान् प्रयत्न किया। इस चित्त विश्लेषण शास्त्र ने उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के चिन्तन को एक विशिष्ट गति दी है। इसका प्रभाव और उसके जन्मदाता की कीर्ति चिरस्थायी रहेगी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। चित्त विश्लेषक मानसिक जीवन में वही काम करता है जो शारीरिक जीवन में शल्य-चिकित्सा से होता है। यह व्यथित व्यक्ति के चैत्य जीवन में साम्य एवं भावना सन्तुलन स्थापित कर उसके जीवन को रसमय बनाता है और उसे 'प्रसन्नात्मेन्द्रियमनः' बनाता है। इस शास्त्र की व्याप्ति धीरे धीरे किन्तु निरन्तर वर्धन हो रही है। चित्त विश्लेषण शास्त्र के इस क्षेत्र में जो काम कर रहे हैं उनके उत्साह, साहस, निर्भीकता और सत्यान्वेषण की उत्कटता और श्रद्धा आदि व्यर्थ नहीं जा सकती। इस चिकित्सा-शास्त्र के विरोधियों की कमी नहीं है। कुछ लोग परिहास भी करते हैं किन्तु उन्हें ज्ञात नहीं कि इसने अनगिनत व्यक्तियों का कल्याण किया है। वास्तव में यह शास्त्र आधुनिक युग की एक विशिष्ट देन है। क्रान्तदर्शी डा० फ्रायड जन्मजात ऋषि थे जिन्होंने मानव जीवन की चिन्तन प्रणाली में एक महान् परिवर्तन ला दिया और मानव रोग निवारण को अभूतपूर्व गति दी।

पहला अध्याय

भौतिक और मानसिक जगत्

'सर्व एव जगत्यस्मिन्निन्द्रियशीराः शरीरिणः ।
एकं मनः शरीरं तु क्षिप्रकारि सदाचलम् ॥
अकिञ्चित्करमन्यत्तु शरीरं मांसनिर्मितम् ।'
—योगवासिष्ठ : उत्पत्ति सर्ग १२ प्रकरण ७ श्लोक १

संसार में सदा से द्वन्द्व-भावना रही है। मन-शरीर, आत्मा-प्रकृति, शक्ति-जड़ आदि द्वन्द्वसूचक शब्द नित्य ही सुनाई पड़ते हैं। किन्तु वास्तव में मानसिक और भौतिक जगत् की सीमा कहाँ है यह विचारणीय है। साधारणतया ऐसा मालूम होता है कि सर्वप्रथम कोई संवेदना होती है, जिससे ज्ञान होता है। बाद में इच्छा और क्रिया उद्भूत होती हैं। मान लीजिए, हम पुष्प देख रहे हैं। प्रथमतः उस पुष्प से किरण-लहरियाँ उद्दीपक के रूप में उठकर नयनेन्द्रिय में पहुँचीं तो हमें संवेदना हुई। तब हमें पुष्प का ज्ञान हुआ और सुगन्ध की प्रतीति हुई। अब इच्छा हुई कि पुष्प को चुन लें। हम उठ-बैठे और पुष्प बटोरने लगे। ऐसी ही अनेक क्रियाएँ नित्य होती रहती हैं। ज्ञान के बाद इच्छा तथा क्रियाएँ और क्रिया के बाद पुनः ज्ञान तथा इच्छा आदि मानसिक व्यापार चलते रहते हैं। शरीर के बिना ज्ञान नहीं हो सकता। शरीर से ही इन्द्रियों से ही उत्तेजनाएँ भीतर, अर्थात् मस्तिष्क के केन्द्रों में प्रवेश करती हैं और हमें ज्ञान होता है। तब मन का अस्तित्व कहाँ है? मालूम होता है कि व्यर्थ ही शास्त्रकारों ने मन की कल्पना की है। स्थूल दृष्टि से देखने पर ऐसा ही ज्ञान होता है। किन्तु वास्तव में व्यक्ति के जीवन के दो भेद करना आधारहीन नहीं है। शास्त्रों की धारणा का भी आलम्बन है। जीवन को मानसिक और शारीरिक भेद से विभक्त करने के लिए पर्याप्त कारण हैं। यह इसलिए नहीं मालूम पड़ता कि मानसिक वृत्तियाँ और शारीरिक वृत्तियाँ परस्पर इतनी सम्बद्ध हैं कि स्थूल दृष्टि से उनका विभाजन करना दुष्कर है। केवल अज्ञानी ही मानसिक और शारीरिक भेद नहीं मानते हों ऐसी बात नहीं है। अनेक शास्त्रविद् भी इस प्रकार की धारणा में उनके साथ हैं। आरम्भ में ही उद्धृत योगवासिष्ठ के कथन से हमें शारीरिक और मानसिक जगत् का विभाग स्पष्ट मालूम होता है। उसमें कहा गया है कि शरीरी के दो शरीर होते हैं—एक मनोमय और दूसरा मांस निर्मित। उपनिषदों में भी मनोमय और अन्नमय कोशों की कल्पना की गई है। पश्चिम के अनेक शास्त्रज्ञ भी मन और शरीर ('माइण्ड' और 'बॉडी') अलग अलग मानते हैं। ऐसा मानने के लिए क्या आधार है? इसके लिए कुछ प्रमाण तो अवश्य ही होगा। इस प्रश्न का उत्तर तो योगवासिष्ठ के उपर्युक्त श्लोक में है। शरीर मांस निर्मित है। मांस स्थूल है, प्रत्यक्ष गोचर है, उसका स्पर्श किया जा सकता है, उसे देखा जा सकता है।

शरीर का उपचय और अपचय वृद्धि और ह्रास हम चर्म चक्षु से देख सकते हैं। लेकिन मन या मानसिक वृत्तियों का प्रत्यक्ष ज्ञान हम नहीं होता। मनोवृत्तियाँ ज्ञान इच्छा, संकल्प, अध्यवसाय आदि हैं। व्यक्ति और विषय के सन्निकर्ष या सम्बन्ध से विषय का ज्ञान तद्विषयक इच्छा या अनिच्छा और उसे लेने की या छोड़ने की किसी प्रकार की क्रिया अथवा क्रिया करने की इच्छा ये सभी मनोवृत्तियाँ अथवा चित्तवृत्तियाँ कही जाती हैं। उनमें एक प्रकार की शक्ति या चेतना का अनुभव होता है। इच्छा आदि का जो अनुभव हम होता है, वह स्थूल नहीं है। इच्छा को कोई देख नहीं सकता कोई उसे छू नहीं सकता, केवल उसके अस्तित्व का अनुमान ही किया जाता है। मान लीजिए, किसी व्यक्ति ने कोई काम किया। यह काम उसने कैसे किया? उसके और उस विषय के बीच सन्निकर्ष हुआ अथवा यों कहिए कि विषय का प्रकाश (प्रकाश लहरियाँ) उसकी आँखों पर पड़ा। अक्षिपटल (रेटीना) पर उसका चित्र प्रतिबिम्बित हुआ। इतना बाह्य संसार का व्यक्ति भी जानता है और वह देखता है कि व्यक्ति उसे लेने के लिए हाथ बढ़ाता है। इससे वह *अनुमान करता है कि विषय का उसे ज्ञान हुआ होगा और उसे लेने के लिए किसी अभ्यन्तर* शक्ति ने उसको विवश किया होगा, अर्थात् व्यक्ति को उस विषय को लेने की इच्छा हुई होगी। इस प्रकार से शरीर में और इच्छा में एक विशेष प्रकार का भेद अथवा गुण-वैषम्य दृष्टिगोचर होता है। एक स्थूल और क्रियाहीन दिखाई देता है और दूसरा शक्तिशाली एवं वेगवान् मालूम होता है। इसी स्थूल भेद से शरीर और मन का विभिन्न ज्ञान होता है।

अब देखना चाहिए कि यह भेद मानने के लिए कारण है कि नहीं। सम्भव है—इच्छा भी शारीरिक हो। 'शारीरिक' शब्द का अर्थ क्या है? 'शारीरिक' शब्द से ही मांस-पेशी आदि का ज्ञान होता है। 'मेरे शरीर को चोट लगी' ऐसा कहने से लोग समझ लेते हैं कि हाथ पैर आदि किसी अंग को चोट लगी। शरीर कई अंगों और प्रत्यंगों का समवाय है। शरीर अवयवी है उसके अनेक अवयव हैं। उसमें चेतना की कोई भावना ही नहीं है। चेतना या शक्ति शरीर का अंग नहीं है। यदि कोई उसे भी *शारीरिक अवयव सिद्ध करे तो मन को भी शारीरिक मानने में किसी को आपत्ति नहीं* हो सकती। मनुष्य केवल चेतन नहीं है और न वह केवल शरीर ही है। वह शक्ति और शरीर, चेतन और जड़ का समवेत रूप है। ऐसा होने पर भी यह प्रश्न रह जाता है कि इन दोनों अर्थात् चेतना और शरीर में परस्पर क्या सम्बन्ध है?

इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर में कुछ लोगों ने कहा है कि चेतना भी शारीरिक है क्योंकि जिस प्रकार यकृत् और प्लीहा से रस पित्त आदि निकलते हैं उसी प्रकार मस्तिष्क से विचार इच्छा आदि निकलते हैं। मस्तिष्क विचार का अवयवी है, उसमें विचार रहता है और उसी में से वह निकलता भी है। सामान्यतः लोग कहा भी करते हैं कि अमुक बात मेरे 'मस्तिष्क' में नहीं घुसती। सम्भवतः देखा जा सकता है कि विषय के साथ सम्बन्ध होने पर व्यक्ति के मस्तिष्क के पदार्थों में अथवा द्रव्यों में कुछ अन्तर होता है। वहाँ का धूसर द्रव्य कम-कम सरकता है और व्यक्ति को ज्ञान हो जाता है। यदि मस्तिष्क के विशेष केन्द्र को हम निकाल दें तो विशेष प्रकार के विचार रुक ही जाते हैं अथवा वे होने ही नहीं। इससे यही सिद्ध होता है कि चेतना अथवा

विचार भी शारीरिक ही है। अतः फिर प्रश्न ने घूम-फिरकर वही रूप धारण किया कि 'शारीरिक' शब्द का क्या अर्थ है? शारीरिक द्रव्यों का उदाहरण ही इस 'शरीरवाद' का विरोध करता है। पित्त रक्त आदि द्रव्य हैं। यदि एक स्थल पर उन्हें रखें तो वे वहीं रह जाते हैं। उनका वजन हो सकता है। शक्ति का प्रयोग करके उन्हें यहाँ ला सकते हैं। उनमें कौन कौन से पदार्थ हैं, उन्हें हम अलग-अलग देख सकते हैं। किन्तु ठीक इसी दृष्टिकोण से यदि हम विचार करें तो स्पष्ट होगा कि विचार मस्तिष्क में निकलते दिखाई नहीं देते। उनमें क्या क्या द्रव्य हैं यह दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः विचार इत्यादि को हम शारीरिक नहीं कह सकते। किन्तु यह कहना कि मस्तिष्क में विचार होते हैं क्योंकि मन के संवेदना के अनन्तर उसके द्रव्यों में अन्तर अथवा परिवर्तन पड़ जाता है, युक्तिसंगत नहीं जँचता। शरीर-रचना एक बात है और क्रिया दूसरी बात। रचना और क्रिया में सम्बन्ध होने से क्रिया रचना नहीं हो सकती और न रचना क्रिया हो सकती है। इससे विदित होता है कि जिस भेद को हमने प्रारम्भ में स्थूल भेद कहा था वही वास्तविक भेद भी है।

मन और शरीर में गहरा सम्बन्ध है। शारीरिक क्रियाओं के अनन्तर मनोवृत्तियाँ होती हैं और मनोवृत्तियों के बाद शारीरिक कार्य। मनस्तन्तु के चालन में वेदना (संवेदना=सेंसेशन) कारण है—मनस्तन्तु चलन वेदनां कारणं विदुः। संविद् से मन में ज्ञान होता है। इन्द्रियाँ ज्ञान साधन हैं और उनके मार्ग से संवित्प्रवाह प्रवेश करता है, जिसके कारण मनोवृत्तियाँ होती हैं। इस प्रकार का पारस्परिक सम्बन्ध मन और शरीर में है, फिर भी मन का बल अधिक मालूम होता है। व्यक्ति का शरीर मनोगत वृत्तियों और वेगों से इधर उधर चलाया जाता है। शारीरिक स्वास्थ्य के लिए मानसिक स्वास्थ्य अत्यावश्यक है। एक प्रकार से मन ही शरीर का नियन्ता है। जीवित शरीर और शव में क्या भेद है? दोनों शरीर हैं किन्तु एक में इच्छानुकूल कार्य होते हैं दूसरे में नहीं। इसी कार्यकारण चेतना का अथवा उसके प्राण का काम है। मन जैसा सोचता है शरीर वैसा ही करता है। इस विषय में उपनिषद् की ऋषि वाणी भी सुनिए —

'यदा वै मनुते ऽथ विजानाति नामत्वा विजानाति मनैव विजानाति' 'स यदा मनसा मनस्यति मन्त्रानधीयीयेत्यथाधीते कर्माणि कुर्वीयेत्यथ कुरुते। पुत्रांश्च पशूँश्चेच्छेयेत्यथेच्छत। इमं च लोकममुं चेच्छेयेत्यथेच्छति। मनोह्यात्मा मनोहि लोको मनो हि ब्रह्म मन उपास्स्वेति ॥'[1]

मन का शरीर पर गहरा प्रभाव पड़ता है। जिसके जैसे विचार होते हैं, वह वैसा ही बन जाता है। 'ब्रह्मविद्ब्रह्मैवभवति' ब्रह्मविद् ब्रह्म ही हो जाता है। मानसिक शक्तियों से हम शरीर को बदल सकते हैं। कुछ वर्ष पूर्व एक समाचार प्रकाशित हुआ था। इटली राष्ट्र की पताका फहराई जा रही थी। चारों ओर जय जैसा हुआ था। बैण्ड बज रहा था। उस समय वहाँ एक गर्भवती नारी भी खड़ी थी। उसमें बाजा में

1—छान्दोग्योपनिषद् ७। ७ ।१।

आकर कहा—'मेरी कोख से जो शिशु उत्पन्न होगा उसकी दाहिनी भुजा पर इस पताका का चिह्न होगा।' कुछ दिन बाद जब शिशु का जन्म हुआ तब उसकी दाहिनी भुजा पर ठीक उसी पताका का चित्र जन्म से ही शरीर की बनावट के साथ ही बना हुआ देखा गया। इस प्रकार की अनेक घटनाओं की सूचनाएँ यदाकदा सुनने में आती हैं। इसी से लोग कहते हैं कि गर्भिणी की दोहद पूरी करनी चाहिए, क्योंकि उसके विचारों का प्रभाव शिशु पर पड़ता है।[1] संकल्प से शरीर में भी परिवर्तन होता है। भारतीय प्रारम्भ से ही मानसिक और भौतिक जगत् को विभिन्न मानते आये हैं। पश्चिम में अभी हाल तक बहुत से लोग मन को शरीर से पृथक् नहीं मानते थे।[2] आचार आवेश की भावना को उन्होंने एक ही मान लिया था अतः उन्हें भ्रम हुआ कि मन और उसकी वृत्तियाँ शरीर और उसकी क्रियाओं से भिन्न नहीं हैं। इसका फल यह हुआ कि पाश्चात्य विद्वान् सभी चित्त वृत्तियों को शारीरिक दृष्टि से समझाने का प्रयास करते रहे हैं। इस प्रकार के विचार से ही पश्चिम में प्रयोगात्मक मनोविज्ञान का उद्भव हुआ। इसके उन्नायक थे—लिपजिक मनोविज्ञान प्रयोगशाला के संस्थापक विल्हेम वुन्ट। इनके अनुयायी सभी चित्त वृत्तियों को शारीरिक कहते आये हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक चित्तवृत्ति के लिए संस्थान और मस्तिष्क की नाड़ियों का अनुसन्धान किया जाने लगा। अतः एक विचार प्रकार (concept) अथवा धारणा का आविष्कार हुआ। विचार प्रकार का काम अलग अलग घटनाओं के मर्म समझना

१—"The conception of a maternal impression rests on the belief that a powerful mental influence working on the mother's mind may produce an impression either general or definite on the child she is carrying p 218

It would seem on the whole that while the influence of maternal impressions in producing definite effects on the child within the womb, has by no means been positively demonstrated, we are not entitled to regret it with any positive assurance But how the mother's psychic disposition can, apart from heredity affect specifically the physical confirmation or even the physic disposition of the child within her womb must remain for the present insoluble mystery even if we feel disposed to conclude that in some cases such actions seem to be indicated.

—Havelock Ellis Studies in the Psychology of sex, Vol. V page 225.

भारतीय मान्यता है कि शारीरिक क्रियाओं में भी अद्भुत परिवर्तन का वर्णन लासान के डाक्टर बानजुर (Dr Bonjour of Lausanne) ने किया है। उन्होंने एक स्त्री के गर्भाशय में तीन सप्ताह पहले ही शिशु प्रसव करा दिया था। Quoted in C. Baudouin Suggestion and Autosuggestion George Allen and Unwin Lond, 1924 pp. 31 32

२—भारतीय दर्शन में भी इसी प्रकार एक शरीरवाद प्रचलित था जो चार्वाकवाद के नाम से विख्यात है। इस मत का कथन है कि जैसे किण्व से मिल कर मद उत्पन्न होता है, उसी प्रकार भूतचतुष्टय के मिलने से चैतन्य उत्पन्न होता है — चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यः चैतन्यमुपजायते। किण्वादिभ्यः मदशक्तिवत् ॥ सर्वदर्शन-संग्रह (चार्वाक दर्शन)।

ही है। उदाहरण के लिए अणु को लीजिये। अणु को न किसी ने देखा है, और न किसी ने उसे छुआ है। सचमुच अणु का अस्तित्व है कि नहीं, यह हम नहीं जानते। लेकिन 'डाल्टन' ने अणुओं के विषय में एक सिद्धान्त निकाला। उस सिद्धान्त का उद्देश्य रासायनिक सम्मिश्रणों को समझाना है। जल में उद्जन (हाइड्रोजन) और ओषजन (ऑक्सीजन) दो तत्त्व रहते हैं। ये दोनों रासायनिक पद्धति से सम्मिश्रित हैं। लेकिन दोनों किन नियमों के अनुसार मिल गये अथवा एक के कितने भाग दूसरे के कितने भागों के साथ मिले यह नहीं कहा जा सकता था। ऐसी घटनाओं को समझाने के लिए डाल्टन ने अणुवाद का प्रतिपादन किया। विचार प्रकार और घटनाओं में यही भेद है। घटनाओं को तो सभी जानते हैं, किन्तु किस नियम के प्रभाव से वे घटनाएँ उसी प्रकार होती हैं यह सबलोग नहीं बतला सकते। ऐसी घटनाओं को समझाने के लिए और भविष्य में होनेवाली घटनाओं का पूर्व-कथन कर सकने के लिए शास्त्र विशेष विचार प्रकार का आश्रय लेता है।

इसी प्रकार ज्ञान इच्छा आदि को समझाने के लिए 'उन्ट' के अनुयायियों ने शारीरिक विचार प्रकार (Physiological concept) का आश्रय लिया। उनका सारा ध्यान शारीरिक परिवर्तनों पर ही था। विचार, ज्ञान, इच्छा क्रोध आदि के पूर्व और पश्चात् मस्तिष्क में कौन कौन-से विकार तथा कौन कौन से परिवर्तन होते हैं यही उनके अध्ययन का उद्देश्य था। चैतन्य के रूप जो विचार आदि हैं उनसे उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। वे यह जानने का कम प्रयत्न करते कि क्रोध है क्या ? वे यही देखना चाहते हैं कि क्रोध के पूर्व और पश्चात् मस्तिष्क में क्या परिवर्तन होते हैं। उनका दूसरा उद्देश्य उन परिवर्तनों को समझाने के लिए नियम बनाना है। ऐसे अध्ययन के फलस्वरूप मन के विषय में अनेक वाद प्रचलित हुए। उनमें मुख्य तीन हैं—(१) स्फोटवाद (Automism) (२) अनुबन्ध अथवा साहचर्य सिद्धान्त (Association of ideas) और (३) बन्धवाद[१]। इनका हम संक्षेप में वर्णन करते हैं।

(१) स्फोटवाद—इसके आचार्य कहते हैं कि मस्तिष्क के अनेक भाग हैं। उनपर जब बाहर से कोई संवेदना प्रहार करती है तब उसके अणु अपने-आप फूट निकलते हैं और उससे शक्ति चतुर्दिक् फैलकर अपने अनुकूल अणुओं को मिलाकर एक रास्ता बना लेती है। इसी के कारण ज्ञान प्राप्ति की उत्पत्ति होती है।

१—चार्ल्स फॉक्स ने अपने शिक्षा मनोविज्ञान (Educational Psychology) में और कुछ वादों का नाम दिया है। इनमें प्रधान Faculty theory और Gestalt theory हैं। Gestalt theory कहती है कि 'that what we perceive cannot be accounted for by a union of perceptual element. p. 16.

इस विषय में और भी जानने की जिन्हें इच्छा है, वे Charles Fox, 'The Educational Psychology' देखें। मनोविज्ञान के आधार के क्रम-विकास के ज्ञान के लिए Murphy Historical Introduction to Modern Psychology Kegan Paul Lord तथा Wood worth की School of Psychology' उत्तम है।

(२) अनुबन्ध अथवा साहचर्य का सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के प्रतिपादक अरिस्टॉटल थे। उनका कहना था कि स्मरण करते समय हम अनेक पूर्व अनुभवों को जगाते रहते हैं। भावना-साहचर्य के तीन प्रमुख तथा कुछ गौण नियम हैं। सन्निधि सादृश्य विरोध प्रमुख नियम हैं जो हमारी पुनरचना से अटूट सम्बन्ध रखते हैं। हमारा मन सदैव दो या दो से अधिक वस्तुओं को अथवा प्रतिरूपों एवं भावना समूहों को एक स्थान पर स्थापित करने में सतत प्रयासशील रहता है जिसमें एक के स्मरण से दूसरा अपनेआप जग जाता है विद्युत् चमक के उपरान्त हमें गर्जन का स्मरण हो ही जाता है (सन्निधि), दो समान भावनाओं में एक के स्मरण से दूसरा जगता है जैसे गाँधी जी के स्मरण से बुद्ध भगवान् का स्मरण (सादृश्य) तथा रात के स्मरण से दिन की भावना का जागरण (विरोध) आदि। हम अपनी सारी अनुभूतियों एवं अभिज्ञताओं को इसी प्रकार शृंखलाबद्ध करने में लगे रहते हैं। 'डेकार्टे' ने स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार कहा है—जिस प्रकार कागज को एक बार मोड़ने के बाद पुनः उसी तरह से मोड़ने में श्रम नहीं होता उसी प्रकार मस्तिष्क में चिह्न पड़ जाने के कारण संवेदना एक बार जिस रास्ते से बहती है उसी रास्ते से पुनःपुनः बहने लगती है। इससे याद करने में सरलता होती है[1]। मान लीजिये एक व्यक्ति बार बार अपनी माता को देखता है। ऐसा करने से उसके मस्तिष्क में एक प्रकार का रास्ता बन जाता है माता का चित्र मस्तिष्क में रह जाता है। वह जब-जब माता की किसी चीज को देखता है तब-तब वह रास्ता मानो जाग्रत हो जाता है और उसे माता का स्मरण हो आता है। यहाँ हमें कोई मानसिक शक्ति अथवा इच्छा मानने की आवश्यकता नहीं है। घटनाएँ एक के पीछे एक होती हैं। इसी क्रम से संवेदनाएँ भावनाएँ आदि का साहचर्य स्थापित होता रहता है। एक के स्मरण से अन्य सन्निकट, समान अथवा विरोधी भावनाओं का स्मरण हठात् हो जाता है।[2]

(३) केन्द्र सिद्धान्त—इसके समर्थकों का कथन है कि मस्तिष्क में अलग-अलग विचारों के अलग अलग केन्द्र होते हैं। यदि उस केन्द्र के अंश को हटा दिया जाय तो इस प्रकार के विचार उठ ही नहीं सकते।

१—The vestige in the brain render it fit to move the soul in the same fashion as it was mo ed before, and thus to make it remember something even as the folds which we in a piece of paper or a cloth make t more fit to be folded as t was before. Charles Fox Educational Psychology—Chapter I p. 7

—"Thus Bain, one of the chief exponents, stated the law of Association contiguity thus —

'Contiguity joins together things (he meant sensations images, etc) that occur together or that are by any circumstance, presented to the mind t the same time

Charles Fox Educational Psychology chapt I. p 11

इस रीति से और भी अनेक सिद्धान्त प्रकट हुए। लेकिन इनसे सभी चैत वृत्तियों के हेतु तथा उनके भीतर कौन कौन नियम काम कर रहे हैं आदि प्रश्न हल नहीं हुए। इन लोगों ने स्वप्न आदि चित्त-वृत्तियों का मर्म नहीं समझाया। उन्होंने मानव-जीवन की अनेक बातों पर किसी प्रकार का प्रकाश नहीं डाला। जो मनोवृत्तियाँ कही जाती हैं उनके मूल में कौन से नियम काम करते हैं चाहे वे शारीरिक नियम ही क्यों न हों, यह स्पष्ट रूप से नहीं बताया गया। मानसिक व्याधियों की कारणभूत मांस-पेशियाँ उन्हें मिली ही नहीं। फलतः उन्होंने जिस कार्य को उठाया, उसे अधूरा ही छोड़ दिया। उनकी स्थिति उस अधविज्ञानवेत्ता के समान हुई जो मृत्यु के सभी अंशों पर, सभी बातों पर, प्रकाश नहीं डाल सकता। इसके उदाहरणस्वरूप हम 'चारको' को ही ले सकते हैं। हिस्टिरिया के विषय में 'चारको' के प्रयत्नों से बहुत-सी बातें मालूम हुईं किन्तु वे भी उसके शारीरिक कारण खोजने में ही तत्पर थे अतः वे मूर्च्छापीड़ित (हिस्टीरिया के) थोड़े ही रोगी अच्छा कर सके। इसी से मूर्च्छा, उन्माद, अपस्मार तथा अन्य मानसिक व्याधियों का उपशमन शारीरिक नियमों के अनुसार नहीं हो सका। फलतः प्रायोगिक मनोविज्ञान ने विज्ञान के मूल तत्त्वों को ही पूरा नहीं किया। विज्ञान का काम निश्चित है। वह घटनाओं का परिशीलन करता है, उन घटनाओं को अलग-अलग समूहों में विभक्त करता है और इस बात का प्रयत्न करता है कि इस प्रकार के सिद्धान्त अथवा सूत्रों का प्रतिपादन किया जाय जिनके अनुसार वे सभी घटनासमूह समझाये जा सकते हैं तथा जिनके आधार पर भावी घटनाओं के सम्बन्ध में पूर्व कथन किया जा सके। इस प्रकार प्रायोगिक मनोविज्ञान असफल सिद्ध हुआ। अतः शारीरिक विचार प्रकार ठीक नहीं है। जब चेतन शरीर से भिन्न है तब शरीरवादी मनोवैज्ञानिक किस प्रकार चैतवृत्तियों का मर्म स्पष्ट कर सकते हैं। इस विचार-प्रकार की सत्यता का परिशीलन करके 'मरीना' नामक शास्त्रज्ञ ने शरीरवाद की अनुपयोगिता का अनुभव किया।[१] मरीना ने एक प्रकार के बन्दरों के विषय में प्रयोग किया। लोग कहते हैं कि आँख पर धूलि डालें तो वह आप ही बन्द हो जायगी। आँख को बचाने के लिए पलक हैं। भय के सामने, प्रहार के सामने उसकी रक्षा करने के लिए पलकें उसको अपने भीतर छिपा लेती हैं। इसमें विचार का स्थान नहीं है। कोई हमारी आँख पर मुक्का मारे तो हम उस परिस्थिति का विचार करके पलक बन्द करना अच्छा है अथवा बुरा ऐसा सोचकर आँख बन्द नहीं करते प्रत्युत् पलकें अपने आप बिना किसी व्यक्ति की इच्छा की परवाह किये बन्द हो जाती हैं। ऐसी क्रियाओं को शरीरवादी सहज क्रियाएँ[२] कहते हैं। इन्हें वे अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिए अटूट प्रमाण मानते हैं क्योंकि इनका चलना अथवा विचार में किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता। इसीसे वे अन्य क्रियाओं को भी मन का अस्तित्व माने बिना ही समझाने का प्रयत्न करते हैं। मरीना ने इसी की सचाई का परिशीलन करना चाहा। उनकी इच्छा यह जानने की हुई कि वे सहज

१—Charles Fox Educational Psychology chap v p. 123

२—Reflex action.

क्रियाएँ विचार के बिना होती हैं या नहीं वे परम्परा से संक्रान्त हैं अथवा नहीं। यदि वे परम्परा से संक्रान्त हैं तो तत्सम्बन्धी इन्द्रिय की, उदाहरणार्थ आँख की मांसपेशियों में परिवर्तन लाने से उस प्रकार की क्रिया नहीं होनी चाहिए, क्योंकि मांसपेशियों की जो रचना है उसमें परिवर्तन हो गया। मर्हीना ने एक बन्दर की आँख के कुछ भाग में अन्तर कर दिया। जो मांसपेशी आँख को बाहर की ओर घुमाने में काम देती है उसे निकालकर दूसरे स्थान पर रख दिया और उस पेशी को जो वास्तव में आँख को ऊपर की ओर घुमाने में काम देनेवाली थी, प्रथम पेशी के स्थान में कर दिया। चाहिए तो यह था कि बाद उस बन्दर को अपनी आँख सिर्फ ऊपर की ओर ही घुमानी चाहिए थी, पर ऐसा नहीं हुआ वह उसे पूर्ववत् ही चारों ओर घुमाता रहा। इस उदाहरण से मर्हीना ने सिद्ध किया कि कोई शारीरिक अनुबन्ध-मार्ग रूढ़ नहीं है। इस प्रकार अनुबन्ध सिद्धान्त की शारीरिक नींव पर घोर आघात पहुँचा। फिर, यद्यपि यह बात समझ में आ सकती है कि यदि पहले मस्तिष्क में कोई मार्ग बना हो तो उसी से दूसरी बार क्रिया हो सकती है लेकिन प्रश्न यह है कि पहले-पहल रास्ता किसी चेतन शक्ति के बिना बना कैसे? दूसरी बात यह है कि जेम्स के अभ्यास सिद्धान्त (Theory of Habit) के अनुसार कागज को बार बार जिस रीति से मोड़ते हैं ठीक उसी रीति से कागज आप ही आप अपने को नहीं मोड़ते। उसे उस रीति से मोड़ने के लिए बाहर का चेतन कर्त्ता चाहिए। यदि ऐसा न होता तो शाम को अपने कपड़ों को खोल रखने के बाद सबेरे किसी व्यक्ति को वे कपड़े पुनः ठीक-ठीक तह की हुई स्थिति में मिलने चाहिए। इस प्रकार के शारीरिक विचार प्रकार के ठीक विपरीत एक मानसिक विचार प्रकार[१] है। इसका अनुसरण करनेवालों का यह विश्वास है कि मनोवृत्तियों का अध्ययन स्वतन्त्र रूप से किया जा सकता है। मस्तिष्क में क्या परिवर्तन होते हैं इसे जानने की कोई आवश्यकता नहीं। शारीरिक विचार प्रकार के अनुसार चित्तवृत्तियों को मस्तिष्क के परिवर्तनों की अभिव्यक्ति मानना पड़ता है किन्तु मानसिक विचार प्रकार उन्हें स्वतन्त्र घटनाएँ समझता है। इस प्रकार का दृष्टिकोण ग्रहण करने से वह चित्तवृत्तियों के उस वैचित्र्य को समझा सका जो अबतक या तो छोड़ दिया जाता था या अस्पष्ट और अपूर्ण रूप में समझाया जाता था। इस विचार प्रकार की सहायता से अनेक मानसिक व्याधियों का यथार्थ निदान किया जा सका। रोगग्रस्त कई स्त्री पुरुष जो जीवन में अनुपयुक्त समझे जाते थे पुनः एक बार जीवन के रस का अनुभव करने लगे। इस विचार प्रकार के महत्त्व से बिना विशेष ऊहापोह के चित्तवृत्तियों की क्रियाएँ समझ में आने लगती हैं।

मन अथवा चित्त क्या है? अब इस पर विचार करना चाहिए। अनेक शास्त्रज्ञ प्रारम्भ में ही निर्वचन के पीछे पड़ जाते हैं। वे घटनाओं का उनकी प्रकृति में उतनी छानबीन में नहीं देखते जितना ध्यान में निवर्म और निर्वचना को देते हैं। वे समझते हैं कि निर्वचन में किसी प्रकार का दोष नहीं रहे तो ठीक है। किन्तु उनके

१—Psychological concept

विद्वान् विवेचन की उतनी परवाह नहीं करते जितनी घटनाओं की। चित्त का कोई ठीक-ठीक सार्वजनीन विवेचन नहीं है, लेकिन उसका स्वरूप स्थूलतः बताया जा सकता है। पश्चिम के लोग जिसे सामान्यतः 'माइण्ड' कहते हैं उसी को भारतीय 'मन' कहते हैं। 'माइण्ड' कहने से पश्चिमी विद्वान् तीन वृत्तियाँ समझ लेते हैं—ज्ञान भाव और सङ्कल्प (कागनीशन एफेक्शन और वालीशन=Cognition, affection and volition)। पहले चित्तवृत्तियों के अन्तर्गत भाव नहीं गिना जाता था। अरिस्टॉटल से लेकर रूसो तक सभी चित्त की दो ही वृत्तियाँ मानते थे—ज्ञान और सङ्कल्प। सर्वप्रथम रूसो ने पश्चिम के लोगों के सामने भाव का माहात्म्य निरूपित किया। उनके बाद काण्ट ने उसे अपनाकर अपने ग्रन्थों में 'ज्ञान भाव-सङ्कल्प', इस प्रकार से त्रिविध मनोवृत्तियों का उल्लेख किया। उस समय से ज्ञान-भाव सङ्कल्प ही चित्तवृत्तियाँ कही जा रही हैं।[१] इस त्रिपुट में कोई-कोई थोड़ा अन्तर कर देते हैं। कोई-कोई भाव के स्थान पर भाव एवं आवेग का और सङ्कल्प के स्थान पर क्रिया का परिगणन करते हैं।

भारतीयों ने इन्हें ज्ञान इच्छा, क्रिया कहा है। कहीं-कहीं क्रिया को कृति भी कहते हैं। पुराने ग्रन्थों में ज्ञान-नामक त्रिशक्ति ही मन की वृत्तियाँ अर्थात् शक्तियाँ के इच्छा क्रिया रूप में स्वीकृत हुई हैं:—

प्रथमा रेखा सा क्रिया शक्तिः, द्वितीया रेखा सा इच्छा शक्तिः तृतीया रेखा सा ज्ञान शक्तिः—भस्मजाबालोपनिषद्।

'स्थिरं चरं च यद्विश्वं सृजतीति त्रिविग्रहः।
ज्ञानक्रियेच्छाभिरीशामिलिताभिः स्वात्मशक्तिभिः॥
इच्छाशक्तिर्महेशस्य नित्या कार्यनियामिका।
ज्ञानशक्तिस्तु तत्कार्यं करणं कारणं तथा॥
प्रयोजनं च तत्वेन बुद्धिरूपाध्यवस्यति।
यथेप्सितं क्रियाशक्तिर्यथाध्यवसितं जगत्॥
कल्पयत्यखिलं कार्यं क्षणात्संकल्परूपिणी॥
—शिवपुराण वायुसंहिता उत्तर खण्ड।

ज्ञानेच्छा क्रियाणां रूपाणि महासरस्वती-महाकाली-महालक्ष्मीरिति नामान्तराणि—गुप्तवती टीका—दुर्गा सप्तशती।

१—Very different names ha e been proposed for the three: intellect feeling volition, thought emotion conation will feeling intelligence thinking feel ng, willing imagination will activity cognition affection, conation, presentation attent on feeling intellection emotion will wisdom will and love will wisdom activity will wisdom power reception, affection action and so on Bhagwan Das 'The Science of Religion p 31

इस विषय में विशेष और पूर्ण विवेचन के लिए Dr Bhagwan Das 'The Science of the emotions' Ch p III (A) देखना चाहिए।

'जानाति इच्छति यतते यद्ध्यायति तदिच्छति यदिच्छति तत्करोति यत्करोति तद्भवति।'[1]

प्रथम रेखा क्रियाशक्ति है, द्वितीय इच्छाशक्ति और तृतीय रेखा ज्ञानशक्ति है। ज्ञान, क्रिया और सृष्टि करने की इच्छा इस प्रकार की अपनी तीन शक्तियों से ब्रह्मा चराचर सृष्टि का सृजन करता है। महेश की इच्छाशक्ति नित्य कार्यनियामिका है। उत्पत्ति सन्तति का नियमन करनेवाली है। ज्ञानशक्ति उसका कार्य है, कारण भी और करण भी। ज्ञानरूपा (बुद्धिरूपा) जो शक्ति है, वह कर्म का सतत नियमपूर्वक ज्ञान कराती है। जैसी इच्छा होती है उसी प्रकार से क्रियाशक्ति परिणत होती है। जैसा ज्ञान होता है उसी के अनुरूप क्रिया और इच्छा भी होते हैं। इसी प्रकार से सहस्ररूपिणी शक्ति प्रतिक्षण में सभी कार्यों को सम्पन्न करती है। व्यक्तिगत ज्ञान, इच्छा और क्रिया के समष्टिरूप में महासरस्वती, महाकाली, महालक्ष्मी नामान्तर हैं। जानता है, चाहता है, प्रयत्न करता है। जिसका ध्यान होता है वही चाहता है, जिसकी चाह होती है वही करता है, जो करता है वही बन जाता है।

किन्तु ज्ञान, इच्छा, क्रिया इन तीनों मनोवृत्तियों में, विशेषकर ज्ञानात्मक वृत्ति की गति सर्वप्रधान है। अन्य सभी वृत्तियाँ इन्हीं में अन्तर्भूत होती हैं। किन्तु, इतने से सम्पूर्ण मन का अथवा चित्त का निर्वचन नहीं हुआ। पश्चिम के विद्वान् जिसे 'मन' कहते हैं, उसमें ज्ञाता, कर्ता, अन्तरात्मा आदि अन्तर्भूत हैं। उनके यहाँ मन से भिन्न कोई अहंकार (ईगो) नहीं है। सभी यही मन है। अतः उसे स्थूल दृष्टि से अन्तःकरण कह सकते हैं। अन्तःकरण क्या है? इसका निश्चित रूप से निर्वचन नहीं किया जा सकता। प्रत्येक शास्त्र पहले निर्वचनों का ठीक-ठीक निश्चय करके गवेषणा और परिशीलन का आरम्भ करता हो ऐसी बात नहीं है। अगर ऐसा होता तो शायद ही किसी शास्त्र का विकास और उन्नति हुई होती। तात्कालिक सिद्धान्तों को मानकर चलते-चलते ही शास्त्र बलवान् होता है और उसके विकास में ही एक ऐसी स्थिति उपस्थित होती है जब कि वह अपने मूल तत्त्वों का निर्वचन कर सकता है। आजतक जीवाणु शास्त्रज्ञ 'प्राण' का निर्वचन नहीं कर पाये हैं। वे प्रतिदिन जीवित प्राणियों पर प्रयोग करते रहते हैं किन्तु अभी तक यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सका कि प्राण क्या है। पदार्थ विज्ञानवेत्ताओं ने आजतक ईथर, वस्तु, शक्ति इत्यादि का अन्तिम निर्वचन नहीं किया है। गणित और ज्यामिति ने आकाश, बिन्दु को मानकर चले हैं। इस रीति से सभी शास्त्रों के मूल में जो तत्त्व समझे जाते हैं उन्हीं का निर्वचन अभीतक नहीं हुआ है। निर्वचन करने का प्रयत्न सदा विफल ही रहा है। प्रसिद्ध मनोविज्ञानवेत्ता और दार्शनिक जेम्स कहते हैं— नदी, सरकारें अथवा राज्यों का सर्वमान्य मानता है जो उनके निर्वचन के विषय में जो अनेक सार को बताता है कोई झगड़ा नहीं उठाता। तो हम को धारणा क्या न जटिल हो।[2] उसी प्रकार निर्वचनों के अर्थात् बिना निर्वचनों के पूर्ण ज्ञान व वैज्ञानिक ज्ञान हो सकता है।

१—Dr Bhagwan Das Sanatana Vaidika Dharma, page 32.

—*The varieties of Religious Experience Lectures II Page 26-27*

मूल तत्त्वों का निर्वचन जटिल और दुःसाध्य है, क्योंकि वास्तव में, सभी शास्त्र एक-दूसरे से संबद्ध हैं और विशेषतः मनोविज्ञान तो प्रत्येक शास्त्र का अत्यावश्यक अंग है। व्यक्ति और विषय के समन्वय से सभी शास्त्रों की उत्पत्ति हुई है। उस समन्वय का एकमात्र प्रभु और नियामक मन है। मन की शक्ति और उसकी गतियों पर शास्त्रों की सत्ता है। मनुष्य की वासनाएँ सदा उस भाग लिये जा रही हैं, और उन वासनाओं का उद्गम स्थल है मन। अतः मानसिक शास्त्र का महत्त्व प्रत्येक शास्त्र ने मुक्त कंठ से स्वीकार किया है। अभी तक कोई भी शास्त्रकार मनोविज्ञान के क्षेत्र में किसी प्रकार के स्वतंत्र ज्ञान की आवश्यकता नहीं देखता था। वह समझा करता था कि मन सब किसी को है उसे जानने के लिए किसी शास्त्र की आवश्यकता नहीं है। चित्त विश्लेषण-शास्त्र के उदय से इस प्रकार की धारणा भ्रान्त सिद्ध हुई और उस शास्त्र के गौरव में हो उसके विरोधी निबंधनों के लिए भार देने लगे।

वास्तव में किसी वस्तु का निर्वचन ठीक-ठीक हो भी नहीं सकता, क्योंकि प्रत्येक वस्तु अपने लक्षणों से युक्त है और उसके लक्षण का पूर्ण ज्ञान सम्भव नहीं है। ऐसा होते हुए भी प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तुओं से संबद्ध है। प्रत्येक शास्त्र का उदय अन्य शास्त्रों से हुआ है। शास्त्रों के या वस्तुओं के परस्पर सम्बन्ध को जानना दुष्कर है क्योंकि प्रत्येक शास्त्र के मूल तत्त्व ज्ञानातीत समझे जाते हैं। और क्या है कोई नहीं कह सकता। किन्तु के बिना गणित एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता। दोनों का निर्वचन ठीक ठीक नहीं किया गया है। मनुष्य और पशु का अन्तर कहाँ है? जानवर और वनस्पति इत्यादि को विभिन्न श्रेणियों में कर देनेवाली विभाजक रेखा कहाँ है यह किसी ने नहीं बताया। किन्तु दोनों में भेद मालूम होता है। दोनों में भेद है और है भी नहीं। सभी मूलतः एक ही पाश में बँधे हैं मनोविज्ञान अथवा मानसिक और भौतिक जगत् इसके अपवाद नहीं हैं।

'सर्वं सर्वथा सर्वं सर्वदा सर्वदर्शिनी।
अर्हेतु नियमा माया मनोमोहविधायिनी॥'[१]

सभी सभी प्रकार से सब जगह विद्यमान हैं। सदा सभी सब रूपवाले मन में मोह का निर्माण करने वाली माया तो नियम अथवा जटिल है। इसी प्रकार

'सर्वं सर्वेण सम्बद्धं सर्वं सर्वत्र सर्वदा'।

अर्थात् सभी एक-दूसरे से संबद्ध हैं। सभी सदा सब जगह हैं।

इस दृष्टि से देखने से भौतिक तथा मानसिक जगत् का भेद तत्त्वतः लुप्त हो जाता है। इन दोनों में जो भेद हैं वे हैं व्यावहारिक। वस्तुतः शरीरी अपने भोग के लिए दो शरीरों को ग्रहण किये हुए है—एक भौतिक और दूसरा मानसिक। ये दोनों शरीरी के ही शरीर हैं, इस कारण एक-दूसरे के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं और इन दोनों के अंतर्व्यापक अथवा सम्यक् रूप से शरीरी का साथ काम कर रहा है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जड़ पूर्णतः जड़ नहीं और मन पूर्णतः मानसिक या

१—समर्थ के निर्दिष्टमध्य कण्ठाई १२८-४१।

चैतन्यरूप नहीं है। जड़ में भी अव्यक्त रूप से मानसिक शक्ति अथवा चित्त शक्ति काम कर रही है जो मन में व्यक्तरूप में प्रकाशित है। इसी से देह के ऊपर मन के और मन के ऊपर देह के घात प्रतिघात होते रहते हैं। इसका प्रमाण है, शरीरी का भौतिक अथवा मानसिक आहार ग्रहण। मन में यदि अच्छा भाव आ जाय, तो उस मानसिक भाव में व्यक्त रूप से रहनेवाली चित्त शक्ति के कारण मन प्रफुल्ल होता है और उसी भाव में अव्यक्त रूप से विद्यमान जड़-शक्ति के कारण देह की जड़-वस्तुओं में परिवर्तन होता है और तदनुसार देह में विशेष परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं। अन्यान्य मानसिक वृत्तियों की भी यही कथा है। दूसरी ओर जिस समय शरीरी या देही किसी जड़-वस्तु को आहार रूप में ग्रहण करता है उस समय उस जड़वस्तु के भीतर अव्यक्त रूप में रहनेवाली चित्त शक्ति शरीरी की चित्त शक्ति के साथ मिल जाती है और इस मिलन से वही जड़-वस्तु जीवन्त जीवकाय में परिणत हो जाती है जिससे उसी के भीतर (व्यक्तरूप से) रहनेवाली जड़शक्ति से देह की पुष्टि और अव्यक्त रूप से रहनेवाली चित्त-शक्ति से मन की पुष्टि होती है। इस कारण से ही शास्त्र का कथन है कि अचैतन्य कुछ है ही नहीं—

'अचैतन्यं न विद्यते।'

दूसरा अध्याय

अज्ञात सिद्धि

चित्त विश्लेषण (चित्त-विकलन) एक विज्ञान है। सभी विज्ञानों में जो सामान्य नियम उपयुक्त समझे जाते हैं वे यहाँ पर भी उपयुक्त होंगे। सभी भौतिक विज्ञान हेतुफल-सन्तति को मानते हैं। इसी को मानकर वे अन्य नई गवेषणा या परीक्षाओं की मीमांसा करते हैं। यदि अकस्मात् कोई नया सिद्धान्त प्रस्फुटित हो जाए तो आज के सभी विज्ञान निरुपयोगी हो जायेंगे। प्रत्येक विज्ञान स्थूल से-सूक्ष्म की ओर प्रवृत्त होता है। स्थूल घटनाओं के कारण उनसे सूक्ष्म हुआ करते हैं। अतः मन के गवेषक का यही कार्य है कि वह ऐसी घटनाओं के कारण खोजकर उन कारणों में और घटनाओं में हेतुफल-सन्तति का निदर्शन कर दे। इसी प्रकार का हेतु फल सम्बन्ध कार्य कारण भाव अथवा यह नियम कि प्रत्येक कार्य का कारण अवश्य होना चाहिए, मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी लागू होना चाहिए। कार्यकारण नियम ही शास्त्र की मूल भित्ति है। कई वैज्ञानिक कार्य कारण-वाद को अन्य क्षेत्रों में तो मानते हैं किन्तु मनोविज्ञान में भी उसे मानने को वे तैयार नहीं हैं। वे समझते हैं मन हमारा है और उसकी सभी बातें हम जानते हैं। हम यह भी देखते हैं कि मानसिक जगत् में बिना कारण के भी कार्य होते हैं। उनका यह कहना उस वृद्ध स्त्री की बातों के समान होगा जो यह पूछे जाने पर कि शिशु पालन के सम्बन्ध में उसने कोई शिक्षा पाई है या नहीं कहती है वाह! शिशु पालन मैं नहीं जानती हूँ क्या! मैं भी किसी समय शिशु रह चुकी हूँ। उक्त शास्त्रकारों का कथन भी ऐसा ही है। अन्य विषयों में कोई अपनी प्रज्ञा प्रकट करने का और न अपने मत को शास्त्र कह कर प्रतिपादित करने का साहस उन्हें नहीं होता। हृदय में रक्त रहता है या नहीं इसके अपना भी मत शास्त्र कह कर प्रतिपादित करने की हिम्मत उनकी नहीं पड़ती। यद्यपि हृदय में रक्त रहता है, इस बारे में कोई मतभेद नहीं हो सकता क्योंकि यह प्रत्यक्षतः देखा जा सकता है किन्तु मन की बात दूसरी है। उसका विषय प्रत्यक्षगोचर नहीं है अतः सभी उसमें अपनी बुद्धि द्वारा प्रवेश करना चाहते हैं। किन्तु यह सर्वथा अनुचित है। इसमें सन्देह नहीं कि व्यक्ति-मन भिन्न भिन्न होता है फिर भी कुछ ऐसे नियम हैं जो सभी व्यक्तियों के मानसिक जगत् में समानरूप से काम कर रहे हैं। मनोविज्ञान भी शास्त्र है विज्ञान है। विज्ञान कहे जाने के लिए जितनी बातों की आवश्यकता है, उन सभी का अस्तित्व मानस शास्त्र के क्षेत्र में भी है। अतः इसमें भी कार्य-कारण-परम्परा माननी पड़ेगी।

मन से प्राप्त ज्ञात चित्त-वृत्तियों का बोध होता है।[1] चित्त का कोई अज्ञात अथवा अचेतन भाग है यह किसी को मालूम नहीं होगा। व्यक्ति के ज्ञान के बिना भी उसके चित्त में कुछ बातें रह सकती हैं और रहती हैं, यह विश्वसनीय नहीं मालूम होता। ज्ञान की सीमा परिमित है। उसमें जितनी बातें हैं वे ही चित्त में रहनेवाली हैं, ऐसा जन लोगों का प्रारम्भिक विश्वास है। व्यक्ति के ज्ञानालोक में ऐसी अनेक बातें प्रतीत होती हैं जिनका कोई अर्थ मालूम नहीं होता, जिनके सम्बन्ध में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि अन्य किसी विषय से उसका सम्बन्ध है, जैसे, भूल-चूक, मुद्रा-दोष, जीविका-वृत्ति आदि, किन्तु हैं वे ज्ञानगोचर। यदि मानसशास्त्र विज्ञान है तो उपर्युक्त वृत्तियों का वैज्ञानिक ढंग से पढ़ना होगा। यदि इन मानसिक घटनाओं को मनोविज्ञान कार्य-कारण-सम्बन्ध के दृष्टिकोण से नहीं समझा सकता तो वह विज्ञान के नाम के योग्य नहीं है।

ऊपर से देखने में कारणहीन अनेक घटनाएँ ज्ञानगोचर होती हैं। एक विद्यार्थी से उसके अध्यापक कहते हैं 'भाई, जाकर उनसे यह कह देना कि मैं अमुक विषय के बारे में व्याख्यान दूँगा।' वह विद्यार्थी 'हाँ' कह कर चला जाता है और वहाँ पहुँचने पर वही काम भूल जाता है जिसे करने के लिए वह वहाँ गया था। कोई कोई पढ़ता कुछ है पर पढ़ने जाते हैं कुछ और। सर वाल्टर स्कॉट के विषय में प्रसिद्ध है कि कक्षा में किसी प्रश्न का उत्तर देते समय वह अपनी घुण्डी (बटन) घुमाया करते थे। एक दिन उनके प्रतिस्पर्धी ने उसे काट लिया। बाद में प्रश्न का उत्तर देने के लिए स्कॉट उठे। उनका हाथ घुण्डी थामने लगा। वह मिली नहीं। स्कॉट जवाब नहीं दे सके। कुछ लोग जब किसी वस्तु को खाने लगते हैं तब उन्हें यह स्पष्ट मालूम रहता है कि वह हानि कर सकती है। अपने को वे समझाते हैं कि उसे खाना ठीक नहीं है किन्तु फिर भी वे बार-बार उसी को खाते हैं। वे अपने को रोक नहीं सकते। एक स्त्री के विषय में यह कहा गया है कि जब-जब उसके पास बैंक नोट आते थे तब-तब वह नम्बर देखा करती थी। वह जानती थी कि उस क्रिया का कोई अर्थ नहीं है तो भी प्रतीत होता था मानो कोई शक्ति उसे उस प्रकार देखने के लिए विवश कर रही हो। किशोर-अवस्था में कई व्यक्ति बैठे-बैठे ही अनेक स्वप्न देखते हैं। किसी भी कारण से वे उनको समझ नहीं सकते। उनसे मुख्य प्रमाण स्वप्न है। प्रत्येक व्यक्ति स्वप्न देखता है। वह उन्हें जानता है। स्वप्न ज्ञानगोचर है। मनोवृत्तियों के स्वरूप हैं। किन्तु उनका कोई कारण नहीं मालूम पड़ता। यह तो व्यक्ति-व्यक्ति या व्यक्ति-विशेष के आचरणों के विषय की बात हुई। कभी कभी सम्पूर्ण समाज भी इसी प्रकार की भावना के वश में हो जाता है। समष्टि भी ऐसा ही व्यवहार करता है। राष्ट्रीय आन्दोलनों में सामाजिक क्रान्तियों में एक लहर में समष्टि

१—मन और चित्त यद्यपि पर्यायवाची हैं, तथापि व्यवहार पक्ष से 'अन्तःकरण' के स्थान पर और मानस-शास्त्र को ध्यान में रख 'मन' शब्द का यहाँ प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार योग-शास्त्र के अर्थ-[illegible] के अनुसार (देखिये, योग-सूत्र १।१—२, १।२०, २।५४ आदि) चित्त का प्रयोग है। उपनिषद् का 'हृदय' (छान्दोग्योपनिषद् ८।१, मुण्डक २।१) [illegible] और बुद्ध का मन ([illegible] १—२, १—६) चित्त का पर्यायवाची है। [illegible] ही चित्त का [illegible] है।

मन या लोग बह जाते हैं। यह जानते हुए कि उस प्रकार बह जाना अनुचित है, अज्ञान है, तो भी लोग बह जाते हैं। एक विद्वान् ने एक राष्ट्रीय नेता से कहा, 'आप तो कहते हैं कि नौकरी छोड़ने से देश का कल्याण होगा। क्या यह बात सत्य है?' नेता ने जवाब दिया 'पंजाब के हत्याकाण्ड से यदि आपके हृदय में आग धधकती होती तो आप ऐसे प्रश्न पूछते ही नहीं।' नेता इतनी उमंग में भरकर ऐसी जोरदार आवाज में बोले कि उससे प्रभावित होकर उक्त व्यक्ति ने अपने पद से इस्तीफा दे दिया। वह जानता था कि उसने ठीक काम नहीं किया फिर भी वह अपने को रोक नहीं सका। आजकल दुनिया में विज्ञापन आदि का एक विशेष शास्त्र बन गया है।[1] सभी विज्ञापन, एक-दूसरे से बढ़कर, मनुष्य को मोह में डालना चाहते हैं। व्यक्ति इश्तहार देखता है और तुरन्त दवा, पुस्तक घड़ी इत्यादि भेजने के लिए ऑर्डर दे देता है। ऑर्डर देना आदि काम मन से ही, संकल्प से ही, होते हैं किन्तु उस प्रकार का संकल्प क्यों होता है, यह वह नहीं जानता।

उपर्युक्त सभी क्रियाएँ चैत्त हैं। व्यक्ति ही ज्ञानालोक में काम करता है। वह जानता है कि अमुक काम उससे हो रहा है किन्तु कभी कभी उस कार्य का कोई कारण उसे दिखाई नहीं पड़ता। अतः अनुमान करना पड़ता है कि सभी चैत्तवृत्तियों के, सभी ज्ञात मानसिक क्रियाओं के कारण ज्ञानालोक में नहीं रहते हैं प्रत्युत् उनका अस्तित्व कहीं और है। यही बात राष्ट्रीय आन्दोलनों में शिक्षापद्धतियों में धार्मिक संप्रदायों आदि में स्पष्ट दिखाई पड़ती है। नेता अध्यापक और धर्मगुरु का प्रायः सर्वप्रथम प्रयत्न यह नहीं रहता कि वे जनता की शिष्य की, अनुयायी की बुद्धि को प्रभावित करें अथवा उनके द्वारा उपस्थित की गई शंकाओं का सामना ही करें, प्रत्युत् उनलोगों का सर्वप्रथम प्रयत्न यही रहता है कि किसी प्रकार जनता शिष्य अथवा अनुयायियों के चित्त को अपनी ओर आकर्षित करें। एक बार चित्त आकृष्ट हो जाने पर वे जो चाहते हैं, उनसे करा सकते हैं।

राष्ट्रीय आन्दोलनों में नेता जनता की कारण-शक्ति का तर्कशक्ति का सामना नहीं करते वे पहले उन्हें किसी बात के औचित्य या अनौचित्य की परीक्षा नहीं करने देते। इसी से नेताओं के व्याख्यान उद्बोधक कहे जाते हैं। वे जनता के क्रोध आदि भावों को उत्तेजित करने का प्रयत्न करते हैं। प्रत्येक आन्दोलन के कुछ जय निनाद, पुस्तक प्रतिज्ञाएँ, स्वप्न आदि रहते हैं। फ्रांसिसी क्रान्ति के तीन नारे थे—(१) मनुष्य के स्वत्व (अधिकार) (२) प्रकृति की ओर लौटो तथा (३) राष्ट्र के प्रण।[2] प्रथम यूरोपीय महासमर की युद्ध घोषणाएँ थीं : (१) दुर्बल जाति की रक्षा (२) आत्म-निर्णय तथा (३) विल्सन के चौदह सूत्र आदि।[3] उद्भावक या नेता ऐसी ही विधियों से जनता मे

१—Psychology of Advertisement नामक ([illegible]) [illegible]

२—The Rights of Man Back to Nature The Covenants of State

३—Protection of Weaker Nations Self determination and fourteen points of President Wilson

उत्तेजना फैलाते हैं। इस प्रकार बहुत-से तांत्रिक एवं स्फूर्तिदायक शब्दों[1] एवं वाक्य-विन्यासों की सृष्टि हठात् हो जाती है।

धार्मिक विषयों में भी यही प्रणाली बरती जाती है। जब-जब राष्ट्र उन्नति की ओर बढ़ने का प्रयत्न करता है, जब-जब समाज की बुरी प्रथाओं को निकाल देने का प्रयत्न होता है, तब-तब राष्ट्र के पूर्वाचार-प्रिय व्यक्ति 'धर्म पर वज्रपात', 'मारो गौ', 'इस्लाम पर संकट', 'वेद पर भीषण आघात' आदि शब्दों से जनता में आन्दोलन आरम्भ करते हैं। शिक्षा का क्षेत्र इस बात का अपवाद नहीं है। किन्तु अन्य क्षेत्रों में और शिक्षा के क्षेत्र में कुछ अन्तर है। शिक्षक प्रारम्भ में विद्यार्थियों के चित्त को आकृष्ट करना चाहते हैं किन्तु उनमें उत्तेजक भावों को उत्थित करके नहीं। वे उन छात्रों की 'उत्सुकता'-नामक मूलप्रवृत्ति का तथा उनकी कल्पना को अपने सदाचार, प्रेम तथा अन्य गुरु व्यवहारों से आकृष्ट कर लेते हैं। अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा शिक्षा के क्षेत्र में ऐसी बात क्यों? इस प्रकार के अन्तर का क्या कारण है? अथवा शिक्षा के क्षेत्र में उत्तेजक भावों के जागरण की बात क्यों नहीं उठती? बात यह है कि शिक्षा के क्षेत्र एक मात्र कल्याण के क्षेत्र हैं, उनमें किसी व्यक्ति की विशेष स्वार्थ पुष्टि नहीं है; उनमें शिक्षक का ध्यान मुख्यतः इस बात पर रहता है कि *विद्यार्थी की सुप्त शक्ति जाग्रत* होकर अपने स्वधर्म में सुप्रतिष्ठित हो जाय। इन सभी बातों में जो कुछ समानता दिखाई पड़ती है, वह यह है कि लोगों के चित्त में ऐसी वृत्तियों को उत्तेजित, उद्बुद्ध किया जाय जिसके कारण समझे बिना भी वे प्रेरित होकर काम तो करें। व्यक्ति सोचता-समझता तो है कि वह क्या कर रहा है किन्तु वह यह नहीं जानता कि उसी प्रकार का कार्य वह क्यों कर रहा है। वह वास्तव में अज्ञात शक्ति के आवेग में कुछ कर देता है। सभी उपदेशक चाहे वे राजनीतिक क्षेत्र में हों या किसी अन्य क्षेत्र में, भावों अथवा व्यक्ति के आवेगों को जगा देने का प्रयत्न करते हैं। भावोत्पत्ति के अनन्तर 'अकारण' भी सकारण-से दिखाई पड़ने लगते हैं। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक गटे कहते हैं—

किन्तु वृत्ति जो निकल रही है तेरे केवल उर की
तेरी ओर झुकाएगी वह वृत्ति अन्य के उर की।[2]

१—Catch words ऐसे शब्द या वाक्य हैं जो जन-समूह को आकृष्ट कर लेते हैं। 'Slogan' भी ऐसा ही शब्द है।

२—But that which issues from the heart alone,
Will bend the hearts of others to your own.

यहाँ पर 'हृदय' का तात्पर्य है मन की भाव-वृत्ति की ओर। वास्तव में मनोविज्ञान में 'हृदय' शब्द का प्रयोग मन की भावात्मक वृत्ति के रूप में ही होता है और उसका प्रचलित प्रयोग केवल साहित्यिक है। इसीलिए अनेक मनोवैज्ञानिक 'हृदय' की गति में लेखनी चलाना वस्तुनिष्ठ नहीं मानते हैं। बहुत-से कवि 'हृदय' अथवा 'दिल' को दूसरे 'अर्थ' में ही प्रयोग करते हैं। मनोविज्ञान के विद्यार्थियों को यह समझ लेना चाहिए। 'दिल' शब्द का तात्पर्य मन की भावात्मक वृत्ति से है न कि व्यक्ति विशेष के शरीर के अंग से है। अतः 'हृदय' या 'दिल' अपने साहित्यिक अर्थ में मनोविज्ञान से निष्कासित हो चुके हैं, क्योंकि 'हृदय' की वृत्तियाँ मन की वृत्तियाँ हैं जिन्हें हम भाव या संवेग (feelings or emotions) के नाम से मनोविज्ञान में पुकारते हैं।

भावना का प्रताप प्रबल है। भावना मुख्यतः अव्यक्त चित्त की वृत्ति है। बिना किसी स्पष्ट कारण के कुछ भावनाएँ मन में रह जाती हैं और सारी चित्त वृत्तियों पर अपनी प्रभुता फैलाती हैं। जो बात भावना नहीं कर सकती, वह कोई नहीं कर सकता। भावना मनुष्य को मार सकती है और जिन्दा कर सकती है। सृष्टि नाश शक्तिहीनता, जीवन-मरण, ये सभी भावना के विभिन्न भेद हैं। भावना की शक्ति के निदर्शन में एक सुन्दर कहानी है जिसे लिखने के लोभ का संवरण हम नहीं कर सकते। फारस के एक नगर के बाहर एक वृद्ध फकीर बैठा रहता था। वह बड़ा साधु था। उसने एक बार देखा कि नगर की ओर भीषण आकारवाला कोई पुरुष आ रहा है। फकीर तत्त्ववेत्ता था। उसने उस आदमी से पूछा 'भाई, तुम कौन हो?' उसने कहा, मैं महामारी हूँ। मैं इस नगर में इसलिए आ रहा हूँ कि यहाँ के रहनेवाले बड़े दुष्ट हैं। मैं इनका भक्षण करूँगा। फकीर ने कहा 'भाई नगर में साधु भी तो हैं। महामारी ने कहा, 'मैं केवल एक हजार असाधुओं को मारूँगा। दूसरे दिन फकीर ने सुना कि शहर में हजारों लोग महामारी के कारण मर गये। उस दिन शाम को फकीर ने महामारी को अपनी तरफ आते हुए देखकर पूछा 'तुमने तो कहा था कि मैं एक हजार लोगों को ही मारूँगा किन्तु वास्तव में, तुम कई हजार लोगों का खा गये। भाई फकीर से भी मजाक! महामारी ने बड़े विनयभाव से उत्तर दिया, 'बाबाजी सचमुच मैंने एक ही हजार मनुष्यों का प्राश किया है। बाकी सब डर से मर गये हैं। इसमें मेरा क्या अपराध?'[१] इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। भयभीत होकर बड़े-बड़े तक अपना स्वभाव भूल जाते हैं। वे उस समय कुछ ऐसा काम कर बैठते हैं जिनका उन्हें भान नहीं रहता। दार्शनिक जेम्स ने अपनी पुस्तक 'धार्मिक अनुभव के प्रकार'[२] में एक घटना उद्धृत की है। बंगाल की एक नदी में बाढ़ आई। कई मील तक पानी ही-पानी फैल गया। उस असीम जल राशि के बीच में केवल एक टीला ऊपर उठा हुआ था। आसपास के लोग उसी पर एकत्र हुए। थोड़ी देर के बाद एक शेर तैरता हुआ वहाँ पहुँचा और लोगों के बीच में हाँफते-हाँफते लेट गया। डर के मारे वह शेर अपनी प्रकृति को भूल बैठा था।

१—इस सम्बन्ध में दुर्घटना और प्रमाद भी प्रमुख हिस्से बन सकते हैं। [illegible] [illegible] में [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible] ११ १ को उन्होंने अपनी Readings for Every Day of the year नामक पुस्तक में मृत्यु के सम्बन्ध में [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible] १११ में [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।

Freud believes that in many cases death from accident rashness mistake etc is in reality an involuntary suicide dependent upon a complex—C. Baudouin suggestion and Auto-suggestion 1021 p. 102.

२—The Varieties of Religious Experience

भावना कभी-कभी प्राणों की भी रक्षा करती है। बनारस की बात है। रेलवे का एक पैंटमैन (प्वाइण्ट्समैन) रेल के नीचे गिर पड़ा और उसका मेरुदण्ड टूट गया। डाक्टरों ने कह दिया कि वह दो घण्टों में मर जायगा किन्तु वह बराबर चिल्लाता रहा 'नहीं डाक्टर साहब मैं नहीं मरूँगा, मैं नहीं मरूँगा। आप पट्टी बाँध दीजिये।' डाक्टर ने उसकी तुष्टि के लिए पट्टी बाँधी और चले गये। वह रोगी मरा नहीं। जब डाक्टर ने उससे पूछा 'भाई क्या बात है? तुम कैसे बच गये?' तो वह कहने लगा 'साहब मेरी शादी हुए तीन माह ही हुए। पहली औरत से तीन बच्चे हुए। यदि मैं मर जाऊँ तो उसकी देखभाल कौन करेगा?'[1] भावना क्या नहीं करती! भावना कभी ज्ञात रहती है जैसे जप आदि में और कभी अज्ञात। कहीं भावना का कारण मालूम होता है और कहीं नहीं। भावना मन का धर्म है। जो जैसी भावना करता है वह वैसा ही बन जाता है।

'मनोऽपि भावनामात्रं भावना स्पन्दधर्मिणी।
क्रियातद्भाविता रूपं फलं सर्वोऽनुधावति॥'[2]

मन भावना मात्र है। भावना से सब कुछ होता है। किन्तु भावना का कारण प्रायः मालूम नहीं पड़ता है। प्रेम की स्थिति में इसी प्रकार के कार्य अज्ञातलोक में होते हैं किन्तु उनका कारण नहीं ज्ञात होता। कहावत भी है कि कामुक अन्धा है।[3] कालिदास का कहना है :—

'कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु'।

कामार्त स्थावर-जंगम का भेद नहीं जानता। महाकवि शेक्सपियर ने पोर्शिया के इन शब्दों द्वारा इसी अज्ञात शक्ति के अस्तित्व की ओर इशारा किया है :—

'मेरे भीतर कोई आवाज कह रही है कि मैं तुम्हें कभी नहीं खोऊँगी।'[4]

ज्ञानवान् पुरुष भी अनेक कार्य जानकर नहीं करता। क्रिया हो जाती है तब कहीं वह उस कारणमय विधान की चेष्टा करता है। काम भी तभी अच्छा होता है जब वह अन्दर से किसी अज्ञात प्रेरणा से हो जाय। मनुष्य को हम सब कारणवान्

१—सन् १९११ में जब पेरिस के ऊपर [illegible] हो रहे थे उस समय एक दिन [illegible] ।—C Baudouin : Suggestion and Auto suggestion p 116

२—योगवासिष्ठ उत्पत्ति प्रकरण ९९. १।

३—Love is blind और इसीलिए कहा जाता है कि 'One must not trifle with love'

४—Something in me tells me I will not lose you.—Merchant of Venice.

कहते हैं। उसे युक्तायुक्त का ज्ञान है; किन्तु यह ठीक नहीं है। यदि व्यक्ति समझने को समझ न हो तो उसे समझाना कठिन है। लोग कहते हैं 'जी आप जो कुछ बताते हैं, वह ठीक है पर । इस प्रकार सभी कारणों से पुष्ट किसी बात को मानकर भी व्यक्ति 'लेकिन, किन्तु परन्तु, बल्कि आदि' शब्दों द्वारा ज्ञानलोक से, बुद्धि से भी परे रहनेवाली किसी शक्ति का परिचय देता है।[१] इन सब बातों को देखते हुए हमें माइक्रू के शब्दों में यह स्वीकार करना पड़ता है कि कुछ अज्ञेय शक्तियाँ हमारा संचालन करती रहती हैं।[२] इस कथन की सत्यता सभी ज्ञानी स्वीकार करते थे। यह अनुदिन की बात है। इसी से धृतराष्ट्र कहते हैं:—

'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

मैं धर्म को जानता हूँ, किन्तु उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती। मैं अधर्म को जानता हूँ, पर उससे मेरी निवृत्ति नहीं होती। हृदय में कोई देव बैठकर मुझे चला रहा है। उसी के अनुसार मैं चल रहा हूँ। इन सभी उदाहरणों और वचनों से सिद्ध होता है कि अपनी अनेक चित्तवृत्तियों का कारण हम स्वयं नहीं जानते। मालूम होता है कि हम अज्ञात शक्तियों के वश में जीवन बिता रहे हैं। वास्तव में यह सत्य है कि कुछ चित्तवृत्तियाँ अज्ञात अथवा अचेतन होती हैं। इस सम्बन्ध में हम शंका करने की आवश्यकता नहीं है। कभी कभी यदि हम अपनी दृष्टि को भीतर की ओर दौड़ायें और किसी चित्तवृत्ति का कारण जानने का प्रयत्न करें तो हम सफल हो सकते हैं। एक समय पूर्व जो अकारण मालूम होता था वह अब सकारण जान पड़ेगा। इसीसे हम ऊपर कह आये हैं कि 'कार्य-कारण-परम्परा' चित्त के क्षेत्र में भी काम करती है। उसके बिना किसी भी चित्तवृत्ति को हम समझ नहीं सकते। लेकिन प्रायः चित्तवृत्तियों के कारण अज्ञात रहते हैं वे अज्ञातरूपेण चित्त में रहते हैं और हम उनको अन्तर्निरीक्षण से ज्ञात बना सकते हैं। चित्त के अज्ञात भाग के अस्तित्व में अनेक लोग अविश्वास करते हैं। पर यह उचित नहीं है। यदि हम उन्हें नहीं जानते हैं तो वे चित्त में रह ही कैसे सकते हैं यह प्रश्न ठीक नहीं है। अनेक ऐसी बातें हैं जिन्हें हम नहीं जानते किन्तु पर भी उनका अस्तित्व सिद्ध हो चुका है। चन्द्रमा मेघों से आवृत हो जाता है पर कोई उसके अस्तित्व का निराकरण नहीं करता। वह अपना काम करता ही जाता है। समुद्र की तरंगें यथापूर्व उसकी आकर्षण शक्ति से प्रभावित होती रहती हैं। उसी प्रकार परमाणु तथा अणु दिखाई नहीं पड़ते। फिर भी सारा संसार उन्हीं के आधार पर बना हुआ सिद्ध

१— A man convinced against his will is of the same opinion still.
—Hart The Psychology of Insanity p 141 4.

If you have a God already whom you believe in the arguments for God's existence confirm you if you are an atheist they fail to set you right.

William James : The Varieties of Religious Experience p. 431

२—We are guided by uncontrollable forces.

किया जाता है। शक्ति को किसी ने नहीं देखा। उसकी अभिव्यक्ति प्रत्येक पदार्थ या पुद्गल में है। बर्फ का एक टुकड़ा पानी में डाल दिया जाय तो उसका ऊपरी भाग दिखाई पड़ता है किन्तु भीतर अधिक भाग जल से ढँका रहता है। इन सब उदाहरणों में कार्य तो दृश्य है किन्तु कारण अदृश्य है। दृश्य से ही हम अदृश्य का अनुमान करते हैं। इसी प्रकार हम देखते हैं कि चेतना ज्ञान में परिवर्तित होती है। यद्यपि वह दृष्टिगोचर नहीं हो सकती फिर भी कोई उसका निराकरण नहीं करता। पद पद पर दृश्य वस्तुओं से अदृश्य वस्तुओं की सत्ता सिद्ध की जाती है। यही विज्ञान का सिद्धान्त है। विज्ञान अदृश्य का निराकरण नहीं करता। वह उसका कार्य चाहता है। 'अदृश्य' यदि दृश्य को समझाता है तो उसकी सत्ता विज्ञान अवश्य मानता है। ऐसा होने पर भी यही विज्ञान उस साधारण संस्कार के कारण कि लोग नवीनता को बरदाश्त नहीं कर सकते कभी-कभी अपनी प्रगति को अस्वीकार करना चाहता है और स्वयं नई बातों का खण्डन करने लगता है। गैलेलियो ने सूर्य में धब्बा दिखाया। उसमें साधन दूरदर्शक यन्त्र था। लोगों ने कहा कि उस यन्त्र के शीशे में भूल है।

आँखें सभी को प्राप्त हैं किन्तु देखनेवाले कितने हैं! उनको दिखानेवाले की आवश्यकता है। संसार में अनादिकाल से गुरुत्वाकर्षण-शक्ति काम कर रही है किन्तु उसका ज्ञान कराने के लिए न्यूटन की आवश्यकता हुई। इसी प्रकार चित्त के जो विविध कार्य हैं उनका प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है किन्तु उनके कारणों का पता नहीं जानता। उन कारणों के अस्तित्व को सिद्ध करने का श्रेय प्रधानतः डा० फ्रायड को प्राप्त हुआ। लेकिन समाज ने उनका विरोध किया। वह विरोध निम्न-सा है—यह हमारे पिताजी का कूप है। हम इसी का पानी पीयेंगे। गंगा का जल हम नहीं चाहिए।

प्रारम्भ में समाज नवीन आविष्कारों का विरोध करता है और वह प्राचीन परम्परा की दुहाई देता है और कहता है 'अरिस्टॉटल या मनु महाराज तो ऐसा नहीं कहते हैं। उनका कहना गलत नहीं हो सकता। परम्परा प्रेमी समाज कहता है: शास्त्र कभी मिथ्या नहीं हो सकते। इतना होते हुए भी जो बात सच्ची होती है वह धीरे धीरे जनता की समझ में आ जाती ही है। कोई भी कठिन समस्या यदि सर्वसाधारण की समझ में आनेवाली घटनाओं द्वारा समझाई जाय तो जनता की बुद्धि भी कुछ दिनों के बाद उसे ग्रहण कर लेती है। प्रायः, स्थूल तथा प्रत्यक्ष वस्तु से सम्बन्धित सूक्ष्म एवं अप्रत्यक्ष वस्तु का ज्ञान कराया जाता है। किसी वस्तु के प्राप्त न हो सकने से ही हमें उसकी सत्ता के विषय में शंका नहीं करनी चाहिए। परमाणु प्रत्यक्षतः दिखाई नहीं पड़ते तो भी उनका अस्तित्व है। उनके बिना प्रत्येक कार्य सिद्ध ही नहीं हो सकते। जब कार्य दिखाई पड़ते हैं और कारण नहीं दिखाई पड़ते तब कारणों का अनुमान कार्य देखकर ही करना चाहिए। इसी प्रकार चित्त में जो वृत्तियाँ ज्ञात होती हैं उनका

१—श्री [illegible] और विज्ञान
[illegible] । [illegible], १८ ४ ।

कारण अज्ञात भले ही हो, पर अस्तित्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि कारण के बिना कोई कार्य नहीं हो सकता।

संसार में कोई भी बात आकस्मिक नहीं होती। जितनी वस्तुएँ हैं, जितनी बातें होती हैं, सब का कोई-न कोई कारण अवश्य होता है फिर चाहे वह ज्ञात हो अथवा अज्ञात हो। दुनिया की कहावतों से भी यह बात सिद्ध होती है। सांख्यकारिका में आया है—

'शक्तस्य शक्यकरणात्।

जिसमें शक्ति है, वही शक्य का जनक होता है।

'सतः संजायते

सत् से ही सत् की उत्पत्ति होती है।

'Omne vivum abovo

Life proceeds from life

प्राण से प्राण उत्पन्न होते हैं।

Like proceeds from like

समान से समान की निष्पत्ति है।

Ex Nihilo nihil fit (Nothing can come from nothing)

'नासतो सदुत्पत्ते' 'नासतो विद्यते भाव।

असत् से सत् उत्पन्न नहीं होता।

'कार्यो सत्त्वरूं कार्येण भाव्यं कार्ये सत्यवश्यं कारणेन भाव्यम्'

कारण रहे तो कार्य अवश्य रहेगा और कार्य रहा तो कारण अवश्य रहता है।

'कारणेन विना कार्य भावनाभावत्वं क्वचित्।
न दृष्टं न श्रुतं किंचित्

कारण के बिना कार्य का होना न कहीं देखा गया है न सुना गया है।

संसार में व्यवहार इसी आधार पर चलता है। यदि कार्य कारण का सम्बन्ध सुदृढ़ रूप न रहता तो संसार में व्यवहार चल ही नहीं सकता। कहीं भी इस नियम में व्यतिरेक नहीं दिखाई पड़ता। ऐसी स्थिति में जहाँ पर कारण का कोई प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है वहाँ भी कारण की सत्ता माननी चाहिए।

अब यहाँ प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि लोग छोटी बातों के विषय में कार्य कारणवाद की सत्यता स्वीकार नहीं करना चाहते। महत्त्वपूर्ण बातों में तो लोग कार्य कारण परम्परा का अस्तित्व अवश्य मानते हैं। किन्तु छोटे छोटे विषयों के सम्बन्ध में वे विचार करने लगते हैं कि कार्य-कारणवाद यहाँ लागू नहीं होता। प्रायः चालानी से की जानेवाली क्रियाओं को हम अकारण घोषित कर दिया करते हैं। उदाहरणार्थ, मान लीजिए किसी स्थान की ओर दो मार्ग जाते हैं। अब यदि हम एक को छोड़ दूसरे मार्ग से जाएँ तो कारण पूछने पर हम कह सकते हैं कि यह हमारी खुशी की बात है। इसका कारण क्या बताया जाए। उसी प्रकार यदि किसी के कहने से हमने कोई ऐसा पुस्तक ली तो हम समझते हैं कि हमारे इस कार्य का कोई कारण नहीं हो सकता,

क्योंकि हम चाहते तो कोई अन्य संख्या चुन लेते। इसके अतिरिक्त हम उन क्रियाओं को भी इस नियम के अपवाद-स्वरूप समझते हैं जिन्हें हम पहले दो बार ठीक तरह से कर चुके हों किन्तु उनके सम्बन्ध में हमसे कोई त्रुटि हो गई हो। उदाहरणार्थ यदि कोई व्यक्ति कोई पुस्तक अपने स्वामी को लौटा देना भूल जाता है तो वह अपनी इस विस्मृति को अकारणवश समझने लगता है क्योंकि इसके पूर्व कई बार वह पुस्तक को लौटा चुका है। इस बार की भूल को वह एक आकस्मिक घटनामात्र समझता है। जिन बातों को व्यक्ति नहीं चाहता है उन्हें भी वह कारणविहीन समझने लगता है। उसी प्रकार हम कभी कभी अपने मित्र को पत्र लिखना भूल जाते हैं। हम पत्र लिखना नहीं चाहते। हम यह भी स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं कि हम पत्र नहीं लिखना चाहते। ऐसी परिस्थिति में अपनी क्रियाओं को हम कारणहीन ही समझने लगते हैं।

चौथी बात हमारी अज्ञानता है। हम प्रायः जिनके कारण नहीं जानते उन्हें अकारण समझने लगते हैं। शकुन (सगुन) इत्यादि को लोग प्रायः अकारण मानते हैं। जिन बातों के सम्बन्ध में हमें यह विश्वास रहता है कि हम उन्हें अन्यथा कर सकते हैं जिन्हें यदि हम चाहें तो बिलकुल ही न करें उन्हें हम प्रायः कारणरहित समझने लगते हैं। किन्तु इनका भी कारण रहता है। हमारा अज्ञान कारण के अनस्तित्व का प्रमाण नहीं है।

ऊपर हमने जो कुछ लिखा है उसे पढ़कर कई लोगों को आश्चर्य हो सकता है और वे पूछ सकते हैं कि यदि ऐसी ही बात है तो फिर पुरुष के संकल्प का क्या महत्त्व है? यदि सभी कार्य सभी चित्तवृत्तियाँ कारणों द्वारा पहले से ही निश्चित हैं तब व्यक्ति का यह अनुभव कैसे होता है कि वह स्वयं स्वसंकल्प से कुछ काम करता है और उसे स्वयं कार्य करने की क्षमता प्राप्त है। यदि कार्य कारण-सिद्धान्त को हम सचमुच मान लें तो विचार स्वातन्त्र्य अथवा स्वतन्त्र संकल्प के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। किन्तु वस्तुतः आश्चर्य करने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जो ज्ञात रूप से स्वतन्त्र संकल्प शक्ति का विषय नहीं है वह अज्ञात कारणों से स्वतन्त्ररूपेण ही निर्धारित होते हैं अर्थात् ज्ञात रूप से जो अस्वतन्त्र रहते हैं वे अज्ञातरूप से स्वतन्त्र हैं। जिस समय ज्ञात का संकल्प अज्ञात के संकल्प के साथ मिल जाता है उसी समय व्यक्ति दृढ़ता के साथ कहता है कि यह 'मेरा स्वतन्त्र संकल्प है' और वह तदनुसार कार्य भी करता है। मूल बात यह है कि व्यक्त या ज्ञात (चेतन) ही एकमात्र सत्ता नहीं है उसके भीतर, बाहर अव्यक्त अज्ञात (अचेतन) है। और यह अव्यक्त अज्ञात ही उन क्रियाओं का कारण है (कारणमव्यक्तम्)। जिस समय अव्यक्त अज्ञात के अनुसार व्यक्त ज्ञात का काम हुआ उस समय वह काम स्वतन्त्र प्रतीत हुआ। इसके विपरीत होने से ही वह काम अस्वतन्त्र मालूम होता है। अतः कार्य कारणवाद के बल पर चित्त की एक अज्ञात भूमि माननी पड़ेगी जिससे ज्ञात की सभी चित्तवृत्तियाँ भलीभाँति समझाई जा सकें।

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि 'अज्ञात अज्ञात क्या है? ये बातें जो अज्ञात चित्त में हैं, क्यों प्रत्यक्ष नहीं होतीं? इन प्रश्नों का उत्तर सांख्यवादियों ने अच्छी तरह से दिया

है। अतः हम उन्हीं के वचन यहाँ उद्धृत करते हैं। ईश्वर कृष्ण का कहना है कि कारण हैं, किन्तु अज्ञात हैं। वे अज्ञात इस कारण से हैं कि—

'अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातात् मनोऽनवस्थानात्
सौक्ष्म्यात् व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च
सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः नो भावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः ।'[1]

अति दूर रहने के कारण, बहुत ही समीप रहने के कारण, इन्द्रियों के नाश से अथवा विकार से मन के हट जाने से, विषय के अति सूक्ष्म रहने के कारण, किसी प्रकार के अवरोध से (दो शक्तियों के अथवा विषयों के) परस्पर हार अथवा हानि और दो वस्तुओं के अच्छी तरह से मिल जाने के कारण (किसी वस्तु के) अस्तित्व की उपलब्धि नहीं होती है। सूक्ष्मता के कारण ही अनुपलब्धि होती है, अभाव के कारण नहीं क्योंकि यदि वह वस्तु नहीं रहती, तो उसका कार्य कैसे उपलब्ध हो सकता है! अतः कारण अवश्य रहता है। कार्य से कारण का अनुमान करना चाहिए, क्योंकि अकस्मात् बिना किसी कारण के कोई वस्तु होती दिखाई नहीं देती। सांख्य कथित उपर्युक्त कारणों से किसी कारणवश अज्ञात चित्त की बातें नहीं मालूम होती हैं, तथापि उनका अस्तित्व अवश्य मानना पड़ता है, क्योंकि 'कार्यतस्तदुपलब्धेः',—उनके कार्य दिखते हैं यथा त्रुटियाँ स्वप्न आदि। इस प्रकार कार्य-कारणवाद से चित्त के अज्ञात भाग का अस्तित्व सिद्ध होता है, इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक आवश्यकता से भी अज्ञात का अस्तित्व सिद्ध होता है। विज्ञान के कार्य के विषय में हम पहले ही बता चुके हैं। विज्ञान उस सूत्रात्मा को पहचानना चाहता है जिससे सभी विभिन्न घटनाएँ एक सूत्र में बाँधी जा सकें। हमने इस अध्याय के प्रारम्भ में दिखाया है कि किस प्रकार अनुदिन की त्रुटियों तथा स्वप्न आदि चैत वृत्तियों का कोई कारण प्रत्यक्षतः ज्ञात नहीं होता। चित्त अन्य या ज्ञप्ति की सीमा तक ही परिमित समझने से उन सब चैत क्रियाओं का समन्वय करना असम्भव है। यदि हम उन सभी वृत्तियों को बिना किसी अज्ञात चैत भाग के माने ही भलीभाँति समझा सकें तो ठीक है अन्यथा हमें यह मानना ही पड़ेगा कि कुछ कारण अज्ञात हैं जो किसी एक अज्ञात चैत भूमि में रहते हैं। यदि अज्ञात चित्त के मान लेने से सभी ज्ञात चैत वृत्तियों का अर्थ मालूम हो जाय तो अज्ञात चित्त का मानना अनुचित नहीं हो सकता। हम प्रायः देखते हैं कि जब हम अनुदिन की त्रुटियों, स्वप्नों आदि के कारणों की खोज करते हैं तब ज्ञानगोचर चैत वृत्तियों में उनका पता नहीं चलता किन्तु अज्ञात भूमि के मानने से उन सभी का शृङ्खलाबद्ध अर्थ मालूम होने लगता है। यही विज्ञान का काम है। अतः अज्ञान की सिद्धि वैज्ञानिक आवश्यकता को पूरा करने के लिए की गई। इस प्रकार की अज्ञात चैतवृत्तियाँ मानना कोई नई बात नहीं है। अन्तर्निरीक्षण[2] में हम अनुभव करते हैं कि प्रायः एक ही बात से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक अज्ञात स्मृतियाँ होती हैं। जो बात हमें पहले ज्ञानगोचर नहीं रहती है वह बाद में ज्ञानगोचर हो जाती है। जिन बातों की चिन्ता हम नहीं कीन

1—सांख्यकारिका ७-८।
2—Introspection.

पड़ती थीं, अज्ञात-चित्त के भीतर उस समय उन क्रियाओं का अस्तित्व था। अतः विदित होता है कि चैत्तवृत्तियाँ अज्ञात रूप से (अचेतन मे) रह सकती हैं।

इस प्रकार का अनुमान कर हम कोई नवीन बात प्रतिपादित नहीं कर रहे हैं। हमारा अनुदिन का व्यवहार ही हमें ऐसा करने को विवश कर रहा है। यह एक मामूली बात है कि हम दूसरों के कार्य देखकर उनके विचारों और उद्देश्यों का अनुमान करते हैं। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के भिन्न कार्मों को एक सुगठित रूप से समझने के लिए हम मन या चित्त का अनुमान करते हैं उसी प्रकार अपने भीतर की असंबद्ध चैत्तवृत्तियों अथवा मानसिक गतियों को भी क्रमबद्ध रूप से समझने के लिए एक अज्ञात चित्त अथवा अचेतन मन का अनुमान करना देय नहीं है। इनके अतिरिक्त सम्मोहन (प्रस्वापन) के प्रयोगों एवं मानसिक व्याधियों के निवारण से भी अज्ञात चित्त का अस्तित्व प्रमाणित होता है।

(१) सम्मोहन-सम्बन्धी प्रयोग—

सम्मोहन के प्रयोगों से व्यक्ति में चित्त के एक ऐसे भाग का रहना सिद्ध हुआ है जिसका व्यक्ति को कोई ज्ञान नहीं था। इस विषय में बेरनहाईम् एवं शौरों के प्रयोग प्रसिद्ध हो चुके हैं। बेरनहाईम् ने एक व्यक्ति को प्रस्वापित (सम्मोहित)[१] किया। उस अवस्था में उन्होंने उसे सम्मोहन के प्रभाव से उठने के बाद एक विशेष समय पर एक विशेष काम करने की आज्ञा दी। प्रस्वाप से जगने के बाद वह पूर्व की तरह पुनः अपने कार्मों में लग गया। उसका उसे तनिक भी स्मरण नहीं रहा। फिर भी प्रस्वाप में जो समय निर्धारित किया गया था, उसी समय पर उसके चित्त में उक्त विशेष कार्य करने की प्रेरणा हुई और उसने उसे शीघ्रातिशीघ्र कर डाला। वह नहीं जानता था कि वह ऐसा क्यों कर रहा है। इससे यह स्पष्ट होता है कि उस कार्य की प्रेरणा अज्ञात रूप से उसके मन में जाग्रत रही और ठीक समय पर व्यक्त हुई। किन्तु सभी बातें स्मरण में नहीं आईं। सम्मोहन से अभिभूत होने तथा वैद्य द्वारा आज्ञा देने की याद उसे नहीं रही। इस प्रकार हम देखते हैं कि अज्ञात रहकर भी अनेक भाव और भावनाएँ जाग्रत रहती हैं।

(२) मानसिक रोग-सम्बन्धी प्रयोग—

सम्मोहन प्रक्रिया से भी प्रबल प्रमाण निर्मली चित्त विश्लेषण आदि प्रक्रियाओं से प्राप्त होता है। इन प्रक्रियाओं के कारण रोगी के अनेक विस्मृत विषय जग जाते हैं और अपने पूर्व भारावेग के साथ शांत हो जाते हैं। इससे भी सिद्ध होता है कि वे भाव और भावनाएँ चित्त में पहले से ही मौजूद थीं लेकिन अज्ञात रूप से किन्तु समय पाकर प्रकट हो जाती हैं। हार्ट महोदय[२] लिखते हैं कि यह प्रायः देखा गया है कि यदि प्रस्वापित अवस्था में किसी व्यक्ति से बातचीत करते-करते धीरे से कान में कोई प्रश्न कह दिया जाय तो उसका हाथ उक्त प्रश्न का उत्तर लिख देता है। वह नहीं जानता कि कागज पर इस प्रकार का उत्तर उसने क्यों लिखा। उसमें

[१]—S Freud Collected [illegible] ol IV p 23

[२]—Hart The Psychology of Insanity chapter IV

प्रायः ऐसी बातें कही जाती हैं जो बाल्यकालीन विस्मृत विषय अथवा व्यक्ति के ज्ञात जीवन की क्रियाओं को समझाने के लिए आवश्यक प्रतीत होती हैं। चित्त विश्लेषण प्रक्रिया एक अज्ञात चित्त (अचेतन) के सिद्धान्त के कारण ही सफल हुई है। यह अनेक मनोव्याधियों का उपशमन कर रही है। उसका यही प्रयत्न रहता है कि अज्ञात भाव और भावनाओं को ज्ञात बनाकर व्यक्त करा देना। उसकी सफलता ही अज्ञात चित्त के अस्तित्व के पक्ष में प्रबलतम प्रमाण है। किसी अन्य प्रकार का सिद्धान्त न तो ज्ञात मनोवृत्तियों को ठीक रूप से समझा सका है और न व्याधियों का उपशमन भी इस सीमा तक करने में समर्थ हुआ है।

इन प्रमाणों के कारण विवश होकर कई शास्त्रज्ञों को ज्ञात से भिन्न चित्त का एक और भाग मानना पड़ा किन्तु उसे सभी अज्ञात (अचेतन) कहने को तैयार नहीं हैं। उनके विचारानुसार यह भी ज्ञप्ति-विशिष्ट ही है। वे उसे अज्ञात (अचेतन)[१] न कहकर उपज्ञात (उपचेतन)[२] का नाम देते हैं। यह ज्ञात है अज्ञात है अथवा उपज्ञात है यह व्यक्ति के 'अहंकार' से ही निरूपित हो सकता है। यदि यहाँ पर यह प्रश्न किया जाय कि क्या व्यक्ति उस अज्ञात की बातों को जानता है, तो साधारणतया इसका उत्तर यही दिया जायगा कि नहीं'। किन्तु दूसरे मत के लोगों का कहना है कि वे बातें ज्ञात तो हैं, पर उतने प्रबल रूप से नहीं कि व्यक्ति की सारी ज्ञप्ति पर आक्रमण कर सकें। इसी से साधारणतया उनका ज्ञान हमें नहीं होता किन्तु यदि व्यक्ति उनके विषय में पर्याप्त ध्यान दे, तो उन्हें समझ सकता है। जिस बात को व्यक्ति नहीं जानता है उसे अज्ञात कहने में उसे कौन-सी आपत्ति हो सकती है? जो ज्ञात नहीं है, वह अज्ञात है। ज्ञात होते हुए भी कोई बात अज्ञात कैसे रह सकती है? अतः अज्ञात अथवा अचेतन को स्वीकार न करना युक्तियुक्त और संगत प्रतीत नहीं होता।

उपज्ञात (उपचेतन) भी ज्ञप्ति की ही एक छाया है। कोई अज्ञात नहीं है, यह भी ज्ञप्ति की एक छाया है, यह बात सिद्धान्ततः मानी जा सकती है किन्तु इससे किसी प्रकार का प्रयोजन नहीं सिद्ध होता। 'मृत्यु' कुछ नहीं है यह जीवन की एक दशा है, अन्धकार कुछ नहीं है, यह आलोक का ही एक रूप है—यह कहने को तो ठीक हो सकता है, किन्तु व्यवहार में इसके अनुसार चलना असम्भव है। यदि कोई कहे कि मृत्यु है ही नहीं, यह जीवन की ही एक दशा है अतः मरने से बचने का प्रयत्न करना व्यर्थ है, तो वह पागल समझा जायगा। उसी प्रकार यह कहना भी पागलपन है कि जब अन्धकार भी आलोक की ही छाया है तब दीपक जलाने की क्या आवश्यकता है। कुछ लोग जिसे उपज्ञात (उपचेतन) का नाम देना पसन्द करते हैं वह अल्प प्रयास से ज्ञात होता है। ज्ञात होने के बाद प्रायः देखा जाता है कि व्यक्ति की अन्य ज्ञात चित्तवृत्तियों में और उसमें भारी अन्तर तथा घोर विरोध है। एक ही जगह एक ही ज्ञप्ति में दो विरुद्ध चित्तवृत्तियाँ रह सकती हैं, यह

१—Unconscious.

२—Subconscious.

भाव सुकल्पित है। अतः कुछ वृत्तियों का तिरोभूत अथवा निरुद्ध और कुछ वृत्तियों को उद्भूत अथवा स्फुरित समझना सरल सरल और साधु मार्ग है। ऐसी वृत्तियों को उपज्ञात (उपचेतन) का नाम देना भारी भ्रम है। 'उपज्ञात' शब्द से कोई स्पष्ट प्रतीति नहीं होती। 'उपज्ञात' का अर्थ ज्ञात से नीचे अथवा जो ज्ञात है, किन्तु है अपर्याप्त मात्रा में ऐसा मालूम नहीं होता। उपज्ञात एक पीठभूमि का नाम है अथवा यह कोई गुण विशेष है, यह स्पष्ट नहीं होता। अतः इन सब कारणों से अज्ञात को चित्त का एक भाग मानना उचित प्रतीत होता है।

ज्ञात वृत्तियों के कारणों की खोज सामाजिक राष्ट्रीय आदि आन्दोलन, शिक्षण पद्धति धार्मिक सम्प्रदाय आदेश विज्ञापन प्रस्ताप (सम्मोहन), चित्त विश्लेषण द्वारा चिकित्सा आदि से अज्ञात भूमि का अस्तित्व स्पष्ट सिद्ध हो चुका है। इसके अतिरिक्त सिद्धान्त और प्रयोगों से भी उसकी सिद्धि होती है। ऋषियों की वाणी से भी यह प्रतीत होता है कि वे लोग अज्ञात की शक्ति को पहचानते थे। अज्ञात और ज्ञात के युद्ध कई ग्रन्थों में देवासुर संग्राम के रूप में वर्णित हैं। सहज वासनाओं और सामाजिक संस्कारों के बीच घोर युद्ध होता है। हम चाहते हैं कि उन्नति के मार्ग में जावें परन्तु कोई अज्ञात दैव शक्ति हम उस मार्ग से अलग घसीट ले जाती है। इसी शक्ति का प्रभाव सर्वत्र दिखाई पड़ता है। ज्ञात इसी अज्ञात शक्ति के हाथों का कठपुतला है।

> 'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः
> केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि'।
> 'अस्ति काचिदपि शक्तिरनन्तपारा
> यन्त्रसमर्पितता यथया नाटैः'—मधुसूदनमिश्रपादैः।

अनन्त शक्ति की कोई शक्ति मन-माया-जाल से जीव को बाँधती है और यह शक्ति अपरिमित है। सारा संसार उसी अज्ञात शक्ति-समुद्र की ऊर्मि लीला है।

चित्त के अन्तर्गत ज्ञात और अज्ञात भाग की सिद्धि के लिए मात्र साधारण जीवन पर ही विचार किया गया है जो कि प्रत्यक्ष है और दैनन्दिन जीवन में सदा अनुभवगोचर है। इसके अतिरिक्त जीवन के और भी दो अंग हैं—असाधारण (abnormal) और अतिसाधारण (supernormal) भाग जिनका केवल दिग्दर्शन मात्र इस अध्याय में किया गया है।

एक ही जीवन में मुख्य और गौण पुरुषों[१] में पर्यायक्रम से विभक्त होना, जीवन में पुरुष का आमूल परिवर्तन होना, दूरदर्शन, दूरश्रवण, दूरज्ञान-ग्रहण, महापुरुषों के विचित्र व्यवहार, कवि प्रतिभा की स्वतः स्फूर्ति, प्रत्याहार, ध्यान, समाधि आदि जीवन की असाधारण और अतिसाधारण लीलाओं पर विचार करने से अव्यक्त या अज्ञात चित्त अर्थात् अचेतन के अस्तित्व के सम्बन्ध में कोई भी सन्देह नहीं रह जाता।[२]

---

[१]—Primary and secondary Personalities

[२]—दे०, F. W. H. Myers: Human Personality and Its survival of Bodily Death, Chap. II & III

तीसरा अध्याय

अहंकार, ज्ञात और अज्ञात

सांख्य का कहना है कि अभिमान ही अहंकार है। अभिमान सदा नहीं होता। विषय के साथ व्यक्ति का सन्निकर्ष होने पर विषय का और अहंता का बोध होता है। विषय को देखनेवाला अहंकार[1] है अथवा दृश्य का द्रष्टा अहंकार है। विषय और व्यक्ति के सम्बन्ध में तीन मुख्य बातें हैं—(१) 'विषय', (२) 'क्रिया' और (३) 'ज्ञाता'। दूसरे शब्दों में 'अहं' देखता है, देखना 'क्रिया' है और जिसे देखता है, वह 'विषय' है। इस प्रकार ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध होने पर ज्ञाता को ज्ञातृत्व का जो अभिमान होता है, वही अहंकार है। बच्चे से वृद्ध तक सभी इसी अहंकार को केन्द्र बनाकर व्यवहार चलाते हैं। व्यक्ति के सभी कार्य इसी की सन्तुष्टि के लिए, इसी के स्वार्थ के लिए अथवा काम के लिए होते हैं। आत्मनः कामाय सर्वं प्रियं भवति। अन्य व्यक्तियों के साथ व्यवहार करते समय तथा अपने आचरण में सर्वत्र अहंकार का ही साम्राज्य है। अहंकार का अस्तित्व विषय के बोध अथवा उसके अस्तित्व पर निर्भर है। विषय न रहे तो अहंकार भी लुप्त हो जाता है। विषय के सम्बन्ध से ही अहंता का बोध होता है।

'अहं' अपने को बाह्य विषयों से मिलाकर अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए चक्र स्थापित करता है। कुटुम्ब, जाति, समाज, राष्ट्र आदि सभी मण्डल इसी के चक्र हैं। सभी में व्यक्ति अपनी अहंता को फैलाता है और उन्हें अपना कहने लगता है। 'मेरी स्त्री' 'मेरा पुत्र' 'मेरे बन्धु' 'मेरी जाति' 'मेरा कुल' 'मेरे देशवासी' 'मेरा तन' 'मेरा धन' 'मेरा मन' इस प्रकार की तादात्म्य भावना दृढ़ होती जाती है। इसी तादात्म्य से व्यवहार सिद्ध होता है। यदि व्यक्ति को 'नमे' (मेरा नहीं है) का ज्ञान हो जाय तो 'नास्मि' नाहं (मैं नहीं हूँ, मैं नहीं) का भी ज्ञान हो जाता है।

अहंकार का स्थान अन्तःकरण में प्रधान है। अबतक हमने चार चित्त-यन्त्र के दो विभाग किये हैं—ज्ञात और अज्ञात अथवा चेतन और अचेतन। ज्ञात और अज्ञात दोनों दृश्य हैं और अहंकार देखनेवाला है; वही करनेवाला है। अहंकार ही ज्ञाता, कर्ता और भर्ता है। योगवासिष्ठ का कहना है—

> 'आत्मस्तम्भेन महता भाविते स दुरात्मना।
> अहंकारेण देहो यं तथैव किल भाव्यते॥

१—Ego I.

अहंकारवशे देहं क्षिप्रायत्तं विनश्यति ।
मूलेऽवच्छिन्नसंलग्ने द्रुमशाखेव पादपः ॥[१]

महान् वृक्ष जिस प्रकार से अपनी जड़ों के कारण खड़ा होता है, उसी प्रकार अहंकार ही देह का धारण करता है। मूल को आरे से काटने पर जैसे पेड़ गिर पड़ता है उसी प्रकार अहंकार के नाश से शरीर विनष्ट हो जाता है।

अहंकार की प्रधानता का मूल विषय है। अहंकार किस प्रकार और किससे उत्पन्न हुआ? उसमें और अन्य में क्या सम्बन्ध है? किन नियमों के वशीभूत होकर अहंकार काम करता है? ये सभी प्रश्न विचारणीय हैं। साधारण व्यक्ति अपने अहंकार को ही सबसे समीप समझता है। अहंकार के कारण वह काम करता है। वह जानता है कि वही काम करता है। 'मैं काम करता हूँ। मैं जानता हूँ। मैं चाहता हूँ।' इस प्रकार साधारण व्यक्ति के ज्ञान, भाव तथा क्रियाओं का नियामक अहंकार है। अहंकार मन की सभी बातें जानता है। वह भाव चेतन भूमि में रहता है। कहने का तात्पर्य यही है कि सभी ज्ञान के मूल में अहंकार ही पाया जाता है क्योंकि उसमें एक प्रकार की शक्ति है जिसे हम शक्ति विशिष्ट अथवा चेतन कह सकते हैं। यही चेतन मन को चलाता है। मन अति चंचल कहा जाता है। शरीर रूपी घोड़े को चलानेवाला प्रकट मन है और यह प्रकट मन अपना चेतन अहंकार के हाथ में है। इसी अहंकार के अधिकार में मन की सारी शक्ति रहती है। मन स्वयं स्वाधीन नहीं है। योगवाशिष्ठ मन को जड़ कहता है :—

अमरवैर्न सर्वं मन्ये संकल्पात्मकशक्ति यत् ।
चेतयन्तीव पाषाणः प्रेर्यन्तेबुद्धिनियन्त्रैः ॥
बुद्धि-नियम-रूपेयं जड़ा सत्यैव नियन्त्रा ।
चालकेन सरिन्मूर्तं सार्वप्रवेव वाहती ॥[२]

अर्थात् संकल्पात्मक शक्ति जो मन है वह भी जड़ है क्योंकि वह ऊँचे गत नियमों द्वारा पत्थर के समान प्रेरित होता है। बुद्धि नियम रूपी सत्ता भी जड़ ही है। जिस प्रकार खाई अर्थात् गड्ढे के अनुसार नदी का बहाव होता है उसी प्रकार अहंकार के अनुसार ही बुद्धि का बहाव होता है। दूसरे शब्दों में जिस प्रकार नदी के बहाव को आगे का ढलान (खाई) निश्चित करता है उसी प्रकार बुद्धि नियमों का नियमन अहंकार करता है।

अहंकार बुद्धि और मन दोनों का प्रभु है। यह अपने स्थान के कारण बाह्य जगत का अत्यन्त निकटवर्ती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अहंकार का वास्तविक कोई स्थान चित्त-मन में है। अहंकार भी एक चित्तवृत्ति का ही नाम है। चित्तवृत्तियों का पौर्वापर्य दिखाने के लिए, उनके व्युत्थान और निरोध संस्कारों के प्रभविभाव को

१—योगवाशिष्ठ उपशम-प्रकरण, सर्ग ११, ६— ।
२—वही निर्वाण प्रकरण पूर्वार्ध सर्ग ७ २०–२१ ।

स्पष्ट करने के लिए चित्त-यन्त्र का एक भौतिक चित्र खींचा जाता है और उसमें क्रम भेद से स्थान-निर्देश किया जाता है। इस प्रकार के स्थान निर्देश में, ज्ञान और अहंकार का स्थान बाह्य प्रपञ्च के अत्यन्त निकट है क्योंकि अहंकार और बाह्य प्रपञ्च का सन्निकर्ष ही ज्ञान का कारण है। इसके स्थान के सम्यग्बोध के लिए चित्त-यन्त्र की तुलना एक जीवत्कोशिका से करते हैं।[१] थोड़ी देर के लिए हम यह मान लें कि मन अथवा चित्त एक जीवकोशिका[२] है, जो एक ऐसे जगत् में है जहाँ चतुर्दिक से उसमें भाँति-भाँति की संवेदनाएँ प्रवेश कर रही हैं और उसे संक्षुब्ध कर रही हैं। पहले यह कोशिका शान्त थी क्योंकि उसकी शान्ति में बाधा पहुँचानेवाली कोई संवेदना थी ही नहीं किन्तु अब संक्षुब्ध होने से उस कोशिका में एक प्रतिक्रिया प्रारम्भ होगी, जो बाह्य संवेदनाओं को निकालकर कोशिका को पूर्व स्थिति में पुनः स्थापित करने का प्रयत्न करती है। इस प्रकार यदि कोशिका को संक्षुभित होने से बचाना है तो आनेवाली संवेदनाओं के परिज्ञान पर ही उस प्रतिक्रिया की सफलता निर्भर होगी। अतः इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए जीव कोशिका अपनी शक्तियों के एक प्रचण्ड रूप को बाह्य जगत् और अपने बीच में स्थापित करेगी। यही शक्ति अहंकार है। यह अहंकार बाह्य संवेदनाओं को जानता है और उन्हें दूर करने का जीवत्कोशिका की रक्षा करने का यत्न करता है। इसी कारण अहंकार को योगवासिष्ठ में देह का धारण करनेवाला बताया है। अतः अहंकार वस्तुरूप से व्यक्ति के भीतर बाह्य जगत् के अत्यन्त निकट रहता है। यह जानकर संवेदना प्रवाह का प्रतिरोध कर सकता है क्योंकि जानकर ही क्रिया की जा सकती है। ज्ञान के बाद इच्छा और इच्छा के अनन्तर क्रिया होती है। अतः अहंकार का राज्य अर्थात् ज्ञाता का राज्य ज्ञानभूमि है जो सदा जाग्रत् अथवा चेतन रहती है। इस कारण ज्ञान भूमि भी बाह्य संसार के समीप रहती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि विषय-रूप से ज्ञात और ज्ञातृ अथवा चेतन रूप से अहंकार बाह्य संसार का समीपवर्ती है। इस प्रकार ज्ञानभूमि को और उसके साथ साथ ज्ञानवृत्ति को चित्तयन्त्र के उपरितम तल पर मानना शारीरिक दृष्टि से भी दोषयुक्त नहीं है। शरीर-विज्ञानविद् भी ज्ञप्ति का स्थान चित्तयन्त्र का अर्थात् मस्तिष्क का[३] उपरितम तल बताते हैं। जो फ्रायड का कहना है "ऐसा मानने में हमने कोई नवीन बात नहीं निकाली। मस्तिष्क-रचना-शास्त्र के अनुसार ज्ञप्ति का जो स्थान-मेरुदण्ड-यन्त्र के उपरितम तल में माना गया है उससे हमारी सहमति है अर्थात् इस विषय में हम एकमत हैं। शरीर-रचना-शास्त्र-विशारदों को इस बात पर कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि ज्ञप्ति का स्थान मस्तिष्क के किसी निगूढ़ स्थान में न मानकर उसके उपरितम भाग में ही क्यों माना गया है।"[४]

१—S. Freud Beyond the Pleasure Principle p 29

२—Living cell.

३—Cerebral Cortex, Cortical centres of the brain.

४—We then note that in this assumption we have ventured nothing new but are in agreement with the localising tendencies of cerebral anato-

हमने ऊपर अहंकार के स्वरूप पर प्रकाश डाला। अब हम उसके स्थान को एक वृक्ष की तुलना द्वारा और विशुद्ध रूप से समझ लें। प्रथमतः वृक्ष अंकुर की दशा में अत्यन्त कोमल रहता है। धीरे-धीरे वह बढ़कर एक विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है और उसकी छाल बहुत ही कड़ी हो जाती है। प्रश्न होता है यह प्रारम्भिक कोमल अंकुर अपने आहार का अधिक भाग व्यय करके बाह्य संसार में अपने ऊपर कठोर छाल क्यों मढ़ लेता है? यह ऐसा इसीलिए करता है कि वह बाहर के आघातों वेदनाओं आदि से अपने भीतर के सूक्ष्म एवं कोमल भागों की रक्षा कर सके। चित्त की भूमि भी इसी प्रकार से बाह्य तल में है। हमें केवल इतना ही मालूम होता है कि उसमें चित्त है। वृक्ष की ऊपरी छाल निकालने से क्रमशः कोमल और सूक्ष्म तहों का पता चलता जाता है। कठोर छाल की आड़ में वे सभी छालें अपनी रक्षा करती हैं और उन्हीं की रक्षा से वृक्ष की रक्षा होती है क्योंकि वृक्ष की सारी प्राण-शक्ति छालों की तहों में अवस्थित संचित होती रहती है। इसी प्रकार ज्ञान और अहंकार के निम्न तल में भी चित्त का कोई भाग अवश्य रहना चाहिए, जो उसकी उत्पत्ति एवं रक्षा के मूल में है। और ऐसी तहें चित्त में भी अवश्य हैं जो ऊपर से दिखाई नहीं पड़तीं किन्तु उनसे अहंकार और ज्ञान को अपनी क्रिया शक्ति प्राप्त होती रहती है। ज्ञान का स्वभाव ही है इन तहों का पता चलाना। ज्ञान की सभी वृत्तियाँ क्षणभंगुर हैं। कोई ज्ञान उसी स्वरूप में ज्ञान के आकाश में नहीं रहती। हमारी सभी इन्द्रियों से अनगिनत संवेदनाएँ चित्त में प्रवेश करती रहती हैं। हमें अनेक वस्तुओं की इन्द्रियानुभूति होती रहती है किन्तु सभी संवेदनाओं पर वस्तुओं के सभी अंग प्रत्यङ्गों का न ज्ञान होता और न स्मृति ही रहती। हम यह नहीं कह सकते कि किसी वस्तु में ठीक-ठीक किन किन वस्तुओं का समावेश है। नेत्रगोलक के पटल में प्रकाश लहरियों द्वारा दृश्य जगत् का प्रतिबिम्ब पड़ता है। सारा संसार तो इन्द्रिय गोचरता में है, किन्तु हमें सदा उसका ज्ञान नहीं रहता। मान लीजिए हम संगीत सुन रहे हैं। अनेक बाजों की सुरीली ध्वनि मिलकर कर्णमधुर तान बन जाती है। ध्वनि की समरसता के कारण हम कह नहीं सकते कि कौन सी ध्वनि किस बाजे की है। उसे ठीक ठीक जानने के लिए एकाग्रता की आवश्यकता है। उदाहरण लीजिए। हमने कोई दृश्य देखा। जब हम उसका वर्णन करने बैठते हैं तब आरम्भ में स्थूल बातें ही स्मृतिगोचर होती हैं किन्तु क्रमशः छोटी छोटी बातें भी प्रयत्न द्वारा स्मरण में आने लगती हैं। ऐसी मनःस्थिति में हम यह अनुभव करते हैं कि कई बातें हमसे छूट भी गई हैं। ये ही बातें अज्ञातगत विषय हैं। 'अज्ञात' शब्द का तात्त्विक अर्थ है ऐसी वृत्तियों का मानस-संसार जो हमारे अहंकार के क्षेत्र के बाहर है। किन्तु थोड़े प्रयत्न से अथवा कालान्तर में वे

---

my which places the seat of consciousness in the cortical layer the outer most enveloping layer of the central organ Cerebral anatomy does not need to wander why anatomically speaking, consciousness should be accomodated on the surface of the brain instead of being saf ly lodged somewhere in the deepest recesses of it.

—9 Freud Beyond the Pleasure Principle p. 27

स्वतः ज्ञात हो जाती हैं। ऐसी वृत्तियाँ को जो किसी क्षण में अज्ञात रहती हैं पर ज्ञात हो सकती हैं, अज्ञात वृत्तियाँ कहते हैं। वे अज्ञात अनुद्भूत हैं, व्यक्त हैं अव्यक्त हैं, किन्तु वे ज्ञात, उद्भूत और व्यक्त हो सकती हैं।

हमने गत अध्याय में अज्ञात की सिद्धि करते हुए यह दिखाया है कि कई ऐसी भी बातें और भावनाएँ मन में अज्ञात रूप से रहती हैं जो कभी भी ज्ञात नहीं होतीं, जिनको व्यक्ति जानता ही नहीं जिनको वह अपना 'आरब्ध' कहकर 'भालपट्टलिखित' कहकर बताना चाहता है। प्रस्वाप (सम्मोहन) की स्थिति में रोगी उन बातों का उल्लेख करता है जो उनके बाल्यजीवन से अत्यन्त सम्बद्ध रहती हैं और जिनके आवेग में वे सभी ज्ञात कार्य करते रहते हैं। ऐसे रोगी साधारण स्थिति में उन बातों को बता नहीं सकते। चाहे हम कितना भी प्रयत्न करें, वे बातें ज्ञानगोचर नहीं हो पातीं। उन्हें केवल 'अनापिदेवन' 'कापिदापिशक्ति' कहकर प्रकट किया जाता है।

इस प्रकार अज्ञात चित्त के दो भाग प्रतीत होते हैं—एक तो वह है जो अज्ञात रहता है पर ज्ञात हो सकता है, और दूसरा वह जो अज्ञात ही है। प्रथम भूमि स्वरूप से अज्ञात होते हुए भी अपने गुण से अथवा कार्यकरणशक्ति से ज्ञात का ही अङ्ग मालूम पड़ती है। दूसरी भूमि स्वरूप में और क्रिया से भी अज्ञात ही है। इस भेद को स्पष्टतः दिखाने के लिए हम अज्ञात के इन दो भेदों को भिन्न भिन्न संज्ञाओं से पुकारेंगे—प्रथम ज्ञाताज्ञात है और दूसरा अज्ञात। इस प्रकार हमारे चित्त की तीन भूमियाँ बनीं—(१) ज्ञात (२) ज्ञाताज्ञात और (३) अज्ञात।

इसी प्रकार यह भी देखना चाहिए कि अहंकार के भी कोई भेद हैं या नहीं अथवा अहंकार का विश्लेषण हो सकता है या नहीं। आज हमारी यह अनुभूति है कि हम कभी कभी अपने से भी कुछ छिपाने का प्रयत्न करते हैं। कभी-कभी हम अपने में घोर युद्ध छिड़ा देखते हैं। लगता है कोई कह रहा है : 'अमुक काम करो और फिर दूसरा स्वर गूँज उठता है 'मत करो'। हम कुछ बातें याद करने का प्रयत्न करते हैं किन्तु उन बातों का कोई स्मृतिगोचर होने से रोकता हुआ प्रतीत होता है। चित्त-विश्लेषण की प्रणाली द्वारा इसका प्रत्यक्ष प्रमाण शिक्षकों के सामने अथवा गुरुजनों के पास मिलता है। चित्त विश्लेषण की प्रक्रिया में वैद्य रोगी के सभी अज्ञात-निरुद्ध अथवा अन्वेषण में दबे या फँसे विचारों को प्रकट करने का प्रयत्न करता है। कुछ दिनों के बाद रोगी वैद्य के प्रयोगों का प्रतिरोध करता है। वह यह नहीं जानता कि वह प्रतिरोध उत्पन्न कर रहा है। प्रतिरोध उठ खड़ा होता ही है। मालूम होता है (भीतर से) कोई अज्ञात नियमों को ज्ञात बनाने से रोक रहा है। रोगी उन बातों को प्रकट करने का प्रयत्न करता है किन्तु लगता है उसे अनुभूति होती है कि कोई अज्ञात शक्ति उन बातों को दबा रही है और बाहर नहीं आने देती। गुरुजनों के समक्ष अपने अपराध को स्वीकार करते समय हमें दो प्रकार के संकल्प मालूम पड़ते हैं (१) 'अपराध स्वीकार करो यह उत्तम मार्ग है' और (२) 'स्वीकार मत करो तुम्हारा गौरव चला जायगा'। इस प्रकार का द्वन्द्व चलता रहता है। इस प्रकार की परस्पर विरोधी स्थिति

की प्रतीति सभी को हुई होगी। हमारे अहंकार को इस प्रकार द्वन्द्वमूलक स्थिति का सामना करना पड़ता है। साधु और असाधु सुकर्म और कुकर्म धर्म और अधर्म इनका झगड़ा इन्हीं दो वासियों में हुआ करता है। साधु अगस्टेन ने इन दोनों वासियों के युद्ध का अच्छा वर्णन किया है; इन दो वासियों ने जिनमें एक पुरानी और दूसरी नवीन एक कामुक और दूसरी आध्यात्मिक है आपस में युद्ध ठान लिया और मेरे अन्तःकरण में अशान्ति पैदा की। मैंने अपने अनुभव से समझ लिया कि मैंने जो पढ़ा है कि 'शरीर आत्मा के विरुद्ध प्रवृत्त होता है और आत्मा शरीर के विरुद्ध इन दोनों के परस्पर विरुद्ध होने के कारण जो तुम चाहते हो वह नहीं कर सकते' यह ठीक है। इन दोनों वासियों में मैं अपने को ही पाता था तथापि मैं उस वासी को जो मुझे प्रिय थी अधिक पसन्द करता था। पृथ्वी के भोग-विलासों में आसक्त रहकर, हे भगवन्! मैंने तेरे पक्ष में युद्ध करने से इनकार कर दिया मानो सांसारिक भोगों और बन्धनों का त्यागना मुझे दुःखकर था। मैं यह निस्सन्देह जानता था कि तेरे प्रेम के हाथों अपना समर्पण करना श्रेयस्कर है यह मुझे युक्तियुक्त मालूम होता था किन्तु अपने कामों के वशीभूत होना मुझे प्रिय था। अतः उनके पंजे से मैं नहीं छूट सका। तूने मुझे जगाया 'हे मन्दबुद्धि, जागो!' तथापि उसका उत्तर मेरे अन्तःकरण से कुछ नहीं निकला। धीरे धीरे मैंने कह दिया 'अभी शीघ्र ही तदनुसार करता हूँ, थोड़ा अभी रुको' किन्तु 'अभी' का 'अब' आया ही नहीं और 'थोड़ी देर' ने 'अति दीर्घ' का रूप पकड़ लिया। मुझे इस बात की शंका थी कि तू मेरी विनती शीघ्र सुनेगा और मुझे अपने मोह और लोभ से उबारेगा जिन्हें बुझाने के बदले मैं तृप्त करना चाहता था।'[1]

१—So these two wills one old one new one carnal, the other spiritual, contended with each other and disturbed my soul, I understand by my own experience what I had read, 'flesh lusteth contrary to the spirit and spirit contrary to the flesh, and these two are one against another so that ye cannot do the things that ye would do (Paul). It was myself in both these wills, yet more myself in that which I approved in myself than in that which I disapproved in myself. Still bound to earth I refused O! God! to fight on thy side, as much afraid to be free from all bonds as I ought to have feared being trembled by them. Even so I was sure it was better to surrender to thy love than to yield to my own lusts yet though former course convinced me the latter pleased and bound me. There was naught in me to answer thy call, Awake thou sleeper! but only drawling drowsy words, Presently yes presently wait a little while. But the 'presently' had no present and the little while grew long. For I was afraid than wouldst hear me too soon and heal me at once of my disease of lust which I wished to satiate rather than to see extinguished.

William James The Varieties of Religious Experience p 172

महाकवि गेटे ने भी इसी प्रकार के अन्तर्युद्ध का चित्र खींचा है—

उफ्! मेरे अन्तर में
बैठे दो-दो सत्त्व
लड़ते रहते स्वामित्व के लिए बराबर;
उनमें एक
इन्द्रियों की कांक्षा का सम्बल ले
व्याप्त हो रहा
अब भी मेरे तन-अंगों में,
किन्तु इसी दूसरे के ऊपर
जो अभिकांक्षा अग्र पुनीत
बढ़ने को इच्छुक रहती है
वहाँ जहाँ पर पुण्य लोक है।
× × ×
सो जाते अपवित्र कर्म सब
और सभी उत्तेजक भाव
बेलगामी इच्छाएँ सारी
और पनपता सुविवेक है—
अपनी वाणी।[1]

इसी प्रकार मनुष्य का अहंकार भी द्विधा है। एक उत्तम मार्ग की ओर प्रवृत्त होना चाहता है और दूसरा अधर्म मार्ग की ओर। यही देवासुर-संग्राम है। उत्तम अहंकार को डा० फ्रायड शिष्टाहंकार (Super Ego) कहते हैं।

१—Two souls alas! are lodged within my breast
Which struggle there for undivided reign
One to the world, with obstinate desire,
And closely cleaving organs still adheres,
Above the mist the other doth aspire
With sacred vehemence to purer spheres
× × ×
In us the better soul doth waken
With feeling of foreboding awe
All lawless promptings, deeds unholy
Now slumber and wild desires
Reason her voice resumes.
—Faust, Night Part I.

और भी "The man's interior is a battle ground for what he feels to be two deadly hostile selves, one actual and the other ideal" *William James The Varieties of* Religious Experience p 1 1

इस प्रकार चित्त-यन्त्र के मुख्य दो भाग हैं : (१) ज्ञाता और (२) ज्ञेय। ज्ञाता दो प्रकार का है : (१) शिवाहंकार और (२) अहंकार। ज्ञेय तीन प्रकार का है : (१) ज्ञात (२) ज्ञाताज्ञात और (३) अज्ञात। अब हम चित्त यन्त्र के भागों के कार्यों के विषय में विवेचना उपस्थित करेंगे। हमने ऊपर कहा है कि अहंकार और ज्ञात बाह्य संसार के अत्यन्त निकटवर्ती हैं और हमने इसे स्पष्ट करने के लिए वृक्ष और जीवकोशिका से इसकी तुलना की है। इन्हीं तुलनाओं से चित्तयन्त्र के कार्य भी स्पष्टतः मालूम हो सकते हैं। हमने यह भी कहा है कि जीवकोशिका के उपरितम तल में शक्ति है और इसी कारण वह ज्ञान भाव और क्रिया को चलानेवाला स्थान है। वास्तव में ज्ञात ही मुख्य-स्थान है। वह अपने स्थान के कारण मध्यस्थ है। एक ओर बाह्य संसार है और दूसरी ओर अज्ञात चित्त है। इन दोनों के बीच में अहंकार और ज्ञात हैं। अब हम दोनों को विषय की सुकरता के लिए 'अहं' ही कहेंगे। यह मध्यस्थ है। उसके ऊपर बाह्य संसार से संवेदनाएँ आघात करती हैं तथा अन्तरङ्ग से संवेदनाएँ सुख दुःख आदि का रूप धारणकर 'अहं' पर अपना प्रभाव डालती हैं। 'अहं' वृक्ष के बाहर की छाल के समान है जो अपना बल अन्दर की तहों से ग्रहण करता है और अन्दर की तहों को बचाता है। सेनाग्र में रहने के कारण उसको बार बार सजग रहना पड़ता है। उसके लिए जो नियम लागू होते हैं वे भीतर की तहों के लिए नहीं लागू होते। सेना में भी यही बात देखी जाती है। सेना के दो भाग रहते हैं। एक अग्र भाग और दूसरा पीछे का। अग्र भाग में बड़े कठोर नियमों का पालन करना पड़ता है। वह सदा बाह्य रूप से शत्रु-सेना से मुठभेड़ करने को तैयार रहता है। उसमें क्रम आदि बातों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। स्थान विशेष में अवस्थित होने के कारण अग्र भाग में रहनेवालों के दोष क्षम्य नहीं माने जाते उन्हें अपने दोषों के लिए कठिन दण्ड भोगना पड़ता है। वहाँ के सिपाही आपस में नहीं लड़ सकते। सभी अपने अपने स्वार्थ छोड़कर एकाग्र और एक ही उद्देश्य से प्रेरित रहते हैं। वे सब भाई हैं। इसके विरुद्ध यदि कोई काम करता दिखाई पड़ता है तो वह मार डाला जाता है। किन्तु उसी सेना के पीछे के भाग में रहनेवाले सिपाहियों की बात कुछ और ही है। उन्हें इतने कठोर नियमों का पालन करना नहीं पड़ता। उनका अपना-अपना स्वार्थ होता है। उनमें विनय का उतना जोर नहीं रहता। वे सभी मिलकर किसी उद्देश्य से प्रेरित नहीं रहते किन्तु उन्हीं से अग्र भाग की रक्षा होती है। अग्र भाग के लिए आवश्यक सामान रसद आदि पहुँचाने का भार इसी पर निर्भर करता है। नाटक में भी यही बात होती है। नट अभिनय करता है। प्रेक्षक आनन्द पाते हैं। किन्तु नाटक की सफलता उसपर उतनी निर्भर नहीं करती जितनी कि परदे के पीछे रहनेवालों पर। प्रेक्षकों के सामने नट अवश्य रहता है पर नाटक का प्राण वस्तुतः नेपथ्य में है। इसी तरह अहंकार दूसरे नियमों का पालन करता है और अज्ञात दूसरे नियमों का। अहंकार क्रम चाहता है व्यायाम चाहता है और चाहता है विनय। उसके निरीक्षण में यदि कोई भाव दूसरे भाव से मुठभेड़ करे तो वह तुरत उसे निकाल बाहर करने का प्रयत्न करता है। वह शत्रु का दमन करता है और उससे लड़कर भीतर की तहों की रक्षा करता है। अहंकार

के अस्पष्ट रूप के होने के कारण, भीतर की तह उतनी असमर्थ नहीं रहती। इस कार्य में उसे भीतर की तहों में अज्ञात से शक्ति प्राप्त होती है। हम ज्यों ज्यों अहंकार से अज्ञात की ओर बढ़ते हैं वैसे-वैसे क्रम का अन्तर भी पड़ता जाता है; और अज्ञात में कोई क्रम कोई नियम नहीं रह जाता क्योंकि वहाँ की वृत्तियाँ स्वच्छन्द हैं। अज्ञात और अहंकार के बीच में होने के कारण ज्ञाताज्ञात में दोनों के कार्यों का मिश्रण है। अहंकार को इसी ज्ञाताज्ञात से शक्ति प्राप्त होती है। अहंकार के जितने कार्य हैं उन सबको क्रियान्वित होने के लिए ज्ञाताज्ञात से ही शक्ति और वेग की सहायता मिलती है। प्रसिद्ध विचारक विलियम जेम्स का कथन है :

हमारा अतीत स्मृति-भाण्डार इसकी (ज्ञात) सीमा के परे है जो उपस्थित होने के लिए सदा सन्नद्ध रहता है और ज्ञात की जितनी संचित एवं शेष शक्ति है, जितनी प्रेरणाएँ हैं जितनी बातों का ज्ञान है सभी उसके बाहर में उत्पन्न हुए हैं। व्यक्त और अव्यक्त, उद्भूत और अनुद्भूत की विभाजक रेखा इतनी अस्पष्ट है कि किसी समय कौन-सी बात ज्ञात है और कौन-सी अज्ञात यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।[1]

अहंकार की सभी क्रियाएँ इसी अज्ञात अथवा ज्ञाताज्ञात के बल पर होती हैं। मनुष्य का स्वास्थ्य और आधिव्याधियाँ इसी पर निर्भर हैं। अहंकार उस सवार के समान है जो कभी कभी घोड़े की इच्छा के अनुसार भी चलता है। घोड़ा सदा सवार की इच्छा के अनुसार नहीं चलता। कभी कभी घोड़े की चाह के अनुसार भी सवार को जाना पड़ता है। अहंकार इस प्रकार अज्ञात का प्रभु और दास दोनों है। प्रभु इस अर्थ में है कि उसकी सभी क्रियाएँ उसी की निगरानी में होती हैं; अहंकार के बिना अज्ञात बाह्य मनोकामनाओं के वेग में अन्तर्भूत हो जायगा। दास इस अर्थ में है कि अपने ही बल के लिए उसे दूसरे पर निर्भर रहना पड़ता है क्योंकि यह अज्ञात का ही परिमार्जित रूप है। बात यह है कि पहले यह भी पीढ़ियों या कालान्तर में सुधार रूप में सञ्चित होकर शत्रु से मुकाबला करने के लिए अहंकार के रूप में अग्रसर हुआ। ऊपर वर्णित उपमा के अनुसार यह वृक्ष की उस तह के समान है जिसने बाहर की ओर लाने के लिए अपने बाह्य रूप को कड़ा और स्थूल बना लिया है किन्तु स्वयं जीवित रहने के लिए भीतरी तहों से आवश्यक रस लेने के लिए, अपने भीतर कोमलता बनाये रखी है। मानव की चित्त शान्ति के लिए उसे आधिव्याधियों से

1—Our whole past store of memories floats beyond this margin, ready at a touch to come in; and the entire mass of residual powers, impulses, and knowledges that constitute our empirical self stretches continuously beyond it. So vaguely drawn are the outlines between what is actual and what is only potential at any moment of our conscious life, that it is always hard to say of certain mental elements whether we are conscious of them or not.

—W. James: *The Varieties of Religious Experience*, p. [illegible]

बचाने के लिए इस प्रकार की यन्त्र रचना आवश्यक भी है। यदि अहंकार ने अपना काम छोड़ दिया तो अज्ञात ही अचानक छाती के पीड़ का भाग ही उभरकर अपना भाव प्रकट करेगा उस नाली से अथवा व्याधि से मार डालेगा। योगवासिष्ठ ने आधिव्याधि की सम्प्राप्ति का अच्छा वर्णन किया है जिससे स्पष्टतः विदित हो सकता है कि यदि अज्ञान से अहंकार अपना स्थान छोड़ दे अथवा कार्य छोड़ दे तो उसे कैसी यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। उसका कहना है :—

> 'दृष्टुं मे विधुर्धीविमात्मवात्यं वामवामवम्।
> मीरुषमूले हि ते विव्यासत्वजाने परिवम: ॥१८
> चित्ते विधुरिते देहः संक्षोभमनुयात्यलम्।
> तथाहि रुषितो जन्तुरग्रमेव न पश्यति ॥२
> अवेक्षण पुरा मार्गममार्गमनुधावति।
> मकृर्द मार्गमुत्सृज्य शरार्तो हरिणो यथा ॥ २१
> संक्षोभात्साम्यमुत्सृज्य वहन्ति प्राणवायवः।
> देहे चक्रविकिरेण यथान्ति सरित्तटे ॥२२
> असमं वहति प्राणे नाड्यो यान्ति विसंस्थितिम्।
> असम्यक संस्थिते भूरे यथाकर्षीम्यतामता ॥२३
> काश्चिन्नाड्यः प्रपूर्यन्ते यान्ति काश्चित्त रिक्तताम्।'[1]

व्याधि देह का दुःख है। वासनामय दुःख आधि है। मूर्खता से आधि होती है। ज्ञान में उसका क्षय होता है। चित्त जब क्षुब्ध होता है तब उसके उपरान्त शरीर संक्षोभ को प्राप्त होता है। कुपित जन्तु आगे की वस्तु नहीं देखता वह सामने के मार्ग को छोड़कर अथवा न देखकर, शरार्त (बाणविद्ध) हरिण के समान अमार्ग पर चलने लगता है। प्राण-शक्तियाँ संक्षोभ के कारण अपने साम्य को तिलाञ्जलि देकर दूसरे मार्गों में बहने लगती हैं। प्राण के असम होने से नाड़ियाँ अपने स्थान को छोड़ने लगती हैं। उनमें कुछ तो आपूरितापूर्णी भर जाती हैं और कुछ उनसे रहित हो जाती हैं। यह सब उसी प्रकार होता है जैसे राजा के ठीक न रहने से वर्णाश्रम में व्यतिक्रम आ जाता है।[2]

इस प्रकार चित्त जन्य का सङ्गठित कार्य वासनामय आधि के कारण व्यस्त हो जाता है। वासनाभूमि चित्त है। यही वासनाओं का राज्य है। वासना यहाँ से निकलकर अन्तःकरण के सभी क्षेत्रों को वासित अथवा अपने रंग से आच्छादित करती है। वात इन्हीं का नियमन करता है। अतएव अति चञ्चल है। व्यक्ति को क्षणभर के लिए भी शान्ति नहीं लेने देता। योगवासिष्ठ में आता है कि चित्त अपनी चञ्चल वृत्ति के कारण किसी भी स्थान में निमग्न नहीं रहता अतः वह चिन्तासमूह से भरा रहता है।[3] इसी चाञ्चल्य के कारण वह विधुरत्व है। विधु भी अति चंचल है।

१—योगवासिष्ठ निर्वाण प्रकरण पूर्वार्ध।

२—चेतश्चञ्चलवृत्तित्वाच्चिन्तानिचयचञ्चुरम्।

धृतिं बध्नाति नैकत्र पंजरे केसरी यथा॥ योगवासिष्ठ वैराग्य प्रकरण सर्ग १६, श्लोक १ ।

वह अपनी ही तृप्ति चाहता है।[1] प्रारम्भ में उसे कोई भी भिन्न प्रतीत नहीं होता। उसके लिए समय और देश का विचार नहीं है। वह सदा अपने मनोरथ और कल्पनाओं के साम्राज्य में रमण करता रहता है। प्रारम्भ में उसे विषय में अथवा वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं रहता। वह सारे संसार को अपने ही मनोरथ से नाप कर देखता है। उसकी दशा युवक की दृष्टि में विचित्र है। योगवासिष्ठ में पुनः आया है :—

> नवं नवं प्रीतिकरं न शिशुः प्राप्यते यदि।
> प्राप्नोति तदसौ याति विषवैषम्यमूर्च्छनाम् ॥
> बाला चपलया स्वैर मोरथविलासिना।
> मनसा तप्यते नित्यं ग्रीष्मेणैव वनस्थली ॥
> संप्राप्तुं भुवनं वाञ्छत्यादातुमम्बरात्।
> वांछते यन मौर्ख्येण तत्सुखायकथं भवेत् ॥[2]

—यदि प्रतिदिन शिशु को प्रीतिकर नई-नई वस्तुएँ न मिलें तो वह बहुत ही विषादयुक्त हो जाता है। वह अपनी बलवती इच्छा के कारण उसी प्रकार संतप्त होता है जिस प्रकार वनप्रान्त कठोर ग्रीष्म के कारण। वह अपनी मूढ़ता के कारण सारे संसार का भोग करने और आसमान से चाँद को पकड़ने का प्रयत्न करता है। ऐसी बाल्यावस्था सुख के लिए कैसे हो सकती है!

उसी प्रकार अज्ञात भी शिशुवत् है। वह भी मनोरथवाला है। इसका पता हम उसके कार्यों से ही लग जाता है। स्वप्न जागते सपने (दिवा स्वप्न) विभ्रम आदि सभी उसी के अभिव्यक्त कार्य हैं। अज्ञात की इच्छाएँ अति प्रबल होती हैं, जो अपनी ही तृप्ति चाहती हैं। उन्हें बाह्य संसार की परवाह नहीं रहती। अतः यदि वे व्यक्त होतीं और वास्तविक बाह्य स्थिति से टकरा सकती हैं तो योगवासिष्ठ-कथित आधि उत्पन्न हो जाती है। इसी से व्यक्ति की रक्षा करने के लिए अहंकार का कार्य प्रारम्भ होता है। अहंकार इस प्रकार से एक वास्तविक जगत् और मनोरथ अथवा वासना जगत् के बीच में है। उसकी स्थिति बड़ी ही सुकुमार है। क्या इस कारण से ज्ञात पाता है कि उसमें अहंकार बलवान नहीं है। वह एक नवीन संसार में जन्म लेता है। उसे वास्तविक स्थिति का परिचय नहीं मिला रहता। मातृगर्भ से पृथ्वी पर पतन होने ही उसका संग्राम प्रारम्भ होता है। कहाँ मातृगर्भ की वह शान्ति और कहाँ संसार का घोर वैषम्य! वह प्रारम्भ में विषय में अथवा बाह्य से अनभिज्ञ रहता है। वस्तु-दृष्टि क्रमशः बनती जाती है। उसकी अविकसित प्रवृत्तियाँ विकसित होती जाती हैं और वह धीरे-धीरे विकास प्राप्त करता युवक बन जाता है। शिशु में वस्तु-दृष्टि का जो क्रम विकास पाया जाता है वह शिक्षाप्रद है और उससे हमें चित्त के विभिन्न भागों का विकास भी क्रमशः विदित होता है। अतः हम यहाँ पर वस्तु-दृष्टि के विकास की ओर

१—The child is egocentric

२—योगवासिष्ठ वैराग्यप्रकरण सर्ग १६, श्लोक ११ … १४।

किन्तु वस्तु दृष्टि के साथ-साथ अपनी इच्छाओं को रोकने की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। अह और 'एतत' का, और 'अहं—एतत न' 'मैं-यह नहीं—यही नहीं' का ज्ञान होने लगता है। 'यह' के अनुसार 'मैं', अथवा 'मैं' की इच्छाओं में परिवर्तन या 'मैं' की इच्छाओं की तृप्ति के लिए 'यह' को बदलने की आवश्यकता प्रकट होने लगती है। यहीं से 'अहं' का कार्यप्रदेश प्रारम्भ होता है। एक ओर अपने इच्छावेगों का और दूसरी ओर विषय-जगत् का बोध होता है, एक ओर तृप्ति का दूसरी ओर वस्तु स्थिति का ज्ञान होता है और वस्तु स्थिति के अनुसार ही अन्दर से उठनेवाली प्रवृत्तियों का निषेध भी प्रारम्भ हो जाता है। जो इच्छाएँ वस्तुस्थिति के अनुकूल रहती हैं उन्हीं का प्रकाश होता है और शेष निरुद्ध अथवा अवदमित होती जाती हैं। ये अवदमित संस्कार अपनी सारी शक्ति के साथ चित्त के अन्दर रह जाते हैं और अस्तव्यस्तता अज्ञात अथवा अचेतन का रूप धारण करते हैं। व्यक्ति की सारी शक्तियों का केन्द्र यही अचेतन (अज्ञात) है क्योंकि व्यक्ति का प्रकृत रूप यही है वास्तविक आकांक्षाओं का रूप भी यही है। अहंकार और उसके कार्य कालान्तर में अज्ञात की इच्छाओं के परिमार्जन से आरम्भ होते हैं। इस प्रकार अहंकार, अज्ञात से उसके परिमार्जित रूप में उत्पन्न होकर, उसी की रक्षा के लिए, उसी की तृप्ति के लिए, वास्तविक जगत् की अपेक्षा करने लगता है और अज्ञात को छोड़कर धीरे धीरे बाह्य प्रपंच की अपेक्षा उसे अधिक चाहने लगता है। अन्त में विकसित बच्चे को अपने प्रकृत स्वरूप की विस्मृति हो जाती है और वह सोचने लगता है मानो वह कभी भी बच्चा नहीं था।

साधारण व्यक्तियों में अज्ञात और अहंकार या वस्तुस्थिति तीनों एक ही प्रकार से रहते हैं। उनमें परस्पर कोई विरोध है यह निश्चित ही नहीं हो सकता। उन्हें जो इच्छा होती है उसे वे इस प्रकार बदलकर तृप्त कर लेते हैं कि उनके मन में किसी प्रकार की अशान्ति नहीं फैलती। लगता है उनके मन वचन कर्म में कोई अन्तर नहीं। वे जो सोचते हैं कहते हैं जो कहते वही करते हैं। उनके वाक्यों के पीछे अर्थ दौड़ता आता है और अर्थ के पीछे शब्द निकलने लगते हैं। इस प्रकार के मृदु एवं शुद्ध व्यवहार में यदि किसी प्रकार का अन्तर आ जाता है तो व्यक्ति में असाधारणता आने लगती है और उसकी स्थिति प्रत्येक योगवासिष्ठ की उक्ति के अनुरूप हो जाती है।

सचमुच असाधारणता और साधारणता में विषम भेद नहीं है। स्वास्थ्य साधारण है और रोग असाधारण। वास्तव में रोग भी असाधारण स्वास्थ्य है और स्वास्थ्य मृदुरोग है। दोनों के गुणवैषम्य में केवल मात्रा का भेद है। यदि अज्ञात की अपेक्षा वस्तुजगत् की अधिक चिन्ता की गई तो आधि उत्पन्न हो जायगी और यदि वस्तु-जगत् की अपेक्षा अज्ञात की परवाह अधिक की गई तो आधि और व्याधि दोनों उत्पन्न हो जायगी। किन्तु दोनों में एक प्रकार के ही मानसिक नियम कार्यशील होते हैं। अहंकार सदा वस्तु-जगत् के साथ रहकर अथवा विरोध न करके अज्ञात इच्छाओं की पूर्ति करना चाहता है। जिनके द्वारा इच्छाओं की पूर्ति हो सके ऐसे अवसर को वह अपने हाथ से नहीं जाने देता। यदि अवसर मिला ही नहीं तो आधि

उत्पन्न होती है। किन्तु यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि अज्ञात इच्छाओं की तृप्ति में कौन-कौन बाधा पहुँचाते हैं।

अहंकार सदा अज्ञात वासनाओं को प्राकृत परिमार्जित करने तथा उनकी तृप्ति के लिए बाह्य जगत् का सहारा देने का उपक्रम करता है किन्तु प्रायः इस प्रयत्न में सफलता नहीं मिलती। सफलता के मार्ग में तीन बाधाएँ हैं : (१) अज्ञात इच्छाओं के वेग की तीव्रता (२) बाह्य-जगत् की परिस्थिति की कठोरता और (३) अपना ही शिष्टाहंकार।[1] इन तीनों में सबसे प्रबल शिष्टाहंकार है।

शिष्टाहंकार सभी व्यक्तियों में एक प्रकार से ही नहीं कार्यशील होता। कुछ लोगों में यह तीव्र रूप नहीं धारण करता। इसी को साहित्य एवं दर्शन में हम अन्तरात्मा अन्तर्वाणी[2] आदि की संज्ञा देते हैं। शिष्टाहंकार अहंकार पर शासन करता है। यह सदा शिष्ट मार्ग को ही अहंकार के सामने रखता है। हमने पहले ही देख लिया है कि यह बाह्य ज्ञान में नहीं रहता। अहंकार के उदय के साथ ही उसका उदय नहीं होता। यह बालक-काल की भावनाओं में सम्मिलित-सा रहता है। इसी शिष्टाहंकार अथवा अन्तर्वाणी के कारण मनुष्य का भाव देव रूप देव बन जाता है। इसका ज्ञान केवल कुशाग्र अहंकारग्रस्त व्यक्तियों का ही होता है। यह सदा एक स्वर के रूप में प्रकट होता है और यह स्वर सदा अहंकार को आदेश अथवा आज्ञाएँ देता रहता है। प्रायः उसके आदेश निषेधात्मक ही होते हैं। यह कभी अधर्म करने की आज्ञा नहीं देता। सच है शिष्टाहंकार व्यक्ति के सामने कुछ आदर्श रखता है, और उन्हीं आदर्शों से हम व्यक्ति के शिष्टाहंकार की प्रबलता का आभास पाते हैं।

शिष्टाहंकार का मन प्रायः एक काल से निश्चित होता है। यह कभी अपने आधार व्यक्ति के समाज से भिन्न नहीं जाता। यदि किसी व्यक्ति का समाज मांसभक्षण को घोर पाप कहता है तो उस व्यक्ति का शिष्टाहंकार भी उस कार्य पाप ही कहेगा। यदि व्यक्ति अपने शिष्टाहंकार के अनुसार नहीं चलता तो यह उसे घोर दण्ड देता है और यह व्यक्ति अपने को सदा पापी समझता रहता है। यदि किसी समाज में मांसभक्षण कोई पाप न समझा जाय तो उस समाज के व्यक्ति का शिष्टाहंकार अथवा अन्तरात्मा यह कभी नहीं कहेगी कि मांस खाना पाप है। इसी कारण कुछ लोग मांसादि का भक्षण करके फिर छोड़ देते हैं। कुछ व्यक्ति जो बहुत ही परिमार्जित बुद्धिवाले हैं अथवा जिनकी बुद्धि विवेक पर्याप्त रूप में विकसित है वे यदि किसी कारण मांस खा लें तो उसे खाकर तृप्त नहीं होते प्रत्युत उनकी अन्तरात्मा इतना घोर रूप धारण करने लगती है कि वे अपने पाप के प्रायश्चित में सब कुछ उत्सर्ग करने को उद्यत हो जाते हैं। कभी कभी भारी आवेश में आकर ऐसे व्यक्ति अपने अन्तर्युद्ध का अन्त करने के लिए, अन्तर्यामी देव को शान्त करने के लिए, आत्महत्या भी करने के लिए तत्पर हो जाते हैं। कोई कोई अपने को पापी समझकर पाप का प्रक्षालन

१—S per ego
२—Conscience.

करते रहते हैं और कोई-कोई अनजान अहिंसा को सभी सत्यों में सर्वश्रेष्ठ समझकर उसी की पूर्ति एवं व्याप्ति के लिए माया भी दे देते हैं और इस प्रकार अपने पाप का प्रायश्चित कर लेते हैं। शिष्टाहंकार के विषय में एक और विशेष बात है। वह सदा भगवान् की आज्ञाओं का ही पालन करता है। किन्तु उस भगवान् के उस रूप को समाज का शिष्टाचार ही समझना चाहिए, क्योंकि नैतिकता के प्रचलन में उसके अस्तित्व एवं उसकी तथाकथित वाणी भी है। इसी प्रकार अन्य गुरुजनों यथा माता पिता गुरु ऋषि आदि की आज्ञाएँ भी हैं। अतः शिष्टाहंकार एवं समाज के आदर्श, धार्मिक उक्तियों और भगवान् के रूप में जो गहरा सम्बन्ध है यह स्पष्टतः व्यक्त हो जाता है। यदि यह सम्बन्ध प्राकृतिक है अथवा प्राग्जन्मीय, तो जन्म से ही उसका बोध होना चाहिए, किन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। बालक चींटे मारते ही हैं। कुत्तों पर पत्थर फेंकते ही हैं। घर में माखन चोरी करते ही हैं। उन्हें पहले हिंसा अहिंसा, स्तेय अस्तेय आदि का पता ही नहीं रहता। उन्हें आदर्श एवं आत्मभावों की अनुभूति ही नहीं होती। उनका व्यवहार वही—

> तिर्यग्जाति समारम्भः सर्वैरेवाप्यचारित
> यो यो बालसमाचारो मरणादपि दुःखदः
> क्रीडासु दुर्विलासेषु दुरीहासु दुराग्रहे
> परमं मोहमाधत्ते बालो बालबलापलम् ॥[1]

बालक का स्वभाव पशु-स्वभाव है। उसका आचार चंचल है। मरण से भी अधिक दुःख देनेवाला है। बालक दुर्विलास में बुरी इच्छाओं में कुमार्ग में एवं निन्द्य आशयों में अज्ञात के कारण आसक्त होता है।

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि भगवान् आदर्श और शिष्टाहंकार आदि सभी व्यावहारिक हैं और बालक के क्रम विकास के साथ क्रमशः उद्भावित हैं। अतः शिष्टाहंकार की समाप्ति पर ध्यान देना चाहिए। व्यक्ति व्यक्ति के शिष्टाहंकार में कुछ समानताएँ हैं जिनमें दो प्रधान हैं—(१) व्यक्ति के समाज का विरोध न करना और (२) सदा अपनी शक्ति को आज्ञा के रूप में प्रकट करना। इन दोनों बातों से उसका सम्बन्ध वस्तु-जगत् में ही मालूम होता है वासनाओं से नहीं। अपने विकास के क्रम में ही बदा वस्तु स्थिति के कारण शिष्टाहंकार प्राप्त करता है। अतः इसकी उत्पत्ति के लिए बाल्य काल के जीवन का पर्यवेक्षण करें तो पता चलता है कि शिष्टाहंकार के फलस्वरूप कुछ व्यक्ति बच्चों के कोमल जीवन पर अधिक प्रभाव डालते हैं। शिष्टाहंकार के विविध रूप बच्चों के संरक्षक हैं वे माता पिता भाई गुरु आदि हैं। इनकी आज्ञाएँ बच्चों के कोमल वर्धमान 'अहं' पर प्रभाव डालती हैं और उनको बच्चे उसी रूप में अपनाते हैं। उनको वे छोड़ नहीं सकते। जब शिशु बढ़कर युवावस्था में प्रवेश करने लगता है तब ये बाल्य संस्कार निकसित होकर उसे आज्ञा के रूप में मालूम होने लगते हैं। पहले तो माता पिता गुरु आदि

१—योगवासिष्ठ वैराग्य प्रकरण सर्ग १९।

की मूर्ति अपने चित्त के एक कोने में रखता है और वह मूर्ति अपनी सारी शक्ति के साथ उनके अहंकार से बँधा पड़ा रह जाता है। यही मूर्ति समय पाकर अपनी प्रभुता दिखाने लगती है। जिस प्रकार शिशु अपने माता पिता और गुरु आदि की प्रतिमूर्तियाँ अपनाता है और अहंकार गठन करता है; क्योंकर उसको उनकी स्मृति नहीं रहती, आदि बातें हम चित्त-ग्रन्थि का क्रिया स्वभाव समझाते समय स्पष्ट करेंगे। शिष्टाहंकार का यही अस्तित्व मनुष्य की उन्नति एवं अवनति, दोनों में सहायक होता है। सुकरात का अन्तर्यमनदेव[1] यही अन्तर्यामी है। व्यक्ति को अपने चित्त-साम्य की रक्षा के लिए समाज और वस्तुस्थिति के अनुकूल रहना जितना आवश्यक है उतना ही इस देवदेव (अन्तर्यामी अहंकार) से भी अनुकूलता बनाए रखना आवश्यक है। इस अन्तर्यामी के अनुसार यदि हम अपने को रख सकें तो न कोई तीर्थ की आवश्यकता है न किसी यात्रा की। कहा भी है —

यमो वैवस्वतो राजा यस्तवैष हृदि स्थितः ।
तेन चेदविवादस्ते मा गंगां मा गयां गमः ॥[2]

—हृदयस्थित वैवस्वत यम से अविवाद है तो न गंगा की आवश्यकता है न गया की।

इस अध्याय में हमने यह बतलाने की चेष्टा की है कि चित्त अथवा अन्तःकरण की दृश्य मात्र एवं स्वभाव में स्थूलतः दो भूमियाँ हैं। दृश्य को अहंकार कहते हैं और उसके दो भेद हैं—(१) शिष्टाहंकार और (२) अहंकार। शिष्टाहंकार अहंकार का ही शिष्ट भाग है और अहंकार के सामने शिष्टाचार आदर्श रूप में रखकर उसका अनुशासन किया करता है। अहंकार स्वयं व्यावहारिक है और स्वयं विकसित होता है। स्वयं चित्त से उत्पन्न होने के कारण वह सदा उसी की रक्षा करने में तत्पर रहता है। इस रक्षा के लिए उसे वस्तु जगत् की परवाह करनी पड़ती है। इस प्रकार अहंकार तीन प्रभुओं का दास है। स्वयं चित्त के भी भाग हैं—(१) ज्ञात, जो अति निश्चित है (२) ज्ञाताज्ञात जो स्वरूप से अज्ञात है किन्तु ज्ञात हो सकता है और (३) अज्ञात जो वासनात्मक है और बालकवत् भोला और चंचल है। इन सब का साम्य ही व्यक्ति के लिए श्रेय और प्रेय है। इनके वैषम्य से ही अशान्ति होती है। वैषम्य का कारण विषय है। यदि उन व्यक्ति विषयों एवं वैषम्यागों को एक ही क्रम में ला सकें तो उसका जन्म सुन्दर और धन्य होता है नहीं तो नहीं, क्योंकि

विषं विषयवैषम्यं न विषं विषमुच्यते ।
जन्मान्तरघ्ना विषया एकदेहहरं विषम् ॥[3]

—विषय जन्मान्तरों को भी बिगाड़ देते हैं किन्तु विष तो एक ही देह को। अतः वस्तुतः विष विष नहीं है विषय-वैषम्य ही विष है।

१—Demon

२—मनु [illegible]।

३—[illegible] सर्ग ११, श्लोक ११।

चौथा अध्याय

ज्ञप्ति, उसके विभाग और तदनुरूप चैत्त भाग

प्रथमतः हमने डा० फ्रायड के मत के अनुसार चित्त के विभागों पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है। किन्तु हमने कहीं भी यह स्पष्ट नहीं किया कि चैत्त विभाग के विषय में डा० फ्रायड के मत से अन्य आचार्यों की कहाँ तक सहमति है और किस विचार से डा० फ्रायड ने चैत्त विभाग तथा चित्त विश्लेषण-सम्बन्धी अन्य सिद्धान्त उद्घोषित किया। इस अध्याय में इन बातों पर प्रकाश डाला जायगा।

वास्तव में डा० फ्रायड के दृष्टिकोण से जितने चैत्त विभाग उपस्थित किये गये हैं, उनमें और अन्य मानस शास्त्रियों द्वारा उपस्थित किये गये विभागों में बहुत दूर तक समानता पाई जाती है। भेद केवल यही है कि जहाँ डा० फ्रायड ने अपने सिद्धान्तों को अपस्मार आदि व्याधियों के अध्ययन के फलस्वरूप उद्घोषित किया है वहाँ अन्य मनोविज्ञानवेत्ताओं ने प्राप्त हुए अपने सिद्धान्तों के लिए अन्य प्रमाणों की खोज न कर अपनी अनुभूतियों को ही प्रधानता दी है।

चित्त की भूमियों का विभाग बताने के लिए सभी लोगों को एक ही बात ने विवश किया और वह थी ज्ञप्ति अथवा चेतन की विविध अवस्थाएँ।[1] ज्ञप्ति विविध अवस्थाओं में रहती है किन्तु उसका ज्ञान अहंकार के द्वारा ही सम्भव है। जिनका अहं सूक्ष्मतम है वा अपने अहं को प्रत्याहार के द्वारा ज्ञप्ति पर ही केन्द्रीभूतकर उसका अध्ययन कर सकते हैं, वे कदाचित् उसकी सभी भूमियाँ जान सकते हैं। किन्तु साधारण व्यक्ति को ज्ञप्ति का पता ज्ञप्ति विशिष्ट चित्त-वृत्तियों अर्थात् भावना भाव आदि के विषय में ही पता चल सकता है। अतः डा० फ्रायड ने स्थूलतः सभी चित्त वृत्तियों के ज्ञप्ति के मात्रा भेद से अथवा तीव्रता की मात्रा में दो विभाग किये : ज्ञात और अज्ञात अथवा चेतन और अचेतन। ज्ञप्ति का ज्ञान अहंकार को ही होता है और अहंकार अज्ञात ज्ञप्ति को नहीं जान सकता। अतः अज्ञात में ज्ञप्ति रहती है कि नहीं इसका ज्ञान अहंकार को नहीं रहता है। अतः अहंकार की दृष्टि में ज्ञप्ति ज्ञातभूमि का ही गुण है और यह अन्य भूमियों में नहीं है। डा० फ्रायड ने स्वप्न को ज्ञप्ति की एक स्थिति की भाँति माना है क्योंकि व्यक्ति को स्वप्न का ज्ञान रहता है। किन्तु यह भूमि ज्ञात नहीं है। ज्ञात में जिस ज्ञप्ति का ज्ञान होता है उसका सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रियों में ध्यानगामी संवेदनाओं तथा अन्तरङ्ग में बहिर्मुख [illegible] गुण आदि में होता है। स्वप्न में कर्मेन्द्रियाँ प्रसुप्त रहती हैं और स्वप्न-रचना में प्रधान भाग स्मृति संस्कार

1 — Consciousness and its different levels.

का है। स्मृति-संस्कार अथवा स्मृति चिह्न जिस भूमि में है वहाँ भी शक्ति स्थित होती है। इसी दृष्टि से डा॰ फ्रायड ने अपने चेतन भूमि के विभागों के स्पष्टीकरण में विज्ञानवेत्ता फेशनर के वचन प्रमाणस्वरूप उद्धृत किये हैं: 'जाग्रत विचार शक्ति की (भूमि की) अपेक्षा स्वप्न भूमि कहीं और ही है'।[1] इस प्रकार की बातों से विदित होता है कि चित्त के एक-एक भाग में शक्ति की एक एक दशा अथवा स्तर है। स्वप्न भी शक्ति की एक दशा अथवा अवस्था (स्तर) है। अतः देखना होगा कि शक्ति किस किस प्रकार से भिन्न भिन्न भूमियों में पाई जाती है। डा॰ फ्रायड ने इस चित्त (चेतन मन) के तीन विभाग किये गये हैं: (१) ज्ञात (२) अज्ञात और (३) ज्ञाताज्ञात। अज्ञात के भाव वासना वेग के साथ रहते हैं अतः अज्ञात की वासनाएँ भावावेग के रूप में व्यक्त होकर ज्ञात में आ जाती हैं और प्रायः उन भावों के साथ भावनाएँ संलग्न रहती हैं। भावना द्वारा भाव अपने को प्रकट करता है। ऐसी बातों से प्रश्न उठ खड़ा होता है कि विविध चित्त भूमियों का सम्बन्ध क्या है? अज्ञात की बात किस प्रकार से ज्ञात होती है? ज्ञात की शक्ति अज्ञात की ओर जाती है अथवा अज्ञातगत विषय ज्ञात की ओर बढ़ते हैं? या दोनों के बीच में कोई भूमि है जो दोनों को सम्बद्ध करती है? पाठकों के मन में इस प्रकार के प्रश्न हठात् उठ सकते हैं। इनका उत्तर किसी चित्त वृत्ति के उदाहरण से विदित हो जायगा। विचार एक चित्त-वृत्ति है। विचार में दो भाग हैं: (१) शुद्ध शब्द और (२) शुद्ध वस्तु। कोई भी व्यक्ति बिना वस्तुओं एवं शब्दों के विचार नहीं कर सकता। वस्तु का तात्पर्य है 'चित्र' या 'रूप' और शब्द का 'नाम' से। नाम और रूप में विचारशक्ति परिमित होती है। इतना ही नहीं बिना रूपानुभूति के विचार शक्तियाँ बैठ भी नहीं सकतीं उन्हीं 'नामों' (संज्ञाओं) एवं 'रूपों' में विचार चल सकता है जिन्हें हमने देखा है और सुना है। अथवा हम यों भी कह सकते हैं कि विचार अनुभूत विषयों पर ही निर्भर करता है। भूत पर ही भविष्य के विचार भी निर्भर हैं। भविष्य भूत का आरोपित विषय है। यह काल और देश की सीमा में बद्ध है। इस रीति से हम प्रत्येक क्षण में अपने को विचार-रूप में पुनः पुनः उत्पन्न कर रहे हैं। अस्तु विचार के सभी विषय अनुभूत हैं। इसका अर्थ यह है कि चित्त की विभिन्न किसी भूमि में विचार के प्रतिरूप अथवा संस्कार रहते हैं यदि चित्त में अतीत संस्कार न रहते तो विचार में उनका प्रत्युत्थान क्योंकर हो सकता है? इस प्रकार की चर्चा ने डॉ॰ फ्रायड को अपनी गवेषणा में तत्पर किया। इन बातों की जानकारी के लिए चित्त-यन्त्र के रूप का निर्धारण तदनन्तर स्मृति-संस्कार आदि की दृष्टि से होना चाहिए।

चित्त के चित्र को खींचने के पूर्व हम नामरूप की थोड़ी और परीक्षा करना परमावश्यक है। पहले नाम की अनुभूति होती है कि रूप की इस प्रश्न के उत्तर में ही चित्त भूमि का स्वभाव निहित है। हमें सर्वप्रथम रूप की अनुभूति होती है और नाम

[1]—The seat of the dreams is elsewhere than the waking ideation—*Psycho-Physic Part II p. 520 S. Freud: The Interpretation of Dreams, p. 436 C. G. Jung Contributions to Analytical Psychology 1928, pp. 83-91*

पीछे आता है। इस विषय में हमें बाल-क्रीड़ाओं पर ध्यान करना चाहिए। बचपन में व्यक्ति की शक्तियाँ अशिक्षित रहती हैं। इसी प्रकार इस विषय में हम निपट प्राकृत प्राणियों का भी उदाहरण ले सकते हैं। जहाँ शिक्षा का अथवा सभ्यता का नाम भी नहीं है, वहीं पर शक्तियों का वास्तविक विकास देखा जा सकता है। रूप और नाम की प्राथमिक अनुभूति के अन्तर-भेद के परिज्ञान में हमें शिशु और असभ्य मानव का उदाहरण लेना अधिक सुकर प्रतीत होता है। वास्तव में इन दोनों में रूप का अर्थात् चित्र की ही प्राथमिकता निश्चित होती है। शिशु के जो भी भाव अथवा भावनाएँ हैं, वे चाक्षिक हैं उनमें शब्द का स्थान नहीं है। वह मक्खियाँ, भेड़ आदि देखता है तो उन्हीं की भाँति व्यवहार करता है। 'मैंने एक जानवर देखा' इस अनुभूति को वह सबसे पहले उसी के जैसा चलकर व्यक्त करेगा। भाषा का विकास भी यही सिखाता है। व्यक्ति प्रकृत अवस्था में अपने भावों को चित्रों के रूप में व्यक्त करते थे। कालान्तर में ही शब्द और नाम आए।[१]

अतः चित्ति की प्रारम्भिक अवस्था रूपमय एवं वस्तुमय रहती है। गत अध्याय से यह विदित हो चुका है कि चित्त में वासना भूमि ही प्राकृत है तथा अन्य सभी बातें क्रमशः उसी से विकसित हुई हैं। अतः यह कहना युक्ति-संगत है कि चित्ति में संस्कार चित्र हैं अथवा रहनेवाले संस्कार-चित्र अथवा चित्र विकार हैं। हमने उसमें तथा ज्ञात के बीच में एक ज्ञाताज्ञात का उल्लेख किया है। हम प्रायः इसी को शब्द भूमि मानते हैं और यही ज्ञात और अज्ञात को मिलानेवाली सन्धि है। अहंकार से चित्ति ओतप्रोत है। यह अहंकार की निगरानी में अथवा उसके ज्ञान के बिना भी अपना काम करती जाती है। शब्दमय भूमि ज्ञात क्यों नहीं हो सकती? ज्ञात-भूमि ही स्मृति संस्कारों का आश्रय क्यों नहीं हो सकती? ऐसे प्रश्न हठात् उठ सकते हैं। इन सबका उत्तर चित्त मन्त्र के चित्र में समझना उचित प्रतीत होता है।[२] थोड़ी देर के लिए हम यह मान लें कि चित्त एक जीवित्कोशिका है[३] जो थोड़ी संसार में पड़ी हुई है। चारों दिशाओं में प्राकृतिक उत्तेजकों[४] से उत्पन्न संवित्प्रवाह उस पर आघात करता है जिससे उसकी शान्ति भंग होती है। यह शान्ति भंग अन्त में अन्तर संवेदना के रूप में अथवा दुःख के रूप में भी निश्चित होगा। इस प्रकार से उस जीवित्कोशिका पर बाह्य और अभ्यान्तर दोनों ओर से संवेदनाएँ प्रहार करती हैं। वह

१—For though it is only by reason of the opposition of letters in the function of signs, to sounds in function of signs that the study of books is called literature —*Ruskin : of Kings Treasures in Sesame and Lilies*

२—S. Freud Beyond the Pleasure Principle

३—A cell.

४—Stimuli के [illegible] (Physical and Social) [illegible]

कोशिका जीवरकोशिका है अतः यह इन संवेदनाओं के फलस्वरूप प्रतिवेद
प्रतिक्रिया[१] करेगी। इस अंश में कोशिका के विविध भाग प्रतिक्रियाओं के फल
विविध रूप ग्रहण करते हैं। अपने स्थान के कारण ही उस कोशिका के ऊप
और निम्नतल में भेद है। उपरितल से बाह्य संसार का सीधा सम्पर्क है अतः उ
ही बाह्य उत्तेजक प्रहार करते हैं। अतः उपरितल पर उन उत्तेजकों से प्रति
प्रारम्भ होगी और संवेदनाएँ उत्पन्न होंगी। विविध उत्तेजकों की बौछार तथा प्र
प्रतिक्रियाओं के कारण उपरितल के रूप में परिवर्तन अवश्यमेव होगा। बाह्य उ
से उपरितल एक प्रकार जल सा जाता है। यदि यह पूर्णतया जल जाय तो बाह
में उत्पन्न संवेदनाओं का प्रभाव नहीं मालूम होगा। किन्तु जीवरकोशिका के
होना अभीष्ट नहीं है क्योंकि अपनी रक्षा के लिए उसे तो आहार आदि चाहि
और ये आहार आदि बाह्य जगत् से ही प्राप्त होते हैं। अतः स्पष्ट है कि बा
उत्तेजकों की प्रतिक्रिया के कारण अपने सभी उपरितल को जलने नहीं देगी
कुछ ऐसे भाग अवश्य रहेंगे जिनसे वह बाह्य उत्तेजकों से उद्भूत संवेदना
परिमित रूप में स्वीकार कर सके। इसीलिए ज्ञानेन्द्रियों का निर्माण हुआ।
आश्चर्य क्या है! इन्द्रियाँ अपने स्वभाव से ही बाह्य जगत् के उत्तेजकों से सं
ग्रहण करने को उन्मुख रहती हैं।[२] उपरितल ही ज्ञान का साधन होगा, क्योंकि
से ही वेग का अस्तित्व सिद्ध है और वेग बाह्य जगत् में है अतः उनके स्पर्श
बाह्यतल में अथवा उपरितल में क्षति होगी। इसके कारण जितनी संवेदनाएँ
प्रवेश पाती हैं सभी पर क्षति की मुहर लगी रहती है। आघात होने के अनन्तर सं
की समाप्ति नहीं हो जाती, क्योंकि उसके आघात को वेग भीतर घुसता है वह
संवेदना का संस्कार का रूप देता है अथवा प्रतिरूप[३] खड़ा करता है। हम इ
प्रकार भी कह सकते हैं कि वेग के कारण चित्त पर स्पर्शों के संस्कार अंकित हो
हैं।[४] किन्तु यह वेग बाह्य जगत् में उद्भूत होता है अतः यह चित्त में घुसकर
रह सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह जीवरकोशिका के लिए स्वारम्भ मा
सकता क्योंकि जीवरकोशिका बाह्य वेग को बाह्य संसार में रहकर स्वयं पूर्वत
का ग्रहण करती है। इस प्रकार के प्रयत्न द्वारा चित्त-यन्त्र के दोमुखी कार्य प्रकार

१—Responses

२—पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।

३—Image.

४—आधुनिक मनोविज्ञान भी यही कहता है। प्रथम बाह्य जगत् से उत्तेजक (Stimuli) हमारी ज्ञानेन्द्रियों (Sense-organs) को उत्तेजित करते हैं और इस प्रकार संवेदनाएँ (Impu संवाहक स्नायुओं (Sensory nerves) से चलती हुई मस्तिष्क-केन्द्रों (Cerebral centr पहुँचती हैं। मस्तिष्क के विभिन्न भागों में ज्ञानेन्द्रियों के विविध क्षेत्र (areas), जैसे श्रवण-क्षेत्र घ्राण-क्षेत्र आदि होते हैं जहाँ पर संवेदनाएँ अपने प्रतिरूप (Images) खड़ा कर अथवा पूर्व संस्कारों के पुनर्जागरण से प्रतिरूप सार्थक (meaningful) हो जाते हैं और इसी प्रत्य (Perception) होता है। बुद्धि (Consciousness) का निर्माण इसी प्रकार होता है।

हैं : एक तो वह जिसके द्वारा संवेदनाओं का ग्रहण होता है और दूसरा जिसके द्वारा बाह्य उद्दीपनों से उत्पन्न क्रियात्मक रूप प्रकट होता है, अर्थात् चित्त-यन्त्र बाह्य उत्तेजनाओं से अपनी रक्षा करता है। उत्तम चित्त वह होगा जो बाह्य संवेदनाओं का ज्ञान करे और उन सभी के वेग को क्षोभ के बिना पूर्णतया बहिर्गत कर सके। किन्तु मानव का जीवन सीमाबद्ध है उसके जन्म में ही मृत्यु के अंकुर हैं। अतः मानव पूर्ण रूप से उस वेग को बहिर्गत नहीं कर सकता है। अस्तु अब चित्त-यन्त्र का चित्र इस प्रकार होगा—
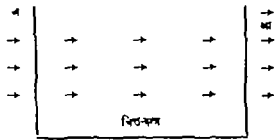
अ—संवेदनाओं के जुड़ने का मुख या 'संवित्स्फुर मुख'।
आ—क्रियारूप में परिवर्तन होने का मुख या 'क्रियात्मक मुख'।

हमने देख लिया कि जो संवेदनाएँ चित्त-यन्त्र में प्रवेश पाती हैं उनके संस्कार उसमें पड़ते हैं और वे क्रमशः स्मृति चिह्न अथवा स्मृति के विषय बन जाते हैं। अतः उन स्मृति संस्कारों के लिए भी चित्त-यन्त्र में स्थान विशेष का निर्देश करना पड़ेगा। यदि उपरिलिखित अथवा संवित्स्फुरद् भूमि को ही संस्कार भूमि भी मान लें तो कुछ बाधाएँ उपस्थित होती हैं। यदि किसी यन्त्र का एक तल ज्ञान की भूमि हो और साथ ही साथ संस्कारों की भूमि हो तो स्मृतिकार्य का ह्रास होता है। एक ही समय ज्ञान कराना और दूसरी बातों की स्मृति कराना असम्भव है। एक भूमि एक समय एक ही काम कर सकती है। कालभेद से भी एक ही भूमि दोनों काम नहीं कर सकती है क्योंकि यदि उसमें क्षमि रहती है तो ज्ञान के साथ स्मृति भी स्फुरित हो जायगी। बाह्य विषय का ज्ञान और अनुभूत विषय की स्मृति दोनों एक साथ क्षमि के कारण अनुभूत हो जायेंगी तो व्यक्ति अनुभूति और स्मृति का भेद नहीं समझ सकेगा। ऐसा होता भी नहीं है। दूसरी बात यह है कि यदि स्मृति-संस्कार उपरिलिखित में है तो सभी की स्मृति सदा स्फुरित ही रहनी चाहिए जिसका अर्थ यह होगा कि व्यक्ति का कोई नवीन ज्ञान होना ही असम्भव है। इन दोषों को देखते हुए यह प्रतीत होता है कि स्मृति चिह्नों की अलग भूमि है और यह ज्ञान भूमि के उपरान्त ही निर्मित होती है क्योंकि जिसका एकबार ज्ञान हो जाता है, उसी की स्मृति होती है। अतः यह कहना पड़ता है कि ज्ञान के रूप में परिवर्तित होने पर संवेदनाओं की दूसरी भूमि बन जाती है और यही अतीत अनुभूतियाँ संस्कार के रूप में बैठ जाती हैं। इस प्रकार अब चित्त-यन्त्र का चित्र थोड़ा परिवर्तित हो जायगा क्योंकि उसमें ज्ञानभूमि

अर्थात् संवित्स्पन्द मुख के निम्नतल में एक स्मृति संस्कार की भूमि अवस्थित पाई जाएगी। अतः चित्र का रूप यह होगा—

अ—संवित्स्पन्द मुख
इ—स्मृति-संस्कार-भूमि
आ—क्रियास्पन्द-मुख
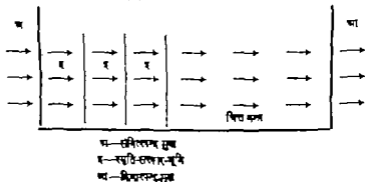
ऊपर के दोनों चित्रों से ऐसा विदित होगा कि सभी संवेदनाएँ अपने स्मृति-संस्कारों को छोड़कर क्रिया में परिणत होती हैं और बहिर्गत हो जाती हैं। किन्तु वास्तव में, बात यह नहीं है। सभी संवेदनाएँ क्रिया में परिणत नहीं होने पाती हैं। यदि उन संवेदनाओं का क्रियान्वित होना समाज के विरुद्ध अथवा अस्वास्थ्यकारी व विरुद्ध होगा तो वे संवेदनाएँ क्रियारूप में बहिर्गत नहीं होंगी। संवेदनाओं का अर्थयुक्त अथवा ज्ञानात्मक होना बाह्य जगत् तक ही सीमित नहीं है। वास्तव में बाह्य जगत् की क्रिया तथा चित्त के उपरितम तल की प्रतिक्रिया का मिलाप ही संवित् ज्ञान है। किसी का चित्त एक युवती को देखकर मन प्रभावित होता है अथवा पैसा देखकर लोभ होता है तब ऐसी वृत्तियों को वह बाह्य परिस्थिति के कारण क्रियारूप में बहिर्गत नहीं कर पाता है क्योंकि व्यक्ति का अहंकार उन्हें क्रियारूप में परिणत होने से रोकता है अथवा उनका निरोध या अवदमन करता है। इस प्रकार से क्रियास्पन्द मुख के पूर्व भाग में अहंकार प्रतिहारी का काम करता है। जो वृत्तियाँ बहिर्गत होने के योग्य होती हैं उन्हीं को अहंकार क्रियारूप में परिणत होने देता है। अब चित्त पात्र का चित्र निम्न लिखित प्रकार का होगा—

अ—संवित्स्पन्द मुख
आ—क्रियास्पन्द मुख
इ—स्मृति-संस्कार-भूमि
उ—अहंकार अथवा प्रतिहारी
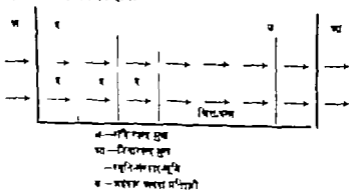
अब हमें एक ऐसी बात पर विचार करना है जिसपर प्रायः हमारा ध्यान नहीं जाता है। अनेक संवेदनाएँ चित्त में स्थान पाती हैं, किन्तु सभी की अनुभूति नहीं हो पाती। तो क्या इस प्रकार की संवेदनाएँ चित्त में अपने संस्कार नहीं छोड़तीं ? क्या वे स्मृति संस्कार नहीं बनतीं ? क्या वे क्रियारूप में परिणत नहीं होतीं ? नहीं, ऐसी बात नहीं है। वास्तव में, कुछ ऐसी भी संवेदनाएँ भावरूप में अपने को बहिर्गत करती हैं जिनका ज्ञान व्यक्ति को नहीं हो पाता। यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि शक्ति विशिष्ट संविस्पन्द गुण सभी संवेदनाओं का ज्ञान क्यों नहीं करा पाता ? इसका एकमात्र उत्तर यही निश्चित होता है कि संवेदनाओं की संख्या इतनी अधिक होती है कि साधारण व्यक्ति सभी की अनुभूति नहीं रख पाता है। संवेदनाओं को कोई रोक नहीं सकता। वे चित्त यन्त्र में प्रवेश करती ही हैं, और अपने वर्ग का संस्कार-रूप में छोड़ देती हैं। किन्तु उन्हें प्रतिहारी से बचकर ही बहिर्गत होना पड़ता है। प्रतिहारी कहेगा—'तुम धोखा देकर घुस गई। व्यक्ति को तुम्हारा ज्ञान ही नहीं हुआ। चलो अब निकलो।' अतः स्पष्ट है कि संवेदनाओं का वर्ग पड़ा ही रहता है। वे दूसरे संस्कारों से मिल जुलकर अपना रूप परिवर्तित कर क्रियान्वित होने का प्रयत्न करती रहती हैं।

अहंकार कुछ बातों का निषेध करता है और कुछ को आगे देता है। हमने गत अध्याय में कहा है कि चित्त की एक ज्ञाताज्ञात भूमि है जिसकी बातें स्वरूप से तो अज्ञात हैं किन्तु ज्ञात हो सकती हैं। वे भी प्रतिहारी से नियन्त्रित होकर ही प्रकट होती हैं। अतः क्रियासम्पद् गुण पर प्रतिहारी के निम्न तल में ज्ञाताज्ञात का स्थान होना चाहिए और उसके भी निम्नतल में अज्ञात का। इस रीति से चित्त यन्त्र का चित्र इस प्रकार का होगा—
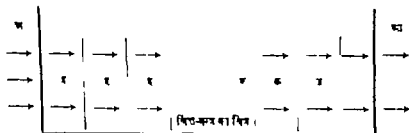
अब चित्तयन्त्र का मर्म सर्वांगपूर्ण समझ में आ जायगा। हमने पहले ही कहा है कि चित्त वृत्तियों के पौर्वापर्य का सुस्पष्ट विभाग के लिए चित्र का आश्रय लिया है। पाठकों को विदित होगा कि मनस्या का ध्यानमेखला (शाला) अन्धकार है

(३) चिन्मय अज्ञात से प्राप्त होती है। किन्तु जब स्वाभाविक शक्ति भी शान्त हो जाती है और व्यक्ति सौषुप्तिक अवस्था में आ जाता है तब शक्ति की क्या दशा रहती है, इस विषय में डा॰ फ्रायड के ग्रन्थ मौन हैं।

(४) अज्ञात वासना-भूमि है, ज्ञाताज्ञात स्मृति और विचारों की भूमि है; और ज्ञात, ज्ञान और क्रिया की भूमि है।

(५) ज्ञात भूमि प्रत्यक्ष से सम्बन्ध रखती है। किन्तु ज्ञाताज्ञात तज्जन्य संस्कारों से।

(६) अज्ञात चञ्चल है। उसके चिन्तों में कोई पूर्वापर सम्बन्ध नहीं है जैसा कि हमने गत अध्याय में कहा है, उसे शैशव कहना चाहिए। उसके लिए देश, काल आदि का भेद नहीं है। ज्ञात, इसके ठीक विपरीत है। और ज्ञाताज्ञात, दोनों का सम्मिश्रण है।

(७) शिरोऽहंकार का डा॰ फ्रायड ने कोई विशेष स्थान-निर्देश नहीं किया है।

अब फ्रायड के विचारों की मीमांसा हो गई। अब हम अन्य आचार्यों के मतों से उनके विचारों की तुलना उपस्थित करेंगे। डा॰ फ्रायड के विचार भारतीय आचार्यों के जिन मतों से कई स्थानों पर मेल खाते हैं उनमें प्रधान तीन हैं:— (१) योग, (२) वेदान्त और (३) तन्त्र। उनमें हम एक-एक करके सभी की चर्चा उपस्थित करेंगे और देखेंगे कि उनसे डा॰ फ्रायड के सिद्धान्तों को क्या समर्थन मिलता है।

(१) योग—

इस मार्ग में सांख्यवादी अग्रसर हैं। उन्हीं के सिद्धान्तों को योगवालों ने प्रयोगात्मक रूप में लिया और इसीलिए योग को सांख्यप्रवचन भी कहते हैं। सांख्यवादी अन्तःकरण को त्रिधा मानते हैं—

अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम्।
साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम्॥[1]

बुद्धि, अहंकार और मन इन्हीं तीनों को त्रिविध अन्तःकरण कहते हैं। इन तीनों के विषय हैं:—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ। बाह्य इन्द्रियाँ तो केवल वर्तमान काल के विषयों के ज्ञान के लिए हैं किन्तु अन्तःकरण त्रिकाल के विषयों के लिए। इनमें सांख्य के अनुसार बुद्धि, अहंकार और मन का संघात अन्तःकरण है। इन तीनों का विकास क्रमशः होता है। प्रकृति से महान्, उससे अहंकार और अहंकार से मन आदि की उत्पत्ति होती है। प्रकृति अति प्राकृत और अनादि है। वह सभी की प्रकृति है। वह सभी तत्त्वों को 'प्रकरोति' अर्थात् उसी से सब की उत्पत्ति है। उसी में सारे अन्तःकरण और अन्य शक्तियों के अंकुर हैं। उसी से बुद्धि उत्पन्न होती है। बुद्धि अध्यवसायात्मक है। उसके बिना कोई निश्चय हो ही नहीं सकता। बुद्धि से अहंकार की उत्पत्ति होती है। अहंकार अभिमान है। 'अभिमानोऽहंकारः' और अहंकार से मन की सृष्टि होती है। मन 'उभयात्मक' है। 'उभयात्मकमत्र मनः'। वह ज्ञान का और कर्म का साधन है।

१—सांख्यकारिका, ३३।

क्या होता है ? प्रस्तुत विभिन्न तत्त्वों का वर्णन करने से बड़े बड़े विद्वानों के चित्त में भी भ्रम हो जाना स्वाभाविक है।

इसका उत्तर यही होता है कि मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में बुद्धि-भेद होने के कारण दूसरे के ऊपर सहसा किसी का विश्वास नहीं होता बल्कि मानव प्रकृति के अनुसार उससे भी अधिक सूक्ष्म तत्त्वों को प्रकाशित करना चाहता है। इसलिए बुद्धि-भेद होने के कारण विभिन्न तत्त्वों के अनुसन्धान के लिए महात्माओं की भी प्रवृत्ति अनिवार्य है। दार्शनिकों में भी मति-भेद का मूल कारण किसी प्रमाणविशेष में उनका पक्षपात ही है यह पहले भी लिखा जा चुका है। तात्पर्य यह है कि महर्षियों ने प्रमाण-निश्चय के द्वारा ही तत्त्वों का अन्वेषण किया है।

प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द ये ही तीन मुख्य प्रमाण माने जाते हैं। आध्यक्षिक तार्किक और श्रौत—ये तीन प्रकार के तत्त्वदर्शी दार्शनिक हुए हैं। एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माननेवाले आध्यक्षिक कहे जाते हैं। क्योंकि अध्यक्ष प्रत्यक्ष का ही नामान्तर है। यद्यपि प्रत्यक्ष को सभी ने प्रमाण माना है तथापि वे लोग आध्यक्षिक नहीं कहे जाते कारण यही है कि मूलतत्त्व के अन्वेषण में चार्वाक के अतिरिक्त और किसी ने भी प्रत्यक्ष को प्रमाण नहीं माना है। किन्तु, अनुमान या शब्द प्रमाण से ही मूलतत्त्वों का अनुसन्धान किया है। इसीलिए, तार्किकों या श्रौतों को आध्यक्षिक नहीं कहा जाता। केवल चार्वाक ही, जो केवल प्रत्यक्ष प्रमाण से ही मूलतत्त्व का अन्वेषण करने की चेष्टा करते हैं आध्यक्षिक कहे जाते हैं। जो तर्क की सहायता से मूल तत्त्व का अन्वेषण करते हैं, वे तार्किक कहे जाते हैं। तार्किक भी दो प्रकार के होते हैं—एक आस्तिक दूसरा नास्तिक। इनमें नास्तिक लोग श्रुति का प्रमाण नहीं मानते। नास्तिकों में भी दो भेद हैं—एक ऐकान्तिक दूसरा अनैकान्तिक। एकान्त निश्चय को कहते हैं। तत्त्व का निश्चय करनेवाला ऐकान्तिक है। बुद्ध मुनि ने यह ऐसा ही है इस प्रकार निश्चय कर आर्यसत्य-नामक चार तत्त्वों का उपदेश किया है। इसी कारण बौद्ध लोग 'ऐकान्तिक' कहे जाते हैं। 'सर्वं शून्यं शून्यं क्षणिकं क्षणिकं दुःखं दुःखं स्वलक्षणं स्वलक्षणम्'—ये ही चार प्रकार के 'आर्य सत्य' तत्त्व हैं। यहाँ आदर के लिए द्विरुक्ति की गई है। जैन लोग 'अनैकान्तिक' कहे जाते हैं। ये लोग अनुमान के द्वारा वस्तु-तत्त्व का अन्वेषण करते हुए भी वस्तु तत्त्व की यथार्थता का निश्चय नहीं कर सके कि 'यह वस्तु ऐसा ही है।' यदि कोई कहे कि 'सर्वं दुःखम्' तो इनका कहना है कि 'स्यात्' अर्थात् हो सकता है। यदि कोई कहता है कि 'सर्वं सुखम्' तोभी इनका यही उत्तर होता है कि 'स्यात्' हो सकता है। यहाँ 'स्यात्' शब्द अनेकान्त अर्थात् अनिश्चय' का द्योतक निपात है। इसी 'स्यात्' कहने के कारण जैन लोग 'स्याद्वादी' कहे जाते हैं।

श्रुति प्रमाण के अविरोधी जो तार्किक हैं वे आस्तिक कहे जाते हैं। केवल इनका श्रुति की अपेक्षा अनुमान में विशेष आदर रहता है। इसका कारण पहले ही बता चुके हैं। आस्तिक शब्द की परिभाषा यही मानी जाती है कि 'अस्ति इति स्थिरा मतिर्यस्य स आस्तिकः' अर्थात्, है इस प्रकार की स्थिर धारणा जिसकी हो, वही

आस्तिक है। एक बात और ज्ञातव्य है कि जो आस्तिक तार्किक हैं, उनकी श्रद्धा श्रुति के विषय में मन्द ही रहती है। इनकी अपेक्षा भी माध्वेयरों की श्रद्धा श्रुति के विषय में अत्यन्त मन्द होती है। ये लोग नास्तिकों की तरह ऐसा नहीं कहते कि श्रुति अप्रमाण है परन्तु उदासीन के जैसा अपने विरुद्ध श्रुति का अर्थ गौण मानकर भी अपने अनुकूल लगाने की चेष्टा नहीं करते। दूसरे शब्दों में, अपने मत के विरुद्ध श्रुति का समन्वय करने की चेष्टा भी नहीं करते। इनकी अपेक्षा नैयायिकों और वैशेषिकों की श्रद्धा श्रुति के विषय में अधिक देखी जाती है। क्योंकि, जो श्रुति इनके मत के विरुद्ध प्रतीत होती है उसको गौणार्थ मानकर अपने सिद्धान्त के अनुसार श्रुति के अर्थ करने में इनकी प्रवृत्ति देखी जाती है। श्रुति में मन्द श्रद्धावाले तार्किक सांख्य और पातञ्जल हैं। ये लोग अनुमान से सिद्ध प्रकृति को श्रुति के अनुकूल सिद्ध करने के लिए 'अजामेकाम्' इत्यादि श्रुति को अपने पक्ष के अनुसार योजित करते हैं। नैयायिक आदि की अपेक्षा श्रुति में इनकी अधिक श्रद्धा है।

ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड के भेद से श्रुति के द्वैविध्य के कारण श्रौत भी दो प्रकार के होते हैं। कर्मकाण्ड की अधिकता और ज्ञानकाण्ड की अल्पता के कारण श्रुति का मुख्य प्रतिपाद्य विषय कर्म ही है, ऐसा प्रतीत होता है। ज्ञानकाण्ड कर्मकाण्ड के अङ्ग होने के कारण कर्म का उपयोगी मात्र होता है। कर्मकाण्ड अङ्ग और ज्ञानकाण्ड अङ्गी इस प्रकार की जो विपरीत कल्पना करते हैं, वह युक्त नहीं है। कारण यह है कि अङ्गी की अपेक्षा अङ्ग की अधिकता दोषावह होती है। इसलिए, यह सिद्ध होता है कि कर्मकाण्ड अधिक होने से अङ्गी और ज्ञानकाण्ड अल्प होने से अङ्ग है। इस प्रकार ज्ञान की अपेक्षा कर्म को ही प्रधान माननेवाले श्रौत मीमांसक कहे जाते हैं। इनसे भिन्न जो वेदान्ती श्रौत हैं वे ज्ञान की अपेक्षा कर्मकाण्ड की प्रधानता को उचित नहीं समझते। क्योंकि मनुष्यों की बुद्धि को सन्मार्ग में प्रवृत्त करना ही श्रुतियों का प्रधान ध्येय रहता है। कर्म में तो मनुष्य-मात्र की प्रवृत्ति नैसर्गिक ही है। ज्ञान में बुद्धि को हठात् प्रवृत्त करना कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव-सा है। इसलिए जब कर्म और उपासना के द्वारा चित्त की शुद्धि हो जाती है तभी मनुष्य ज्ञान-मार्ग का अधिकारी होता है अन्यथा नहीं। इसलिए कर्मरूपी अङ्ग का ज्ञान की अपेक्षा अधिक विस्तार होने पर भी कुछ दोष नहीं होता। क्योंकि फलमुख गौरव दोषावह नहीं होता है— 'फलमुखगौरवमदोषत्वम्' यह सर्वसिद्धान्त है।

वेदान्तियों में भी दो मत प्रचलित हैं—द्वैतवाद और अद्वैतवाद। माध्वाचार्य और रामानुजाचार्य द्वैतवादी हैं। रामानुजाचार्य यद्यपि चिदचिद्विशिष्ट परमात्मा को शरीर शरीरी भाव से अद्वैत मानते हैं तथापि जीव और परमात्मा में तथा आत्मा और अनात्मा में भेद मानने के कारण द्वैतवादी माने जाते हैं। माध्वाचार्य तो स्पष्ट द्वैतवादी हैं। शङ्कराचार्य अद्वैतवादी हैं ये विवर्तवाद के आधार पर अद्वैतवाद का व्यवस्थापन करते हैं। इसी प्रकार, पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक वल्लभाचार्य शुद्धाद्वैत माने जाते हैं। मालूम होता है विशिष्ट द्वैत के प्रतिद्वन्द्वी भाव से 'शुद्धाद्वैत' शब्द का प्रयोग किया गया है। पाश्चिनीय लोग तो विवर्तवाद मानते ही हैं इससे इनके स्पष्ट अद्वैतवादी

होने में सन्देह नहीं है। निम्बार्काचार्य द्वैत और अद्वैत दोनों स्वीकार करते हैं, इसलिए 'द्वैताद्वैतवादी' कहे जाते हैं। इस प्रकार, दार्शनिकों में तारतम्य दिखाकर भारतवर्ष में कितने दार्शनिक हुए, और उनका क्या सिद्धान्त है इत्यादि बातों के ज्ञान के लिए संक्षेप में उनके परिचय दिये जाते हैं।

भारतीय दर्शनकार

भारतवर्ष में दो प्रकार के दर्शनकार हुए हैं—एक नास्तिक दूसरा आस्तिक। नास्तिकों में भी दो भेद हैं—एक प्रत्यक्षिक दूसरा तार्किक। प्रत्यक्षिक जो केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं चार्वाक हैं। तार्किक नास्तिकों में भी दो भेद हैं—एक क्षणिकवादी दूसरा स्याद्वादी। क्षणिकवादी बौद्ध हैं और स्याद्वादी जैन। आस्तिक भी दो प्रकार के हुए हैं—एक निर्गुण आत्मवादी दूसरा सगुण आत्मवादी। सगुणात्मवादी भी दो प्रकार के हुए हैं—एक तार्किक दूसरा श्रौत। तार्किक भी दो प्रकार के हैं—एक प्रच्छन्न तार्किक; दूसरा स्पष्ट तार्किक।

प्रच्छन्न तार्किक भी दो प्रकार के हैं—एक प्रच्छन्न द्वैतवादी, दूसरा स्पष्ट द्वैतवादी। रामानुज-सम्प्रदाय के लोग प्रच्छन्न द्वैतवादी हैं। विशिष्ट अद्वैतवादी जीव और ईश्वर में भेद मानते हैं। माध्व लोग स्पष्ट द्वैतवादी हैं। वे किसी प्रकार भी अद्वैत नहीं मानते। स्पष्ट तार्किक भी दो प्रकार के हैं—एक भोग-साधन प्रपञ्चवादी, दूसरा उत्पत्ति-साधन प्रपञ्चवादी। भोग साधन प्रपञ्चवादी भी दो प्रकार के हैं—एक विदेह मुक्तिवादी, दूसरा जीवन्मुक्तिवादी। विदेह मुक्तिवादी भी दो प्रकार के होते हैं—आत्मभेदवादी और आत्मैक्यवादी। आत्मभेदवादी भी दो प्रकार के हैं—कर्म निरपेक्ष ईश्वरवादी और कर्म सापेक्ष ईश्वरवादी। कर्म निरपेक्ष ईश्वरवादी नकुलीश पाशुपत हैं और कर्म-सापेक्ष ईश्वरवादी शैव हैं। प्रत्यभिज्ञादर्शी आत्मैक्यवादी हैं। रसेश्वर जीवन्मुक्तिवादी हैं। उत्पत्तिसाधन प्रपञ्चवादी भी दो प्रकार के हैं—एक शब्द को प्रमाण माननेवाले दूसरे शब्द-प्रमाण को नहीं माननेवाले। शब्द प्रमाण को नहीं माननेवाले वैशेषिक और शब्द-प्रमाण को माननेवाले नैयायिक हैं।

श्रौत भी दो प्रकार के होते हैं—एक वाक्यार्थवादी, दूसरे पदार्थवादी। वाक्यार्थवादी मीमांसक और पदार्थवादी वैयाकरण हैं। निर्गुणात्मवादी भी दो प्रकार के हैं—एक तार्किक दूसरा श्रौत। तार्किक भी दो प्रकार के हैं—निरीश्वर और सेश्वर। सांख्य निरीश्वरवादी और पातञ्जल ईश्वरवादी हैं। शाङ्कर अद्वैतवादी हैं। इस प्रकार, सोलह दर्शनकारों का जिनमें सोलह दर्शनकारों के मत का विवेचन 'सर्वदर्शन' में सायण माधवाचार्य ने भलीभाँति किया गया है अपर दर्शन में किया गया। इसके बाद कौन दर्शन किस दर्शन की अपेक्षा सम्मानित है यह दिखाया जायगा।

दर्शन-तारतम्य विचार

इस विषय में पहले यह बात जान लेनी चाहिए कि विचार-स्थल में जिस दर्शन में सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तत्त्व का जितनी ही अधिक सूक्ष्मदर्शिका बुद्धि से अनुसन्धान किया गया है वही दर्शन उत्कृष्ट अर्थात् सम्मानित माना जाता है। पूर्व में आस्तिक

और आस्तिक-भेद से दो प्रकार के दर्शन बता चुके हैं। नास्तिकों की अपेक्षा आस्तिक-दर्शन को सब लोग अभ्यर्हित मानते हैं। इसका कारण आगे बताया जायगा। पहले नास्तिकों का तारतम्य बताया जाता है।

नास्तिकों में सबसे स्थूल विचारवाले लौकायतिक अर्थात् चार्वाक माने जाते हैं। कारण यह है कि समस्त सांसारिक व्यवहार का निर्वाहक जो अनुमान है उसको भी ये लोग प्रमाण नहीं मानते। प्रत्यक्ष अनुभूयमान जो पृथिवी जल तेज और वायु—ये चार तत्त्व हैं इन्हींको ये लोग मूलतत्त्व मानते हैं। वातायन-सूर्य-मरीचि में प्रत्यक्ष दृश्यमान जो रज के कण हैं, वही इनके मत में परमाणु माने जाते हैं। वह प्रत्यक्ष की पराकाष्ठा है। इनके मत में प्रत्यक्ष विषय से भिन्न कोई तत्त्व ही नहीं है। इसलिए, सब दर्शनों की अपेक्षा चार्वाक-दर्शन निम्न कोटि का माना जाता है। यहाँ तक कि ब्रह्मसूत्रकार व्यासदेव ने खण्डनीय मानकर भी इनके मत का उल्लेख नहीं किया। इसीलिए, सब दर्शनकार इनको हेय दृष्टि से देखते हैं। चार्वाकों की अपेक्षा बौद्ध दर्शन अभ्यर्हित माना जाता है। क्योंकि ये लोग भूतों को मूलतत्त्व न मानकर चार भूतों के परमाणु को ही मूलतत्त्व मानते हैं।

एक बात और है कि बौद्ध लोग वातायन की मरीचि में रहनेवाले रज के कणों को ही परमाणु नहीं मानते, जैसा कि चार्वाकों ने माना है किन्तु उन रजकणों के सूक्ष्म अवयवों को ही ये लोग परमाणु मानते हैं। क्योंकि मरीचिस्थ जो रज के कण हैं, वे प्रत्यक्ष दृश्यमान होने से संघात रूप होते हैं और संघात सावयव ही होता है और जो सावयव होता है वह परमाणु नहीं हो सकता इसलिए उनके निरवयव जो अवयव हैं, वे ही परमाणु शब्द के वाच्य हो सकते हैं। सूर्यमरीचिस्थ रज के कणों को अपनी सूक्ष्मेक्षिका से अनुमान द्वारा सावयव अनुसन्धान करने के कारण ही ये लोग चार्वाकों की अपेक्षा अभ्यर्हित माने जाते हैं। ये लोग आकाश को तत्त्वान्तर नहीं मानते। इनका कहना है कि पृथिवी आदि का अभाव-रूप ही आकाश है, भाव-रूप तत्त्वान्तर नहीं है। बौद्धों में भी चार भेद हैं—माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक—इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ माना जाता है। क्योंकि सर्वसाधारण के अनुभवारूढ जो आभ्यन्तर और बाह्य पदार्थ हैं माध्यमिक लोग शून्य मानकर उनका अपलाप करते हैं। 'सर्वं शून्यं शून्यम्' इनका परम सिद्धान्त है। इनकी अपेक्षा योगाचार का मत श्रेष्ठ माना गया है। क्योंकि बाह्य घट-पटादि पदार्थों का अपलाप करने पर भी उनके आभ्यन्तर अर्थ को ये लोग मानते हैं। इनका यह सिद्धान्त है कि आभ्यन्तर जो ज्ञान है, वही बाह्य घट-पटादि के आकार में भासित होता है। इनकी अपेक्षा भी सौत्रान्तिकों का दर्शन श्रेष्ठ माना जाता है, क्योंकि ये लोग बाह्य घटादि अर्थ को भी वस्तुतः स्वीकार करते हैं। किन्तु इनका भी कहना है कि बाह्य वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता किन्तु अनुमान से सिद्ध होने के कारण बाह्य वस्तु अनुमेय ही होती है। इसलिए, वैभाषिकों का मत इनकी अपेक्षा अभ्यर्हित माना जाता है। क्योंकि वैभाषिक लोग बाह्य अर्थ का भी प्रत्यक्ष मानते हैं। बाह्य घट, पट आदि अर्थ प्रत्यक्ष हैं—यह आबालवृद्ध सकल जनों का

प्रसिद्ध अनुमान है। इसलिए बाह्य अर्थ का प्रत्यक्ष मानना अथवा प्रत्यक्ष मानना या अनुमेय मानना अथवा आत्मव्यतिरिक्त असत्त्व मानना, यह सब प्रतीति के विरुद्ध होने के कारण परमार्थतः उपेक्ष्य हैं। क्योंकि, कल्पना प्रतीति का अनुसरण करती है प्रतीति कल्पना का अनुसरण नहीं करती।

इन चार प्रकार के बौद्धों की अपेक्षा जैनों का मत अभ्यर्हित माना जाता है। जैन लोग अपनी सूक्ष्मेक्षिका से आकाश का भी तत्त्वान्तर मानते हैं। बौद्धों की तरह वे आकाश को अभाव-स्वरूप नहीं मानते। बौद्धों की अपेक्षा जैनों में एक विशेषता और भी है कि इन लोगों ने मूलभूत परमाणु एक स्वरूप ही है इस प्रकार तर्क-बल से अनुसन्धान कर निश्चय किया है। बौद्धों की तरह पृथिवी आदि के भेद से ये चार प्रकार के मूलतत्त्व नहीं मानते। पृथिवी आदि भेद तो पृथिवी से घट आदि की तरह बाद में होता है। इनके मत में किसी वस्तु के सम्बन्ध में यह ऐसा ही है इस प्रकार का निश्चय नहीं कर सकते। इनके मत में सब कुछ अनेकान्त अर्थात्, अनिश्चित ही है। इसीलिए ये लोग अनैकान्तिक या स्याद्वादी कहे जाते हैं। इस प्रकार, चार्वाक से जैन पर्यन्त छह दर्शनों का संक्षेप से तारतम्य दिखाकर आस्तिक दर्शनकारों का भी तारतम्य दिखाया जाता है।

इसके पहले 'आस्तिक' और 'नास्तिक' शब्दों का वाच्य अर्थ क्या है इसके ऊपर भी विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। 'अस्ति इति मतिर्यस्य स आस्तिकः' और 'नास्ति इति मतिर्यस्य स नास्तिकः' इस व्युत्पत्ति से यही अर्थ प्रतीत होता है कि अस्ति — अर्थात् है इस प्रकार जिसकी मति है वह आस्तिक और 'नास्ति' नहीं है इस प्रकार की जिसकी मति है वह नास्तिक कहा जाता है। दूसरे शब्दों में यही नास्तिक और आस्तिक शब्दों का वाच्य अर्थ है। परन्तु ऐसा अर्थ करने पर भी सन्देह बना ही रहता है कि अस्ति का कर्ता कौन है? अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः —इस सूत्र में जिससे आस्तिकः नास्तिकः, दैष्टिकः इन प्रयोगों की सिद्धि होती है निर्दिष्ट मति को ही यदि कर्ता मान लें तब तो यह अर्थ होगा कि मति है जिसकी वह आस्तिक और मति नहीं है जिसकी, वह नास्तिक। इस स्थिति में चोर आदि भी आस्तिक कहाने लगेंगे। केवल पाषाण आदि अचेतन ही नास्तिक होंगे जिनकी मति नहीं है। इसी दोष का वारण करने के लिए पतञ्जलि ने महाभाष्य में कहा है—'इति लोपोऽत्र द्रष्टव्यः' अर्थात् सूत्र में 'इति' शब्द भी है जिसका लोप हुआ है। इस 'इति' शब्द के स्मरण से यह अर्थ होता है कि अस्ति है इति इस प्रकार की मति बुद्धि है जिसकी वह आस्तिक है और इसके विपरीत नास्तिक। इसमें पर भी सन्देह रह जाता है कि अस्ति का कर्ता कौन है? यदि लौकिक दृश्यमान घट पट आदि पदार्थों को ही 'अस्ति' का कर्ता मान लें तब तो सब लोग ही आस्तिक हो जायेंगे नास्तिक कोई नहीं होगा; क्योंकि लौकिक पदार्थों का अस्तित्व सभी कोई मानते हैं। इसलिए, अस्ति का कर्ता लौकिक पदार्थ कभी नहीं हो सकता बल्कि परलोक या पारलौकिक पदार्थ ही अस्ति का कर्ता हो सकता है। इसी अभिप्राय से

उपर्युक्त सूत्र के भाष्य की व्याख्या में कैयट ने स्पष्ट लिखा है—'परलोककर्तृ का सत्ताऽत्र ज्ञेया'—अर्थात् इस अस्ति का कर्त्ता परलोक ही हो सकता है दूसरा नहीं।

इससे यही सिद्ध होता है कि परलोक है इस प्रकार की मति हो जिसकी, वह है आस्तिक और परलोक नहीं है, इस प्रकार जिसकी मति हो वह है नास्तिक। इस प्रकार अर्थ करने से परलोक नहीं माननेवाले चार्वाक आदि ही दर्शनकार नास्तिक कहे जाते हैं और इनके अतिरिक्त सब दर्शनकार परलोक की सत्ता मानते हैं जो आस्तिक कहे जाते हैं। तात्पर्य यह है कि भूत और भौतिक जिसमें प्रतीयमान पदार्थ हैं, उनके अस्तित्व में तो किसी का भी विवाद नहीं है। इसलिए, उसको यदि अस्ति का कर्त्ता मानते हैं तब तो 'नास्तिक' शब्द का कोई भी विषय नहीं रह जायगा। क्योंकि भौतिक पदार्थों को नहीं माननेवाला कोई भी चार्वाक आदि में नहीं है। इसलिए दृश्यमान पदार्थों से भिन्न अदृश्यमान परलोक ही अस्ति का कर्त्ता सम्भावित है।

अथवा 'अस्ति, नास्ति' इत्यादि सूत्र में अस्ति का कर्त्ता भी अस्ति ही हो सकता है। अर्थात्, सूत्र में अस्ति पद की आवृत्ति से अस्ति; अर्थात् त्रिकालाबाध्य सत् पदार्थ अस्ति अर्थात् है ऐसी मति हो जिसकी वह है आस्तिक। इसके विपरीत है नास्तिक।

त्रिकालाबाध्य, अर्थात् जिसका तीनों काल में बाध न हो ऐसे सत् पद के अर्थ में 'अस्ति' अव्यय प्रसिद्ध है। 'अस्ति क्षीरा गौ' इस उदाहरण में अस्ति का विद्यमान ही अर्थ होता है। इसके अतिरिक्त 'अस्ति सिचोऽपृक्ते' इस पाणिनि-सूत्र में भी अनुप्य मानार्थक अस्ति का प्रयोग किया गया है। श्रुति-स्मृति-लोक-व्यवहार से भी यही प्रतीत होता है कि परलोक ईश्वर वेद का प्रामाण्य माननेवाले ही आस्तिक कहे जाते हैं और नहीं माननेवाले नास्तिक। अब पूर्व प्रतिज्ञात आस्तिकों में तारतम्य दिखाया जाता है।

आस्तिक-दर्शन

आस्तिकों के दो भेद पहले ही बताये जा चुके हैं—एक श्रौत दूसरा तार्किक। जो मूलतत्त्व के अनुसन्धान में श्रुति को ही प्रधान साधन मानते हैं वे श्रौत कहे जाते हैं। जो दार्शनिक तर्कोपस्कृत अनुमान को ही मूलतत्त्व के अन्वेषण में प्रधान साधन मानते हैं वे तार्किक कहे जाते हैं। तार्किकों की अपेक्षा श्रौत दर्शनकार *अभ्यर्हित माने जाते हैं और तार्किक निम्न कोटि के। इसका कारण यही है कि* अविदग्ध मूलतत्त्व के विषय में, वह ऐसा ही है इस प्रकार का निश्चय केवल तर्क की सहायता से कोई नहीं कर सकता है। क्योंकि 'तर्कोऽप्रतिष्ठः' तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है। कारण यह है कि मनुष्य-बुद्धि के अनुसार ही तर्क हुआ करता है। बुद्धि में तारतम्य होने के कारण एक तर्क दूसरे तर्क से कट जाता है। श्रुति में यह बात नहीं है। अपौरुषेय या ईश्वर प्रणीत श्रुति में मनुष्योचित दोष की सम्भावना ही नहीं है। विशेषतः अदृष्ट पदार्थों के विषय में श्रुति ही मार्ग-प्रदर्शिका होती है। तर्क से सत्य मूलतत्त्व का ही अनुसन्धान होगा यह निश्चय नहीं किया जा सकता। एक बात और भी कह सकते हैं कि मनुष्य की बुद्धि की सीमा होती है और जिसकी सीमा नहीं है, उस

निस्सीम आत्मतत्त्व या ईश्वर-तत्त्व का ज्ञान कराने में अनुमान किसी प्रकार भी सफल नहीं हो सकता। अतएव श्रुति का प्रकाश नहीं मिलता।

आस्तिक दर्शनकारों में यद्यपि कोई भी श्रुति को अप्रमाण नहीं मानता पर तो भी कोई श्रुति को मुख्य और तर्क को गौण मानता है और कोई तर्क को ही मुख्य और श्रुति को गौण मानता है। जिसकी जिसमें विशेष श्रद्धा है वह उसी को प्रधान मानता है इतर को गौण। रामानुजाचार्य और माध्वाचार्य श्रुति को पूर्ण प्रमाण मानते हैं परन्तु कहीं अनुमान को भी अधिक प्रश्रय देते हैं। रामानुजाचार्य का यह सिद्धान्त प्रतीत होता है कि श्रुति से सिद्ध जो अर्थ है वह अनुमान से भी अवश्य सिद्ध होता है। इन्होंने कहीं पर भी श्रुति की अवहेलना नहीं की है। सर्वदर्शन संग्रह के टीकाकार सिद्धान्तवाक्य अभ्यङ्कर जी ने अपनी भूमिका में अप्रबुद्ध तार्किक कहकर रामानुजाचार्य की जो अवहेलना की है वह उसी प्रकार है जिस प्रकार प्रच्छन्न बौद्ध कहकर शङ्कराचार्य की अवहेलना की गई है। वास्तव में रामानुजाचार्य उसी प्रकार मान्य और सम्मानित हैं, जिस प्रकार शङ्कराचार्य। इसलिए, अन्य दर्शनों की अपेक्षा जिस प्रकार शाङ्कर दर्शन सम्मानित और मूर्धन्य माना जाता है उसी प्रकार रामानुज-दर्शन भी मूर्धन्य और सम्मानित है इसमें कोई सन्देह नहीं। दो-एक विषयों में शाङ्कर दर्शन और रामानुज-दर्शन में गहरा मतभेद पाया जाता है। इसी के कारण दोनों के अनुयायियों ने परस्पर कीचड़ उछालने का प्रयत्न किया है। वास्तव में यह उचित नहीं है। उचित तो यह था कि दोनों मिलकर परस्पर सामञ्जस्य स्थापित करते।

प्रकृत में आस्तिक दर्शनों में श्रुति को अप्रमाण किसी ने भी नहीं माना है यह पहले भी बताया जा चुका है। तो भी मूलतत्त्व के अन्वेषण में किसी ने श्रुति के ही आधार पर अनुसन्धान किया है और किसी ने श्रुति की सहायता से अनुमान के द्वारा। और, किसी ने श्रुति की सहायता न लेकर भी केवल अनुमान के द्वारा ही मूलतत्त्व का अनुसन्धान किया है। इस प्रकार माहेश्वर दर्शनकारों ने अनुमान के बल पर ही मूलतत्त्व का अन्वेषण किया है। माहेश्वरों में भी चार भेद पाये जाते हैं— शैव नकुलीश पाशुपत प्रत्यभिज्ञावादी और रसेश्वरवादी। इन लोगों में प्रायः बहुत ऐकमत्य है और भेद बहुत कम। रसेश्वरवादी जीवन्मुक्ति में बहुत अभिनिविष्ट हैं। प्रत्यभिज्ञावादी जीव और ईश्वर में भेद नहीं मानते। अर्थात्, दोनों को एक ही मानते हैं। नकुलीश पाशुपत जगत् की सृष्टि में ईश्वर को कर्म सापेक्ष नहीं मानते। क्योंकि कर्म-सापेक्ष मानने पर ईश्वर की स्वतन्त्रता ही नष्ट हो जाती है। परन्तु कर्म-सापेक्ष न मानने में ईश्वर में वैषम्य नैर्घृण्य आदि दोष हो जाते हैं इसलिए कर्म सापेक्ष ईश्वर को मानना आवश्यक हो जाता है।

इन चार प्रकार के माहेश्वरों में तत्त्वों के विषय में प्रायः ऐकमत्य रहता है। केवल इनमें नकुलीश पाशुपत ईश्वर को कर्म निरपेक्ष मानते हैं। अर्थात्, सृष्टि में परमात्मा स्वतन्त्र है वह कर्म की अपेक्षा नहीं रखता यह इनकी मान्यता है। इनके अतिरिक्त और साम्य ऐसा नहीं मानते। प्रत्यभिज्ञावादी से भिन्न माहेश्वरानुयायी और

और ईश्वर में भेद मानते हैं। इन लोगों में तारतम्य नहीं है बराबर है। इनके अतिरिक्त न्याय वैशेषिक सांख्य और पातञ्जल हैं वे यद्यपि तार्किक हो हैं तथापि माहेश्वरों की अपेक्षा इनकी श्रुति में विशेष श्रद्धा रहती है। इसलिए, माहेश्वरों की अपेक्षा ये अभ्यर्हित माने जाते हैं।

वैशेषिक-दर्शन की अपेक्षा न्याय-दर्शन को ही लोग अभ्यर्हित मानते हैं। क्योंकि, वैशेषिक लोग शब्द को प्रमाण नहीं मानते। इनका कहना है कि श्रुति का प्रामाण्य तो अनुमान से ही सिद्ध किया जाता है। इसलिए अनुमान से ही श्रुति गतार्थ है। केवल अनुमान का साधनीभूत जो अर्थ है उसी को श्रुति उपस्थापित करती है। इसलिए, शब्द इनके मत में स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना जाता। नैयायिकों के दर्शन में शब्द को भी स्वतन्त्र प्रमाणान्तर माना गया है। वैशेषिकों की अपेक्षा श्रुति में अधिक श्रद्धा रखने के कारण ही न्याय दर्शन को अभ्यर्हित माना गया है। उक्त चार माहेश्वरों से न्याय वैशेषिक, सांख्य और योग-दर्शन अभ्यर्हित माना जाता है। इसका कारण तो कहा ही चुके हैं। अब न्याय-वैशेषिक की अपेक्षा सांख्य-योग को अभ्यर्हित माना जाता है इसका कारण क्या है यह विचार करना है। नैयायिक और वैशेषिक ने अनुमान के बल से जगत् का मूल कारण परमाणु को स्थिर किया है परन्तु परमाणु का भी कोई कारण है यह बात इनके अनुमान में नहीं आई। सांख्य और पातञ्जल ने अनुमान से ही परमाणु के भी कारण त्रिगुणात्मक प्रकृति को खोज निकाला। यहाँ तक नैयायिकों और वैशेषिकों की पहुँच नहीं हो पाई थी। इसीलिए, सांख्य-पातञ्जल की अपेक्षा इनका दर्शन निम्नकोटि का माना जाता है।

सांख्य और पातञ्जल परमाणु को भी अनित्य मानते हैं और अनुमान के ही बल से उन्होंने त्रिगुणात्मक प्रकृति को जगत् का मूल कारण स्थिर किया है। इसके अतिरिक्त ये लोग आत्मा को ज्ञान-स्वरूप मानते हैं। नैयायिक और वैशेषिक आत्मा को जड़ ही मानते हैं। यह पहले भी बताया गया है। इन्हीं सब कारणों से सांख्य और पातञ्जल-दर्शन को नैयायिक और वैशेषिक-दर्शन की अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाता है। पाणिनीय और जैमिनि-दर्शन विशुद्ध श्रौत-दर्शन है इसलिए उनकी अपेक्षा इनको अभ्यर्हित माना जाता है। नैयायिकों की अपेक्षा तत्त्व के अनुसन्धान में भी ये लोग आगे बढ़े हैं। क्योंकि आकाश से भी पर आकाश के कारणीभूत शब्द ब्रह्म का इन लोगों ने अनुसन्धान किया है।

पृथिवी, अप्, तेज और वायु के जो परमाणु हैं उनमें क्रमशः पूर्व-पूर्व के प्रति उत्तरोत्तर परमाणुओं के कारणत्व को पाणिनीयों और जैमिनियों ने स्वीकार किया है। नैयायिक लोग तर्क के बल से तत्त्व का अनुसन्धान करते हुए भी परमाणु के कारण का अनुसन्धान नहीं कर सके अस्तु परमाणु को नित्य ही मानते हैं। इनमें भी जैमिनियों की अपेक्षा पाणिनीय अभ्यर्हित माने जाते हैं। कारण यह है कि जैमिनियों का उपजीव्य व्याकरण ही है। क्योंकि व्याकरण से सिद्ध प्रकृति प्रत्यय के विभाग का अवलम्बन कर जैमिनीय केवल वाक्यार्थ का ही विचार करते हैं। और यह, व्याकरण की श्रेष्ठता के विषय में इन्होंने अच्छा विचार कर प्रतिपादन किया है—

पृथिवी पर सबसे पवित्र जल है जल से भी पवित्र मन्त्र हैं और ऋग्, यजु, साम इन त्रिवेदी मन्त्रों से भी पवित्र व्याकरण है। यथा—

'आपः पवित्रं परमं पृथिव्यामपां पवित्रं परमम् मन्त्राः।
तेषाञ्च सामर्ग्यजुषां पवित्रं महर्षयो व्याकरणं निराहुः॥'

वाक्यपदीय में भर्तृ हरि ने भी व्याकरण को ब्रह्म प्राप्ति का साधन बताया है—'तद्व्याकरणमागम्य परं ब्रह्माधिगम्यते।

सांख्यशास्त्र की भी अपेक्षा व्याकरण-दर्शन अभ्यर्हित है। इसका कारण यही है कि सांख्य शास्त्र अचेतन प्रकृति को ही मूल-कारण मानते हैं और व्याकरण दर्शन शब्द ब्रह्म को जिसको स्फोट ब्रह्म भी कहते हैं मूल-कारण मानता है। यह शब्द ब्रह्म चेतन और कूटस्थ नित्य है इसी का विवर्त अखिल प्रपञ्च है। यह शब्द ब्रह्म प्रकृति से भी परे अनादि और अनन्त है। यही शब्द-ब्रह्म जिसको स्फोट कहते हैं शक्ति-प्रधान होने से वाङ्मय जगत् का और शब्द (अर्थ)-प्रधान होने से अर्थमय जगत् का विवर्तोपादान होता है। भर्तृ हरि ने वाक्यपदीय में स्पष्ट लिखा है—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥

यहाँ शब्द को चेतन कहने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि शब्द चेतन है। शङ्कराचार्य का विवर्तवाद भी इसका अभिमत है। वास्तव में शाङ्कर दर्शन और व्याकरण-दर्शन दोनों समकक्ष हैं। इनमें तारतम्य नहीं है। सर्वदर्शन संग्रह की भूमिका में पण्डितप्रवर अभ्यङ्करजी ने सांख्य दर्शन से व्याकरण दर्शन को निम्न कोटि का बताया है यह सर्वथा अनुचित और स्फोट-तत्त्व के अनभिज्ञत्व का परिचायक है।

इस विषय के अधिक जिज्ञासुओं को हमारा 'शब्द शक्ति-विमर्श' (स्फोटवाद) देखना चाहिए। एक बात प्रायः निर्विवाद सी है कि आत्ममीमांसा के विषय में शाङ्कर दर्शन जो विवर्तवाद को मानता है सब दर्शनों का मूर्धन्य भीत दर्शन है। इस स्थिति में चार्वाक से लेकर अन्य सब दर्शनों में जो दर्शन शाङ्कर दर्शन के जितने सन्निकट अर्थात् नजदीक है वह उतना ही अभ्यर्हित माना जाता है। शङ्कराचार्य का मुख्य सिद्धान्त विवर्तवाद है। विवर्तवाद आत्मा के स्वरूप को देह से भिन्न अलौकिक कूटस्थ नित्य निर्विकार बोधस्वरूप अवाङ्मनसगोचर, ईश्वर अनादि-पदवाच्य कर्तृ त्व-भोक्तृत्वादि रहित अखण्ड और निर्विशेष मानता है। इस स्थिति में शाङ्कर दर्शन के सबसे नजदीक व्याकरण-दर्शन ही आता है। इसका कारण यही है कि शङ्कराचार्य का मुख्य सिद्धान्त विवर्तवाद है। व्याकरण-दर्शन से भिन्न कोई भी दर्शन विवर्तवाद का समर्थन नहीं करता है। आत्मा के कूटस्थ नित्यत्व आदि के विषय में भी यही बात है। सांख्य दर्शन ने तो विवर्तवाद के प्रतिकूल परिणामवाद को ही माना है। इसके अतिरिक्त शाङ्कर मत के विरुद्ध आत्मा में परस्पर भेद भी माना है। इसलिए भी, सांख्य-दर्शन को शाङ्कर दर्शन के सिद्धान्त के समीप होने से व्याकरण-दर्शन की अपेक्षा जो श्रेष्ठ बताया गया है वह भी सर्वथा अनुचित है। बल्कि यह कहने में भी

कोई आपत्ति नहीं दीख पड़ती कि शङ्कराचार्य का जो विवर्तवाद मुख्य सिद्धान्त है, उसका उपजीव्य व्याकरण-दर्शन ही है।

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि शाङ्कर दर्शन का व्याकरण-दर्शन के साथ जितना सामञ्जस्य है उतना और किसी के साथ नहीं। परन्तु, आत्ममीमांसा के विषय में शाङ्कर दर्शन सबसे बाजी मार ले जाता है, जब कि व्याकरण-दर्शन का मुख्य उद्देश्य पदार्थ-मीमांसा ही है।

शास्त्रकारों का उद्देश्य

प्रायः सब शास्त्रकारों का उद्देश्य साक्षात् या परम्परया अद्वैत ब्रह्म के बोध कराने में ही सफल होता है। क्योंकि शास्त्रकार लोग साधारण जन की तरह भ्रान्त नहीं होते। स्वभावतः लोगों की उन्मार्ग में प्रवृत्ति होती रहती है उसके वारण के लिए ही शास्त्र की रचना में उनकी प्रवृत्ति होती है। यह समान उद्देश्य सब शास्त्रकारों का है। बादरायण और जैमिनि प्रभृति सूत्रकारों और शङ्कराचार्य, शबरस्वामी आदि भाष्यकारों की भी शास्त्र-रचना में इसी उद्देश्य से प्रवृत्ति हुई है।

अद्वैत-मत में कर्म की अपेक्षा

कोई-कोई सन्देह करते हैं कि शङ्कराचार्य नास्तिकों की तरह कर्म के विरोधी हैं परन्तु उनका यह कहना उचित नहीं प्रतीत होता है क्योंकि चित्त शुद्धि के लिए वे कर्म को अवश्य कर्त्तव्य मानते हैं। इनके कहने का तात्पर्य यही होता है कि चित्त की शुद्धि निष्काम कर्म से ही होती है सकाम कर्म से नहीं। कारण यह है कि सकाम कर्म से चित्त में राग ही पैदा होता है। और राग एक प्रकार का मल ही है इसलिए सकाम कर्म से चित्त निर्मल कभी नहीं हो सकता। इसलिए निष्काम कर्म ही चित्तशुद्धि के लिए आवश्यक है। यदि यह कहें कि निष्काम कर्म की कर्त्तव्यता को वे स्वीकार करते हैं तो निष्कर्मवादी क्यों कहे जाते? इसका उत्तर यही हो सकता है कि कर्म का त्याग करना चाहिए, इस बुद्धि से कोई भी कर्म का त्याग नहीं करता किन्तु निद्रावस्था में स्वभाव से ही कर्म का त्याग हो जाता है। वहाँ किसी का भी यह सङ्कल्प नहीं होता कि मैं कर्म का त्याग करता हूँ और, वह कर्म-त्याग के लिए कोई प्रयत्न भी नहीं करता है।

किन्तु, कर्म का मूल जो देहाभिमान है उसका अभाव हो जाने पर स्वभाव से ही उस समय कर्म का त्याग हो जाता है। उस समय मनुष्य कर्म को नहीं छोड़ता किन्तु कर्म ही मनुष्य को छोड़ देता है इसीका नाम नैष्कर्म्यावस्था है। इस अवस्था की प्राप्ति के लिए निष्काम कर्म की अवश्यकर्त्तव्यता का विधान आचार्यों ने किया है। जिस प्रकार काँटे से काँटा निकाला जाता है—'कण्टकं कण्टकेन निराकुर्यात्'; इसी प्रकार निष्काम कर्म के द्वारा ही देहाभिमान को हटाया जा सकता है जिससे नैष्कर्म्यावस्था की प्राप्ति सम्भव है। इस अवस्था की प्राप्ति-पर्यन्त निष्काम कर्म की परम आवश्यकता होने के कारण ही भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कर्म में ही प्रवृत्त कराया है। एक बात और भी ध्यान में रखना चाहिए कि केवल निष्काम

कर्म से ही मनुष्य-जीवन की कृतार्थता नहीं होती, किन्तु आत्मज्ञान में ही कृतार्थता है। इसीलिए भगवान् ने गीता में कहा है—

'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते ।'

हे अर्जुन ! समस्त कर्म ज्ञान में ही समाप्त होते हैं। तात्पर्य यही है कि समस्त कर्तव्य कर्मों का फल आत्मा का ज्ञान ही होता है। जब निष्काम कर्म से चित्त की शुद्धि होती है उस समय अधिकार-प्राप्ति के बाद आत्मज्ञान की ओर मनुष्यों की प्रवृत्ति स्वयम् आगे बढ़ने लगती है। इसी उद्देश्य से भगवान् ने गीता में कहा है— उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः। अर्थात्, चित्त-शुद्धि के बाद आत्मज्ञान का अधिकार प्राप्त होने पर इसी जन्म में या जन्मान्तर में मैं स्वयम् या अन्य कोई भी गुरु तुमको आत्म ज्ञान का उपदेश करेगा ही। यद्यपि भगवान् जानते थे कि बिना आत्म-ज्ञान की कृतार्थता नहीं होती तथापि अर्जुन को निष्काम कर्म में प्रवृत्त कराया ही। इसी प्रकार, शास्त्रकारों ने भी उन सब विभिन्न तत्त्वों का इसी प्रकार से प्रतिपादन किया है कि तत्त्वों का ज्ञान हो जाने पर आत्मज्ञान के अधिकार की प्राप्ति हो जायगी। परन्तु, विभिन्न तत्त्वों के ज्ञान से कृतार्थता हो जायगी, यह आचार्यों का अभिप्राय नहीं है। मनुष्यों की उन्मार्ग में जो नैसर्गिक प्रवृत्ति होती रहती है उसको रोकने के लिए ही विभिन्न लोक-बुद्धि के अनुसार जो कर्तव्य उनके विशुद्ध हृदय में भासित हुए, उन्हीं के अनुसार अपने-अपने शास्त्रों की रचना आचार्यों ने की है।

जिस प्रकार, अनेक रोगों से ग्रस्त किसी रोगी को देखकर चतुर चिकित्सक यही सोचता है कि ये सब रोग अवश्य निवारणीय हैं पर एक ही औषध से सब रोग नहीं छूट सकते और अनेक औषधों का एक काल में प्रयोग भी नहीं हो सकता। कारण उससे अनिष्ट की सम्भावना है। इसलिए, किसी एक प्रधान रोग के निवारण के लिए ही यत्न करना चाहिए। यह सोचकर अवश्यनिवारणीय किसी प्रधान रोग के लिए ही औषध देता है और अन्य रोगों के निवारण में वह उदासीन रहता है इसीसे यह नहीं समझना चाहिए कि और अन्य रोगों के निवारण में वैद्य का तात्पर्य नहीं है। किन्तु प्रधान रोग के निवारण करने पर औरों का उपचार किया जायगा यही उसका अभिप्राय रहता है। अतएव सब रोगों के निवारण में ही वैद्य का तात्पर्य समझा जाता है।

इस प्रकार, प्रकृत में भी, सब शास्त्रकारों का यह तात्पर्य अद्वितीय परमात्म-तत्त्व के प्रतिपादन में ही समझा जाता है। श्रीमधुसूदनसरस्वती ने अपने 'प्रस्थानभेद' में स्पष्ट किया है—

'सर्वेषां मुनीनां विवर्तवाद पर्यवसानेनाद्वितीये परमेश्वर एव तात्पर्यम्। नहि ते मुनयो भ्रान्ताः। सर्वज्ञत्वात्तेषाम्। किन्तु बहिर्विषयप्रवणानामापाततः पुरुषार्थे प्रवेशो न सम्भवतीति नास्तिक्यवारणाय तैः प्रस्थानभेदाः प्रदर्शिताः।

तात्पर्य यह है कि सब मुनियों का विवर्तवाद में ही अन्तिम सिद्धान्त है इसलिए अद्वितीय परमात्म-तत्त्व के प्रतिपादन में ही उनका तात्पर्य समझना चाहिए। वे मुनि लोग भ्रान्त नहीं थे। क्योंकि वे सर्वज्ञ थे। किन्तु बाह्य विषयों में नैसर्गिक प्रवृत्ति के

कारण मनुष्यों का मन सहसा परम पुरुषार्थ में प्रवेश नहीं कर सकता। अतएव उनके नास्तिक्य-वारण के लिए शास्त्रकारों ने प्रस्थान-भेद को दिखलाया है। उन शास्त्रकारों के तात्पर्य को नहीं समझने के कारण ही वेदविरुद्ध अर्थ में ही उनका तात्पर्य समझकर, उसी को उपादेय मानकर वे अनेक विभिन्न मार्गों का अनुसरण करते हैं। यह सर्वसिद्धान्तसिद्ध है कि वेदान्त ही सब शास्त्रों में मूर्धन्य है और सब उसी का प्रपञ्च है। श्रीसरस्वती ने ही कहा है—

वेदान्तशास्त्रमेव सर्वेषां शास्त्राणां मूर्धन्यम्, शास्त्रान्तरं सर्वमस्यैव शेषभूतम्।'

सूत्रकार का औचित्य

वेदान्त-शास्त्र के मूर्धन्य होने में यही कारण है कि भगवान् के अवतार बादरायण परम श्रौताग्रणी थे। मूल कारण के अनुसन्धान में श्रुति के अतिरिक्त और किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं करते थे। वह समझते थे कि तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है। तर्क मनुष्य-बुद्धि के अधीन है और मनुष्य-बुद्धि सीमित है इसलिए अत्यन्त अदृष्ट निस्सीम ब्रह्म-तत्त्व का अनुसन्धान करने के लिए बिना श्रुति की सहायता के वह कभी समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए, 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्' इस सूत्र की रचना बादरायण ने की है। इस सूत्र के बनाने में इनका यही अभिप्राय सूचित होता है कि वास्तविक तत्त्व ज्ञान के लिए श्रुति-प्रमाण पर ही वे निर्भर हैं। सूत्र का अर्थ यह होता है कि जगत् के मूलतत्त्व का ज्ञान एक श्रुति प्रमाण से ही साध्य है। इससे यह सिद्ध होता है कि जगत्कारण के स्वरूप ज्ञान के लिए श्रुति का निश्चय ही सर्वमान्य होना चाहिए। इसका तात्पर्य यह होता है कि श्रुतिप्रतिपादित मूलतत्त्व का स्वरूप यदि लौकिक युक्ति से विरुद्ध हो, तोभी उसको अवश्य मानना चाहिए। ऐसे स्थलों में युक्ति या तर्क की उपेक्षा ही आवश्यक है। इसीमें श्रौतों का श्रौतत्व है। शङ्कराचार्य रामानुजाचार्य और पूर्णप्रज्ञाचार्य—इन तीनों प्रधानाचार्यों के मत में भी सूत्र का यही भाव निकलता है। इन तीनों में भेद इतना ही है कि शङ्कराचार्य अद्वैत और द्वैत-प्रतिपादक श्रुतियों का समन्वय विवर्तवाद मानकर करते हैं। और रामानुजाचार्य शरीर-शरीरी भाव मानकर विशिष्ट अद्वैत में श्रुति का तात्पर्य बताते हैं इसी प्रकार पूर्णप्रज्ञाचार्य द्वैत में और निम्बार्काचार्य द्वैताद्वैत में श्रुति का समन्वय करते हैं।

परन्तु शङ्कराचार्य के विवर्तवाद में श्रुतियों का सामञ्जस्य जिस प्रकार सुगमता से होता है, उस प्रकार और दार्शनिकों के मत में नहीं होता। कोई तो श्रुति को गौण मानते हैं और कोई खींच-तानकर अपने पक्ष में अर्थ लगाने की चेष्टा करते हैं। परन्तु, शङ्कराचार्य ने बुद्धिमान् तार्किकों का भी श्रुति में विश्वास दृढ़ कराने के लिए, विरोध का परिहार किस प्रकार होगा यह सोचकर विवर्तवाद में सब विरोधों का परिहार सरलतापूर्वक किया है। लोक में भी रज्जु का कहीं विवर्त-भ्रम से वास्तव में भेद नहीं रहता और भेद व्यवहार में होता है। इस प्रकार परस्पर दोनों धर्म भेदाभेद और भेद का सामञ्जस्य रहता ही है। वाचस्पतिमिश्र ने भामती-ग्रन्थ में

स्पष्ट लिखा है कि 'न हि श्रुतिविप्रतिपन्ने में वैदिकानां बुद्धिः सिध्यते अपि तु तदुपपादन मार्गमेव विचारयन्ति'। अर्थात्, श्रुतिविप्रतिपादित अर्थ न श्रुति-विरुद्ध होने से वैदिकों की बुद्धि खिन्न नहीं होती किन्तु वह उसके उपपादन मार्ग का ही विचार करती है। इस दिशा में शङ्कराचार्य का मौलिक पराकाष्ठा को पहुँचा-सा प्रतीत होता है। विवर्तवाद के स्वीकार करने पर, प्रतीयमान जो भेद है वह अविद्या कल्पित सिद्ध हो जाता है। अविद्या-कल्पित होने से ही भेद को प्रातिभासिक भी कहते हैं। इस स्थिति में 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' यह छान्दोग्य श्रुति बिना छल्लाप के सुगमता से उपपन्न हो जाती है। इसी बात को सायणाचार्य ने सर्वदर्शन-संग्रह में लिखा है—'परमार्थाविरुद्धो भेदः श्रुत्याद्यद्वितीयत्वोपपादनाय अभिमीयते न तु स्वतन्त्रतया' अर्थात् ब्रह्म की श्रुति-प्रतिपादित अद्वितीयत्व की उपपत्ति के लिए ही भेद को 'प्रातिभासिक' माना गया है कुछ स्वतन्त्रता के कारण नहीं।

विवर्तवाद के स्वीकार करने से निर्विशेष ब्रह्मवाद नैष्कर्म्यवाद जगन्मिथ्यात्ववाद केवल ज्ञान से मोक्ष मोक्ष में सुख दुःख राहित्य ब्रह्म का ज्ञान-स्वरूपत्व ज्ञान का एकत्व और नित्यत्व अविद्यापरिहृत ब्रह्म का कारणत्व ईश्वर-जीव में औपाधिक भेद और मायावाद इत्यादि वाद जो शाङ्कर दर्शन में प्रसिद्ध हैं वे सभी सरलता से उपपन्न हो जाते हैं और श्रुति का स्वारसिक जो अर्थ है वह भी सरलता से उपपन्न हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि श्रुति के अर्थ को सरलता से उपपन्न होने के लिए ही शङ्कराचार्य ने उक्त वादों को स्वीकार किया है। तात्पर्य यह है कि श्रुति के श्रवण-मात्र से स्पष्ट प्रतीयमान जो अर्थ हैं उनकी सङ्गति विवर्त आदि वादों के स्वीकार करने में ही हो सकती है। अन्यथा श्रुति का गौणार्थ मानना आवश्यक हो जायगा। अतएव सूत्रकार श्रौती में अप्रमत्त हैं यह बात सिद्ध हो जाती है।

भाष्यकार की प्रवृत्ति

यह कहा चुके हैं कि सूत्रकार भगवान् बादरायण श्रौतों में अग्रणी हैं। इनके सूत्रों के व्याख्यान में प्रवृत्त जो भाष्यकार हैं उनको चाहिए कि सूत्रों की व्याख्या ऐसी करें कि सूत्रकार के आशय में बाधा न आवे। अर्थात्, उनके श्रौताग्रणी होने में व्याघात न हो। जितने श्रौत दर्शनकार हैं वे सभी श्रुति के श्रवण मात्र से प्रतीयमान जो स्वारसिक अर्थ है उसकी उपेक्षा नहीं करते। बल्कि उसके समर्थन के लिए ही प्रयत्न करते हैं। सामान्य अर्थ भी जो श्रुति से प्रमिलित होता है उसकी भी उपेक्षा श्रौत लोग नहीं करते और स्वारसिक अर्थ के विषय में तो कहना ही क्या है। यदि व्यञ्जना वृत्ति से लभ्य जो व्यङ्ग्य अर्थ है उसका श्रुत्यन्तर से विरोध न हो तो उस विषय में भी उनकी यही विचार धारा रहती है। यदि श्रुत्यन्तर से विरोध हो तो दुर्बल श्रुति का दूसरे अर्थ में तात्पर्य समझा जाता है।

श्रुतियों का बलाबल-विचार

कौन श्रुति दुर्बल है और कौन प्रबल इस विषय में विचार किया जाता है। श्रुति के पाँच प्रकार के अर्थ होते हैं—व्यङ्ग्य लक्ष्य वाच्य मानसिक और स्वारसिक। इन पाँचों में उत्तरोत्तर अर्थ की बाधिका जो श्रुति है वह प्रबल समझी जाती है। और,

पूर्वार्थबोधिका जो श्रुति है, वह दुर्बल समझी जाती है। इनमें व्यंग्य, लक्ष्य और वाच्य तो प्रसिद्ध ही हैं। प्राथमिक और स्वारसिक, ये दोनों वाच्यविशेष ही हैं। जो अर्थ वाक्य-श्रवण मात्र से ही बुद्धि पर आरूढ हो जाय, वही प्राथमिक है। और जो अर्थ प्रकृति प्रत्यय के विशेषालोचनपूर्वक उसी वाक्य के श्रवण-समय में प्रतीयमान हो, वह स्वारसिक कहा जाता है। इसी प्राबल्य-दौर्बल्य भाव का अनुसरण कर उपक्रम परामर्श और उपसंहार के अनुरोध से सूत्रकार भगवान् बादरायण ने समन्वयाध्याय में श्रुतियों का समन्वय दिखाया है। अब सूत्र के व्याख्यान में प्रवृत्त भाष्यकार और वृत्तिकार का भी यही कर्तव्य हो जाता है कि इस तत्त्व की उपेक्षा न करें। अर्थात्, श्रुति के प्राबल्य दौर्बल्य-भाव के अनुसार और उपक्रम आदि के अनुरोध से ही सूत्रों का भाष्य या वृत्ति करना भाष्यकार या वृत्तिकार का परम कर्तव्य हो जाता है।

इन उपर्युक्त बातों पर ऊपर ध्यान देकर यदि सब भाष्यों को देखा जाय, तो यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि शाङ्कर दर्शन सब दर्शनों में मूर्धन्य है। एक बात और है कि सूत्रकार ने सब श्रुतियों का समन्वय नहीं किया है किन्तु किसी-किसी श्रुति का अनुसन्धान कर इसी प्रकार समन्वय करना चाहिए। इसी समन्वय मार्ग के अनुसार वादग्रस्त विषयों में उन विषयों का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों का एकत्र संकलन करना चाहिए। इसके बाद उन श्रुतियों की एकवाक्यता से पूर्वापर-संदर्भ के अनुसार ही विवादग्रस्त विषयों का निर्णय करना चाहिए। इससे भिन्न प्रकार के निर्णय करने में वास्तविकता का अभाव हो रहता है। इसलिए, वादग्रस्त कुछ विशेष विषयों में कुछ श्रुतियों का दिग्दर्शन कराना आवश्यक है अतएव, मोक्षावस्था का प्रतिपादन करनेवाली कुछ श्रुतियों का संग्रह किया जाता है—

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ (ईशो ७, बृ आ १।४।१०)
'विद्यया विन्दतेऽमृतम्'। (केन १२)
'निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते' (क ३।१५)
यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते॥ (क ३।८)
'यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥ (क ४।१५)
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥ (क ६।१४ बृ आ ४।४।७)
य विद्यात्मानमात्मानं य एवं वेद। (कौ १९)
तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्। (मु ३।२।८)
तथा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति। (मु ३।१।३)
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ (मु २।२।८)
'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'। (मु ३।२।९)

'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता।' (तै० २।१।१)
'तरति शोकमात्मवित्।' (छां० ७।१।३)
'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः।' (छां० ८।१२।१)
'अभयं वै ब्रह्म भवति य एवं वेद।' (बृ० ४।४।२५)
'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।' (बृ० ४।४।६)
'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्।' (बृ० २।४।१४)
'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' (बृ० ४।२।४)
'तमेव ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति।' (श्वे० ४।१५)
'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।' (श्वे० २।१५)
'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति।' (श्वे० ३।८)
'यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्। स इदं सर्वं भवति।' (बृ० १।४।१०)
'तदक्षरं वेदयते यस्तु स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेश।' (प्र० ४।११)
'ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात् पाशं दहति पण्डितः।' (कै० ११)
'जन्मभावादिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः विमुच्यते।' (कै० १)
'परमेव ब्रह्म भवति य एवं वेद।' (नृ० ५)
'य एवं विद्वानमृतत्वे भवन्ति।' (म० ना० ३।११)
'तमेवं विद्वानमृत इह भवति।' (नृ० पू० १।६)
'ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति।' (कै० ९)
'विज्ञानसारथिर्जीवः संसारं तरते सदा।' (क्षु० १२)
विदित्वा तन्तु न बध्यते।' (क्षु० १७)

चार अर्थ

मोक्षावस्था का प्रतिपादन करनेवाली ये ही प्रधान श्रुतियाँ हैं। इनसे भिन्न बहुत-सी श्रुतियाँ और भी हैं जो मोक्षावस्था का प्रतिपादन करती हैं। परन्तु विस्तार-भय से उनका संग्रह नहीं किया गया।

इन उपर्युक्त और इनसे भिन्न जो मोक्षावस्था की प्रतिपादक श्रुतियाँ हैं उनके ऊपर ध्यान देकर समालोचना करने से चार प्रकार के अर्थ प्रतीत होते हैं— (१) आत्मविज्ञान (२) पापविनाश (३) आत्मस्वरूप सम्पत्ति (४) शोकादिराहित्य। ये चारों अर्थ उन श्रुतियों में निर्दिष्ट नहीं हैं फिर भी यथासम्भव किसीका किसीमें विभिन्न शब्दों के द्वारा किसी प्रकार चार अर्थों का निर्देश पाया ही जाता है। इन चारों के स्वरूप का विचार उनकी एकवाक्यता से करना चाहिए। इनमें पहले आत्मविज्ञान की मीमांसा करनी चाहिए।

उपर्युक्त श्रुतियों में किसी में विजानन्, किसी में विद्, किसी में वेद और किसी में ज्ञात्वा इत्यादि उपसर्ग-रहित विद् धातु और ज्ञा धातु का प्रयोग आता है। इससे इनका अर्थ सामान्य ज्ञान ही प्रतीत होता है और विजानतः, विज्ञाय और विजानताम्,

इत्यादि श्रुति-उपदर्शविशिष्ट ज्ञा धातु से ज्ञान में कुछ विशेषता प्रतीत होती है। यह विशेषता किस प्रकार की है इस जिज्ञासा में 'एष अनुपश्यतः' इत्यादि श्रुति में उक्त पदों के साथ एकवाक्यता करने से प्रत्यक्ष दर्शन, अर्थात् साक्षात्कार ही अर्थ प्रतीत होता है। 'प्रत्युष्यत' इस श्रुति में उक्त प्रतिबोध शब्द से भी यही साक्षात्कार अर्थ प्रतीत होता है।

आत्मसाक्षात्कार विवेचन

श्रुति में उक्त साक्षात्कार का विषय आत्मा ही होता है। यद्यपि श्रुति में उक्त ज्ञान का विषय विभिन्न प्रतीत होता है, तथापि उन सबका तात्पर्य एक ही आत्मा में श्रुति और अनुभव से सिद्ध है। जैसे 'आत्मवित्'—इस श्रुति में वेदन अर्थात् ज्ञान का विषय आत्मा अपने शब्द से ही निर्दिष्ट है। 'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः'—विज्ञान से समस्त भूतवर्ग आत्मा ही हो जाता है, यह बताया गया है और यही भूतों की आत्मस्वरूप-सम्पत्ति है। अर्थात्, विज्ञान से सब भूत आत्मस्वरूप ही हो जाता है इस अवस्था में इतर रूप से भूतों का भान ही नहीं हो सकता है। यही आत्मस्वरूप-सम्पत्ति, वेदन का विषय आत्मा ही है इस बात को श्रुति लक्षित करती है। 'आत्मैवाभूत्' यहाँ 'एव' शब्द से आत्मा से भिन्न वस्तु में वेदन अर्थात् ज्ञानविषयता का निषेध भी करती है। क्योंकि स्वरूप-सम्पत्ति वेदन के अनुरूप ही होती है। अर्थात्, जिस वस्तु का संवेदन अर्थात् साक्षात्कार होगा, उसी स्वरूप से वह भासित होगा। इसी श्रुति के अनुरोध से 'एकत्वमनुपश्यतः' इस श्रुति में दर्शन का विषय जो एकत्व बताया गया है वह भी आत्मैकत्व का ही बोधक है और यही मान्य भी है। ब्रह्म शब्द और आत्म शब्द पर्यायवाची हैं इसलिए 'ब्रह्मविद्' इस श्रुति में वेदनविषयक जिस ब्रह्म का निर्देश है, वह भी आत्मा से भिन्न दूसरा कोई नहीं है। 'तस्मिन् दृष्टे परावरे' इस श्रुति में दर्शन का विषय जिस परावर को बताया गया है उसका भी अर्थ 'आत्मैवाभूत्' इस श्रुति के अनुरोध से आत्मा ही हो सकता है दूसरा नहीं। आत्मविचार में और भी यह श्रुति आती है—

'दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा सम्प्रतिष्ठितः। मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं संनिधाय। तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति।'

—मु० उ० २।२।७

इस श्रुति में 'परिपश्यन्ति' क्रिया का कर्म अर्थात् दर्शन क्रिया का विषय पूर्व वाक्य में प्रयुक्त आत्मा ही होता है; क्योंकि तत् शब्द से उसी का परामर्श हो सकता है। इसलिए—'तस्मिन् दृष्टे परावरे'—वाक्य में परावर शब्द से भी आत्मा का ही ग्रहण सिद्ध होता है। एक बात और भी विचारणीय है कि उस श्रुति में ब्रह्म या आत्मा के लिए 'आनन्दरूपम् अमृतम्' इस विशेषण के देने से और 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इस श्रुति में आनन्द और ब्रह्म के साथ समानाधिकरण-निर्देश से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्म और आनन्द में भेद नहीं है। इसलिए, 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इस श्रुति में वेदन अर्थात् ज्ञान का विषय जो आनन्द कहा गया है वह ब्रह्मरूप ही आनन्द है।

क्योंकि ब्रह्म से अतिरिक्त तो कोई आनन्द है ही नहीं। यदि यह कहें कि ब्रह्म से भिन्न यदि कोई आनन्द नहीं है तो 'ब्रह्मणः' में षष्ठी विभक्ति किस प्रकार होगी ? क्योंकि, भेद में तो षष्ठी विभक्ति होती है अभेद में नहीं। तो इसका उत्तर यह होता है कि 'ब्रह्मणः आनन्दम्' यहाँ औपचारिक षष्ठी है जिस प्रकार— राहोः शिरः —यहाँ औपचारिक षष्ठी मानी गई है। क्योंकि लोक में अमुकस्य आनन्दः इस प्रकार का सप्रतियोगिक आनन्द का ही प्रयोग देखा जाता है इसलिए ब्रह्मणः यह षष्ठी निर्देश कर दिया। वास्तव में तो ब्रह्म और आनन्द में कुछ भी भेद नहीं है। 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इ त्यादि अनेक श्रुतियों में आनन्द और ब्रह्म के साथ समानाधिकरण्य से निर्देश मिलता है। 'आनन्दरूपममृतम्'—इस मुण्डक श्रुति में तो विशेषकर रूप शब्द से ब्रह्म को आनन्द-स्वरूप बताया है।

एक बात और है कि आनन्द और ब्रह्म में भेद माननेवाले जो द्वैतवादी हैं उनके मत में भी—'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन'—इस श्रुति में आनन्द को औपचारिक मानना आवश्यक हो जाता है। क्योंकि ब्रह्मानन्दविषयक ज्ञान परोक्ष नहीं होता क्योंकि परोक्ष ब्रह्मानन्द के ज्ञान से भय की निवृत्ति नहीं होती। शब्दजन्य ब्रह्मविषयक परोक्ष ज्ञान तो हमलोगों को है ही परन्तु भय की निवृत्ति नहीं। इसलिए, ब्रह्मविषयक वेदन अर्थात् ज्ञान अपरोक्ष ही मानना चाहिए। अपरोक्ष का ही अर्थ साक्षात्कार या प्रत्यक्ष होता है। इस अवस्था में ब्रह्म का आनन्द हमलोगों को नहीं हो सकता। कारण यह है कि दूसरे का आनन्द दूसरा नहीं अनुभव कर सकता। इस हालत में ब्रह्मानन्द के सदृश आनन्द में लक्षणा द्वैतवादियों को मानना ही पड़ेगा।

एक बात और है कि आनन्द में लक्षणा स्वीकार करने की अपेक्षा 'ब्रह्मणः' में षष्ठी विभक्ति में ही लक्षणा स्वीकार करना आवश्यक है; क्योंकि 'गुणे त्वन्याय्यकल्पना' इस सिद्धान्त से यही समुचित प्रतीत होता है। और, यहाँ लक्षणा स्वीकार करने पर भी 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'विज्ञानरूपममृतम्' इत्यादि समानाधिकरण-स्थल में बिना लक्षणा के काम नहीं चलेगा। गौरवाधिक्य के लिए यहाँ लक्षणा आवश्यक है।

भावव्युत्पत्त्या निरूप्यते इत्यानन्दरूपम्, अर्थात् जो आनन्द से सिद्ध किया जाय यह आनन्दरूप है। इस प्रकार खींच तानकर श्रुति का अर्थ करना स्वार्थ श्रुति के लिए अन्याय्य है और इस प्रकार क्लिष्ट कल्पना में कोई प्रमाण भी नहीं है। इसलिए, ब्रह्म और आनन्द में एकता अर्थात् अभिन्नता ही श्रुति का अभिमत है यह सिद्ध होता है।

आत्मैकत्व का उपपादान

अब यहाँ पर प्रश्न उठता है कि दृश्यमान प्रपञ्च के नानात्व-निवारण करनेवाली जो 'एकत्वमनुपश्यतः' श्रुति है उसका जिस प्रकार दृश्यमान प्रपञ्च में प्रतिभासमान भेद के निवारण में तात्पर्य है उसी प्रकार द्रष्टा और दृश्य के बीच प्रतिभासमान जो भेद है उसके निराकरण में तात्पर्य है अथवा नहीं ? यदि प्रथम पक्ष अर्थात् द्रष्टा और दृश्य के बीच प्रतिभासमान भेद के निराकरण में भी श्रुति का तात्पर्य मानते हैं, तब तो द्रष्टा का द्रष्टृत्व और दृश्य का दृश्यत्व भी नहीं रहता। क्योंकि द्रष्टृ दृश्यभाव भेद

प्रयुक्त ही होता है, अर्थात् दृश्य के न रहने से द्रष्टा नहीं रह सकता, और न द्रष्टा के न रहने से दृश्य ही। इस प्रकार, दोनों के न रहने पर दर्शन का दर्शनत्व भी नहीं रह सकता। इस अवस्था में अद्वैत श्रुति तो बिना सङ्कोच के उपपन्न हो जाती है, कारण यह है कि अद्वैत में ही दृश्य आदि सकल भेद-प्रपञ्च का अभाव सम्भव है। परन्तु 'अनुपश्यतः' यह दर्शन श्रुतिविरुद्ध हो जाती है; क्योंकि बिना द्रष्टा और दृश्य के दर्शन होना असम्भव है। अर्थात्, दर्शन में दृश्य और द्रष्टा की अपेक्षा अवश्य रहती है।

यदि द्वितीय पक्ष मानें, अर्थात् दृश्य और द्रष्टा के बीच जो भेद है उसके निवारण में श्रुति का तात्पर्य न मानें, तो 'सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूत्' यह सब भूतों की आत्म-भवन श्रुति विरुद्ध हो जाती है। क्योंकि यहाँ आत्म-शब्द स्व-शब्द का पर्याय द्रष्टा के स्वरूप का निदर्शक है। जब द्रष्टा और दृश्य में भेद विद्यमान रहे, तब दृश्य की आत्मस्वरूप-सम्पत्ति नहीं घटती। इस अवस्था में 'सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूत्' और 'यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' इत्यादि श्रुतियों की सङ्गति किसी प्रकार नहीं हो सकती। और भी श्रुतियों में जो एव शब्द है, उससे आत्म-भवन के प्रतिपादन में बहुत जोर देखा जाता है। इसलिए, इन दोनों पक्षों में दोष समानरूप से आ जाता है।

इसका समाधान आत्म-श्रुति एकत्व-श्रुति और दर्शन-श्रुति इन तीनों श्रुतियों के विरोध के परिहार में ही है। उक्त तीनों श्रुतियों के विरोध का परिहार इसी प्रकार हो सकता है—

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥ (क० उ० २।१।१५)

इस श्रुति में आत्म साक्षात्कार से उत्पन्न जो अवस्था है, उसका दृष्टान्त शुद्ध जल से दिया गया है। दृष्टान्त का प्रयोजन यही होता है कि दार्ष्टान्तिक अर्थ का सुगमता से बोध हो जाय।

इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार शुद्ध जल में शुद्ध जल मिलाने से वह तद्रूप हो जाता है उसी प्रकार विज्ञान से ज्ञानियों का आत्मा भी मिलकर एक हो जाता है। इस श्रुति में शुद्ध जल में शुद्ध जल के मिलाने से तादृशता (उसी प्रकार हो जाने) का विधान है। अब यह विचार करना है कि यहाँ तादृशता का क्या अभिप्राय है? क्या तादृशता का अर्थ उसके समान जातीय हो जाना है अथवा तद्रूप हो जाना? अर्थात् जिस शुद्ध जल में जो शुद्ध जल मिलाया गया वह शुद्ध जल उस शुद्ध जल का समानजातीय होकर उसमें भिन्न ही रहता है अथवा तद्रूप हो जाता है, अर्थात् दोनों में भेद नहीं रहता? यदि प्रथम पक्ष अर्थात् उसके समान जातीय होकर उसमें भिन्न मान लें, तब तो आसेचनादि व्यर्थ हो जाते हैं; क्योंकि आसेचन अर्थात् मिलाने के पहले भी उसका समानजातीयत्व था ही फिर उसके समान जातीय होने के लिए मिलाना व्यर्थ ही है। इसलिए, तादृशता का अर्थ उसका सजातीय होना नहीं है किन्तु तद्रूप हो जाना ही है अर्थात् दोनों में भेद नहीं रहता यही में श्रुति का तात्पर्य है।

इसी प्रकार दार्ष्टान्तिक स्थल में भी समस्त प्रपञ्च का अधिष्ठान भूत परमात्मा है वही आसेचन का आधारभूत शुद्धजलस्थानीय है। यह विवर्त के उपादान ब्रह्म के

कारण असम्बन्ध शुद्ध है। जो विवर्त का उपादान होता है, वह भासमान दोष से दूषित कदापि नहीं होता जैसे रज्जु में भासमान सर्प के विष से रज्जु कभी दूषित नहीं होता। इसी प्रकार, आश्रयभूत जल के स्थान में ज्ञानियों का जो आत्मा है, वह भी समस्त कर्म-वासनाओं और अन्तःकरण के सम्बन्ध के नष्ट हो जाने पर असम्बन्ध शुद्ध ही रहता है। ज्ञानियों के आत्मा का परमात्मा में यह आसेचन श्रुति में उक्त 'विजानतः' पद का वाच्य विज्ञान ही है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार शुद्ध जल में शुद्ध जल के मिलाने से दोनों का भेद प्रतीत नहीं होता उसी प्रकार परमात्मा में आत्मा के आसेचन रूप विज्ञान से भेद की प्रतीति नहीं होती।

इस प्रकार जब 'यथा शुद्धेशुद्धमासिक्तम्' श्रुति का अर्थ स्थिर हो जाता है तब पूर्वोक्त जो आसेचन-श्रुति एकरस-श्रुति और दर्शन-श्रुति ये तीन श्रुतियाँ हैं, इनमें आसेचन-श्रुति और एकरस-श्रुति परस्परविरुद्ध नहीं होतीं प्रत्युत अनुकूल ही होती हैं। केवल दर्शन-श्रुति विरुद्ध-सी प्रतीत होती है। तथापि वस्तुतः विचार करने से कुछ भी विरोध नहीं रहता। कारण यह है कि प्रत्यक्ष का अर्थ होता है—त्रिविध चैतन्यों का ऐक्य अर्थात् एक होना। आत्म-चैतन्य ज्ञान-चैतन्य और विषय-चैतन्य इन तीनों चैतन्यों की जब एकता हो जाती है तब उसी को 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। उन त्रिविध चैतन्यों के ऐक्यरूप प्रत्यक्ष में भेद का भान होना आवश्यक नहीं है। कहीं भेद का भान होता है और कहीं नहीं भी। सविकल्प घट आदि के प्रत्यक्ष में भेद का भान होता है और निर्विकल्प आत्मैक्य-प्रत्यक्ष में भेद का भान नहीं होता। इसलिए, दर्शन में भेदाभाव की आवश्यकता नहीं होने के कारण दर्शन-श्रुति भी विरुद्ध नहीं होती, यह सिद्ध होता है।

आत्मप्रत्यक्ष का स्वरूप

'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' (बृहदारण्यक ३।४।१) यह श्रुति ब्रह्म को साक्षात्प्रत्यक्ष बताती है। यहाँ अपरोक्षात् इस पञ्चम्यन्त पद का अपरोक्षम् यह प्रथमान्त ही अर्थ प्रायः सब आचार्यों ने माना है। यहाँ तक कि शङ्कराचार्य रामानुजाचार्य आदि प्रधान आचार्यों ने भी यही माना है। इस अर्थ में किसी का भी विवाद नहीं है। अपरोक्षम् का प्रत्यक्ष ही अर्थ होता है। अब यहाँ विचार उपस्थित होता है कि प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग तो तीन अर्थों में होता है—'घटस्य प्रत्यक्षम्'—यहाँ ज्ञान अर्थ में 'घटः प्रत्यक्षः' यहाँ विषय अर्थ में और 'घटस्य चाक्षुषं प्रमाणं प्रत्यक्षम्' यहाँ विषयनिर्णय के साधन में भी प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग देखा जाता है। किन्तु, इस प्रकृत श्रुति का अर्थ क्या है यह विचारणीय है।

यद्यपि इन तीनों अर्थों में प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग होता है तथापि ज्ञानविशेष ही इसका मुख्य अर्थ माना जाता है विषय और साधन में जो प्रयोग देखा जाता है वह गौण अर्थात् लक्षणा-वृत्ति से ही है। प्रत्यक्ष शब्द को तीनों अर्थों में मुख्य मानकर अनेकार्थ मानना समुचित नहीं है। कारण यह है कि अनेकार्थ मानने में अनेक गौरव हो जाते हैं। एक तो शक्त्यन्तर की कल्पना ही गौरव है दूसरा वक्ता का

तात्पर्य समझने के लिए संयोग, विप्रयोग आदि की कल्पना में गौरव हो जाता है। जहाँ परस्परविरुद्ध अनेक अर्थ प्रतीत होते हैं, वहाँ लक्षणा से निर्वाह न होने के कारण ही अगत्या अनेकार्थ मानकर गौरव स्वीकार करना पड़ता है। जैसे, सैन्धव आदि पदों में लक्षणा से काम न चलने से अनेकार्थ माना जाता है। उसी प्रकार, यदि सबको अनेकार्थ मान लें, तो लक्षणा का कोई विषय ही नहीं रह जाता। इसलिए उक्त श्रुति में मुख्य अर्थ के सम्भव होने से गौण अर्थ मानना अनुचित हो जाता है। इस स्थिति में ब्रह्म प्रत्यक्ष ज्ञानरूप ही है, और आत्म-चैतन्य का ही नाम प्रत्यक्ष प्रमा (ज्ञान) है, यह सिद्ध हो जाता है। यही प्रत्यक्ष ज्ञान का लक्षण श्रुति-सम्मत भी है।

वैशेषिक आदि 'इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' यह जो प्रत्यक्ष का लक्षण करते हैं वह युक्त और श्रुतिसम्मत नहीं है। क्योंकि, ब्रह्म नित्य होने के कारणजन्य नहीं हो सकता। विषयाकार जो मनोवृत्ति है वही इन्द्रिय जन्य है, और उस वृत्ति से युक्त जो ज्ञानस्वरूप ब्रह्म चैतन्य है, उसी की उपाधि वह मनोवृत्ति है, इसलिए वृत्ति में जो ज्ञानत्व का व्यवहार होता है, वह औपचारिक माना जाता है। इसी प्रकार के औपचारिक ज्ञान में द्रष्टा और दृश्य की अपेक्षा रहती है। मुख्य जो आत्मस्वरूप ज्ञान है उसमें द्रष्टा और दृश्य की अपेक्षा नहीं रहती। चैतन्य और ज्ञान ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं, ये भिन्नार्थक नहीं हैं। जब वही आत्मचैतन्य आविर्भूत होता है तभी 'ज्ञान हुआ' इस प्रकार का व्यवहार लोक में होता है। एक बात और भी जानने योग्य है कि चैतन्यरूप ज्ञान का आविर्भाव सर्वत्र नहीं होता किन्तु विशुद्ध-सात्त्विक स्वच्छ जो पदार्थ हैं उन्हीं में ज्ञानरूप चैतन्य का आविर्भाव होता है। घट आदि की अपेक्षा इन्द्रियाँ स्वच्छ हैं। उनकी अपेक्षा भी मन स्वच्छतर है और उसकी अपेक्षा भी मनोवृत्ति स्वच्छतम है।

इससे यही सिद्ध होता है कि मूर्त अमूर्त चेतन और अचेतन आदि सकलप्रपञ्च में निरन्तर विद्यमान रहता हुआ भी ज्ञानस्वरूप आत्मचैतन्य अत्यन्त स्वच्छतम मनोवृत्ति में ही आविर्भूत होता है, जिस प्रकार पाषाण आदि में पर्याप्त विशेष (पॉलिश) से स्वच्छता आ जाने पर ही उसमें प्रतिबिम्ब का प्रादुर्भाव होता है, अन्यथा नहीं। इससे यही सिद्ध होता है कि विषयाकार मनोवृत्ति में आविर्भूत जो ब्रह्म चैतन्य है उसीका प्रत्यक्ष शब्द से लोक में व्यवहार होता है। यद्यपि घट आदि अचेतन पदार्थों में भी चिद्रूप ब्रह्म का ही आविर्भाव होता है, तथापि यह आविर्भाव घट आदि विषयाकाररूप से होता है साक्षात् नहीं। जब ब्रह्म का साक्षात् आविर्भाव होता है उस समय तो वह मुक्त ही हो जाता है। इसीलिए, श्रुति में 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' ऐसा साक्षात् अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष बताया है। इससे सिद्ध होता है कि जब ब्रह्म चैतन्य विषयाकार-मनोवृत्ति में अवच्छिन्न अर्थात् युक्त होकर आविर्भूत होता है उसी समय वह ज्ञानशब्द का वाच्य कहा जाता है यही अद्वैत दर्शनों का सिद्धान्त है। अब यही ज्ञानस्वरूप चैतन्य जिस प्रकार से आविर्भूत होता है वह प्रकार कहा जाता है और इसे भिन्न 'प्रत्यय'।

इसका रहस्य यह है कि लोक में जो अर्थ पर इस प्रकार का प्रत्यक्ष होता है वहाँ जिस देश में मन के स्पन्दन होने के कारण वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य का

विषयचैतन्य से भिन्न अभिव्यक्त नहीं होता, और शाब्दीय ज्ञान में प्रत्यक्ष में तो द्रष्टा और दृश्य का भी भेद भासित नहीं होता है। इसलिए, प्रमाण-चैतन्य और विषय चैतन्य में कुछ भी भेद नहीं रहता। यही—'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म'—इस श्रुति का तात्पर्य है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मस्वरूप जो ज्ञान है वही निर्विकल्पक है। लौकिक और शाब्दीय निर्विकल्पक में इतना ही भेद है कि लौकिक में 'इदंकिञ्चित्' इस निर्विकल्पक ज्ञान में दृश्यगत विशेषता का भान नहीं होता और शाब्दीय निर्विकल्पक जो आत्मप्रत्यक्ष है उसमें दृश्य और द्रष्टा—उभयगत भेद का भी भान नहीं होता। इसलिए, आत्म साक्षात्कार को निर्विकल्पकतर कह सकते हैं।

पाश-विमोक का स्वरूप

उपर्युक्त श्रुतियों में निर्दिष्ट आत्म-विज्ञान का स्वरूप यथासम्भव संक्षेप में दिखाया गया। अब क्रमप्राप्त पाश-विमोक (बन्धनमुक्ति) के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया जाता है। बन्ध के साधन का ही नाम 'पाश' है और शरीर के साथ सम्बन्ध का नाम बन्ध। बन्ध का मूल अविद्या-ग्रन्थि है और यह कर्म से सम्पादित किया जाता है। नाम और रूपात्मक कार्य-कारण के संघात को 'शरीर' कहते हैं।

बुभुक्षा, पिपासा, शोक, मोह, जरा, मृत्यु, जन्म, तृष्णा, भय, सुख और दुःख इत्यादि जितने शरीर के धर्म प्रतीत होते हैं वे सभी बन्धमूलक ही हैं। बन्ध को ही मृत्यु-मुख कहते हैं। यह मोक्षप्रतिपादक श्रुतियों के ऊपर ध्यान देने से स्पष्ट प्रतीत हो जाता है। अविद्या ही मुख्य पाश है यह भी सिद्ध है। तन्मूलक जितने शरीर आदि हैं सभी अविद्या-जन्य होने से ही पाश कहे जाते हैं। उसी अविद्या रूपी पाश का जो वियोग है उसीको पाशविमोक, पाशहानि, पाशविमोचन इत्यादि शब्दों से अभिहित किया जाता है। इसका तात्पर्य अशरीरत्व-निष्पत्ति है।

अब आत्मसाक्षात्कार से शरीरत्व की निवृत्ति किस प्रकार होती है इसका निर्देश किया जाता है। 'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः' इस श्रुति में आत्म-साक्षात्कार से समस्त भूतों का आत्मस्वरूप हो जाना बताया गया है। यहाँ भूत शब्द से पञ्चभूतमय जड़-प्रपञ्च का ही ग्रहण होता है। अब यहाँ आशङ्का यही होती है कि आत्मसाक्षात्कार से जड़ प्रपञ्च आत्मस्वरूप किस प्रकार हो सकता क्योंकि ज्ञान मात्र से अन्य का अन्य रूप हो जाना असम्भव है। विज्ञान से अन्य की अन्यरूपता यदि न मानें तो श्रुति से विरोध हो जाता है इसलिए प्रपञ्च आत्मा का ही विवर्त है। इस प्रकार विवर्तवाद को अगत्या स्वीकार करना ही पड़ता है। यदि विवर्तवाद का आश्रय लेते हैं तो शङ्का का अवकाश ही नहीं होता; क्योंकि जिस प्रकार रज्जु में विवर्तमान जो सर्प है वह रज्जु के साक्षात्कार होने से रज्जुरूप ही हो जाता है उसी प्रकार आत्मा का विवर्त जो चेतनाचेतनात्मक अखिल प्रपञ्च है वह भी आत्मसाक्षात्कार से आत्मस्वरूप ही हो जाता है यह स्वयंसिद्ध है। यदि भूत-मात्र आत्मस्वरूप हो जाता है तो भूतमय शरीर का भान आत्मज्ञान के बाद शरीरत्वेन

आत्मा से पृथक् किस प्रकार हो सकता है ? इससे आत्मसाक्षात्कार के बाद अशरीरत्व की स्थिति सिद्ध हो जाती है, और यही पाशविमोचन है।

आत्मस्वरूप-सम्पत्ति

अब पूर्वोक्त श्रुतियों में जो आत्मस्वरूप सम्पत्ति का निर्देश है उसकी मीमांसा की जाती है—'यस्तु विज्ञानवान् भवति' इस श्रुति में बताया गया है कि आत्म साक्षात्कारवाला पुरुष उस स्थान को प्राप्त करता है जिससे पुनर्जन्म नहीं होता। वह स्थान विशेष कैसा है ? इस जिज्ञासा में 'परात्पर पुरुषमुपैति दिव्यम्' इस मुण्डक श्रुति के साथ एकवाक्यता करने से दिव्य पुरुष-रूप ही स्थान-विशेष प्रतीत होता है। अब यह प्रश्न उठता है कि उस दिव्यपुरुष की प्राप्ति जो होती है वह भेदेन प्राप्ति होती है या अभेदेन ? सब श्रुतियों के समन्वयात्मक विचार करने से इसका समाधान यही होता है कि अभेदेन प्राप्ति होती है। भेदेन प्राप्ति मानने में बहुत श्रुतियों का विरोध हो जाता है। जैसे—

'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूत्' 'एवमात्मा भवति', 'ब्रह्मैव भवति', 'स तदभवत्' स इदं सर्वं भवति परमेव भवति', 'सर्वमात्मैवाभूत्' इत्यादि अनेक श्रुतियाँ उक्त अभेद को ही पुष्ट करती हैं। इसके अतिरिक्त एव शब्द से भेद का निषेध भी करती हैं।

यहाँ यह आशङ्का होती है कि आत्मसाक्षात्कारवाला पुरुष यदि सर्वात्मक, अर्थात् सर्वस्वरूप हो जाता है तो—'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह। ब्रह्मणा विपश्चिता' (तै २।१।१)—मोक्षप्रतिपादक इस श्रुति में मोक्षावस्था में जो सब कामनाओं की प्राप्ति बताई गई है, उसकी सगति किस प्रकार हो सकती है ? क्योंकि उस अवस्था में ज्ञानियों से भिन्न कोई भी पदार्थ या ब्रह्म भी नहीं रह जाता जिसकी प्राप्ति सम्भावित हो। इसका उत्तर यह होता है कि—'सर्वान् कामान् अश्नुते'—श्रुति में बताया गया है जिसका अर्थ सब कामनाओं का उपभोग या प्राप्ति लोग समझते हैं। 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः'—इस श्रुति जो मोक्ष अवस्था का ही प्रतिपादन करती है म उसी अवस्था में सब कामनाओं का विमोचन बताया गया है। इन दोनों श्रुतियों में परस्पर भासमान जो विरोध है उसका परिहार पहले करना आवश्यक है जिससे उक्त शंका का भी परिहार स्वयं हो जाता है। विरोध-परिहार के लिए श्रुति में उक्त प्रत्येक पद के ऊपर ध्यान देना होगा।

कामा येऽस्य हृदि श्रिताः—श्रुति में 'हृदि श्रिताः' इस पद से और 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान्'—इत्यादि श्रुति में 'ब्रह्मणा' इस पद से विरोध का परिहार स्पष्ट प्रतीत हो जाता है। 'हृदि श्रिताः कामाः' का तात्पर्य है—मनोगत कामनाएँ। इस श्रुति का तात्पर्य है कि ये वस्तुएँ मुझे प्राप्त हों इस प्रकार की जो मनोगत कामनाएँ हैं उनका समूल नाश या वासनानाश-रूप प्रमोचन होता है और मनोगत कामनाओं से भिन्न बाहर की कामनाएँ हैं उनका ब्रह्म-रूप से व्यापन के अर्थ में दोनों श्रुतियों का सामञ्जस्य है। कुछ कामनाओं का विमोचन और कुछ कामनाओं का स्वीकार,

इस प्रकार अर्थ करके श्रुतियों के विरोध का जो परिहार किया जाता है वह युक्त नहीं प्रतीत होता। कारण यह है कि कामाः और कामान् का विशेषण दोनों में 'सर्वे' और सर्वान् दिया है जिसका समस्त कामनाएँ ऐसा तात्पर्य होता है।

श्रुति का अर्थ

सह शब्द का अर्थ साहित्य होता है और वह साहित्य नित्य साकांक्ष है—'येन यस्य साहित्यम्' अर्थात् किसके साथ किसका साहित्य। यदि 'येन' इस आकांक्षा की पूर्ति 'ब्रह्मणा' के साथ करें तो युक्त नहीं होता है। कारण यह है कि श्रुति में 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह' यह एक वाक्य है और 'ब्रह्मणा विपश्चिता' यह दूसरा। इसी प्रकार साम्प्रदायिक पाठ है। और, वाक्यान्तर में प्रयुक्त जो नित्य साकांक्ष पद है उसकी पूर्ति वाक्यान्तर में प्रयुक्त शब्द से करना बिना किसी विशेष कारण के अयुक्त या अनुचित समझा जाता है।

इसलिए, कामनाओं में ही एक कामना के दूसरे कामना के साथ परस्पर साहित्य का ग्रहण किया जाता है, जिसका युगपत् अर्थात् एक काल में या साथ साथ अर्थ होता है। जैसे 'सर्वे सहैव समुपस्थिताः' (सब लोग एक ही बार या साथ-साथ उपस्थित हुए) इस वाक्य में होता है। इसीसे 'यस्य' इस आकांक्षा की भी पूर्ति हो जाती है। इसका फलितार्थ यह होता है कि ज्ञानियों का सब कामनाओं के साथ एक काल में सम्बन्ध हो जाता है। यहाँ एक बात और भी ज्ञातव्य है कि कामनाओं के साथ सम्बन्ध का नाम कामनाओं की प्राप्ति नहीं है बल्कि कामनाओं की व्याप्ति है। कारण यह है कि श्रुति में 'अश्नुते' यह जो पाठ है उसमें 'अशू व्याप्तौ संघाते च' इस व्याप्ति अर्थ में पठित स्वादिगण के धातु का ही प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ 'व्याप्नोति' होता है 'प्राप्नोति' नहीं।

अब ज्ञानियों का शब्द, स्पर्श, रूप आदि अखिल कामनाओं की व्याप्ति किस प्रकार होती है? इस आकांक्षा की पूर्ति के लिए दूसरे वाक्य में आता है—'ब्रह्मणा'। अर्थात् ब्रह्म रूप से ही अखिल कामनाओं को व्याप्त करता है। ब्रह्म कैसा है? इस आकांक्षा का उत्तर—ब्रह्म के विशेषण 'विपश्चिता' पद से देते हैं। विपश्चिता का अर्थ है—वि विशेषेण पश्यत्—देखता हुआ चित्-चैतन्य। अर्थात् स्वयं प्रकाशमान ज्ञान ही इसकी विशेषता है। तात्पर्य यह है कि आभ्यन्तर जो सूक्ष्म चित् अर्थात् ज्ञान है उसी से सब शब्द आदि विषयों को वह देखता है बाह्य रूप से नहीं। भावार्थ यही होता है कि ज्ञानी स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जाता है और ब्रह्म-रूप से ही अखिल प्रपंच को व्याप्त करता है। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'—इस श्रुति में जो कहा गया है वही 'सोऽश्नुते' इत्यादि श्रुति में भी पर्याय से वर्णित है।

साम्य का उपपादन

अब यहाँ एक आशङ्का और होती है कि 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'—इस श्रुति में साम्य का प्रतिपादन किया गया है और साम्य-भेद घटित होता है। इस स्थिति में आत्मा का एकत्व प्रतिपादन करनेवाली श्रुति विरुद्ध हो जाती है। इसका उत्तर

यह होता है कि साम्य भेद घटित ही होता है, इस प्रकार का कोई नियम नहीं है। कहीं भेद-घटित और कहीं भेदाघटित, दोनों प्रकार का साम्य होता है। यहाँ 'आत्मैवाभूत्' इत्यादि उदाहृत अनेक श्रुतियों की एकवाक्यता से सामञ्जस्य के लिए भेद से अघटित साम्य का ही ग्रहण किया जाता है भेद-घटित साम्य का नहीं। भेदाघटित साम्य को वैयाकरणों ने भी 'इव' शब्द के अर्थ-निरूपण के प्रसङ्ग में स्वीकार किया ही है। इसी के अनुसार आलङ्कारिकों ने भी ऐसे स्थलों में अनन्वयालङ्कार का उदाहरण दिया है—'रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव' इत्यादि। एक बात और है, 'परमं साम्यम्' में जो साम्य का विशेषण 'परमं' दिया है उसका अर्थ अत्यन्त साम्य ही होता है और अपना अत्यन्त साम्य अपने साथ ही हो सकता है, दूसरे के साथ नहीं। यदि भेद-घटित साम्य को ही मान लें, तो किस धर्म से साम्य लिया जाय इस प्रकार विशेष जिज्ञासा होती है। यदि इस जिज्ञासा के परिहार के लिए सुखातिशय रूप विशेष धर्म को मानें तो सुख के साधक पुण्यकर्म को मानना आवश्यक हो जाता है। क्योंकि, सुख का कारण पुण्यकर्म ही होता है। यहाँ श्रुति में आया है—'पुण्यपापे विधूय', अर्थात् समस्त पुण्य-पाप को नष्ट कर साम्य को प्राप्त करता है। दूसरी बात यह है कि श्रुति में 'निरञ्जनः' यह विशेषण दिया है, जिसका अर्थ होता है, किसी प्रकार के सम्बन्ध से रहित होना। जिसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है, उसका किसी भी धर्म से साम्य नहीं कह सकते। इसलिए, श्रुति का यही तात्पर्य सिद्ध हो सकता है कि आत्मसाक्षात्कारवाला पुरुष, पुण्य और पाप, दोनों प्रकार के कर्मों का त्याग कर कर्मजन्य शरीर आदि सम्बन्ध से रहित हो अपने ही साथ साम्य को प्राप्त करता है; अर्थात् उपमारहित हो जाता है।

शोकादि-राहित्य का विचार

अब शोकादि-राहित्य का विचार किया जाता है। यहाँ आदि पद से मोह, भय जन्म, मरण सुख दुःख का ग्रहण समझना चाहिए। उक्त श्रुतियों में इन्हीं का अभाव कहा गया है। इन्हीं की समष्टि का नाम संसार है। 'प्रियाऽप्रिये न स्पृशतः'—इस श्रुति में प्रिय और अप्रिय शब्द से सुख दुःख का ही ग्रहण किया जाता है। सुख का नाम प्रिय और दुःख का अप्रिय है। शब्द स्पर्श आदि जो विषय हैं वे स्वरूप से ही प्रिय नहीं हैं किन्तु सुख के जनक होने के कारण ही प्रिय कहे जाते हैं। इसलिए शब्द आदि विषय प्रिय शब्द के वाच्य नहीं होते। इससे मुक्ति में जिस प्रकार दुःख का अभाव होता है उसी प्रकार सुख का भी अभाव होता है। वैयायिकों के मत में अप्रिय के निषेध में ही श्रुति का तात्पर्य माना जाता है प्रिय के निषेध में नहीं। बल्कि उनका कहना है कि सुखातिशय की प्रतीति मुक्ति में होती है। परन्तु, यह श्रुति के अतात्पर्य से सिद्ध हो जाता है। न प्रियाऽप्रिये स्पृशतः इस द्वन्द्व-निर्देश में अप्रिय के साथ प्रिय के निषेध में भी श्रुति का तात्पर्य स्पष्ट प्रतीत होता है। एक बात और है कि प्रिय और अप्रिय के स्पर्श का कारण शरीर का सम्बन्ध ही है और शरीर के साथ सम्बन्ध छूट जाने पर अप्रिय स्पर्श के समान ही प्रिय स्पर्श के निषेध में भी श्रुति का

तात्पर्य सिद्ध हो जाता है। 'कारणाभावात् कार्याभावः'—कारण के अभाव में कार्य नहीं होता यह सिद्धान्त सर्वमान्य है। इस स्थिति में भिन्न और अभिन्न दोनों के निषेध में ही श्रुति का तात्पर्य सिद्ध होता है।

आत्म-विज्ञान आदि में क्रम

'ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात् पाशं दहति पण्डितः'—इस श्रुति में पञ्चम्यन्तनिर्देश से आत्म-विज्ञान और पाश-विमोचन में हेतुहेतुमद्भाव अर्थ सूचित होता है। अर्थात्, आत्म-विज्ञान कारण और पाश-विमोचन कार्य है। अन्य श्रुतियों में भी 'दृष्ट्वा' 'ज्ञात्वा' विज्ञानतः, निचाय्य' इत्यादि हेतुगर्भित शब्दों से भी उक्त ही क्रम प्रतीत होता है। इसी प्रकार नामरूपाद्विमुक्तः' 'परात्परं पुरुषमुपैति 'पुण्यपापे विधूय' 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इत्यादि स्थलों में पाश-विमोचन और आत्मस्वरूप-सम्पत्ति में हेतुहेतुमद्भाव प्रतीत होता है। इसी प्रकार आत्मस्वरूप-सम्पत्ति और शोकादि-राहित्य में भी हेतुहेतुमद्भाव सूचित होता है। 'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः'—इससे भी हेतुहेतुमद्भाव सूचित होता है। यद्यपि यह नियम है कि जिस पदार्थ में हेतुहेतुमद्भाव रहता है उसमें क्रम अवश्य रहता है तथापि यहाँ क्रम विद्यमान रहता हुआ भी लक्षित नहीं होता है। क्योंकि यहाँ कारण कार्य को इतना शीघ्र उत्पन्न करता है कि क्रम रहता हुआ भी वह प्रतीत नहीं होता। इसी अभिप्राय से आत्मैवाभूद्विजानतः श्रुति में 'विजानतः' शब्द में वर्तमान काल का द्योतक शतृप्रत्ययान्त का निर्देश किया है। इसका फलितार्थ यही होता है कि आत्म-विज्ञान अविद्या काम कर्म शरीर आदि पाशों के विमोचन द्वारा आत्मस्वरूपता का अनुभव कराकर शोक-मोहादि से विमुक्त कर देता है। यही मोक्ष-पदार्थ श्रुति-सम्मत होता है। शंकराचार्य ने इसी को अपने दर्शन में सिद्ध किया है।

मोक्ष में कर्म के सम्बन्ध का निषेध

बहुत वादों में मोक्ष को कर्मजन्य और मोक्षावस्था में भी कर्म-सम्बन्ध माना है परन्तु यह श्रौत सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि पूर्वोक्त अनेक श्रुतियों से विरोध हो जाता है। यहाँ तक कि 'न कर्मणा न प्रजया धनेन'—इत्यादि श्रुति से अमृतत्व-प्राप्ति में कर्मसम्पर्क का निषेध भी किया है। 'नास्त्यकृतः कृतेन'—इस श्रुति का भी मोक्ष के कर्मसम्पर्क के निषेध में ही तात्पर्य है। इसी प्रकार, 'न कर्म लिप्यते नरे' इति कर्म शुभाशुभम्' सर्वाणि कर्माणि दग्ध्वा—इत्यादि अनेक श्रुतियों से मोक्ष में कर्म-सम्बन्ध का निषेध भी किया गया है। और भी बन्धप्रतिपादक श्रुतियों की समालोचना करने से मोक्ष में कर्म-सम्बन्ध का अभाव ही सिद्ध होता है। बन्ध और मोक्ष दोनों परस्पर-विरोधी और प्रतिद्वन्द्वी पदार्थ हैं। इस अवस्था में जिस प्रकार परस्परविरुद्ध दो पदार्थों में एक के स्वरूप का निर्णय कर लेने पर दूसरे का स्वरूप-निर्णय उसके विपरीत अर्थात् अर्थसिद्ध हो जाता है उसी प्रकार बन्ध प्रतिपादक श्रुतियों से बन्ध के स्वरूप का निरूपण करने पर, मोक्ष का स्वरूप उससे विरुद्ध अर्थात् सिद्ध हो जाता है। बन्ध प्रतिपादक श्रुतियों में तो कर्म को बन्ध का अव्यभिचारी बताया गया है अर्थात्

जहाँ कर्म है, वहाँ बन्ध अवश्य है और जहाँ बन्ध है, वहाँ कर्म भी अवश्य है। 'न तस्य कर्म क्षीयते' (बृ. ४।४।२५) 'तदेव सक्तः सह कर्मणैति' (बृ. ४।४।६) 'पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणः' 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' (बृ. ३।२।१३); 'एष ह्येव साधु कर्मकारयति यमेभ्यो लोकेभ्योऽन्निनीषते' (कौ. ३।८)—इन सब श्रुतियों की समालोचना से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि बन्ध और कर्म दोनों परस्पर अव्यभिचरित हैं, अर्थात् एक के बिना एक नहीं रह सकता। इसलिए, पूर्वोक्त मोक्ष ही श्रुति-सम्मत होने से मोक्ष और मुक्त भी है। श्रुति का माननेवाला कोई भी इसका अन्यथा नहीं समझ सकता।

शङ्कराचार्य के अद्वैत दर्शन का औचित्य

यह श्रुतियों के समन्वय का दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। इसी प्रकार, विवादग्रस्त और विषयों में भी सब श्रुतियों का यथाशक्ति एकत्र कर—उनके परम प्रतीयमान सरल, मुख्य अर्थों का त्याग न कर—एकवाक्यतया समन्वयात्मक विचार करने से शाङ्कर दर्शन का जो सिद्धान्त है, वही औचित्य और सबसे उच्च स्तर का प्रतीत होता है। यद्यपि शाङ्कर दर्शन में भी कितने सिद्धान्त युक्तिविरुद्ध प्रतीत होते हैं, तथापि सूक्ष्म विचार करने पर विरोध का लेश भी नहीं रह जाता। एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि श्रौतों के तत्त्वावधारण के समय श्रुति के सामने युक्ति का कुछ भी आदर नहीं है, बल्कि उस समय युक्ति में औदासीन्य ही रहता है। यही श्रौतों का औचित्य भी है, यह पहले भी बता चुके हैं। एक बात और भी समझने योग्य है कि—'पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' (श्वे. ३।१९) इत्यादि वर्णन युक्ति के सर्वथा विरुद्ध हैं तो भी द्वैतवादियों ने भी युक्ति में उदासीन होकर स्वाभाविक ही परमात्मा में अप्दृत्व माना है, यही उनका औचित्य है। रामानुजाचार्य ने भी श्रीभाष्य में लिखा है—नहि परमात्मन करणायत्तद्रष्टृत्वादिकम् अपितु स्वभावत एव। (श्रीभाष्य ब्र. सू. १।२।१९) अर्थात् परमात्मा का जो द्रष्टृत्व श्रोतृत्व आदि गुण हैं वे इन्द्रियों के अधीन नहीं हैं किन्तु स्वाभाविक ही हैं। इस प्रकार उपर्युक्त विषयों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि शङ्कराचार्य का अद्वैतदर्शन औचित्यपूर्ण है।

अविद्या का विचार

शाङ्कर दर्शन में परमार्थभूत तत्त्व (पदार्थ) परमात्मा ही है। वही आत्मा ब्रह्म है। वही आत्मा एकरूप अर्थात् ब्रह्म है। चित् और ज्ञान शब्द का भी वही वाच्य है। यह किसी प्रकार की विशेषता से शून्य अर्थात् निर्विशेष है। वह इस प्रकार का है ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह अचिन्त्य होने से मन का भी अविषय है। उसी परमात्मा की शक्ति मायापदवाच्य अविद्या है। सत्त्व रज और तमोमय जगत् का मूल कारण वही अविद्या है। यह मायाशक्ति (अविद्या) पारमार्थिक तत्त्व न होने के कारण असत्स्वरूपा और व्यावहारिक तत्त्व होने से सत्स्वरूपा भी है। उभयात्मक होने के कारण ही अनिर्वचनीय भी कही जाती है। चित् के साथ इसका सम्बन्ध तीन प्रकार का होता है। जिस प्रकार आकाशतत्त्व घट, दशा,

मिट्टी आदि के भीतर और बाहर सर्वत्र व्याप्त है, उसी प्रकार वह चित् भी अविद्या के भीतर और बाहर सर्वत्र व्याप्त है। अविद्या में सर्वात्मना से चित् की व्याप्ति होने से अविद्या के कार्य सकल पृथिवी आदि मूर्त पदार्थों में और बुद्धि आदि अमूर्त पदार्थों में चित् की व्याप्ति सिद्ध हो जाती है। यह एक प्रकार का सम्बन्ध हुआ। जिस प्रकार, स्फटिक स्वच्छ होने के कारण समीप वस्तु में रहनेवाली रक्तिमा को ग्रहण करता है, उसी प्रकार वह अविद्या भी सत्त्वतः गुणत्रय के बीजभूत होने पर भी स्वरूपतः स्वच्छ ही है इसलिए चित् को ग्रहण करती है। यही चिदाभास कहा जाता है। यह द्वितीय प्रकार है। जिस प्रकार दर्पण अपने सामने वर्तमान मुख आदि के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है उसी प्रकार यह अविद्या भी चित् के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करती है, और प्रतिबिम्बित जो चित् है उसका भी चिदाभास शब्द से व्यवहार किया जाता है। यह तीसरा प्रकार है।

ईश्वर और जीव

इन तीन प्रकारों में प्रथम प्रकार से चित् की व्याप्ति जिस प्रकार समष्टिभूत अविद्या में रहती है, उसी प्रकार व्यष्टिभूत अविद्या और उसके कार्यभूत पृथिवी आदि मूर्त पदार्थों और बुद्धि आदि अमूर्त पदार्थों में भी वह रहती है। जिस प्रकार, आकाश की व्याप्ति मृत्-समूह में, मृत्-खण्ड में और उसके कार्यभूत घट-शराव आदि निखिल प्रपञ्च में सर्वत्र सर्वदा रहती है एवं द्वितीय और तृतीय प्रकार से होनेवाला चित् के साथ अविद्या का जो सम्बन्ध है वह स्वच्छ वस्तु में ही होता है। जिस प्रकार, स्वच्छ स्फटिक आदि मणियाँ समीपस्थ वस्तुओं की रक्तिमा का ग्रहण करती हैं अस्वच्छ मृत्तिका आदि नहीं उसी प्रकार दर्पण आदि ही प्रतिबिम्ब का ग्रहण करते हैं काष्ठ आदि नहीं। प्रथम प्रकार से आकाश की तरह चित् की व्याप्ति स्वच्छ और अस्वच्छ सकल पदार्थों में है। एक बात और भी है कि प्रथम या द्वितीय प्रकार से चित् का अविद्या से जो सम्बन्ध है उससे बुद्धि आदि में प्रतिभासमान जो चिदाभास या चित्प्रतिबिम्ब है उसमें भी प्रथम प्रकार से पुनः चित् की व्याप्ति रहती ही है। इस अवस्था में यह सिद्ध होता है कि जिस प्रकार बुद्धि चित् से अवच्छिन्न रहती है, उसी प्रकार चिदाभास या चित्प्रतिबिम्ब से भी। यही बात 'य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरः' (बृ० उ० ३।७।२२) इस वाक्य श्रुति से बोधित होती है।

आभास और प्रतिबिम्ब में बहुत कम अन्तर है। परन्तु, बुद्धि से अवच्छिन्न जो चित् है उससे आभास और प्रतिबिम्ब में इस प्रकार अन्तर देखा जाता है—जिस प्रकार आकाश का काम अवकाश देना है। घटाकाश भी अवकाश देने का काम करता ही है। अवकाश देने में घटाकाश घट की अपेक्षा नहीं करता उसी प्रकार उस शक्ति से अवच्छिन्न चित् भी शुद्ध चित् के कार्य का सम्पादन करता है घटाकाश की तरह अपनी उपाधि की अपेक्षा नहीं करता। यही माया-समष्टि से अवच्छिन्न जो चित् है वह ईश्वर पद का वाच्य होता है। वह ईश्वर माया के कार्य सत्त्व, रज और तम में सत्त्व गुण की उपाधि से युक्त होने से हरि रजोगुण की

उपाधि से युक्त होने से ब्रह्मा और तमोगुण की उपाधि से युक्त होने से शंकर, इन तीन रूपों को धारण करता है। इन तीनों में वर्तमान जो सत्त्व, रज और तम हैं, वे बिलकुल विशुद्ध नहीं हैं किन्तु अपने से भिन्न दोनों गुणों से अंशतः मिश्रित हैं। ये हरि, हर और हिरण्य-गर्भ भी ईश्वर से उपाधिवशात् भिन्न होने पर भी वस्तुतः अभिन्न ही हैं, जैसे मठाभ्यन्तर्वर्ती घटाकाश मठाकाश से अभिन्न होता है। इसीलिए, इन तीनों को भी ईश्वर कहा जाता है। इसी प्रकार व्यष्टिभूत अविद्या में प्रतिबिम्बित जो चित् है, वह जीव-पद का वाच्य होता है। जिस प्रकार दर्पण में स्थित प्रतिबिम्ब दर्पण का अनुसारी होता है, अर्थात् प्रतिबिम्ब दर्पण के निश्चल रहने पर निश्चल रहता है और दर्पण के चञ्चल रहने पर चञ्चल। दर्पण में जो मलिनता आदि हैं, उनसे भी वह प्रभावित होता है। इससे जीव और ईश्वर, दोनों का औपाधिक होना सिद्ध होता है। भेद केवल इतना ही है कि जीव उपाधिभूत अविद्या के अधीन है और ईश्वर स्वतन्त्र है, माया के वश नहीं। 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव', 'तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय' (बृ० उ० २।५।१९)' 'मायाभासेन जीवेशौ करोति (नृ० ता० उ०)' इत्यादि अनेक श्रुतियाँ इसी तत्त्व को प्रतिपादित करती हैं। जो माया विशुद्ध चित् को भी अपने सम्बन्ध-मात्र से विभक्त कर जीव ईश्वर आदि अनेक रूपों में दिखाई देती है वह और उसका सम्बन्ध दोनों अनादि माने जाते हैं। सभी दर्शनकार अपने-अपने मत के अनुसार मूल कारण को अनादि स्वीकार करते हैं इस कारण छः पदार्थ अनादि माने जाते हैं—जीव, ईश, विशुद्ध चित्, जीव और ईश्वर का भेद, अविद्या और उसके साथ चित् का योग। इसीको संक्षेपशारीरक में इस प्रकार लिखा है—

'जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः॥'

माया का चित् से जो सम्बन्ध है वह मायिक अर्थात् माया परिकल्पित ही है जिस प्रकार शुक्ति में रजत। चिदात्मा में जो माया का अध्यास है वही अनादि है और जितने अध्यास हैं सब सादि हैं।

अध्यास का स्वरूप

अध्यास किस प्रकार होता है इसका संक्षेप में निर्देश किया जाता है। सर्वप्रथम शुद्ध चिदात्मा में अनादि माया का अध्यास होता है इसके बाद अध्यास विशिष्ट चिदात्मा में माया के परिणामीभूत अहङ्कार का अध्यास होता है। केवल शुद्ध चिदात्मा में अहङ्कार का अध्यास नहीं होता; क्योंकि वह (शुद्ध चिदात्मा) स्वयं प्रकाश है। इसीलिए, तद्विषयक अज्ञान नहीं हो सकता किसी रूप से अज्ञात जो वस्तु है वही अध्यास का अधिष्ठान हो सकती है। प्रथम अध्यास तो अनादि है इसलिए उसमें अज्ञान की अपेक्षा नहीं होती। अहङ्कार के अध्यास से विशिष्ट जो चिदात्मा है, उसमें अहङ्कार के धर्म जो काम संकल्प आदि हैं और इन्द्रिय के धर्म जो काणत्व आदि हैं उनका अध्यास होता है। अहमिच्छामि 'अहं काणः',

इस प्रकार की प्रतीति सर्वानुभवसिद्ध है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिस चिदात्मा में अहङ्कार का अध्यास नहीं होता, उसमें इन्द्रियों के धर्म जो काम संकल्प आदि हैं उनका भी अध्यास नहीं हो सकता; किन्तु अध्यस्ताहंकार विशिष्ट में ही काम आदि का अध्यास हो सकता है। अहंकार के अध्यास से विशिष्ट उसी चिदात्मा में इन्द्रिय के धर्मों का भी अध्यास होता है। इन्द्रियाध्यासविशिष्ट चिदात्मा में इन्द्रिय के धर्मों का अध्यास नहीं हो सकता। क्योंकि 'अहं चक्षुः' (मैं आँख हूँ) इस प्रकार की प्रतीति किसी को नहीं होती।

एक बात और भी है कि, समीप रहनेवाली सभी वस्तुओं का अध्यास अवश्य होता ही है इस प्रकार का यदि कोई नियम रहता तब तो किसी प्रकार मानना ही होता परन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि प्रतीति के अनुसार ही अध्यास होता है अन्यथा नहीं। यदि 'चक्षुरहम्' इस प्रकार की प्रतीति होती, तो इन्द्रियों का भी अध्यास समझा जाता परन्तु ऐसी प्रतीति नहीं होती है।

यहाँ एक शङ्का होती है कि यदि इन्द्रियों का अध्यास न मानें तो इन्द्रियों के धर्मों का अध्यास किस प्रकार हो सकता है? इसका उत्तर यही है कि इन्द्रियों का कहीं अध्यास नहीं होता है, यह बात तो नहीं है वरन् केवल अहंकाराध्यासविशिष्ट चिदात्मा में इन्द्रियों का अध्यास नहीं होता है, यही तात्पर्य है। सामान्यासविशिष्ट चिदात्मा में तो इन्द्रियों का अध्यास होता ही है; क्योंकि 'चक्षुषा पश्यामि' (आँख से देखता हूँ), इस प्रकार का व्यवहार लोक में प्रसिद्ध है और यह प्रतीति घट पट आदि के समान अध्यस्त इन्द्रियों की ही हो सकती है; क्योंकि भूत और भौतिक एकतापन्न चिदात्मा में ही कल्पित हैं और अहंकाराध्यासविशिष्ट जो चिदात्मा है उसी में मनुष्यादिवैशिष्ट्य से देह का अध्यास होता है; क्योंकि 'अहं मनुष्यः', इस प्रकार की प्रतीति लोक में अनुभूत है। एक बात और है कि देह का भी सामान्य रूप से अध्यास नहीं होता है क्योंकि 'देहोऽहम्' (मैं देह हूँ) इस प्रकार सामान्यतः प्रतीति नहीं होती। और भी, मनुष्यादि के अध्यास से विशिष्ट जो चिदात्मा है उसमें स्थूलत्वादि देह-धर्मों और पुत्र भार्या आदि धर्मों का अध्यास होता ही है, क्योंकि 'अहं स्थूलः' (मैं मोटा हूँ), ऐसी प्रतीति होती है, और पुत्र के पूजित होने पर मैं ही पूजित हुआ इस प्रकार का भी व्यवहार लोक में देखा जाता है।

एक बात और भी ज्ञातव्य है कि 'इदं रजतम्' (यह रजत है) की प्रतीति से शुक्ति में जो रजत का अध्यास होता है उस अध्यस्त रजत में शुक्तिगत जो इदन्त्व-धर्म है उसका पुनः अध्यास होता है। इसी प्रकार पूर्वोक्त समस्त अध्यास-स्थलों में अध्यस्त जो आधार धर्मादि हैं उनका पुनः अध्यास होता है इसी को 'अन्योन्याध्यास ग्रन्थि' कहते हैं। जिस प्रकार, दो रज्जुओं के परस्पर जोड़ने से दृढ़ ग्रन्थि हो जाती है उसी प्रकार अध्यास-स्थलों में भी अन्योन्याध्यास से दृढ़ ग्रन्थि हो जाती है।

इस प्रकार की अध्यास परम्परा में भी शुद्ध चिदात्मा किसी प्रकार भी अशुद्ध (दूषित) नहीं होता है। कारण अध्यास का जो अधिष्ठान है उसका आरोपित

वस्तु के साथ किसी प्रकार भी स्पर्श वस्तुतः नहीं होता। इस पर आचार्यों ने भी कहा है—

> यदि भूमिकस्परवती मृगतृष्णाजलवाहिनी सरित्सुद्धरति।
> मृगवारिपूरपरिपूरवती न नदी तमोपमूर्वं स्पृशति॥

तात्पर्य यह है कि ऊपर भूमि मृगतृष्णा-जल की वाहिनी सरिता का उद्वहन अर्थात् स्पर्श नहीं करती, और मृगमरीचिकारूपी जल से परिपूर्ण नदी भी ऊपर भूमि का स्पर्श नहीं करती, अर्थात् ऊपर भूमि और मृगतृष्णा जल का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार अनादि सम्बन्ध से चिदात्मा के साथ सम्बद्ध जो माया है उसमें चिदात्मा सूक्ष्म होने के कारण, भीतर प्रवेश करता हुआ और व्यापक होने के कारण उसके बाहर भी रहता हुआ परिलक्षित होता है। एवम्प्रकारेण माया से वस्तुतः असम्बद्ध चिदात्मा, माया उपाधि से युक्त होने के कारण ईश्वर कहा जाता है। केवल चिदात्मा में ईशितृत्व (शासनकर्तृत्व) होना सम्भव नहीं है; क्योंकि वह निर्लेप है। वह साक्षी होने के कारण मायाविशिष्ट भी नहीं हो सकता प्रत्युत माया से असम्बद्ध ही रहता है। माया के जड़ होने से मायाविशिष्ट में साक्षित्व भी नहीं हो सकता है। इसलिए, चिदात्मा माया के सम्बन्ध से ईश्वर और माया से असम्बद्ध होने के कारण साक्षी भी कहा जाता है। माया भी चिदात्मा के सम्बन्ध से गुणवैषम्य के द्वारा परिणामोन्मुख होती है और गुणवैषम्य होने से ही अनेक प्रकार के परिणाम होते रहते हैं। कोई परिणाम रजोगुण और तमोगुण के अंशतः मिश्रण रहने से सत्त्व प्रधान होता है वही शुद्ध सत्त्व प्रधान कहा जाता है पुनः उस शुद्ध सत्त्व प्रधान के भी परिणाम रजोगुण-तमोगुण के अंशतः सम्मिश्रण होने से सत्त्व-प्रधान ही होते हैं। किन्तु, यह मलिनसत्त्व प्रधान कहा जाता है। इस प्रकार, मलिनसत्त्व प्रधान प्रकृति के अभिभूत अनन्त प्रकार के सत्त्व प्रधान ही प्रकृति के परिणाम होते हैं।

यहाँ यह भी समझना चाहिए कि सत्त्व प्रधान अभिभूत प्रकृति के जो परिणाम हैं उन्हीं में चित् का प्रतिबिम्ब पड़ता है। शुद्ध रजोगुण तमोगुण प्रधान अथवा मलिन रजोगुण-तमोगुण प्रधान जो प्रकृति के परिणाम हैं उनमें चित् का प्रतिबिम्ब कभी नहीं पड़ता; क्योंकि वे शुद्ध रजोगुण या तमोगुण-प्रधान होने के कारण अस्वच्छ होने से प्रतिबिम्ब के ग्रहण करने में असमर्थ होते हैं। और, सत्त्व प्रधान-अभिभूत प्रकृति-परिणामों के समूह में भी चित् का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है जैसे अनेक दर्पणों के परस्पर सम्मिलित होने पर भी मिलकर एक प्रतिबिम्ब के ग्रहण करने में उनका असामर्थ्य ही देखा जाता है। इसी अभिभूत मलिनसत्त्व प्रधान प्रकृति के अनन्त परिणामों में चित् के जो प्रतिबिम्ब हैं वे ही जीव कहे जाते हैं। इसी बात को विद्यारण्यमुनि ने पञ्चदशी में दूसरे शब्दों में कहा है—शुद्ध सत्त्व प्रधान-प्रकृति के परिणामों को माया और मलिनसत्त्व प्रधान-प्रकृति के परिणामों को अविद्या कहते हैं एवं मायोपाधि से अवच्छिन्न चित् (चैतन्य) को ईश्वर और अविद्योपाधि से अवच्छिन्न चित् को जीव कहते हैं। इन दोनों (ईश्वर और जीव) में

अब यहाँ यह सन्देह होता है कि सब श्रुतियों की उपपत्ति सिद्ध हो जाने पर भी परस्परविरुद्ध भेद, ऐक्य और घटक इन तीनों का कथन क्यों किया ? इसका उत्तर यही होता है कि वेदान्त-वाक्यों की प्रवृत्ति मुमुक्षु जनों के हित के लिए ही हुई है और मुमुक्षुओं का परमसाध्य जो मोक्ष है, उसी का उपपादन ऐक्यप्रतिपादक श्रुतियों से किया गया है। मोक्ष का साधनभूत जो परमात्म-दर्शन है, वह साधकों के भेददर्शी होने के कारण ही भेदप्रतिपादक श्रुतियों से वर्णित है। घटक श्रुति आत्मदर्शन के मार्ग को बताती हुई कहती है—साधकों को चाहिए कि अन्तर्यामी होने के कारण परमात्मा का अनुसन्धान करे। श्रुति के अर्थों के ध्यानपूर्वक अध्ययन और मनन करने से उसका तात्पर्य स्पष्ट प्रतीत होता है कि पूर्वोक्त अर्थ ही युक्त है। इस प्रकार, जीव और परमात्मा के अभेद (एकत्व) सिद्ध हो जाने पर भी किसी का प्रश्न होता है कि यदि आत्मा में एकत्व-धर्म मानते हैं, तो आत्मा सविशेष हो जाता है निर्विशेष नहीं रहता, जो शांकर मत का परम सिद्धान्त है। यदि एकत्व को न मानें, तब तो द्वैत गले पड़ जाता है, अद्वैत सिद्ध नहीं होता। इसका उत्तर यही होता है कि एकत्व कोई धर्मान्तर नहीं है, बल्कि द्वित्व का अभाव-रूप ही है। अर्थात्, वहाँ द्वित्व का सर्वथा अभाव है।

ब्रह्म में श्रुति-प्रमाण की गति

'न जीवो म्रियते' (छा० उ० ६।११।३) जीवः स विज्ञेयः (श्वेत० उ० ५) इत्यादि अनेक श्रुतियाँ जीव के विषय में प्रमाण हैं। इसी प्रकार ईश्वर के विषय में भी 'ईश्वरः सर्वभूतानां (म० ना० उ० १७।५) तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्' (श्वेत० उ० ६।७) इत्यादि श्रुतियाँ प्रसिद्ध हैं। परन्तु शुद्ध निर्विशेष और अखण्ड चिद्रूप ब्रह्म तो किसी प्रकार भी श्रुति का विषय नहीं हो सकता है और न अनुमान का ही। इस अवस्था में उक्त ब्रह्म किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता। कारण यह है कि निर्विकार और अखण्ड मानने में वाच्य-वाचक-भाव-रूप सम्बन्ध भी उसमें नहीं होता इस अवस्था में वाच्य-मर्यादा से श्रुति भी ब्रह्म के उपपादन में समर्थ नहीं होती। इस असामर्थ्य को 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि श्रुतियाँ भी स्वयं स्पष्ट रूप में स्वीकार करती हैं।

इतना होने पर भी मुमुक्षु-जनों के कल्याण के लिए वात्सल्यवश श्रुति भी किसी प्रकार निषेध-मुख से शुद्ध चिद्घन-रूप ब्रह्म का बोध कराने में समर्थ हो ही जाती है। जिस प्रकार नवोढ़ा नायिका से उसकी सखी पूछती है कि इस जनसमूह में तुम्हारा पति कौन है ? उस समय वह नायिका लज्जा से कुछ भी नहीं बोलती। जब पुनः अंगुलि के निर्देश से पूछती है कि क्या यह लाल मुरेठा बाँधे तुम्हारा पति है ? तो वह कहती है, नेति अर्थात् नहीं। फिर सखी पूछती है कि क्या यह हाथ में छड़ी लिये है वह पति है ? उत्तर देती है—नेति इसी प्रकार जब सबके पूछने पर उसकी सखी यही उत्तर पाती है—नेति नेति। तब अन्त में उसके पति के ही ऊपर अंगुलि निर्देशकर पूछती है इस पर वह नवोढ़ा नायिका चुप हो जाती है कुछ भी नहीं बोलती। इसी मौन उत्तर से वह चतुर सखी समझ लेती है कि यही इसका पति है।

क इसी प्रकार 'स एष नेति नेति' (बृ उ ३।९।२६); 'अस्थूलम् अनणु' (बृ उ ३।८।८) 'अशब्दमस्पर्शम्' (क उ १।३।१५) इत्यादि श्रुतियाँ पदेश-मुख से ही अप्राप्य अप्रत्यक्ष अचिन्त्य चिद्घन आनन्दस्वरूप ब्रह्म के ध कराने में सफल और चरितार्थ हो जाती है।

न्ध का स्वरूप

चित् सम्बन्ध से माया का जो परिणाम होता है उन पदार्थ निरूपण-प्रसङ्ग में पहले ही कह चुके हैं। भूत और भौतिक निखिल जगत् प्रपञ्च मूर्त, अमूर्त और अव्याकृत तीन प्रकार के भेद से जो पहले कह आये हैं वे सब माया के ही परिणाम हैं। माया और माया के परिणामों के साथ होनेवाला जो चित् का सम्बन्ध है वही बन्ध है। मैं बद्ध हूँ, मैं सुखी हूँ मैं दुःखी हूँ और मैं शरीरी हूँ—इत्यादि अनेक प्रकार से उसका अनुभव होता है। सुख-दुःख का जितना भी अनुभव होता है उसका मूल कारण बन्ध ही है। 'न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति' (छा उ ८।१२।१) इस श्रुति का भी यही तात्पर्य है। अर्थात्, जबतक शरीर का सम्बन्ध रहेगा, तबतक प्रिय और अप्रिय का अपहनन अर्थात् नाश नहीं हो सकता। प्रिय अप्रिय का जो अस्पर्श है वही मोक्ष है। जबतक द्वैत दर्शन रहेगा तबतक किसी प्रकार भी प्रिय और अप्रिय का असंस्पर्श नहीं हो सकता। इसीलिए, आत्मैक्यस्वरूप की सम्पत्ति अपेक्षित होती है। अर्थात्, आत्मैक्यस्वरूप की सम्पत्ति के बिना प्रिय और अप्रिय के असंस्पर्श-रूप मोक्ष भी दुर्लभ है। और, आत्मैक्यस्वरूप सम्पत्ति भी कर्म और कर्म मूलक शरीरादि सम्बन्धरूप पाश विमोचन के बिना दुर्लभ ही है। आत्म-विज्ञान के बिना पाश विमोचन भी दुर्लभ ही है। आत्म विज्ञान भी अधिकार के बिना दुर्घट है। इसलिए, अधिकार प्राप्ति के लिए चित्त-शुद्धि परमावश्यक है। क्योंकि चित्त-शुद्धि ही, अधिकार के सम्पादन द्वारा मोक्ष की इच्छा को उत्पन्न कर उसके द्वारा आत्म विज्ञान के प्रतिपादन करने में सहायक होती है। जबतक चित्त की शुद्धि न हो तबतक जन्म साफल्य के लिए निष्काम कर्म अवश्य करते रहना चाहिए। निष्काम कर्म की कर्त्तव्यता के विषय में तीन कल्पों (पक्ष या प्रकार) की कल्पना की जाती है।

प्रथम कल्प—निष्काम कर्म केवल चित्त-शुद्धि का कारण होता है। चित्त-शुद्धि हो जाने पर मोक्ष की इच्छा स्वभावतः हो जाती है। इसके बाद गुरु के उपदेश आदि के द्वारा आत्म-विज्ञान होता है। द्वितीय कल्प—निष्काम कर्म ही चित्त शुद्धि के द्वारा मोक्ष की इच्छा का कारण होता है। मोक्ष की इच्छा के बाद गुरु के उपदेश आदि से आत्म-विज्ञान होता है। तृतीय कल्प—निष्काम कर्म ही आत्म-विज्ञान का कारण होता है। वह निष्काम कर्म ही चित्त शुद्धि, मोक्षेच्छा और गुरु के उपदेश आदि के द्वारा आत्म-विज्ञान का सम्पादन करता है। प्रत्येक अवस्था में आत्मैक्य-विज्ञान के बाद द्वैत के दर्शन न होने से लेशतोऽपि कर्म का अवसर नहीं रहता और किसी काम के लिए कर्म की आवश्यकता भी नहीं रह जाती।

कर्म का उपयोग

अब प्रकरणवश, कर्म का उपयोग किस प्रकार होता है, यह विचारणीय है। निष्काम कर्म, चित्त-शुद्धि और मोक्षेच्छा, इन तीनों में कौन किसका कारण है और कौन किसका कार्य यही विचार का विषय है।

पहले यह जानना आवश्यक है कि निष्काम कर्म से ही चित्त-शुद्धि होती है, सकाम कर्म से नहीं। क्योंकि, सकाम कर्म तो राग आदि मलों को ही उत्पन्न करता है, जिससे चित्त अशुद्ध ही रहता है। और, जबतक चित्त-शुद्धि नहीं होती, तबतक निष्काम कर्म भी नहीं हो सकता। कारण यह है कि राग आदि मलों से युक्त मन में निष्काम कर्म का आचरण असम्भव सा ही है। इस अवस्था में अन्योन्याश्रय दोष का होना अनिवार्य है। इसी प्रकार, मोक्ष की इच्छा होने पर ही चित्त-शुद्धि के लिए यत्न होना सम्भव है। चित्त-शुद्धि होने पर ही मोक्ष की इच्छा हो सकती है यह दूसरा अन्योन्याश्रय है। और भी निष्काम कर्माचरण के बाद ही चित्त-शुद्धि के द्वारा मोक्ष की इच्छा हो सकती है। मोक्ष की इच्छा होने के बाद ही निष्काम कर्म हो सकता है यह तीसरा अन्योन्याश्रय होता है। अब यहाँ तीनों की व्यवस्था किस प्रकार की जायगी यह विचारणीय है।

इसकी क्रमिक व्यवस्था इस प्रकार होती है—पहले जब सकाम कर्मों के फल का बार-बार अनुभव करने पर उन कर्मफलों में अल्पता और अस्थिरता की बुद्धि होती है तब चित्त में वैराग्य का अंकुर उदित होता है। उस वैराग्य से काम आदि मलों के न्यून होने पर चित्त की शुद्धि और मोक्ष की इच्छा शनैः शनैः बढ़ने लगती है। यद्यपि निष्काम कर्माचरण श्रुतिविहित होने से विद्यमान ही रहता है, तथापि वैराग्य के उदय होने के बाद सकाम कर्म का ह्रास होने से सबल होकर मोक्ष की इच्छा बढ़ने लगती है। इससे सिद्ध होता है कि उक्त तीनों में कार्यकारणभाव उत्पत्ति में नहीं है किन्तु वृद्धि में ही है। अर्थात्, उक्त तीनों की सहायता से तीनों में उत्कर्ष का ही आधिक्य होता है।

साक्षात्कार के साधन

इस प्रकार, निष्काम कर्म के आचरण से जब चित्त सर्वथा विशुद्ध हो जाता है तब तीव्र मुमुक्षा उत्पन्न होती है। इसके बाद ही आत्म-विज्ञान सम्पादन करने के योग्य होता है। मोक्ष की तीव्र इच्छा यही है कि जिसके होने पर मनुष्य क्षणभर भी मोक्ष के लिए यत्न किए बिना नहीं रह सकता। आत्मसाक्षात्कार का ही नाम आत्म-विज्ञान है। जिस प्रकार माता अपने पुत्रों को उन्मार्ग से सन्मार्ग में प्रवृत्त कराने के लिए अनेक प्रकार के यत्न करती है उसी प्रकार श्रुति भी मुमुक्षुजनों को सन्मार्ग में प्रवृत्त कराने के लिए मोक्ष के साधनीभूत आत्मसाक्षात्कार का उपदेश करती है—आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। (बृ० उ० १।४।६)। अर्थात् आत्मा का दर्शन—साक्षात्कार करना चाहिए। उपाय के बिना साक्षात्कार

होना असम्भव है, इसलिए श्रुति दर्शन का उपाय भी स्वयं बताती है—'श्रोतव्यः' अर्थात् श्रवण करना चाहिए। 'दशमस्त्वमसि' इस वाक्य में जिस प्रकार शब्द से ही दशम आत्मा का साक्षात्कार होता है, उसी प्रकार यहाँ भी शब्दरूप श्रुति के श्रवण से ही आत्मा का साक्षात्कार हो सकता है यही श्रुति का तात्पर्य है।

इस प्रकार का साक्षात्कार आत्मा की अविरत भावना से ही हो सकता है। जिस प्रकार, चित्त के कल्मष के नाश न होने से नास्तिकों को श्रुतियों पर विश्वास नहीं होता उसी प्रकार यदि श्रुति के अर्थ में असम्भावना या विपरीत भावना से दृढ़तर विश्वास नहीं हो तो अविरत भावना भी असम्भव है। इसलिए, असम्भावना या विपरीत भावना की निवृत्ति के लिए मनन की आवश्यकता समझती हुई श्रुति श्रवण के बाद मनन, 'मन्तव्य' का ही उपदेश करती है। निरन्तर आत्मविषयक अनुसन्धान का ही नाम मनन है। इसी का नाम अनवरत भावना है। अनवरत भावना के बिना निदिध्यासन नहीं हो सकता इसीलिए 'मन्तव्यः' के बाद 'निदिध्यासितव्यः'—निदिध्यासन का विधान श्रुति करती है। निदिध्यासन का अर्थ तन्मयता ही होता है।

मोक्ष का स्वरूप

मोक्ष में कुछ अपूर्व वस्तु की प्राप्ति नहीं होती है किन्तु मूलस्वरूप में जीवात्मा का जो अवस्थान है वही 'मोक्ष' कहा जाता है। उस अवस्था में कुछ अपूर्व माहात्म्य नहीं रह जाता है। यद्यपि आत्मा का, बद्धावस्था में भी मूल स्वरूप में अवस्थान रहता ही है तथापि वह अज्ञात है अर्थात् उसे आत्म-स्वरूप का ज्ञान नहीं रहता। इसलिए, अज्ञान या अविद्या का नाश होना ही मोक्ष है यह सिद्ध होता है। श्रीगौडपादाचार्य ने माण्डूक्य-कारिका में लिखा है—

'अविद्यास्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृतः।'

अर्थात् अविद्या या अज्ञान के नाश का ही नाम मोक्ष और अविद्या का ही नाम बन्ध है। उक्त मोक्ष का साधन केवल एक ज्ञान (विद्या) ही है और पूर्वोक्त आत्मसाक्षात्कार का ही नाम विद्या है। आत्मा के साक्षात्कार होने पर जीवित मनुष्य भी मुक्त ही है। इसीका नाम जीवन्मुक्त है। इस मुक्तावस्था में द्वैत के भान होने पर भी कोई क्षति नहीं है। जिस प्रकार, नेत्र में तिमिर (मोतियाबिन्द) आदि दोष से दो चन्द्रमा देख आने पर दो चन्द्र किसलिए हुए, इस प्रकार का सन्देह किसी को नहीं होता है। अथवा सन्देह होने पर भी जगत् में एक ही चन्द्रमा है दूसरा नहीं इस प्रकार के आप्त वचन से वह निवृत्त हो जाता है।

यद्यपि आप्त वचन से दो चन्द्रों के अज्ञान का नाश होने पर भी दोष से ही चन्द्रों का भान होता ही है तथापि फिर शङ्का नहीं होती कि ब्रह्मा ने दूसरे चन्द्र को क्यों बनाया। इसलिए, जिस प्रकार दो चन्द्रों को देखना भी किसी काम का नहीं होता उसी प्रकार जीवन्मुक्त को होनेवाला जगत् का अवभास किसी काम का नहीं होता। क्योंकि उसे निश्चित ज्ञान है कि ये सब अज्ञान हैं अविद्या हैं, इसलिए वह उपेक्षायुक्त है।

इस अवस्था में, उसका आत्मा स्वकाभिमान होकर अपने मूलस्वरूप में आने के लिए उद्यत हो जाता है। जिस प्रकार, स्वामी अपने भृत्य के ऊपर से जब अपना ममत्व हटा लेता है, तब वह भृत्य भी अपने घर की ओर उन्मुख हो जाता है।

यही बात 'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः' (मु उ ३।२।७) इस श्रुति से सिद्ध होती है। प्राणियों के शरीर का परिणाम दो प्रकार का होता है—एक जीव से स्वकाभिमान शरीर का विघटन-रूप और दूसरा, जीव से गृहीताभिमान का संरोहण-रूप। प्राणियों की मृतावस्था में शरीर में रहनेवाले जो स्थूलभूत हैं, वे अपनी-अपनी प्रकृति में जाने के लिए तैयार हो जाते हैं और सद्योमुक्त के शरीरगत जो सूक्ष्म तत्त्व हैं, वे भी अपने मूल कारण में जाने के लिए तैयार हो जाते हैं। यही दोनों में विशेषता है। एक बात और है कि प्रेतावस्था में जिनका विघटन प्रारम्भ हो गया है, ऐसे स्थूल भूत भी शरीर के रूप में प्रत्यभिज्ञात होते हैं। इसी प्रकार, सद्योमुक्त के सूक्ष्मभूत भी, जिनका विघटन प्रारम्भ हो गया है, कुछ काल पर्यन्त संस्कार के वश से अनुवृत्त होते हैं। किन्तु, उनका संस्कार भी क्षयोन्मुख रहता है; क्योंकि वृद्धि का कुछ कारण नहीं है। संस्कार के अवसान में ही कैवल्य या मुक्ति की प्राप्ति होती है। जिसका आत्म-विज्ञान सामान्यतः उत्पन्न होकर भी साक्षात्कार अवस्था को प्राप्त नहीं करता, वह देवयान-मार्ग द्वारा क्रमशः साक्षात्कार अवस्था को प्राप्त होता है।

न्याय-दर्शन

न्याय-दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम हैं। एक समय व्यासदेव ने इस मत को दूषित करकर तिरस्कृत किया था। इस पर गौतम ने प्रतिज्ञा की, कि मैं व्यास का मुख इस नेत्र से नहीं देखूँगा। बाद में व्यासदेव ने अनुनय-विनय से गौतम को प्रसन्न किया इस पर गौतम ने अपने योग-बल से पैर में नेत्र प्रकटित कर उसी नेत्र से व्यास के मुख को देखा। इसीलिए, इस दर्शन को 'अक्षपाद-दर्शन' कहते हैं।

इस दर्शन में भी वैशेषिक-दर्शन की तरह पदार्थों के तत्त्व-ज्ञान से निःश्रेयस् की सिद्धि बताई जाती है। न्याय-दर्शन में सोलह पदार्थ माने गये हैं—प्रमाण प्रमेय संशय प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्त अवयव तर्क निर्णय, वाद जल्प वितण्डा, हेत्वाभास छल जाति और निग्रहस्थान। इन्हीं पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति बताई गई है।

न्याय-शास्त्र के पाँच अध्याय हैं—प्रत्येक अध्याय में दो दो आह्निक है। प्रथम अध्याय के प्रथम आह्निक में प्रमाण से लेकर निर्णय-पर्यन्त नव पदार्थों के लक्षण किये गये हैं। द्वितीय आह्निक में वाद आदि सात पदार्थों के लक्षणों पर विचार किया गया है। द्वितीय अध्याय के प्रथम आह्निक में संशय का परीक्षण उसका कारण और उसके स्वरूप पर विचार है तथा प्रत्यक्ष आदि जो चार प्रमाण हैं उनकी प्रामाणिकता का विवेचन है। द्वितीय आह्निक में अर्थापत्ति आदि का अन्तर्भाव दिखाया गया है। तृतीय अध्याय के प्रथम आह्निक में आत्मा शरीर इन्द्रिय और अर्थ इन चार प्रमेयों का परीक्षण किया गया है तथा द्वितीय आह्निक में बुद्धि और मन का परीक्षण किया गया है। चतुर्थ अध्याय के प्रथम आह्निक में प्रवृत्तिदोष प्रेत्यभाव फल दुःख और अपवर्ग का विचार किया गया है और द्वितीय आह्निक में बुद्धि और मन की परीक्षा की गई है। इस प्रकार तृतीय अध्याय के दो आह्निकों और चतुर्थ अध्याय के एक आह्निक में केवल प्रमेय की ही परीक्षा है। ये प्रमेय बारह हैं—आत्मा शरीर, इन्द्रिय अर्थ बुद्धि, मनःप्रवृत्ति दोष प्रेत्यभाव फल दुःख और अपवर्ग। चतुर्थ अध्याय के द्वितीय आह्निक में दोष-निमित्तकत्व का निरूपण हुआ है। और, यह बतलाया गया है कि परमाणु निरवयव हैं। पाँचवें अध्याय के प्रथम आह्निक में जाति का निरूपण और द्वितीय आह्निक में निग्रह-स्थान का निरूपण किया गया है। इस प्रकार कुल पाँच अध्याय विवृत हुए हैं।

प्रमाण आदि सोलह पदार्थों पर विचार

प्रमाण—अब यह विचार किया जाता है कि प्रमाण प्रमेय इत्यादि जो सोलह पदार्थ बताये गये हैं उनमें सबसे पहले प्रमाण का ही क्यों निर्देश किया गया है?

गौतम का यह सिद्धान्त है—'मानाधीना मेयसिद्धिः', अर्थात् प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के ही अधीन है। प्रमाण के बिना किसी भी वस्तु की सिद्धि नहीं होती इसीलिए सर्वप्रथम प्रमाण का विचार किया गया है। प्रमाण की परिभाषा करते हुए महर्षि गौतम ने कहा है कि 'यथार्थ अनुभव का जो कारण है, और उस अनुभव का प्रमा से नित्य सम्बन्ध जो आश्रय है, वही प्रमाण कहा जाता है। प्रमा के आश्रय और प्रमा से नित्य सम्बन्ध होने से ही परतन्त्र सिद्धान्त-सिद्ध ईश्वर को भी न्याय-दर्शन में प्रमाण माना जाता है। समान तन्त्र से सिद्ध और परतन्त्र से असिद्ध का नाम प्रतितन्त्र-सिद्धान्त है। महर्षि गौतम ने भी कहा है समानतन्त्रसिद्ध परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः अर्थात् समान तन्त्र से सिद्ध और दूसरे तन्त्र से असिद्ध का नाम प्रतितन्त्र-सिद्धान्त है। ईश्वर का प्रामाण्य समान तन्त्र वैशेषिक से सिद्ध है, और परतन्त्र मीमांसा से असिद्ध है। इसलिए, ईश्वर को प्रतितन्त्र-सिद्धान्त सिद्ध कहा जाता है। प्रमाण के लक्षण में निवेशित प्रमा का जो आश्रय है, उसीसे नैयायिकों का अभिमत ईश्वर का प्रामाण्य सिद्ध होता है। ईश्वर के प्रामाण्य के विषय में महर्षि गौतम ने कहा है—'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्' अर्थात् मन्त्र और आयुर्वेद की तरह आप्त के प्रामाण्य होने से ही आप्तोपदेश-रूप वेद का भी प्रामाण्य होता है। आप्त उसको कहते हैं जिसने धर्म का साक्षात्कार कर लिया है यथार्थ कहनेवाला है और रागादि वश से भी असत्य बोलनेवाला नहीं है। इससे स्पष्ट है कि नैयायिकों का अभिमत जो ईश्वर का प्रामाण्य है वह महर्षि गौतम को भी मान्य है। ईश्वर प्रामाण्य के विषय में प्रसिद्ध नैयायिकशिरोमणि उदयनाचार्य ने भी न्यायकुसुमाञ्जली के चतुर्थ स्तवक में कहा है—

> मितिः सम्यक् परिच्छित्तिः तद्वत्ता च प्रमातृता ।
> तदयोगव्यवच्छेदः प्रामाण्यं गौतमे मते ॥
> साक्षात्कारिणि नित्ययोगिनि परद्वारानपेक्षस्थितौ ।
> भूतार्थानुभवे निविष्टनिखिलप्रस्ताववस्तुक्रमः ॥
> लेशादृष्टिनिमित्तदुष्टिविगमप्रभ्रष्टशङ्कातुषः ।
> शङ्कोन्मेषकलङ्किभिः किमपरैस्तन्मे प्रमाणं शिवः ॥ —न्या (कु ४।५-६)

तात्पर्य यह है कि सम्यक् परिच्छित्ति[1] का नाम मिति है। वही प्रमा है। उसका जो आश्रय है, वही प्रमाता है। उस मिति के अयोग-व्यवच्छेद[2] को ही गौतम-दर्शन में प्रामाण्य माना गया है। द्वितीय का तात्पर्य यह है कि शिव का जो भूतार्थानुभव[3] है, वह साक्षात्कारी,[4] नित्य योगी और परद्वारानपेक्षस्थित[5] है। अर्थात्, प्रपञ्च के प्रलय-काल में भी पूर्वकल्पस्थित त्रैलोक्यगत पदार्थों का यथार्थ प्रत्यक्षानुभव इन्द्रियों की सहायता के बिना ही अविच्छिन्न रूप से ईश्वर में नित्य वर्तमान रहता है। वह परमात्मा

---

१ सम्यक् ज्ञान। २. [illegible] अर्थात् [illegible] का व्यवच्छेद ([illegible]), [illegible]। ३ [illegible] सत्य पदार्थों का यथार्थ अनुभव। ४ प्रत्यक्ष [illegible]। ५ दूसरे किसी की अपेक्षा से ही [illegible] अर्थात् इन्द्रियों [illegible] है, [illegible] नहीं है।

सृष्टि के प्रारम्भ में पूर्वकल्प में, सिद्ध पदार्थों को कल्पना मात्र से देखना प्रारम्भ करता है, और वे पदार्थ कल्पनामात्र से ही पूर्ववत् उत्पन्न होने लगते हैं। श्रुति भी कहती है—'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' अर्थात् परमात्मा ने पूर्वकल्प के सदृश ही सब पदार्थों को कल्पना-मात्र से रचा। इस प्रकार, पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त अपने प्रत्यक्ष अनुभवों में सबको निश्चित कर दिया है। निखिल विद्यमान वस्तुओं का उत्पत्त्यादि क्रम जिसमें ऐसा पूर्वोक्त शिव (लेशादृष्टि, अर्थात् लेशमात्र भी अदृष्टि—अदर्शननिमित्तक जो त्रुटि अर्थात् दोष है उसके अभाव से नष्ट हो गया है शङ्का-रूपी दुःख जिसका ऐसा शिव ही) नैयायिकों के मत में प्रमाण है। तात्पर्य यह है कि हमारे सदृश साधारण मनुष्यों को वस्तुतः यथार्थ ज्ञान होने पर भी अनेक प्रकार की शङ्काएँ उत्पन्न हुआ करती हैं। कारण यह है कि प्रत्यक्ष वस्तुओं का अनुभव होने पर भी सर्वांशमय से ज्ञान नहीं होता इसलिए एक अंश का जो अज्ञान है उसी के द्वारा अनेक दोष उत्पन्न होते हैं जिससे अनेक प्रकार की विपरीत भावना होने की सम्भावना बनी रहती है। इस प्रकार का लेशतः अदर्शन भी ईश्वर में सम्भावित नहीं है। शङ्का के उद्गम से कलङ्कित प्रमाणों से क्या सम्भावन हो सकता है इसलिए नैयायिकों के मत में शङ्का-रूपी कलंक से रहित ईश्वर ही प्रमाण है।

इन उदाहरणों से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि सभी नैयायिकों के मत से, प्रमा के आश्रय होने के कारण ईश्वर ही वस्तुतः प्रमाण है। यह प्रमा के आश्रय-रूप प्रमाण का उदाहरण है।

प्रमिति का कारण-रूप जो प्रमाण है वह चार प्रकार का होता है—प्रत्यक्ष अनुमान उपमान और शब्द। इन्द्रिय और विषयों के सन्निकर्ष से उत्पन्न जो ज्ञान है वही 'प्रत्यक्ष' है। जैसे सामने रखे हुए घटादि में 'यह घट है यह पट है' इत्यादि ज्ञान को 'प्रत्यक्ष' कहते हैं।

अनुमिति का जो कारण है उसी को 'अनुमान' या लिङ्ग-परामर्श कहते हैं। व्याप्ति के बल से जो अर्थ का बोध कराता है उसी को लिङ्ग या हेतु कहते हैं। जैसे धूम अग्नि का हेतु या लिङ्ग कहा जाता है। क्योंकि धूम ही व्याप्ति के बल से अग्नि का बोधक होता है। जहाँ जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य है इस प्रकार का जो साहचर्य का नियम है वही व्याप्ति है। उस व्याप्तिविशिष्ट लिङ्ग का जो पर्वत आदि पक्ष में ज्ञान होता है वही लिङ्ग-परामर्श कहा जाता है। वही अनुमान है इसी से अग्नि की अनुमिति होती है।

अतिदेश-वाक्य के स्मरण के साथ-साथ जो सदृश वस्तु का ज्ञान होता है उसी को 'उपमान' कहते हैं। जैसे—'गो-सदृश गवय होता है' इस अतिदेश-वाक्य के श्रवण करने के बाद कदाचित् मनुष्य जङ्गल में जाकर गो सदृश जन्तु को देखता है और गो-सदृश गवय होता है इस अतिदेश-वाक्य का स्मरण करता है, उसी क्षण गो-सदृश यह गवय है इस प्रकार का ज्ञान उसे होता है। उसी ज्ञान का नाम उपमिति है।

आप्त वाक्य का नाम है 'शब्द'। जहाँ प्रत्यक्ष और अनुमान की गति नहीं है, उसका भी ज्ञान शब्द प्रमाण के द्वारा ही होता है। आप्त उसे कहते हैं, जिसने वस्तु-तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है और रागादि के वश से भी अन्यथा बोलनेवाला नहीं है।

प्रमेय—यथार्थ ज्ञान में भासित होनेवाला पदार्थ प्रमेय कहा जाता है। यह बारह प्रकार का होता है—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग। आत्मा का अर्थ है ज्ञान का आश्रय। उसके दो भेद हुए—जीवात्मा और परमात्मा। परमात्मा सर्वज्ञ और एक ही है। जीवात्मा प्रति शरीर में भिन्न है इसलिए अनेक है। दोनों व्यापक और नित्य हैं। सुख, दुःख आदि जो भोग हैं उनके साधन का नाम है शरीर। जिसके द्वारा सुख-दुःख का भोग होता है, वही शरीर कहा जाता है।

शरीर से संयुक्त और ज्ञान का कारण जो अतीन्द्रिय पदार्थ है वही इन्द्रिय कहा जाता है। द्रव्य, गुण, कर्म आदि जो वैशेषिक दर्शन में पदार्थ बताये गये हैं वे ही यहाँ पर अर्थ कहे जाते हैं। ज्ञान का नाम बुद्धि है। सुख-दुःख का जो ज्ञान है उसके साधन इन्द्रिय का नाम मन है। यह मन नाना प्रकार का होता है और प्रति शरीर में नियमेन रहनेवाला अणु और नित्य है।

मन, वचन और शरीर की जो क्रिया है वही प्रवृत्ति है। ये तीनों क्रियाएँ शुभ और अशुभ के भेद से दो-दो प्रकार की होती हैं। इस प्रकार छह प्रकार की प्रवृत्ति हुई। जिसके द्वारा प्रवृत्ति होती है वही दोष है। इसी का नाम राग, द्वेष और मोह भी है। इनके कारण ही कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्तियाँ होती हैं। मृत्यु के बाद पुनर्जन्म लेने का नाम प्रेत्यभाव है। इसी को पुनर्जन्म कहते हैं। सुख-दुःख के साक्षात्कार का नाम फल है। पीड़ा का नाम दुःख है। यह भी तीन प्रकार का होता है आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। शरीर और मन के रोग को आध्यात्मिक कहते हैं। धातु-वैषम्य के कारण शरीर में जो ज्वरादि सन्ताप होते हैं वे शारीरिक दुःख कहे जाते हैं। काम, क्रोध आदि से उत्पन्न जो रोग हैं उन्हें मानस रोग कहा जाता है। ये दोनों आध्यात्मिक रोग आभ्यन्तर उपाय से शमनीय होते हैं। सर्प, बिच्छू, व्याघ्र आदि से जो दुःख होता है वह आधिभौतिक कहा जाता है। यक्ष, राक्षस और ग्रह आदि के आवेश से जो दुःख होता है वह आधिदैविक कहा जाता है। आधिभौतिक और आधिदैविक ये दोनों प्रकार के दुःख बाह्य उपाय से वारणीय होते हैं। कहीं-कहीं इक्कीस प्रकार के दुःख माने गये हैं—जैसे, एक शरीर, छह इन्द्रियाँ, छह विषय और छह बुद्धि (चाक्षुष, रासन, घ्राणज, श्रावण, त्वाच तथा मानस) सुख और दुःख। यहाँ सुख को भी दुःख के सम्पर्क से दुःख ही माना गया है। शरीर आदि दुःख के साधन होने के कारण दुःख माने गये हैं। इनके अतिरिक्त बाह्य दुःख-साधन भी सोलह प्रकार के माने गये हैं। जैसे—परतन्त्रता, व्याधि, व्याधि, अपमान, शत्रु, दरिद्रता, भार्याहीन, कन्या, बाहुल्य, कुभार्या, कुपुत्र, कुग्रामवास,

कुस्वामी-सेवा दुःख, परगृहवास वर्षाकाल में प्रवास और बिना हल की खेती। मोक्ष को अपवर्ग कहते हैं। इस प्रकार, ये बारह प्रकार के प्रमेय हैं।

संशय—अनिश्चयात्मक ज्ञान को संशय कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है। साधारणधर्मनिमित्तक असाधारणधर्मनिमित्तक और विप्रतिपत्तिनिमित्तक। यह स्थाणु है या पुरुष? दोनों में रहनेवाला जो उच्चत्व और स्थूलत्वादि साधारण धर्म है, उनके ज्ञान के कारण ही यह स्थाणु है या पुरुष, इस प्रकार का संशय होता है, यह साधारणधर्मनिमित्तक है। पृथ्वी नित्य है अथवा अनित्य? यहाँ पृथ्वी का जो असाधारण धर्म गन्ध है वह अन्यत्र कहीं भी नित्य अथवा अनित्य में नहीं मिलता केवल पृथ्वी में ही उपलब्ध होता है इसलिए यहाँ असाधारण धर्म गन्ध के ज्ञान से ही संशय होता है इसलिए यह असाधारणधर्मनिमित्तक संशय है। विप्रतिपत्तिनिमित्तक संशय का उदाहरण यह है कि शब्द नित्य है अथवा अनित्य? कोई शब्द को नित्य कहते हैं और कोई अनित्य। यहाँ दोनों की विप्रतिपत्ति[1] से मध्यस्थ को संशय होता है। यह विप्रतिपत्तिनिमित्तक संशय कहा जाता है।

प्रयोजन—जिस उद्देश्य से मनुष्य किसी कार्य में प्रवृत्त होता है वही प्रयोजन है। जैसे ज्ञान के उद्देश्य से मनुष्य अध्ययन में प्रवृत्त होता है अथवा स्वर्ग के उद्देश्य से यज्ञ का अनुष्ठान करता है और मोक्ष के उद्देश्य से शम दम आदि का अनुष्ठान किया जाता है। प्रयोजन दो प्रकार का होता है—एक दृष्ट दूसरा अदृष्ट। दृष्ट्फल अव्यवधान[2] से दुःख निवृत्ति[3] को कहते हैं। यज्ञ का स्वर्गफल अदृष्ट है। महर्षि गौतम ने लिखा है—'यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत् प्रयोजनम्'।

दृष्टान्त—व्याप्ति ज्ञापन करने का जो स्थल है वही दृष्टान्त है। जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है इस आकार की जो व्याप्ति है उसके ज्ञापन के लिए जो महानस (रसोईघर) का उदाहरण दिया जाता है वही व्याप्ति-ज्ञापन का स्थल है। अतः धूम हेतु से अग्नि साधन में महानस दृष्टान्त होता है। इसी बात को प्रकारान्तर से महर्षि गौतम ने कहा है—'लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः'। तात्पर्य यह है कि लौकिक[4] और परीक्षक[5] इन दोनों का साध्य और साधन (हेतु) की समानाधिकरणविषयक जो बुद्धि है उसका साम्य जिस पदार्थ में हो वही दृष्टान्त है।

जैसे महानस में अग्नि और धूम की समानाधिकरणविषयक बुद्धि लौकिक और परीक्षक दोनों की समान है इसलिए धूम से अग्नि के साधन में महानस दृष्टान्त होता है। दृष्टान्त दो प्रकार का होता है—एक साधर्म्य दूसरा वैधर्म्य। धूम हेतु से अग्नि के साधन में महानस साधर्म्य दृष्टान्त है और जल तालाब आदि वैधर्म्य दृष्टान्त। अन्वय व्याप्ति का दृष्टान्त साधर्म्य दृष्टान्त है। जैसे जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य है। इस प्रकार की अन्वय-व्याप्ति का उदाहरण महानस होता है।

---

१ विप्रतिपत्ति—विरुद्धमति। २ अव्यवधान—व्यवधान रहित। ३ दुःख निवृत्ति—दुःखों से निवारण। ४ लौकिक—साधारणजन। ५ परीक्षक—शास्त्रज्ञजन।

जहाँ अग्नि नहीं है, वहाँ धूम भी नहीं है इस व्यतिरेक-व्याप्ति का उदाहरण जल और तालाब है।

सिद्धान्त—जो पदार्थ प्रमाण से सिद्ध हो वही सिद्धान्त है। यह चार प्रकार का होता है—सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण और अभ्युपगम। जो सब शास्त्रों का सिद्धान्त है, वह सर्वतन्त्रसिद्धान्त कहा जाता है। जैसे ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं यह सभी शास्त्रों को मान्य है। इसमें किसी भी शास्त्र का विरोध नहीं है। प्रतितन्त्र-सिद्धान्त वह है जैसे—शब्द अनित्य है, यह न्याय-शास्त्र का ही सिद्धान्त है, इस बात को मीमांसक नहीं मानते। प्रकृति से ही जगत् की उत्पत्ति है यह सिद्धान्त सांख्य और पातञ्जल दर्शन का ही है। अधिकरण सिद्धान्त वह है, जैसे—क्षिति आदि समष्टि के कर्ता यदि प्रमाण से सिद्ध है, तो वह सर्वज्ञ भी अवश्य है। अभ्युपगम-सिद्धान्त उसे कहते हैं जो अपने सिद्धान्त के विरुद्ध भी हो फिर भी कुछ देर के लिए मान लिया जाय। जैसे, नैयायिकों के यहाँ शब्द को गुण माना जाता है, द्रव्य नहीं। वे यदि इस प्रकार कहें कि मान लीजिए कि शब्द द्रव्य है, तो भी वह अनित्य अवश्य है। यही अभ्युपगम-सिद्धान्त कहा जाता है।

अवयव—परार्थ-अनुमान-वाक्य के एक देश का नाम अवयव है। प्रतिज्ञा, हेतु उदाहरण उपनय और निगमन ये ही पाँच अवयव हैं। साध्यभूत जो धर्म है उससे युक्त धर्मी के प्रतिपादक वाक्य का नाम प्रतिज्ञा है या साध्यविशिष्ट पक्ष का निर्देशन प्रतिज्ञा है। इसी बात को सूत्रकार ने कहा है—'साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा' अर्थात् साध्य जो अग्नि आदि धर्म है उससे विशिष्ट धर्मी का निर्देश करनेवाला जो वाक्य है वह प्रतिज्ञा है। जैसे— शब्दः अनित्यः पर्वतो धूमवान्।

लिङ्ग के प्रतिपादक वाक्य को हेतु कहते हैं, जैसे 'धूमवत्त्वात्'। यह अग्नि का साधक हेतु है और शब्दः अनित्यः इस प्रतिज्ञा का साधक हेतु 'कृतकत्वात्' है।

व्याप्ति के साधक दृष्टान्त-वचन को उदाहरण कहते हैं। जैसे, जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है। उदाहरण—'महानस'। इसी बात को प्रकारान्तर से सूत्रकार ने कहा है—साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्'। यहाँ साध्यः अस्ति अस्मिन्' इस व्युत्पत्ति से साध्य शब्द का अर्थ पक्ष होता है। अर्थात्, पक्ष के साधर्म्य (सादृश्य) से पक्षधर्मविशिष्ट पर्वत आदि में साध्यमान् जो अग्नि आदि है, तद्विशिष्ट दृष्टान्त को उदाहरण कहते हैं। जैसे महानस आदि।

हेतु का जो उपसंहार-वचन है उसे उपनय कहते हैं। जैसे 'उसी प्रकार यह पर्वत भी धूमवान् है।

पक्ष में साध्य का जो उपसंहार-वचन है उसे निगमन कहते हैं। जैसे उसी प्रकार पर्वत भी अग्निमान् है।

तर्क—'व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः' अर्थात् व्याप्य के आरोप से व्यापक का जो आरोप है उसे तर्क कहते हैं। जैसे—यदि इस पर्वत पर अग्नि न हो तो धूम भी नहीं हो सकता है। यहाँ व्याप्य जो अग्नि का अभाव है उसका आरोप किया जाता है। व्याप्य और व्यापक-भाव के विषय में एक बात और जानने योग्य है कि

जो पदार्थ व्याप्य है और जो उसका व्यापक है उन दोनों का जो अभाव है वह परस्परविपरीत हो जाता है। जैसे, धूम अग्नि का व्याप्य है और अग्नि धूम का व्यापक है। इसी प्रकार, धूम और अग्नि के अभाव में दोनों विपरीत हो जाते हैं। अर्थात्, धूमाभाव अग्नि के अभाव का व्यापक हो जाता है और अग्नि का अभाव धूमाभाव का व्याप्य हो जाता है। इसीलिए, प्रकृति में व्याप्य जो अग्नि का अभाव है, उसके आरोप से व्यापक धूम के अभाव का आरोप किया जाता है। पर्वत पर धूम देखने के बाद उक्त तर्क की सहायता से अनुमान प्रमाण के द्वारा अग्नि का निश्चय किया जाता है। इसलिए, तर्क को प्रमाण का अनुग्राहक (सहायक) माना जाता है।

इसी अर्थ को सूत्रकार भी प्रकारान्तर से कहते हैं— 'अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः।' तात्पर्य यह है कि जिस पदार्थ का तत्त्व अविज्ञात है, उसके तत्त्व-ज्ञान के लिए कारण के उपपादन द्वारा जो ऊहा[१] की जाती है वही तर्क है।

निर्णय—उक्त तर्क के विषय में पक्ष-प्रतिपक्ष[२] के द्वारा जो यथार्थ अर्थ का निश्चय किया जाता है उसी का नाम निर्णय है। सूत्रकार ने भी कहा है—'तस्मिन् सति विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः।' संशय होने पर तर्क के द्वारा खण्डन मण्डनपूर्वक जो यथार्थ अनुभव नाम की प्रमिति[३] होती है वही निर्णय है। यह चार प्रकार का होता है—प्रत्यक्षात्मिका[४], अनुमिति उपमिति और शाब्द।

वाद—कथा[५] तीन प्रकार की होती है—वाद, जल्प और वितण्डा। प्रमाण और तर्क के द्वारा अपने पक्ष का साधन और परपक्ष का उपालम्भ[६] जिस शास्त्र चर्चा में किया जाय और वह सिद्धान्त से अविरुद्ध और पञ्चावयव[७] वाक्य से उत्पन्न हो, उसे वाद कहते हैं। सूत्रकार ने भी लिखा है—'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः।' संक्षेप में यह कह सकते हैं कि तत्त्वनिर्णयफलक जो कथाविशेष है, वह वाद है।

तात्पर्य यह है कि केवल तत्त्व निर्णय के लिए वादी और प्रतिवादी जो शास्त्र विचार करते हैं और जिसमें छल जाति और निग्रह स्थान का प्रयोग नहीं किया जाता केवल प्रमाण और तर्क के आधार पर ही पञ्चावयववाक्यप्रदर्शनपूर्वक अपने पक्ष का स्थापन और दूसरे पक्ष का खण्डन किया जाता है और जो सिद्धान्त के अनुकूल है वही वाद कहा जाता है। वाद में जीतने की इच्छा नहीं रहती, केवल तत्त्व का निर्णय करना ही इसका प्रयोजन है।

जल्प—प्रमाण और तर्क के द्वारा स्वपक्ष का स्थापन और परपक्ष का खण्डन होने पर और सिद्धान्त के अनुकूल होने पर भी यदि छल जाति और निग्रह स्थान का प्रयोग किया जाय तो वह जल्प कहा जाता है। जल्प में विजिगीषा रहती है इसलिए प्रमाणादि के प्रदान में छल जाति और निग्रह-स्थान का भी प्रयोग

---

१ तर्क मानना। २ प्रत्यक्ष मानना। ३ यथार्थ ज्ञान। ४ साक्षात्कृति। ५ तत्त्व चर्चा। ६ खण्डन। ७ प्रतिज्ञा हेतु आदि न्याय के पाँच अवयव।

किया जाता है। वाद में छलादि का प्रयोग नहीं होता क्योंकि उसमें विजय की इच्छा नहीं रहती। वाद से इसमें यही विशेषता है। इसी को सूत्रकार ने भी लिखा है—'यथोक्तोपपन्नः छलजातिनिग्रहस्थान साधनोपालम्भो जल्पः'। इसका अभिप्राय पूर्वोक्त ही है।

वितण्डा—'सप्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा'। अर्थात्, पूर्वोक्त जल्प ही *जब अपने पक्ष की स्थापना से रहित होता है, तब वह वितण्डा कहा जाता है।* वितण्डावाद में वैतण्डिक अपने मत की स्थापना नहीं करता, केवल दूसरे के पक्ष का खण्डन करना ही उसका मुख्य ध्येय रहता है। वह छल, जाति निग्रह-स्थान के प्रयोग से भी वादी को जीतना चाहता है। जल्प से इसमें यही विशेषता है कि यह अपने पक्ष का स्थापन नहीं करता।

हेत्वाभास—जो साध्य का साधक न होता हुआ भी हेतु की तरह भासित हो वह हेत्वाभास कहा जाता है। इसको असद्धेतु भी कहते हैं वह पाँच प्रकार का होता है—सव्यभिचार, विरुद्ध प्रकरणसम साध्यसम और कालातीत। जो हेतु व्यभिचार के साथ रहे, वह सव्यभिचार कहा जाता है। इसी का नाम अनैकान्तिक भी है। जहाँ साध्य का अभाव है वहाँ साधन (हेतु) का रहना ही उसका व्यभिचार है। इसी को साध्याभाववद्वृत्ति कहते हैं। इसका उदाहरण यह है कि पर्वत अग्निमान् है प्रमेय होने से। यहाँ प्रमेयत्व जो हेतु है वह साध्य अग्नि के अभाव-स्थल जलादि म वर्तमान रहने से व्यभिचरित हो जाता है। इसलिए, यह सव्यभिचार है। जो हेतु साध्याभाव से व्याप्त हो उसे विरुद्ध कहते हैं। जैसे—शब्द नित्य है कृतक (उत्पन्न) होने के कारण। यहाँ कृतकत्व जो हेतु है वह नित्यत्व के अभावरूप अनित्यत्व से व्याप्त है; क्योंकि जहाँ-जहाँ कृतकत्व है वहाँ-वहाँ अनित्यत्व ही रहता है। इसलिए, साध्याभाव म व्याप्त होने से विरुद्ध हेतु हो जाता है।

जिसका प्रतिपक्ष (विपरीत साधक शत्रु) दूसरा हेतु विद्यमान हो वह प्रकरणसम कहा जाता है। इसी का नाम सत्प्रतिपक्ष भी है। तात्पर्य यह है कि जहाँ वादी ने साध्य के साधक हेतु का प्रयोग किया वहाँ प्रतिवादी साध्य-भाव के साधक हेत्वन्तर का प्रयोग करे तो ऐसे स्थल में सत्प्रतिपक्ष या प्रकरणसम हेतु कहा जाता है। जैसे—वादी ने कहा 'शब्द नित्य है क्योंकि शब्द म अनित्य धर्म की उपलब्धि नहीं होती। इसके उत्तर म प्रतिवादी कहता है—'शब्द अनित्य है क्योंकि शब्द में नित्यधर्म की उपलब्धि नहीं होती। इस प्रकार प्रतिवादी के हेत्वन्तर दिखाने से प्रकरण की समाप्ति नहीं होती, किन्तु विचार चलता ही रहता है। सत् हेतु का प्रयोग करने पर विचार समाप्त हो जाता है और सत्प्रतिपक्ष हेतु विचार की समाप्ति में समर्थ नहीं होता। इसीलिए, प्रकरण के समान होने से इसको प्रकरणसम कहते हैं।

जो हेतु साध्य के समान ही स्वयं असिद्ध है उसको साध्यसम कहते हैं। तात्पर्य यह है कि सिद्ध जो हेतु है वही साध्य का साधक होता है जो स्वयम् असिद्ध है वह साध्य का साधक नहीं होता। किन्तु साध्य के समान वह असिद्ध ही रहता है। इसलिए, यह साध्यसम नाम का हेत्वाभास है। इसका उदाहरण है—शब्द गुण है,

चाक्षुष होने के कारण। यहाँ शब्द में चाक्षुषत्व हेतु असिद्ध है इसलिए यह साध्य के समान असिद्ध होने से साध्यसम नाम का हेत्वाभास है। साध्यसम हेतु को ही असिद्ध भी कहते हैं। सोपाधिक हेतु को भी असिद्ध कहते हैं। उपाधि से युक्त का नाम सोपाधिक है। जो साध्य का व्यापक और साधन का अव्यापक है उसको उपाधि कहते हैं। उपाधि का विशेष विवेचन उदयनाचार्य की किरणावली में मिलता है। हमने भी 'चार्वाक-दर्शन' में इसकी विशेष चर्चा की है।

जिसका साध्यभाव प्रमाणान्तर से निश्चित है वह कालातीत या कालात्ययापदिष्ट कहा जाता है। इसी का नाम बाधित भी है। जैसे—अग्नि शीतल है, प्रमा के आश्रय होने से। यहाँ साध्य जो शीतलत्व है उसका अभाव (उष्णत्व) प्रत्यक्ष प्रमाण से ही निश्चित है इसलिए हेतु-वाक्य के प्रयोग के पहले ही साध्याभाव (उष्णत्व) का निश्चय प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध होने के कारण प्रयोक्ता को हेतु वाक्य का उच्चारण नहीं करना चाहिए था क्योंकि जबतक साध्य की सिद्धि नहीं होती, तभी तक हेतु-वाक्य के प्रयोग का समय रहता है। जब साध्य का अभाव प्रत्यक्ष से सिद्ध हो गया, तब हेतु के प्रयोग का काल अतीत हो जाने से कालातीत नाम का हेत्वाभास हो जाता है। इस प्रकार, पाँच हेत्वाभासों का संक्षिप्त विवरण दिखाकर हेत्वाभास के बाद क्रमप्राप्त अवशेष छल आदि पदार्थों का विवेचन किया जाता है।

छल—छल का विवेचन करते हुए महर्षि गौतम ने लिखा है—'वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्' (न्या॰ सू॰ १।२।)। इसका तात्पर्य यह है कि वक्ता के अनभिप्रेत अर्थ के उपपादन द्वारा जो वचन का विरोध प्रदर्शन है वही छल है। जैसे किसी ने नवीन कम्बल के अभिप्राय से 'इस ब्राह्मण के पास नव कम्बल है' ऐसा प्रयोग किया। प्रतिवादी इस वाक्य में नव शब्द का नव (९) संख्या बताकर कहता है—'इस दरिद्र के पास नव (९) कहाँ से आ सकते हैं।' यहाँ नव का अर्थ नव संख्या (जो वक्ता का अभिप्राय नहीं है) बताकर उसके वचन को काटना छल कहा जाता है।

यह छल तीन प्रकार का होता है—वाक्छल, सामान्य छल और उपचार छल। शक्ति वृत्ति के व्यत्यय से जो अर्थान्तर की कल्पना है वह वाक्छल है। इसका उदाहरण पूर्वोक्त (नव कम्बलवाला) है। यहाँ शक्ति वृत्ति के व्यत्यय से अर्थान्तर की कल्पना वाक्छल है।

तात्पर्य-वृत्ति के व्यत्यय से जो अर्थान्तर की कल्पना है वह सामान्य-छल है। जैसे—ब्राह्मण में विद्या सम्भव है इस अभिप्राय से किसी ने ब्राह्मण में विद्या है ऐसा प्रयोग किया इस पर प्रतिवादी कहता है कि यह आप क्यों कहते हैं मूर्ख भी बहुत से ब्राह्मण हैं। यहाँ व्यभिचारी नियम में तात्पर्य मानकर वादी के वचन का खण्डन करता है। अतः, तात्पर्य-वृत्ति के व्यत्यय से अर्थान्तर की कल्पना करने के कारण इसको सामान्य छल कहा जाता है।

लक्षणावृत्ति के व्यत्यय से जो अर्थान्तर की कल्पना है उसी को उपचार छल कहते हैं। जैसे मञ्चस्थ व्यक्ति के बोलने के अभिप्राय से मञ्चाः क्रोशन्ति

इस वाक्य का वादी के उच्चारण करने पर प्रतिवादी कहता है कि अचेतन मञ्च किस प्रकार बोल सकता है ! यहाँ मञ्चस्थ व्यक्ति के बोलने के अभिप्राय से जो वादी का प्रयोग था, उसको छलवादी छिपाकर शब्दार्थ के अभिप्राय से खण्डन करता है। इसलिए लक्षणावृत्ति के व्यत्यय होने के कारण यह उपचार छल माना गया है। लक्षणा का ही नाम उपचार है।

जाति—जाति की परिभाषा महर्षि गौतम ने इस प्रकार की है—'साधर्म्य वैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः'। तात्पर्य यह है कि साधर्म्य और वैधर्म्य से साध्य की जो अनुपपत्ति है, उसका प्रदर्शन करना जाति है। वादी यदि उदाहरण-साधर्म्य से साध्य की उपपत्ति दिखाता है तो उसी समय प्रतिवादी उदाहरण के वैधर्म्य से साध्य की असिद्धि दिखाता है। इसी प्रकार वादी यदि उदाहरण के वैधर्म्य से साध्य की सिद्धि करता है, तो उसी समय प्रतिवादी उदाहरण के साधर्म्य से साध्य की असिद्धि दिखाता है। इसी को जाति कहते हैं। यह जाति चौबीस प्रकार की होती है—साधर्म्यसम, वैधर्म्यसम उत्कर्षसम, अपकर्षसम वर्ण्यसम अवर्ण्यसम विकल्पसम, साध्यसम प्राप्तिसम अप्राप्तिसम प्रसङ्गसम प्रतिदृष्टान्तसम अनुत्पत्तिसम, संशयसम, प्रकरणसम हेतुसम अर्थापत्तिसम अविशेषसम उपपत्तिसम, उपलब्धिसम, अनुपलब्धिसम नित्यसम अनित्यसम और कार्यसम।

(१) साधर्म्यसम—कार्य होने से घट के सदृश शब्द अनित्य है यह वादी का अनुमान प्रकार है। प्रतिवादी का जात्युत्तर यह होता है कि अमूर्त होने के कारण आकाश के सदृश शब्द नित्य है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार घट में रहनेवाला जो कृतकत्व है उसका साधर्म्य होने से शब्द का अनित्यत्व सिद्ध है। उसी प्रकार, नित्य आकाश में रहनेवाला जो अमूर्तत्व है उसका साधर्म्य शब्द में होने के कारण शब्द नित्य ही क्यों नहीं होता, इस प्रकार का प्रतिवादी का उत्तर साधर्म्यनाम का जात्युत्तर होता है।

(२) वैधर्म्यसम—उक्त स्थल में ही अनित्य घट का वैधर्म्य रूप जो अमूर्तत्व है उस अमूर्तत्व के शब्द में रहने के कारण शब्द नित्य क्यों नहीं ? इस प्रकार का उत्तर वैधर्म्यसम कहा जाता है।

(३) उत्कर्षसम—जिस प्रकार उक्त स्थल में कार्य होने के कारण घट का साधर्म्य होने से यदि शब्द का अनित्यत्व साधन करते हैं तो घट के सदृश ही शब्द भी मूर्त होना चाहिए। लेकिन शब्द मूर्त नहीं है इसलिए अनित्य भी नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि यदि घट के समान शब्द मूर्त नहीं है तो घट के समान अनित्य भी वह नहीं होगा। यहाँ शब्द में धर्मान्तर (मूर्तत्व धर्म) का आपादान करना है।

(४) अपकर्षसम—यदि उक्त स्थल में घट के सदृश कार्य होने से शब्द में अनित्यत्व का साधन करते हैं तो घट जिस प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय का विषय नहीं (अश्रावण) है उसी प्रकार भी शब्द भी अश्रावण हो जायगा। यहाँ शब्द में श्रावणत्व का अपकर्ष दिखाना है।

(५) वर्ण्यसम—वर्णनीय हेतुरूप जो धर्म है, उसको वर्ण कहते हैं। पूर्वोक्त स्थल में शब्द में जो कार्यत्व है वह तालु कण्ठ और प्राण आदि के व्यापार से जन्य है और घट में जो कार्यत्व है वह कुम्भकार के व्यापार से जन्य है, इसलिए दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में भिन्नता होने से घट के दृष्टान्त से शब्द में अनित्यत्व का साधन नहीं कर सकते।

(६) अवर्ण्यसम—जिस दृष्टान्त का जो धर्म है वह अवर्ण्य है। जैसे, जिस प्रकार का कार्यत्व घट में है, उस प्रकार का शब्द में नहीं है।

( ) विकल्पसम—जैसे पूर्वोक्तस्थल में कार्यत्व हेतु से शब्द का जो अनित्यत्व साधन किया है वह ठीक नहीं है क्योंकि कार्य दो प्रकार का देखा जाता है—कोई मृदु और कोई कठोर। इसी प्रकार कोई घट आदि कार्य अनित्य और शब्द नित्य भी हो सकता, इस प्रकार कहना विकल्पसम है।

(८) साध्यसम—जैसे घट के समान यदि शब्द अनित्य है तो शब्द के सदृश घट भी श्रोत्रेन्द्रिय का विषय होने लगेगा।

(६) प्राप्तिसम—प्राप्ति सम्बन्ध को कहते हैं, अर्थात् साध्य से सम्बद्ध जो हेतु है, वही साध्य का साधक होता है ऐसा यदि माना जाय तो साध्य और हेतु दोनों के परस्पर सम्बद्ध होने में कोई विशेषता न होने के कारण कौन साध्य है और कौन साधन इस प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान नहीं हो सकता।

(१) अप्राप्तिसम—जैसे हेतु साध्य से यदि असम्बद्ध है तो साध्य का साधक किस प्रकार हो सकता।

(११) प्रसंगसम—शब्द के अनित्यत्व में क्या साधन है और उस अनित्यत्व में भी क्या साधन है इस प्रकार की अनवस्था का नाम प्रसंगसम है। जैसे शब्द के अनित्यत्व में घट-दृष्टान्त साधन होता है तो उस घट के अनित्यत्व में क्या साधन है और पुनः उस अनित्यत्व में भी क्या साधन है, इस प्रकार की आपत्ति का नाम प्रसंगसम है।

(१२) प्रतिदृष्टान्तसम—विरुद्ध दृष्टान्त के द्वारा विरुद्ध साध्य के साधन का नाम प्रतिदृष्टान्तसम है। जैसे प्रयत्न से विभाज्यमान (उत्पाद्यमान) होने के कारण घट के सदृश शब्द अनित्य है। वादी के ऐसा कहने पर प्रतिवादी कहता है—'प्रयत्न से विभाज्यमान (उत्पाद्यमान) होने के कारण आकाश के सदृश शब्द नित्य है। कुआँ आदि के खनन-प्रयत्न से आकाश भी विभाज्यमान होता है इसलिए आकाश दृष्टान्त से शब्द के अनित्यत्व के विरुद्ध उसे नित्य सिद्ध करना प्रतिदृष्टान्तसम नाम का जात्युत्तर है।

(१३) अनुत्पत्तिसम—जैसे शब्द में अनित्यत्व का साधन कार्यत्व हेतु है वह शब्द की उत्पत्ति के पहले नहीं है। क्योंकि धर्मी के नहीं रहने पर धर्म का रहना असम्भव है। इसलिए, कार्यत्व धर्म से साध्य जो अनित्यत्व है वह शब्द में नहीं है इसलिए शब्द नित्य हो जाता है और नित्य उत्पन्न न होने से शब्द अनित्य नहीं हो सकता।

(१४) संशयसम—जिस प्रकार, कार्यत्व के साधर्म्य से घट के सदृश शब्द को अनित्य मानते हैं, उसी प्रकार ऐन्द्रियकत्व के साधर्म्य से नित्य घटत्व के समान शब्द को नित्य क्यों नहीं मानते ?

(१५) प्रकरणसम—संशयसम में, शब्द का नित्यत्व और अनित्यत्व, दोनों की समानता रहती है किन्तु प्रकरणसम में विपरीत अनुमान का पूर्वानुमान बाधकत्वेन प्रदर्शित किया जाता है।

(१६) हेतुसम—हेतु साध्य से पूर्वकालिक अथवा उत्तरकालिक समकालिक है। हेतु को साध्य से पूर्वकालिक मानने में, हेतुकाल में साध्य के अभाव होने से, हेतु किसका साधक होगा और साध्य से उत्तरकाल में हेतु के होने में साध्य तो सिद्ध ही है तो फिर हेतु किसका साधन करेगा ? क्योंकि जो सिद्ध है उसका साधन व्यर्थ होता है और समकालिक मानने में सव्येतर विषाण (सींग) की तरह साध्य-साधन-भाव नहीं हो सकता। जिस प्रकार बछड़े के दोनों सींग एक काल में उत्पन्न होने से परस्पर साध्य-साधन नहीं होता उसी प्रकार हेतु और साध्य के समकालिक होने के कारण दोनों में परस्पर साध्य-साधक भाव नहीं हो सकता।

(१७) अर्थापत्तिसम—यहाँ अर्थापत्ति शब्द से अर्थापत्ति के आभास का ग्रहण किया जाता है। जैसे शब्द अनित्य है इस प्रतिज्ञा से सिद्ध हो जाता है कि शब्द से भिन्न शब्द नित्य है, इसलिए घट भी नित्य ही हो जाता है, तो इसके दृष्टान्त से शब्द अनित्य किस प्रकार हो सकता है ?

(१८) अविशेषसम—जैसे, कार्यत्वरूप समानधर्म होने के कारण शब्द और घट इन दोनों में विशेषता न होने से दोनों को अनित्य मानते हैं उसी प्रकार प्रमेयत्वरूप समानधर्म होने के कारण सकल पदार्थ अविशेष होने से नित्य अथवा अनित्य एकरूप हो जायगा।

(१९) उपपत्तिसम—जैसे कार्यत्व की उपपत्ति होने पर शब्द में अनित्यत्व का साधन करते हैं, उसी प्रकार निरवयत्व की उपपत्ति होने पर शब्द में नित्यत्व की सिद्धि क्यों नहीं होती ?

(२०) उपलब्धिसम—जैसे वादी के धूम हेतु से अग्नि का साधन करने पर प्रतिवादी कहता है कि धूम के बिना भी आलोक आदि कारणान्तर से अग्नि की सिद्धि होती है तो धूम से ही अग्नि की सिद्धि क्यों करते ?

(२१) अनुपलब्धिसम—कार्यत्व हेतु से शब्द के अनित्यत्व का साधन करने पर प्रतिवादी कहता है कि शब्द तो कृतक (कार्य उत्पन्न होनेवाला) नहीं है; क्योंकि उच्चारण के पहले भी वह विद्यमान है। केवल आवरण के कारण शब्द की उपलब्धि नहीं होती। यदि यह कहें कि आवरण की भी तो उपलब्धि नहीं होती, तो यह कहा जाता है कि आवरण की अनुपलब्धि की भी उपलब्धि नहीं होती, इसलिए आवरण की उपलब्धि ही सिद्ध होती है। अतः, शब्द अनित्य नहीं हो सकता।

(२२) नित्यसम—शब्द में जो अनित्यत्व-रूप धर्म है वह नित्य है अथवा अनित्य ? यदि नित्य मानें, तो धर्मी के बिना धर्म की स्थिति नहीं हो सकती, धर्मी

(५) वर्ण्यसम—वर्णनीय हेतुरूप जो धर्म है, उसको वर्ण्य कहते हैं। पूर्वोक्त स्थल में शब्द में जो कार्यत्व है वह तालु कण्ठ और ओष्ठ आदि के व्यापार से जन्य है और घट में जो कार्यत्व है वह कुम्भकार के व्यापार से जन्य है इसलिए दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में भिन्नता होने से घट के दृष्टान्त से शब्द में अनित्यत्व का साधन नहीं कर सकते।

(६) अवर्ण्यसम—सिद्ध दृष्टान्त का जो धर्म है, वह अवर्ण्य है। जैसे जिस प्रकार का कार्यत्व घट में है उस प्रकार का शब्द में नहीं है।

(७) विकल्पसम—जैसे, पूर्वोक्तस्थल में कार्यत्व हेतु से शब्द का जो अनित्यत्व साधन किया है वह ठीक नहीं है; क्योंकि कार्य दो प्रकार का देखा जाता है—कोई मृदु और कोई कठोर। इसी प्रकार कोई घट आदि कार्य अनित्य और शब्द नित्य भी हो सकता इस प्रकार कहना विकल्पसम है।

(८) साध्यसम—जैसे घट के समान यदि शब्द अनित्य है तो शब्द के सदृश घट भी श्रोत्रेन्द्रिय का विषय होने लगेगा।

(९) प्राप्तिसम—प्राप्ति सम्बन्ध को कहते हैं अर्थात् साध्य से सम्बद्ध जो हेतु है, वही साध्य का साधक होता है ऐसा यदि माना जाय तो साध्य और हेतु दोनों के परस्पर सम्बद्ध होने में कोई विशेषता न होने के कारण कौन साध्य है और कौन साधन इस प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान नहीं हो सकता।

(१०) अप्राप्तिसम—जैसे, हेतु साध्य से यदि असम्बद्ध है तो साध्य का साधक किस प्रकार हो सकता।

(११) प्रसंगसम—शब्द के अनित्यत्व में क्या साधन है और उस अनित्यत्व में भी क्या साधन है इस प्रकार की अनवस्था का नाम प्रसंगसम है। जैसे शब्द के अनित्यत्व में घट-दृष्टान्त साधन होता है तो उस घट के अनित्यत्व में क्या साधन है और पुनः उस अनित्यत्व में भी क्या साधन है इस प्रकार की आपत्ति का नाम प्रसंगसम है।

(१२) प्रतिदृष्टान्तसम—विरुद्ध दृष्टान्त के द्वारा विरुद्ध साध्य के साधन का नाम प्रतिदृष्टान्तसम है। जैसे प्रयत्न से विभाज्यमान (उत्पाद्यमान) होने के कारण घट के सदृश शब्द अनित्य है। वादी के ऐसा कहने पर प्रतिवादी कहता है—'प्रयत्न से विभाज्यमान (उत्पाद्यमान) होने के कारण आकाश के सदृश शब्द नित्य है। कुआँ आदि के खनन-प्रयत्न से आकाश भी विभाज्यमान होता है इसलिए आकाश दृष्टान्त से शब्द के अनित्यत्व के विरुद्ध उसे नित्य सिद्ध करना प्रतिदृष्टान्तसम नाम का जात्युत्तर है।

(१३) अनुत्पत्तिसम—जैसे शब्द के अनित्यत्व का साधक कार्यत्व हेतु है वह शब्द की उत्पत्ति के पहले नहीं है। क्योंकि धर्मी के नहीं रहने पर धर्म का रहना असम्भव है। इसलिए, कार्यत्व धर्म से साध्य जो अनित्यत्व है वह शब्द में नहीं है इसलिए शब्द नित्य हो जाता है और नित्य उत्पन्न न होने से शब्द अनित्य नहीं हो सकता।

(१४) संशयसम—जिस प्रकार, कार्यत्व के साधर्म्य से घट के सदृश शब्द को अनित्य मानते हैं, उसी प्रकार ऐन्द्रियकत्व के साधर्म्य से नित्य घटत्व के समान शब्द को नित्य क्यों नहीं मानते ?

(१५) प्रकरणसम—संशयसम में, शब्द का नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों की समानता रहती है किन्तु प्रकरणसम में विपरीत अनुमान का पूर्वानुमान बाधकत्वेन प्रदर्शित किया जाता है।

(१६) हेतुसम—हेतु साध्य से पूर्वकालिक अथवा उत्तरकालिक समकालिक है। हेतु को साध्य से पूर्वकालिक मानने में हेतुकाल में साध्य के अभाव होने से, हेतु किसका साधक होगा और साध्य से उत्तरकाल में हेतु के होने में साध्य तो सिद्ध ही है तो फिर हेतु किसका साधन करेगा ? क्योंकि जो सिद्ध है, उसका साधन व्यर्थ होता है और समकालिक मानने में सव्येतर विषाण (सींग) की तरह साध्य-साधन-भाव नहीं हो सकता। जिस प्रकार बछड़े के दोनों सींग एक काल में उत्पन्न होने से परस्पर साध्य-साधन नहीं होता उसी प्रकार हेतु और साध्य के समकालिक होने के कारण दोनों में परस्पर साध्य-साधक भाव नहीं हो सकता।

(१७) अर्थापत्तिसम—यहाँ अर्थापत्ति शब्द से अर्थापत्ति के आभास का ग्रहण किया जाता है। जैसे शब्द अनित्य है, इस प्रतिज्ञा से सिद्ध हो जाता है कि शब्द से भिन्न शब्द नित्य है, इसलिए घट भी नित्य ही हो जाता है तो इसके दृष्टान्त से शब्द अनित्य किस प्रकार हो सकता है ?

(१८) अविशेषसम—जैसे कार्यत्वरूप समानधर्म होने के कारण शब्द और घट इन दोनों में विशेषता न होने से दोनों को अनित्य मानते हैं उसी प्रकार प्रमेयत्वरूप समानधर्म होने के कारण सकल पदार्थ अविशेष होने से नित्य अथवा अनित्य एकरूप हो जायगा।

(१९) उपपत्तिसम—जैसे कार्यत्व की उपपत्ति होने पर शब्द में अनित्यत्व का साधन करते हैं, उसी प्रकार निरवयवत्व की उपपत्ति होने पर शब्द में नित्यत्व की सिद्धि क्यों नहीं होती ?

(२०) उपलब्धिसम—जैसे वादी के धूम हेतु से अग्नि का साधन करने पर प्रतिवादी कहता है कि धूम के बिना भी आलोक आदि कारणान्तर से अग्नि की सिद्धि होती है तो धूम से ही अग्नि की सिद्धि क्यों करते ?

(२१) अनुपलब्धिसम—कार्यत्व हेतु से शब्द के अनित्यत्व का साधन करने पर प्रतिवादी कहता है कि शब्द तो कृतक (कार्य उत्पन्न होनेवाला) नहीं है क्योंकि उच्चारण के पहले भी वह विद्यमान है। केवल आवरण के कारण शब्द की उपलब्धि नहीं होती। यदि यह कहें कि आवरण की भी तो उपलब्धि नहीं होती, तो यह कहा जाता है कि आवरण की अनुपलब्धि की भी उपलब्धि नहीं होती, इसलिए आवरण की उपलब्धि ही सिद्ध होती है। अतः, शब्द अनित्य नहीं हो सकता।

(२२) नित्यसम—शब्द में जो अनित्यत्व-रूप धर्म है वह नित्य है अथवा अनित्य ? यदि नित्य मानें, तो धर्मी के बिना धर्म की स्थिति नहीं हो सकती, धर्मी

शब्द को भी नित्य मानना आवश्यक हो जाता है। यदि अनित्य मानें तो अनित्यत्व ही यदि अनित्य है तो शब्द नित्य हो जाता है।

(२३) अनित्यसम—यदि कृतक (कार्य) होने के कारण घट के साधर्म्य से शब्द को अनित्य मानें तो प्रमेय होने के कारण घट के साधर्म्य से सकल पदार्थ अनित्य होने लगेगा। यदि ऐसा न मानें तो शब्द भी अनित्य नहीं हो सकता।

(२४) कार्यसम—शब्द अनित्य है, वादी के ऐसा कहने पर प्रतिवादी कहता है कि कार्य तो जन्य और ज्ञाप्य दोनों होता है। इस स्थिति में कार्य होने से ज्ञाप्य होने के कारण शब्द नित्य भी हो सकता है। इसलिए, कार्यत्व-हेतु अनित्यत्व का साधक नहीं हो सकता।

इन पूर्वोक्त जातियों में साधर्म्यसम, प्रकरणसम, कार्यसम, संशयसम आदि को बहुत-सी जातियाँ हैं उनके अन्त में दूषण के एक होने पर भी, केवल दूषण के उद्भावन का प्रकार भिन्न होने से वे पृथक्-पृथक् लिखी गई हैं।

निग्रह-स्थान

वादी अथवा प्रतिवादी जिस स्थान में जाने से पराजित समझा जाता है उसी को निग्रह-स्थान कहा जाता है।

यह बाईस प्रकार का है—प्रतिज्ञा-हानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञा-विरोध, प्रतिज्ञा-संन्यास, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, अप्राप्तकाल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानुयोग, अपसिद्धान्त और हेत्वाभास।

(१) प्रतिज्ञा-हानि—प्रतिज्ञा के त्याग का नाम 'प्रतिज्ञा हानि' है। जैसे वादी ने कहा—इन्द्रिय के विषय होने से शब्द अनित्य है। तब प्रतिवादी कहता है कि इन्द्रिय के विषय होने पर भी शब्द नित्य है। तब यदि वादी यह कहे कि नित्य ही शब्द रहे, इस प्रकार प्रतिज्ञा के त्याग करने से प्रतिज्ञा-हानि नाम के स्थान में वादी निगृहीत हो जाता है।

(२) प्रतिज्ञान्तर—पूर्ववत् शब्द के अनित्यत्व की प्रतिज्ञा कर जब दूसरा दोष दिखाया जाता है तब दूसरी प्रतिज्ञा कर ली जाती है यही 'प्रतिज्ञान्तर' है। जैसे सर्वगत सामान्य नित्य है तो असर्वगत शब्द अनित्य है।

(३) प्रतिज्ञा-विरोध—प्रतिज्ञा और हेतुवाक्य में विरोध का नाम 'प्रतिज्ञा विरोध' है। जैसे गुण से भिन्न की उपलब्धि न होने के कारण द्रव्य गुण से भिन्न है। यह हेतु-वाक्य प्रतिज्ञा वाक्य से बिलकुल विरुद्ध है।

(४) प्रतिज्ञा-संन्यास—पूर्व में की गई प्रतिज्ञा के अपलाप का नाम प्रतिज्ञा संन्यास है। शब्द के अनित्यत्व की प्रतिज्ञा कर दूसरों के द्वारा दोष दिखाए जाने पर कहे कि कौन कहता है कि शब्द अनित्य है। इस प्रकार प्रतिज्ञा का अपलाप करना 'प्रतिज्ञा संन्यास' है।

(५) हेत्वन्तर—बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने के कारण शब्द अनित्य है। इस हेतु के सामान्य में व्यभिचार दिखाने पर 'सामान्यवत्त्वे सति' इत्यादि विशेषण लगाकर दूसरा हेतु कहना ही 'हेत्वन्तर' है।

(६) अर्थान्तर—किसी हेतु क प्रयोग करने पर हेतु शब्द का निर्वचन या व्युत्पत्ति 'अर्थान्तर' है।

(७) निरर्थक—निरर्थक शब्द का प्रयोग करना ही 'निरर्थक' नाम का निग्रह स्थान है। जैसे—ख, फ, छ, ठ, थ होने से ज, ब ग, ड, द के समान क, च, ट, त, प शब्द नित्य है।

(८) अविज्ञातार्थ—तीन बार कहने पर भी कठिन या अप्रसिद्ध या अन्य भाषास्थ शब्द होने से जो मध्यस्थ की समझ में न आवे, ऐसी उक्ति को 'अविज्ञातार्थ' कहते हैं।

(९) अपार्थक—आकांक्षा योग्यता आदि से रहित परस्पर असम्बद्ध जो उक्ति है, वह अपार्थक है। जैसे—'दश दाडिमानि, षडपूपाः' इत्यादि या 'अग्निना सिञ्चति'।

(१०) अप्राप्तकाल—अप्राप्तकाल वह है, जहाँ प्रतिज्ञा, हेतु आदि न्यायावयवों का विपरीत प्रयोग किया जाय। जैसे—महानस के समान धूमवान् होने से अग्निमान् पर्वत है, इत्यादि।

(११) न्यून—प्रतिज्ञादि अवयवों में किसी का प्रयोग नहीं करना 'न्यून' है।

(१२) अधिक—'अधिक' वह है जहाँ एक ही उदाहरण से साध्य की सिद्धि हो जाने पर दूसरा हेतु या उदाहरण उपन्यस्त किया जाय।

(१३) पुनरुक्त—एक ही बात को उन्हीं शब्दों या पर्यायवाची शब्दों के द्वारा बार-बार कहना 'पुनरुक्त' है।

(१४) अननुभाषण—बोलो बोलो, बोलो, इस प्रकार तीन बार मध्यस्थ के कहने पर भी नहीं बोलना अननुभाषण है।

(१५) अज्ञान—वादी या प्रतिवादी के उक्त अर्थ को मध्यस्थ के द्वारा समझा दिये जाने पर भी वादी या प्रतिवादी का नहीं समझना 'अज्ञान' है।

(१६) अप्रतिभा—प्रश्न के समक्ष होने पर और उसका अनुवाद कर देने पर भी उत्तर का स्फुरित न होना 'अप्रतिभा' है।

(१७) विक्षेप—स्वयं अभाग्य प्रमाणित होकर कार्यान्तर के व्याज से अलग होने की चेष्टा करना विक्षेप' है।

(१८) मतानुज्ञा—'मतानुज्ञा' उसे कहते हैं—जब कोई किसी से कहे, 'तू चोर है' तो इसके उत्तर में वह कहे 'तू भी चोर है। इससे अपने में चोरत्व का परिहार न कर, दूसरे को चोर कहने से अपने में चोर होने का अनुमान हो जाता है।

(१९) पर्यनुयोज्योपेक्षण—वस्तुतः निग्रह-स्थान में आने पर भी 'तुम निगृहीत हो', ऐसा नहीं कहना 'पर्यनुयोज्योपेक्षण' है।

(२०) निरनुयोज्यानुयोग—वस्तुतः निग्रह-स्थान न होने पर भी 'तुम निगृहीत हो' इस प्रकार कहना 'निरनुयोज्यानुयोग' है।

(२१) अपसिद्धान्त—जिस सिद्धान्त के आधार पर जो कहा जा रहा है उसे छोड़कर बीच में ही दूसरी कथा करना 'अपसिद्धान्त' है।

(२२) हेत्वाभास—इसका विवेचन पहले किया जा चुका है।

इस प्रकार, सोलह पदार्थों का संक्षेप में विवेचन किया गया। यद्यपि, प्रमाणादि सोलह पदार्थों में प्रमेय से भिन्न जो पन्द्रह पदार्थ हैं और प्रमेय में भी अर्थ से भिन्न जो ग्यारह प्रमेय हैं उन सबका अन्तर्भाव अर्थ में ही हो जाता है और यह सूत्रकार-सम्मत भी है तो भी मोक्ष का कारणीभूत जो तत्त्व-ज्ञान है उसके उपयोगी होने के कारण पृथक्-पृथक् सोलहो पदार्थों का विवेचन सूत्रकार ने किया है।

ये सोलहो पदार्थ मोक्ष में उपयोगी होते हैं। दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति को मोक्ष कहते हैं। दुःख की उत्पत्ति जन्म, मरण और गर्भवास-रूप प्रेत्यभाव से होती है और सुख-दुःख का उपभोग रूप जो फल है उसकी जनक जो प्रवृत्ति है उसी से प्रेत्यभाव उत्पन्न होता है। प्रेत्यभाव प्रवृत्ति का ही कार्य है। मनोगत राग-द्वेष मोहरूप जो दोष हैं वे ही प्रवृत्ति के मूल हैं। दोष का भी कारण मिथ्या ज्ञान है। इसलिए, मिथ्याज्ञान की निवृत्ति से दोष की निवृत्ति होती है और मिथ्याज्ञान की निवृत्ति शरीर इन्द्रिय तथा विषय के अतिरिक्त आत्मतत्त्व के ज्ञान से होती है। प्रमेयभूत तत्त्वों का ज्ञान ही प्रमाणों का मुख्य प्रयोजन है और इन्द्रियातीत सूक्ष्म विषयों का ज्ञान अनुमान के ही अधीन है। अनुमान भी पाँच अवयवों से युक्त है और दृष्टान्त ही उसका जीवन है। तर्क अनुमान का सहायक होता है। इसलिए, दृष्टान्त जिसका जीवन है ऐसा पञ्चावयव-युक्त अनुमान ही, तर्क की सहायता से सिद्धान्त के अनुसार, संशय के निराकरण द्वारा निर्णय कराने में समर्थ हो सकता है। निर्णय भी पक्ष प्रतिपक्ष परिग्रह-रूप कथा (शास्त्र-विचार) में वाद से दृढ़ होता है। वादरूप कथा में विघ्नकारक हेत्वाभास छल जाति और निग्रहस्थान—ये सब हेय होते हैं। अतः, इन सब के त्याग के लिए इनके स्वरूप का ज्ञान भी आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार, सूत्रकार से निर्दिष्ट सकल पदार्थों का ज्ञान मोक्ष में उपयोगी होता है। एक बात और जानने योग्य है कि जल्प आदि का प्रयोग स्वयं नहीं करना चाहिए। दूसरा प्रयोग करे, तो मध्यस्थ को बता देना चाहिए। दूसरा मूर्ख या दुराग्रही हो तो चुप रह जाना चाहिए। यदि मध्यस्थ अनुमति दे, तो छल आदि से भी उसे परास्त करना चाहिए। अन्यथा मूर्ख को विजयी समझकर अज्ञानी लोग उसके मत का अवलम्बन कर अनेक प्रकार के कुमार्ग में फँस जायेंगे। इससे यह सिद्ध होता है कि मूर्खों और दुराग्रहियों को परास्त करने के लिए ही आचार्य ने छलादि का प्रणयन किया है। लिखा भी है—

> 'गतानुगतिको लोकः कुमार्गं तत्प्रतारितः।
> मागादिति छलादीनि प्राह कारुणिको मुनिः॥'

अब यह विचार किया जाता है कि प्रमाणादि सोलह पदार्थों के प्रतिपादन करनेवाले इस शास्त्र का न्याय कैसे कहा जाता है। पञ्चावयव से युक्त पदार्थानुमान

को ही शास्त्रकारों ने न्याय कहा है। यह तो प्रमाणादि सोलह पदार्थों का प्रतिपादन करता है।

इसका उत्तर यह है कि 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय से इसको भी न्याय ही कहा गया है। सकल विद्याओं का अनुग्राहक और सकल कर्मानुष्ठानों का साधन होने के कारण 'न्याय'[1] को प्रधान माना गया है। इसलिए उद्योतकराचार्य ने भी न्यायवार्तिक में 'सोऽयं परमो न्यायः विप्रतिपन्नपुरुषं प्रति प्रतिपादकत्वात्' इस वार्तिक से 'परमन्याय' शब्द से इसका व्यवहार किया है। परमन्याय का तात्पर्य मुख्य प्रमाण है और यही इस शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

नीयते = प्राप्यते विवक्षितार्थसिद्धिः अनेन—इस व्युत्पत्ति से न्याय शब्द का अर्थ तर्कानुगृहीत और पञ्चावयवयुक्त अनुमान ही होता है। यह न्याय शास्त्र सकल शास्त्रों का उपकारक[2] और समस्त लौकिक तथा वैदिक कर्मों का आश्रय है। महर्षि वात्स्यायन (जिसको पक्षिलस्वामी भी कहते हैं) ने भी न्यायभाष्य में लिखा है—

'सेयमान्वीक्षिकी विद्या प्रमाणादिपदार्थैः प्रविभज्यमाना—
प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे परीक्षिता॥

—न्या० भा० सू० १

तात्पर्य यह है कि प्रमाणादि सोलह पदार्थों में विभक्त यह आन्वीक्षिकी[3] सब विद्याओं का प्रकाशक, सकल कर्मों का उपाय और सकल धर्मों का आधार है।

इसकी परीक्षा विद्या के उद्देश में की गई है। लोक-संस्थिति के हेतु चार प्रकार की विद्या मानी गई है—आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति।

यहाँ आन्वीक्षिकी का अर्थ न्याय विद्या है। प्रत्यक्ष और आगम से जो ईक्षित है उसके पुनः ईक्षण का नाम अन्वीक्षा है और उससे जो प्रवृत्त है उसको आन्वीक्षिकी कहते हैं। यही तर्कानुगृहीत पञ्चावयवयुक्त न्याय है। यह सब विद्याओं में प्रधान है। इसीलिए, इसका नाम 'न्याय-शास्त्र' है।

अब यह विचारणीय है कि उक्त सोलह पदार्थों के तत्त्व ज्ञान से जो मुक्ति होती है वह तत्त्व-ज्ञान के अव्यवहित अनन्तर अथवा क्रमशः अव्यवहित अनन्तर तो कह नहीं सकते क्योंकि कारण के नाश से ही कार्य का नाश होता है—'कारणनाशात् कार्यनाशः'। यह न्याय सर्वतन्त्र-सिद्ध है। अब यह विचारना है कि मोक्ष क्या है और उसका कारण क्या है? तथा उससे पहले क्या होता है? मोक्ष के कारण का विचार करने पर सकल दुःख का मूल कारण जन्म ही प्रतीत होता है क्योंकि जो जन्म नहीं लेता उसे दुःख नहीं होता। इसलिए, दुःख का कारण जन्म ही सिद्ध होता है। जन्म का कारण है—धर्म-अधर्म। धर्माधर्म को ही सूत्रकार ने प्रवृत्ति शब्द से कहा है—प्रवृत्ति के कारण ही धर्माधर्म होते हैं। प्रवृत्ति का भी कारण दोष है। मिथ्या ज्ञान से दोष की उत्पत्ति होती है। मिथ्या ज्ञान ही दोष का मूल है।

---

१ जिनके द्वारा विवक्षित अर्थ की प्राप्ति हो। २. उपकारक। ३ न्याय विद्या।

आत्मा से भिन्न शरीर आदि में आत्म-बुद्धि का होना ही मिथ्या ज्ञान है। मिथ्या ज्ञान से ही अनुकूल वस्तु में राग और प्रतिकूल में द्वेष उत्पन्न होता है। राग और द्वेष को ही दोष माना गया है। इसी दोष से प्रवृत्त होकर मनुष्य अपने शरीर के द्वारा हिंसा चोरी आदि निषिद्ध कर्म का आचरण करता है वचन से मिथ्या भाषण करता है और मन के द्वारा दूसरे से द्रोह आदि करता है। इसी पाप-प्रवृत्ति को अधर्म कहा जाता है।

मनुष्य शरीर से जो दान पुण्य या दूसरे की रक्षा आदि पुण्य-कर्म करता है मन के द्वारा सबकी भलाई करने की चेष्टा करता है और किसी की बुराई नहीं चाहता, उसी पुण्यमय प्रवृत्ति को धर्म कहा जाता है। धर्म और अधर्म दोनों की संज्ञा 'प्रवृत्ति' है। यद्यपि धर्म और अधर्म प्रवृत्ति के साधन माने गये हैं तथापि 'आयुर्वै घृतम्', 'अन्नं वै प्राणिनः प्राणाः' इत्यादि व्यवहार के समान धर्म तथा अधर्म का प्रवृत्ति शब्द से सूत्रकार ने व्यवहार किया है। इसी धर्माधर्मरूपी प्रवृत्ति के अनुकूल मनुष्य प्रशस्त या निन्दित शरीर ग्रहण करता है। जबतक धर्माधर्मरूप प्रवृत्ति-जन्य संस्कार बना रहेगा तबतक कर्म-फल भोगने के लिए शरीर ग्रहण करना आवश्यक रहता है। शरीर ग्रहण करने पर प्रतिकूलवेदनीय होने के कारण बाधनात्मक दुःख का होना अनिवार्य रहता है। इसलिए, धर्माधर्मरूप कर्म में प्रवृत्ति के बिना दुःख नहीं होता। मिथ्या ज्ञान से दुःख पर्यन्त अविच्छेदेन निरन्तर प्रवर्तमान होता हुआ यही संसार शब्द का वाच्य होता है। यह चक्री की तरह निरन्तर अनुवृत्त होता रहता है। प्रवृत्ति ही पुनः आवृत्ति का कारण होती है। प्रवृत्ति के बिना पुनर्जन्म न होने के कारण दुःख की सम्भावना भी नहीं रहती। इसलिए, कोई भी सब अवस्था में दुःख का अनुभव नहीं करता। फिर प्रवृत्ति होने से दुःख से छुटकारा भी नहीं पाता। इससे यह सिद्ध होता है कि चक्री की तरह पुनः-पुनः प्रवर्तमान दुःखमय इस संसार में कोई विरला ही भाग्यशाली मनुष्य है जिसने पूर्वजन्म में सुकृत किया है और उस सुकृत के परिपाकवश सद्गुरु की कृपा और उनके उपदेश से संसार का असली रूप जानकर उसे हेय समझ लिया है तथा इस समस्त संसार को दुःखानुषक्त और दुःख के आयतन के रूप में देखता और समझता है। वह किसी प्रकार इससे छुटकारा पाना चाहता है और इसके मूल कारण अविद्या और राग द्वेष आदि की निवृत्ति का उपाय खोजता है।

अविद्या की निवृत्ति का उपाय तत्त्व-ज्ञान ही है। यह तत्त्व-ज्ञान प्रमेयों की चार प्रकार की भावनाओं से किसी विरला ही मनुष्य को होता है। उद्देश लक्षण परीक्षा और विभाग प्रमेयों की ये ही चार भावनाएँ हैं अथवा दुःख दुःखहेतु, मोक्ष और उसका उपाय ये ही चार प्रकार हैं। प्रकृत में ये ही चार ग्राह्य हैं। दुःख तो प्रसिद्ध ही है। उसका हेतु मिथ्या ज्ञानादि रूपक संसार है।

मोक्ष, अपवर्ग या मुक्ति

दुःख के आत्यन्तिक उच्छेद का ही नाम मोक्ष है। इसका उपाय तत्त्व-ज्ञान है। तत्त्व-ज्ञान होने पर मिथ्या ज्ञान स्वयं निवृत्त हो जाता है; जैसे रज्जु के ज्ञान से सर्प का

ज्ञान स्वयं निवृत्त होता है। मिथ्या ज्ञान के नष्ट होने से प्रवृत्ति के कारण जो राग द्वेष आदि दोष हैं, वे स्वयं निवृत्त हो जाते हैं क्योंकि कारण के नाश होने से कार्य का नाश अवश्यम्भावी हो जाता है — 'कारणनाशात् कार्यनाशः' यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। दोष के नष्ट होने पर प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती, और प्रवृत्ति के न होने से जन्म भी नहीं हो सकता क्योंकि जन्म का कारण धर्माधर्म-रूप प्रवृत्ति ही है। जन्म का अपाय (नाश) होने से दुःख का भी आत्यन्तिक उच्छेद हो जाता है। इसी आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति का नाम अपवर्ग या मोक्ष है। आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति वही है जहाँ सजातीय दुःखान्तर की उत्पत्ति होने की सम्भावना भी नहीं रहती। यही सिद्धान्त महर्षि गौतम का है—

'दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।

—गौ. सू. १।१।२

अर्थात्, दुःख, जन्म प्रवृत्ति दोष और मिथ्या-ज्ञान—इनके उत्तरोत्तर के नाश से पूर्व-पूर्व के नाश होने के कारण अपवर्ग होता है। इससे सिद्ध हो जाता है कि दुःख के अत्यन्त उच्छेद का ही नाम अपवर्ग या मोक्ष है।

यहाँ यह आशङ्का होती है कि दुःख का अत्यन्त उच्छेद-रूप मोक्ष तो अभी तक असिद्ध है, पुनः इसके लिए उपाय की क्या आवश्यकता है? उत्तर यह होता है कि जितने मोक्षवादी आचार्य हैं उनके मत में मोक्ष-दशा में दुःख का अत्यन्त उच्छेद होता है। जैसे—बौद्ध के एकदेशी माध्यमिकों के मत में आत्मोच्छेद को ही मोक्ष माना गया है। इस अवस्था में दुःख का आत्यन्तिक उच्छेद रहता ही है। इसमें कोई विवाद नहीं है। यदि ऐसा कहें कि शरीर के समान ही आत्मा भी दुःख का हेतु है इसलिए आत्मा भी उच्छेद्य है तो यह नैयायिकों से विरोध हो जाता है; क्योंकि नैयायिक आत्मा को अविनाशी मानते हैं और इस तरह यह विनाशशील हो जाता है। इसलिए, वन्ध्या-पुत्र के समान मोक्ष का अस्तित्व असम्भव ही हो जाता है। यही इस शङ्का का तात्पर्य है। परन्तु यह ठीक नहीं है; क्योंकि इसमें विकल्प का समाधान नहीं होता।

वैभाषिकों ने आत्मोच्छेद को ही मोक्ष माना है। वे ज्ञान-सन्तान को आत्मा मानते हैं। सन्तान का अर्थ प्रवाह होता है। प्रवाह जिस तरह प्रतिक्षण नये-नये रूपों में उत्पन्न होता है उसी प्रकार इनके मत में ज्ञान भी प्रतिक्षण नये-नये रूपों में उत्पन्न होता है। इसमें यह विकल्प होता है कि क्या आत्मा क्षणिक ज्ञान-सन्तान ही है अथवा उससे भिन्न उसका आश्रय अन्य कोई? यदि ज्ञान प्रवाह को ही आत्मा मान लें तब तो कोई विवाद ही नहीं क्योंकि आत्मोच्छेद का अर्थ ज्ञानोच्छेद ही होगा और मोक्षावस्था में ज्ञान का उच्छेद नैयायिकों का अभीष्ट ही है। मोक्षावस्था में इस प्रकार के ज्ञान का नाश होने से जीवात्मा की स्थिति पाषाण-तुल्य रहती है यह नैयायिकों का सिद्धान्त है। इस स्थिति में ज्ञान-सन्तान को आत्मा मानकर उसका उच्छेद मोक्ष में माध्यमिका मानना नैयायिकों के प्रतिकूल नहीं होता इसलिए उसके खण्डन करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। यदि ज्ञान प्रवाह के

अतिरिक्त उसका आश्रय आत्मा को मानें, तो भी उसमें यह विकल्प होता है कि आत्मा नित्य है अथवा अनित्य ?

यदि नित्य मानते हैं तो उसका उच्छेद हो नहीं सकता; क्योंकि नित्य वही कहा जाता है जिसका कभी विनाश न हो। इस स्थिति में आत्मा के उच्छेद की आशङ्का ही नहीं हो सकती। यदि आत्मा को अनित्य माना जाय, तब तो मोक्ष के लिए किसी की प्रवृत्ति ही नहीं होगी; क्योंकि कोई भी बुद्धिमान् पुरुष आत्मनाश के लिए प्रवृत्त नहीं हो सकता। संसार में सबसे प्रिय आत्मा ही होता है। श्रुति भी यही बताती है—'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'। और, आत्मा को अनित्य मानने से यह लोक प्रसिद्ध व्यवहार उपपन्न नहीं होगा कि अमुक-अमुक मुक्त हो गये। इससे यह सिद्ध होता है कि भावरूप धर्म से अतिरिक्त उसका आश्रय धर्मी कोई अवश्य है और वह नित्य है।

विज्ञानवादी बौद्धों का मत है कि धर्मी के निवृत्त होने से भिन्न निर्मल ज्ञान का उदय होता है वही मोक्ष है। उनका कहना है कि ज्ञान तो स्वभाव से ही निर्मल और स्वच्छ है केवल आश्रय—आत्मा—के सम्बन्ध से वह मलिन हो जाता है। आश्रय के निवृत्त हो जाने पर प्रतिक्षण निर्मल ज्ञान का उदय होता रहता है। वही 'महोदय' कहा जाता है और उसी का नाम 'मोक्ष' है। परन्तु, विज्ञानवादी का यह मत भी ठीक नहीं जँचता। कारण इसमें सामग्री का अभाव और सामानाधिकरण्य की अनुपपत्ति बनी ही रहती है। तात्पर्य यह है कि निर्मल ज्ञानोदय में चार प्रकार की भावनाएँ कारण होती हैं। वे ही महोदय की सामग्रियाँ हैं। 'सर्वं दुःखं सर्वं क्षणिकं' 'सर्वं स्वलक्षणं सर्वं शून्यम्'—यही भावनाचतुष्टय नाम से प्रसिद्ध है। इसका विवेचन पूर्ववत् बौद्ध दर्शन में किया गया है।

अब यहाँ विचारना है कि साधारणतया भाव्यमान जो भावना है वह अभिज्ञान की जनक नहीं होती है; किन्तु अतिशय भाव्यमान जो भावना है वह अभिज्ञान की जनक होती है। यथा स्वल्प संस्कार से रहित मणि को एक बार देखने ही से उसका यथार्थ परिचय नहीं होता किन्तु बार-बार निरीक्षण-परीक्षण से ही उसका यथार्थ परिचय होता है। परन्तु विज्ञानवादी बौद्धों के मत में भावना का प्रकर्ष हो ही नहीं सकता। कारण स्थिर पदार्थ में ही भावना का प्रकर्ष होता है अस्थिर में नहीं। और उनके मत में भावना का आधार कोई भी स्थिर नहीं है। क्योंकि उनके मत में सब कुछ क्षणिक ही माना जाता है स्थिर कुछ भी नहीं। आत्मा के भी प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न होने से 'सर्वं क्षणिकं' इत्यादि भावना का प्रकर्ष इसमें असम्भव ही है। इसलिए, मोक्ष-सामग्री का अभाव उनके मत में सिद्ध होता है।

सामानाधिकरण्य की भी उपपत्ति इनके मत में नहीं होती। सामानाधिकरण्य का तात्पर्य है—बद्धता और मुक्तता का एक आश्रय में रहना। जो बद्ध होता है वही मुक्त होता है इस प्रकार की व्यवस्था जो सर्वसिद्धान्त-सिद्ध है वह इनके मत में नहीं बनती। कारण इनके मत में सोपप्लव ज्ञान सन्तान-रूप आत्मा को बद्ध और निरुपप्लव ज्ञान-सन्तान-रूप आत्मा को मुक्त माना जाता है। आश्रय से सम्बद्ध

मलसहित ज्ञान प्रवाह का नाम सोपप्लव है, और वही बद्ध है। इससे भिन्न निरुपप्लव अर्थात् मुक्त है। ये बद्धता सोपप्लव ज्ञान सन्तान में और मुक्तता निरुपप्लव ज्ञान-सन्तान में मानते हैं। इसलिए, जो बद्ध है, वही मुक्त होता है इस प्रकार की व्यवस्था इनके मत में नहीं होती। कारण, क्षण-क्षण में उसको ये भिन्न मानते हैं।

इसी प्रकार जैनों का भी मुक्ति-लक्षण प्रतिबन्ध-रहित नहीं है। इनके मत में आवरण-भंग का ही नाम मुक्ति है। अब उनसे पूछना है कि आवरण कहते किसे हैं? यदि यह कहें कि धर्माधर्म की भ्रान्ति ही आवरण है तो यह इष्ट ही है इसलिए खण्डनीय नहीं है। यदि यह कहें कि देह ही आवरण है और इससे मुक्त होने पर पिंजड़े से मुक्त सुग्गे की तरह आत्मा का निरन्तर ऊर्ध्व-गमन ही मोक्ष है तो उनसे पूछना है कि यह आत्मा मूर्त्त है अथवा अमूर्त्त? यदि मूर्त्त कहें तो यह प्रश्न होता है कि निरवयव है अथवा सावयव? यदि निरवयव कहें, तो निरवयव मूर्त्त परमाणु ही होता है इसलिए परमाणु का लक्षण आत्मा में आ जाने से परमाणु-धर्म के अतीन्द्रिय होने के कारण आत्मा का धर्म भी अतीन्द्रिय होने लगेगा जो किसी को इष्ट नहीं है। यदि सावयव मानें तो भी ठीक नहीं होता। कारण, सावयव पदार्थ अनित्य होते हैं इस नियम से आत्मा भी अनित्य हो जायगा। इस स्थिति में अकृताभ्यागम और कृतप्रणाश दोष हो जाते हैं। जिसने कर्म किया यदि उसका फल उसको न मिले तो यह कृतप्रणाश है और जो कर्म न करे और फल पावे, तो यह अकृताभ्यागम है। यह उचित नहीं है। उचित तो यह है कि जो कर्म करे वही फल पावे। यह आत्मा के नित्य मानने में ही सम्भव है अनित्य मानने में कदापि नहीं। इसलिए, सावयव या निरवयव—किसी के भी मानने में उनका मत ठीक नहीं होता। यदि आत्मा को अमूर्त्त मानें तो भी ठीक नहीं होता क्योंकि वे ऊर्ध्वगमनरूपी क्रिया को मुक्तात्मा में मानते हैं और क्रिया मूर्त्त में ही हो सकती है अमूर्त्त में नहीं।

चार्वाकों के मत में स्वतन्त्रता को ही मोक्ष माना गया है। यहाँ भी विचार करना है कि यदि दुःख-निवृत्ति का ही स्वातन्त्र्य माना गया हो तो कोई विवाद नहीं है, इष्टापत्ति है। यदि स्वातन्त्र्य ऐश्वर्य को मानें तो यह विचार का विषय होता है। विचारशीलों की दृष्टि से मोक्ष का स्वरूप वही है जिससे उत्तम कोई दूसरा सुख न हो और उसके बराबर भी कोई न हो। इसी को निरतिशय और निरुपम कहते हैं। जीव का ऐश्वर्य निरतिशय कदापि नहीं हो सकता। सब कुछ होने पर भी जीवन-मरण के विषय में उसका स्वातन्त्र्य कभी नहीं हो सकता। निरतिशय सुख वही है जिसके प्राप्त हो जाने पर दूसरी वस्तु की अभिलाषा न हो। सांसारिक ऐश्वर्य की प्राप्ति हो जाने पर भी किसी-न-किसी वस्तु की अभिलाषा बनी ही रहती है। अतः, वह निरतिशय नहीं हो सकता। इसीलिए, इनका मत भी ठीक नहीं है।

मुक्ति के विषय में सांख्य-शास्त्र का मत है कि प्रकृति और पुरुष का विवेक ज्ञान होने पर भी पुरुष का जो अपने स्वरूप में अवस्थान है वही मुक्ति या मोक्ष है। समस्त जड़-वर्ग का मूल कारण प्रकृति है। वह जड़ और त्रिगुणात्मक भी है। इसीका नाम प्रधान या अव्यक्त भी है। पुरुष चेतन और असंग है। इन दोनों के भेद-ज्ञान से ही मुक्ति

होती है। इस प्रकार, मुक्ति-स्वरूप मानने पर भी दुःख का उच्छेद होता है। इसलिए, कोई विवाद नहीं। परन्तु, इसमें एक बात विचारणीय है कि उस विवेक-ज्ञान का आश्रय कौन है प्रकृति अथवा पुरुष ! यदि प्रकृति को ही विवेक-ज्ञान का आश्रय मानें तो इसी समय संसार का अस्त हो जाना चाहिए। क्योंकि संसार प्रकृति का परिणाम है और निवर्तक मुक्ति-स्वरूप विवेक ज्ञान प्रकृति में ही वर्तमान है। यदि पुरुष को विवेक-ज्ञान का आश्रय मानें, तो सांख्य का सिद्धान्त ही नष्ट हो जाता है; क्योंकि पुरुष का जो मूल-स्वरूप है एकरूपतया अवस्थान है, उसी का नाश हो जाता है। संसार-दशा में विवेक के नाश होने और मुक्ति-दशा में विवेक होने के कारण समानरूपता नष्ट हो जाती है। इसलिए, मुक्ति के विषय में सांख्य का सिद्धान्त ठीक नहीं है। यह नैयायिकों का कहना है।

मीमांसकों के मत में भी मोक्ष-काल में दुःख-निवृत्ति मानी ही जाती है। उनके मत में आत्यन्तिक सुख-प्राप्ति को मोक्ष माना जाता है। दुःख का लेश-मात्र रहने पर भी आत्यन्तिक सुख नहीं होता। इसलिए, आत्यन्तिक सुख में दुःख-निवृत्ति अवश्यम्भावी है। परन्तु, उनके मत में भी यह विचारणीय है कि नित्य-निरतिशय सुख में प्रमाण क्या है ? सांसारिक सुख तो प्रत्यक्ष और अनुमान-प्रमाण से दुःख-मिश्रित है यह सिद्ध हो चुका है। यदि 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' इत्यादि श्रुति-प्रमाणों से समस्त कामनाओं की प्राप्ति को ही आत्यन्तिक सुख माना जाय यह भी ठीक नहीं होता। कारण योग्य अनुपलब्धि से बाधित होने पर उसका अवकाश नहीं रहता। इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ श्रुति से प्रतिपादित विषय प्रत्यक्ष या अनुमान से बाधित होने के कारण प्रतीत नहीं होता, वहाँ श्रुति का गौण ही अर्थ माना जाता है मुख्य अर्थ नहीं। जैसे—'आत्मनः आकाशः सम्भूतः' इस श्रुति से आकाश की उत्पत्ति आत्मा से मानी गई है, परन्तु निरवयव होने के कारण प्रत्यक्ष या अनुमान से उसकी उत्पत्ति असिद्ध है। इसलिए, 'सम्भूतः' का मुख्य अर्थ 'उत्पन्न' न मानकर 'अभिव्यक्तः' यह गौण अर्थ ही माना जाता है।

इसी प्रकार, मोक्षावस्था में शरीर और इन्द्रिय के सम्बन्ध न होने के कारण सुख की उपलब्धि न होने से श्रुति का सुख प्राप्ति विषय बाधित हो जाता है। इसलिए, यहाँ श्रुति का गौण अर्थ ही माना जायगा। सुख प्राप्ति का गौण अर्थ सुख की अप्राप्ति का अभाव ही होगा। मोक्षकाल में शरीर और इन्द्रिय के सम्बन्ध न रहने से कोई कामना ही नहीं रहती। इस स्थिति में काम की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है ? इसलिए, उसका उक्त गौण अर्थ ही मानना समुचित है। एक बात यह भी है कि श्रुति में 'सह अश्नुते' यह पाठ है जिसका अर्थ एक काल में साथ साथ उपभोग करना है। सब इन्द्रियों से सब विषयों का एक काल में उपभोग असम्भव है। इसलिए श्रुति का गौण अर्थ मानना अनिवार्य है। इस विषय में नैयायिकों के ऊपर यह आक्षेप होता है कि मोक्ष के विषय में स्वयं मनुष्यों की प्रवृत्ति रहती है। अतिशय सुख के काम से ही किसी की प्रवृत्ति होती है। यदि तरल सुमधुर सुख-प्राप्ति को मोक्ष न मानकर नीरस दुःख निवृत्ति को ही मोक्ष माना जाय तो प्रवृत्ति योग से मस्त

मनुष्य को सरस मधुर दूध छोड़कर नीरस पदार्थ देने के समान अनधिकारक ही हो सकता है। इसलिए, सरस मधुर सुख-प्राप्ति को ही मोक्ष मानना समुचित है। इसके उत्तर में नैयायिकों का कहना है कि केवल दृष्टान्त-मात्र से ही साध्य की सिद्धि नहीं होती। उसके लिए अनुकूल तर्क की आवश्यकता होती है। और निरतिशय सुख प्राप्ति में कोई भी अनुकूल तर्क नहीं है बल्कि इसके विरोध में ही अनुकूल तर्क देखे जाते हैं। जैसे—इस संसार में जितने सुख पाये जाते हैं, सब सातिशय[1] हैं, निरतिशय[2] कोई भी नहीं। इसलिए निरतिशय सुख की प्राप्ति की आशा में सब मनुष्य को, उसके अभाव में दुःख ही अवश्यंभावी हो जाता है। सुख के अनुभव-काल में भी परिणाम की दृष्टि से दुःख ही प्रत्यक्ष होता है। पतञ्जलि ने स्पष्ट शब्दों में लिख दिया है—'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' और भी जितने सांसारिक सुख हैं, वे सुखविरोधी पदार्थों से आक्रान्त होने के कारण हेय हैं। सुख-साधन की जितनी सामग्रियाँ संसार में प्रसिद्ध हैं, उनकी प्राप्ति में अधिक-से-अधिक क्लेश सहना पड़ता है। इसलिए, सिद्ध होता है कि समस्त सुख दुःख से आक्रान्त है। मधुमिश्रित विष की तरह दुःख से मिश्रित सुख भी त्याज्य है। इसलिए, सुख के उद्देश्य से मोक्ष में किसी की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतः, दुःख-निवृत्ति को ही मोक्ष मानना समुचित है।

ईश्वर और उसकी सत्ता

ईश्वर के विषय में यह प्रश्न होता है कि उसकी सत्ता में प्रमाण क्या है? प्रत्यक्ष तो कह नहीं सकते; क्योंकि रूप आदि गुणों से रहित होने के कारण वह अतीन्द्रिय[3] माना जाता है और अतीन्द्रिय पदार्थों का प्रत्यक्ष होता नहीं, यह सर्व-सिद्धान्त है। अनुमान भी ईश्वर में प्रमाण नहीं हो सकता क्योंकि ईश्वर का साधक कोई व्याप्य लिङ्ग[4] नहीं है जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से उपलब्ध हो। आगम[5] भी प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें विकल्प का समाधान नहीं होता। विकल्प यह होता है कि आगम नित्य है अथवा अनित्य? यदि नित्य कहें तो अपसिद्धान्त हो जाता है। कारण, आगम वर्णसमूहात्मक ही होता है और वर्ण उत्पत्ति प्रध्वंसी होने के कारण स्पष्ट ही अनित्य है। यह नैयायिकों का परम सिद्धान्त है। इसे नित्य मानने से सिद्धान्त के भंग हो जाने के कारण यह अपसिद्धान्त हो जाता है। यदि वेद को अनित्य मानें तो परस्पराश्रय दोष हो जाता है। जैसे, वेद के अनित्य होने के कारण उसका प्रामाण्य उसके कर्त्ता के प्रामाण्य के अधीन होगा और उसके कर्त्ता ईश्वर का प्रामाण्य उसके बनाये हुए वेद के प्रामाण्य के अधीन होगा। इसलिए परस्पर आश्रित होने से अन्योन्याश्रय दोष हो जाता है। सादृश्य में नियत विषय होने के कारण उपमान भी ईश्वर में प्रमाण नहीं हो सकता। इसलिए ईश्वर की सत्ता अप्रामाणिक है। यही पूर्वपक्षियों का तात्पर्य है। इसके उत्तर में नैयायिकों का कहना है कि ईश्वर की सत्ता अवश्य है। वह प्रत्यक्ष-प्रमाण न होने पर भी अनुमान-प्रमाण अवश्य है। जितने कार्य हैं, उनका कर्त्ता कोई अवश्य होता है। यह कार्य-कारण-भाव का नियम है, पृथिवी, समुद्र और

१. अन्त। २. जिससे बढ़कर कोई न हो। ३. जो इन्द्रियों का विषय नहीं है। ४. हेतु। ५ वेद।

पर्वत आदि जो सृष्टि-प्रपञ्च है कार्य होने से उनका भी कर्ता कोई अवश्य होगा। जैसे घट का कर्ता कुम्भकार होता है। इसलिए, जगत् का जो कर्ता होगा, वही ईश्वर माना जायगा। इसके अनुमान का स्वरूप इस प्रकार है—पृथिवी, सागर आदि की समष्टि (जगत्) (पक्ष) सकर्तृक है, कार्य (साध्य) होने से (हेतु)। जो-जो कार्य होता है, वह सकर्तृक होता है (व्याप्ति) घट-पट आदि के समान (दृष्टान्त)। यहाँ प्रतिपक्षियों का यह आक्षेप है कि ईश्वर के साधन में जो कार्यत्व हेतु दिया है, वह असिद्ध है क्योंकि पृथिवी समुद्र आदि की उत्पत्ति किसी ने नहीं देखी है। इसलिए, उत्पन्न न होने से ये कार्य नहीं हो सकते हैं। कार्य न होने से ये कारण (ईश्वर) के साधक किस प्रकार हो सकते हैं? इसके समाधान में नैयायिकों का कहना है कि यद्यपि पृथिवी, सागर आदि की उत्पत्ति किसी ने नहीं देखी है, तथापि सावयव होने के कारण इनकी उत्पत्ति सिद्ध है। इसलिए, ये कार्य हैं। और, कार्य होने से अपने कारण (ईश्वर) के साधक हैं। पृथिवी आदि के कार्यत्व-साधक अनुमान का प्रकार यही होगा। पृथिवी आदि समष्टि (जगत्) (पक्ष) उत्पन्न होनेवाला (साध्य) है सावयव होने के कारण (हेतु) जो-जो सावयव होता है, वह कार्य होता (व्याप्ति) है। घट-पट आदि के समान (दृष्टान्त)। इस प्रकार सावयवत्व हेतु से जगत् का कार्यत्व सिद्ध हो जाने पर उसी कार्यत्व-हेतु से ईश्वर का अनुमान हो जाता है।

इसमें शङ्का होती है कि सावयवत्व का तात्पर्य क्या है? अवयवसंयोगित्व अथवा अवयवसमवेतत्व? संयोग-सम्बन्ध से रहनेवाले का नाम संयोगित्व है और समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले का समवेतत्व। यदि सावयवत्व का तात्पर्य अवयवसंयोगित्व मानें तो घटादि अवयवों के साथ आकाश का संयोग होने के कारण आकाश भी सावयव होने से कार्य होने लगेगा जो नैयायिकों का अभिप्रेत नहीं है। नैयायिक आकाश को नित्य मानते हैं कार्य नहीं। यदि अवयवसंयोगित्व का अर्थ स्वावयव संयोगित्व अर्थात् अपने अवयवों में संयोग-सम्बन्ध से रहनेवाला मानें, तो भी ठीक नहीं होता। कारण अवयव और अवयवी के साथ समवाय-सम्बन्ध होता है, संयोग नहीं। 'अवयवावयविनोः समवायः' यह नैयायिकों का सिद्धान्त है।

यदि स्वावयवसंयोगित्व का अर्थ 'अपने अवयवों के साथ जो परस्पर संयोग है, उसका आश्रय' मानें तो अवयवों के परस्पर-संयोग के आश्रय अवयव ही होते हैं, अवयवी नहीं इसलिए दोष बना ही रहता है। इस दोष के वारण के लिए यदि सावयव का अर्थ अवयवसमवेत मानें तो घटादि के अवयव जो तन्तु आदि हैं उनमें समवाय सम्बन्ध से तन्तुत्वादि सामान्य भी रहते हैं इसलिए वहाँ सावयवत्व लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है। इसलिए, सावयवत्व लक्षण किसी प्रकार भी युक्त नहीं होता है यह पूर्वपक्षी का तात्पर्य है।

इसके उत्तर में नैयायिकों का कहना है कि सावयवत्व का अर्थ समवेतद्रव्यत्व होता है। आकाश का कोई अवयव न होने से वह समवेत नहीं होता। और सामान्य समवेत होने पर भी द्रव्य नहीं है इसलिए सावयवत्व का लक्षण इन दोनों में नहीं जाता। अतएव सावयवत्व-हेतु निर्दुष्ट होने से कार्यत्व का साधक हो सकता है।

अवान्तर-महत्त्व हेतु से भी जगत् के कार्य होने का अनुमान किया जा सकता है। अवान्तर-महत्त्व उसको कहते हैं, जिसमें परम महत्त्व न रहे और महत्त्व का आश्रय हो। परम महत्त्व उसको कहते हैं जिससे बड़ा दूसरा कोई न हो जैसे आकाश आदि व्यापक पदार्थ। पर्वत आदि में परम महत्त्व नहीं रहता। द्व्यणुक से लेकर पर्वत सागर आदि समस्त अनित्य द्रव्यों म परम महत्त्व का अभाव ही रहता है। इसलिए, कार्यत्व-साधक अनुमान का स्वरूप इस प्रकार होगा—पर्वतादि सकल जगत् (पक्ष) कार्य है (साध्य), परम महत्त्वाभाववान् होने पर भी महत्त्व के आश्रय होने से (हेतु) घट आदि के सदृश (दृष्टान्त)। इस प्रकार जगत् का कार्यत्व सिद्ध कर, उसी कार्यत्व-हेतु से उसको सकर्तृक सिद्ध किया जाता है। इस प्रकार, कार्यत्व हेतु में कोई भी हेत्वाभास नहीं है। जैसे—

विरुद्ध नाम का हेत्वाभास इसलिए नहीं है कि साध्याभाव से व्याप्त जो हेतु है, वही विरुद्ध कहा जाता है। प्रकृत में जहाँ-जहाँ कार्यत्व है वहाँ-वहाँ सकर्तृकत्व रहता ही है सकर्तृकत्व का अभाव नहीं रहता। इसलिए, साध्याभाव से व्याप्त न होने के कारण हेत्वाभास नहीं है।

अनैकान्तिक, जिसको सव्यभिचार कहते हैं वह भी कार्यत्व-हेतु में नहीं है। साध्य के अभाव-स्थल में जो हेतु रहता है उसी को सव्यभिचार कहते हैं। प्रकृत में सकर्तृकत्व-रूप साध्य के अभाव-स्थल जो नित्य परमाणु आदि हैं, उसमें कार्यत्व हेतु नहीं रहता इसलिए कार्यत्व हेतु अनैकान्तिक भी नहीं होता है।

कालात्ययापदिष्ट, जिसको बाधित भी कहते हैं, भी यहाँ नहीं है क्योंकि कार्यत्व हेतु किसी भी प्रमाण से बाधित नहीं होता।

सत्प्रतिपक्ष नाम का हेत्वाभास भी यहाँ नहीं है। कारण साध्य के अभाव का साधक जो हेत्वन्तर है, उसी को सत्प्रतिपक्ष कहते हैं। प्रकृत में पूर्वपक्षी शरीराजन्यत्व हेतु से जो सकर्तृकत्व रूप साध्य का अभाव सिद्ध कर शरीराजन्यत्व को सत्प्रतिपक्ष मानते हैं यह ठीक नहीं है क्योंकि कार्यत्व हेतु के सामने शरीराजन्यत्व हेतु अत्यन्त दुर्बल है। कारण शरीराजन्यत्व जो हेतु है, उसमें अजन्यत्व-हेतु से ही प्रकृत फल के सिद्ध हो जाने से शरीर विशेषण लगाना निरर्थक हो जाता है जिससे प्रयोक्ता का अज्ञान ही सूचित होता से। इसलिए वह हेतु दुर्बल हो जाता है। जैसे, सिंह का प्रतिपक्ष मृगशावक नहीं होता उसी प्रकार शरीराजन्यत्व हेतु कार्यत्व हेतु का सत्प्रतिपक्ष नहीं हो सकता। यदि यह कहें कि 'अजन्यत्वात्' हेतु ही कार्यत्व-हेतु का सत्प्रतिपक्ष क्यों नहीं है? तो इसका उत्तर यह होता है कि अजन्यत्व हेतु को सत्प्रतिपक्ष तभी कह सकते हैं जब जगत् का अजन्यत्व सिद्ध हो; परन्तु आजतक किसी प्रमाण से भी उसका अजन्यत्व सिद्ध नहीं हुआ है।

कार्यत्व हेतु में उपाधि जो हेतु के व्यभिचारी होने का अनुमापक होता है की आशङ्का भी नहीं हो सकती। कारण जो साध्य का व्यापक और साधन का अव्याप्य है, वही उपाधि होता है। प्रकृत में सकर्तृकत्व-रूप साध्य का व्यापक और कार्यत्व-रूप हेतु का अव्यापक यदि कोई वस्तु हो, तो उपाधि की सम्भावना

हो सकती है परन्तु ऐसी कोई वस्तु नहीं है। इसकी सम्भावना तभी हो सकती है जब कार्यत्व हेतु का कहीं व्यभिचार देखा गया हो। कार्यत्व का व्यभिचार तभी हो सकता है जब सकर्तृकत्व के अभाव-स्थल में भी कार्यत्व रहता हो अर्थात् बिना कर्ता के भी कोई कार्य उत्पन्न होता हो, परन्तु ऐसा कहीं भी नहीं होता। 'यदि सकर्तृकत्वं न स्यात्तदा कार्यत्वमपि न स्यात्' अर्थात् यदि सकर्तृकत्व न हो तो कार्यत्व भी नहीं हो सकता इस अनुकूल तर्क से यह बाधित हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि कर्ता से जो उत्पन्न होता है, उसीको कार्य कहते हैं। यदि यह अकर्तृक होगा तो काम भी नहीं होगा क्योंकि समस्त काम का प्रयोक्ता कर्ता ही होता है। इतर जितने कारक हैं वे कर्ता के ही अधीन हैं। मृत्तिका दण्ड चक्र आदि साधनों के रहने पर भी कुलाल के बिना घट की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि सब कारकों का प्रयोग करनेवाला कुलाल ही होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि सकर्तृकत्व के अभाव में कार्यत्व रहता ही नहीं। इसलिए, कार्यत्व-हेतु व्यभिचारी नहीं हो सकता और उसमें उपाधि भी नहीं हो सकती। शास्त्रकारों ने भी लिखा है कि जहाँ अनुकूल तर्क रहता है वहाँ उपाधि की सम्भावना नहीं होती—

'अनुकूलेन तर्केण सनाथे सति साधने।
साध्यव्यापकताभङ्गात् पक्षे नोपाधिसम्भवः॥'

तात्पर्य यह है कि अनुकूल तर्क से यदि हेतु युक्त हो तो उपाधि की सम्भावना नहीं रहती।

ईश्वर को कर्ता मानने पर पूर्वपक्षी दूसरा आक्षेप यह करते हैं कि यदि ईश्वर को कर्ता मानते हैं, तो उसको शरीरी भी मानना आवश्यक हो जाता है क्योंकि लोक में शरीरी को ही कर्ता देखा जाता है अशरीरी आकाश आदि को नहीं। इस तर्क की सहायता से पूर्वपक्षी का ऐसा अनुमान होता है कि ईश्वर (पक्ष) जगत् का कर्ता नहीं होता (साध्य) अशरीरी होने के कारण (हेतु) आकाश के सदृश (दृष्टान्त)। यह अनुमान ईश्वर-सिद्धि के लिए प्रतिकूल है। परन्तु इस प्रकार का अनुमान ईश्वर की सिद्धि अथवा असिद्धि—दोनों अवस्थाओं में व्याहत होता है; क्योंकि आगम आदि किसी प्रमाण के द्वारा ईश्वर को सिद्ध कर ही, 'ईश्वर कर्ता नहीं हो सकता अशरीरी होने से' इत्यादि अनुमान कर सकते हैं अन्यथा नहीं। इस अवस्था में जिस प्रमाण से ईश्वर को सिद्ध कर इस प्रकार अनुमान करते हैं उसी प्रमाण से ईश्वर का जगत् का कर्ता होना भी सिद्ध होता है ऐसी स्थिति में जगत् का कर्ता ईश्वर नहीं होता ऐसा कहना बाधित हो जाता है अतः व्याघात दोष हो जाता है।

यदि यह कहें कि आगम प्रमाण नहीं किन्तु प्रमाणाभास है तो ईश्वर के सिद्ध न होने से 'ईश्वरः जगत्कर्ता न भवति' इस प्रकार का अनुमान पक्षासिद्धि नाम के दोष से दूषित हो जाता है। इसलिए व्याघात हो जाता है। इस अवस्था में ईश्वर की सिद्धि या असिद्धि—दोनों हालत में प्रतिपक्षी का अनुमान बाधित होता है। इसलिए, पूर्वोक्त प्रतिकूल तर्क किसी प्रकार भी उचित नहीं होता।

अब दूसरा प्रश्न यह होता है कि जगत् की रचना करने में ईश्वर की जो प्रवृत्ति होती है, वह स्वार्थ है अथवा परार्थ ? स्वार्थ मानने में भी दो विकल्प होते हैं—इष्ट प्राप्ति के लिए प्रवृत्ति है अथवा अनिष्ट-परिहार के लिए ? इष्ट-प्राप्ति के लिए तो कह नहीं सकते हैं क्योंकि वह स्वयं परिपूर्ण और सकल कामनाओं को प्राप्त किया हुआ है। ऐसी कोई भी प्राप्त करने योग्य वस्तु नहीं है जो ईश्वर को प्राप्त नहीं है। अनिष्ट-परिहार के लिए भी प्रवृत्ति नहीं कर सकते; क्योंकि सकल इष्ट कामनाओं के प्राप्त होने के कारण अनिष्ट की सम्भावना ही नहीं है।

यदि परार्थ प्रवृत्ति मानें, तो भी नहीं बनता क्योंकि परार्थ प्रवृत्तिवालों को कोई भी बुद्धिमान् नहीं मानता। यदि कहें कि करुणा से ही ऐसी प्रवृत्ति होती है तो प्राणिमात्र को सुखी होना चाहिए, किसी को भी दुःखी नहीं होना चाहिए। कारण, स्वार्थ की अनपेक्षा से दूसरों के दुःखों के नाश करने की जो इच्छा है उसी को करुणा कहते हैं। इस प्रकार, जगत् के निर्माण में ईश्वर की प्रवृत्ति उचित नहीं प्रतीत होती।

इसका उत्तर यह है कि भली भाँति विचार करने पर प्रतीत होता है कि करुणा से प्रवृत्ति मानने में कोई बाधक नहीं है। करुणा से प्रवृत्ति मानने पर सुखमय सृष्टि होनी चाहिए, यह भी ठीक नहीं है क्योंकि सृज्यमान प्राणियों के सुकृत और दुष्कृत कर्म का जो परिपाक विशेष है, उसके वैषम्य होने के कारण सुख और दुःख होना अनिवार्य हो जाता है। ईश्वर की जगत्सृष्टि में प्राणिकृत कर्म की अपेक्षा मानने में परावलम्बी होने के कारण ईश्वर का स्वातन्त्र्य भङ्ग हो जायगा—ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि 'स्वाङ्ग स्वस्य व्यवधायकं न भवति' अर्थात्, अपना अङ्ग अपना व्यवधायक नहीं होता इस न्याय से उसका निर्वाह हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार लोक में किसी अन्यारम्भण प्रसंग में अपने हस्त-पादादि अवयवों से व्यवधान नहीं माना जाता, उसी प्रकार यहाँ कर्म भी जगत् के अन्तर्गत ईश्वरकारित होने से ईश्वराङ्ग ही है। इसलिए, कर्म की अपेक्षा रखने पर भी ईश्वर परावलम्बी नहीं होता। स्वातन्त्र्य का कार्य है उसका साधन भी स्वाधीन ही है। यह स्वातन्त्र्य का गौरव (उत्कर्ष) ही है। इसलिए, कर्मापेक्षा होने पर भी ईश्वर का स्वातन्त्र्य भङ्ग नहीं होता।

आगम-प्रमाण से ईश्वर-सिद्धि

आगम-प्रमाण से भी ईश्वर की सिद्धि होती है। 'एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे' (तै० सं० १।८।६) 'द्यावाभूमी जनयन् देव एकः' इत्यादि श्रुतियाँ ईश्वर की सिद्धि में प्रमाण हैं। इन श्रुतियों का तात्पर्य यह है कि एक ईश्वर ही था तथा वर्तमान है दूसरा कुछ नहीं जो भी कुछ दूसरा देखा जाता है वह उसी ईश्वर का कार्य है। यहाँ यह शङ्का होती है कि यदि ईश्वर को आगम से सिद्ध करते हैं तो ईश्वर और आगम में परस्पराश्रय दोष हो जाता है; क्योंकि आगम से ईश्वर की सिद्धि और ईश्वर से ही

आगम की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार, दोनों के परस्पर अपेक्षित होने से परस्पराश्रय होना अनिवार्य हो जाता है।

इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि यहाँ परस्पराश्रय का उत्थान नहीं होता। कारण यह है कि आगम ईश्वर के ज्ञान में कारण है उत्पत्ति में नहीं। ईश्वर तो नित्य द्रव्य है। वह आगम की उत्पत्ति में कारण होता है। इस प्रकार, विषय भेद होने से वह परस्परापेक्ष नहीं है। तात्पर्य है कि उत्पत्ति में ईश्वर आगम की अपेक्षा नहीं रखता; क्योंकि वह नित्य है और नित्य होने के कारण स्वयं प्रमाण है। इसलिए, ईश्वर का प्रामाण्य भी उत्पत्ति में आगम की अपेक्षा नहीं रखता क्योंकि ईश्वर स्वतः प्रमाण है। यह भी आगम की उत्पत्ति में ही कारण होता है ज्ञान में नहीं। आगम का ज्ञान तो गुरु-परम्परा और अध्ययन से ही होता है। इसमें ईश्वर की अपेक्षा नहीं होती। जिस प्रकार घट की उत्पत्ति में कुम्भकार की अपेक्षा रहती है परन्तु घट के ज्ञान में नहीं इसी प्रकार आगम के ज्ञान में ईश्वर की अपेक्षा नहीं रहती। आगमवृत्ति के अनित्यत्व आदि धर्म के ज्ञान में भी ईश्वर की अपेक्षा नहीं होती। आगम के अनित्यत्व का ज्ञान तो कटु, तीव्र आदि धर्म से युक्त होने से ही हो जाता है। तात्पर्य यह है कि अर्थविशेषविशिष्ट शब्द-विशेष को ही आगम कहते हैं और कहीं-कहीं अर्थ में भी तीव्रत्व आदि धर्म उपलब्ध होते हैं। शब्द में भी कर्णकटुत्व आदि धर्म अवस्थित होते हैं। ये तीव्रत्व, कटुत्व आदि धर्म अनित्यत्व के व्याप्य भी हैं। अर्थात्, जहाँ-जहाँ तीव्रत्व, कटुत्वादि धर्म हैं वहाँ-वहाँ अनित्यत्व अवश्य रहता है। इस कारण आगम का अनित्य होना सिद्ध है। तीव्रत्व, कटुत्व आदि जो धर्म हैं वे ही आगम के अनित्य होने में ज्ञापक होते हैं। इसी कारण प्रकृत में ईश्वर और आगम के परस्पराश्रित न होने से परस्पराश्रय नहीं होता है अर्थात् विषय के भेद होने पर परस्पराश्रय दोष नहीं होता। जैसे—स्थल में नौका को कहीं अन्यत्र ले जाने में शकट (गाड़ी) की अपेक्षा रहती है और जल में शकट को कहीं अन्यत्र ले जाने में नौका की अपेक्षा रहती है। दोनों (नौका और शकट) के परस्पर अपेक्षित रहने पर भी आधार भेद होने के कारण परस्पराश्रय दोष नहीं होता। इसी प्रकार, आगम की उत्पत्ति में ईश्वर की अपेक्षा होने पर भी ज्ञान में उसकी अपेक्षा नहीं है। ईश्वर के ज्ञान में आगम की अपेक्षा होने पर भी उत्पत्ति में आगम की अपेक्षा नहीं है। इस प्रकार, विषय भेद होने के कारण परस्पराश्रय दोष नहीं होता।

इसी प्रकार, ईश्वर-प्रामाण्य और आगम प्रामाण्य भी परस्पराश्रय दोष नहीं होते यह भी जान लेना चाहिए। न्याय-दर्शन में महर्षि गौतम का यही मत संक्षेप में लिखा गया है।

वैशेषिक-दर्शन

भगवान् कणाद ने स्वयं कपोत-वृत्ति से अपना जीवन निर्वाह करते हुए जिस अपूर्व ज्ञान-भंडार को लोक-कल्याण के लिए प्रदान किया है, उससे केवल भारतवर्ष ही नहीं अपितु समस्त संसार उनका ऋणी रहेगा। महात्मा कणाद खेत में गिरे हुए अन्न के कणों को चुनकर अपना जीवन निर्वाह करते थे। इसीलिए, इनकी ख्याति 'कणाद' नाम से हुई। इनके दर्शन को 'वैशेषिक-दर्शन' इसलिए कहते हैं कि ये विशेष को भी पदार्थ मानते हैं। इनसे पूर्व किसी ने भी विशेष को पदार्थ नहीं माना है। इस दर्शन को औलूक्य-दर्शन भी कहते हैं क्योंकि इनके पिता का नाम 'उलूक' ऋषि था। महर्षि गौतम की तरह महर्षि कणाद भी प्रमाण प्रमेय आदि सोलह पदार्थों के तत्त्व-ज्ञान से मोक्ष की सिद्धि बताते हैं। द्रव्य के गुण और इसके प्रत्यक्ष सुव्यवस्थित रूप तथा इसके साधर्म्य और वैधर्म्य का जैसा विशिष्ट वर्णन कणाद ने किया है वैसा अन्यत्र नहीं मिलता। इस विशेषता से भी इसको वैशेषिक-दर्शन कहते हैं।

कणाद ने दो ही मुख्य प्रमाण माने हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। ये अनुपलब्धि प्रमाण का प्रत्यक्ष में और शेष का अनुमान में अन्तर्भाव मानते हैं।

इस संसार में जितने प्राणी हैं, वे सब दुःख से छुटकारा पाना चाहते हैं। दुःख का सर्वथा नाश भगवत्साक्षात्कार के बिना हो नहीं सकता। इसीलिए श्रुति कहती है—'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति। नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।' अर्थात्, परमात्मा को जानकर ही आत्यन्तिक दुःख से छुटकारा मिलता है। दूसरा कोई मार्ग नहीं है। परमात्मा का साक्षात्कार श्रवण, मनन और निदिध्यासन से होता है। गुरु से परमेश्वर के स्वरूप-ज्ञान और उनके गुणों का श्रवण पुनः युक्तिपूर्वक चिन्तन तथा मनन पुनः अपने अन्तःकरण में धारण से मनुष्य आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करता है। इसी बात को महर्षियों ने यों कहा है—

'आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्॥'

मनन अनुमान के अधीन या अनुमान-स्वरूप है। अनुमान व्याप्ति-ज्ञान के अधीन है। व्याप्ति-ज्ञान परामर्श के द्वारा अनुमिति का जनक होता है। व्याप्ति का ज्ञान पदार्थ-विवेक के अधीन है। जबतक पदार्थों का विवेचन पूर्णतया नहीं हो जाता, तबतक कौन पदार्थ व्याप्य और कौन व्यापक है यह नहीं जाना जा सकता। इसलिए 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' इत्यादि सूत्रों के द्वारा महर्षि कणाद ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय—इन छः पदार्थों का विवेचन पूर्ण विस्तार के साथ दस अध्यायों में किया है। इसी शास्त्र को 'वैशेषिक-दर्शन' कहते हैं। प्रत्येक

अध्याय में दो-दो आह्निक हैं। एक दिन में एक 'आह्निक' लिखा जाता था इसीसे इसका नाम 'आह्निक' रखा गया है।

दशाध्यायी के प्रथम अध्याय में समवेत सकल पदार्थों (द्रव्यादि) का विवेचन किया गया है। समवेत उसको कहते हैं जो समवाय-सम्बन्ध से कहीं रहता है या जिसमें समवाय-सम्बन्ध से कोई रहता है। द्रव्य गुण, कर्म सामान्य और विशेष ये पाँचों पदार्थ समवेत कहे जाते हैं। केवल समवाय ही समवेत नहीं कहा जाता क्योंकि समवाय एक नित्य-सम्बन्ध है। इसके लिए समवायान्तर की कल्पना करने से अनवस्था दोष हो जाता है। समवाय के अतिरिक्त जितने पदार्थ हैं वे सब समवाय सम्बन्ध से अवश्य कहीं रहते हैं। द्रव्य अपने अवयवों में समवाय-सम्बन्ध से रहता है। गुण और कर्म भी द्रव्य में समवाय-सम्बन्ध से रहते हैं। इसी प्रकार, सामान्य भी द्रव्य गुण और कर्म—तीनों में समवाय-सम्बन्ध से रहता है। विशेष भी नित्य द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से रहता है। यद्यपि आकाश तथा परमाणु निरवयव होने के कारण कहीं भी समवाय-सम्बन्ध से नहीं रहते तथापि समवेत कहे जाते हैं क्योंकि आकाश में शब्द और परमाणु में रूपादि समवाय-सम्बन्ध से रहते ही हैं।

समवाय से भिन्न सकल पदार्थ समवेत कहे जाते हैं। इन समवेत पदार्थों का विवेचन प्रथम अध्याय में किया गया है। प्रथम अध्याय के प्रथम आह्निक में जातिमान् द्रव्य गुण एवं कर्म का निरूपण किया गया है और द्वितीय आह्निक में जाति तथा विशेष का। द्वितीय अध्याय में द्रव्य का निरूपण किया गया। इसके प्रथम आह्निक में भूत-विशेष का और द्वितीय आह्निक में दिक् तथा काल का। तृतीय अध्याय के प्रथम आह्निक में आत्मा का और द्वितीय आह्निक में अन्तःकरण का निरूपण है। चतुर्थ अध्याय में शरीर और शरीर विवेचन के उपयोगी परमाणु कारणत्व आदि का निरूपण है। पाँचवें अध्याय में कर्म का प्रतिपादन है। उसके प्रथम आह्निक में शारीरिक कर्म का और द्वितीय आह्निक में मानस कर्म का विवेचन है। छठे अध्याय में श्रौत धर्म का विवेचन है। उसके प्रथम आह्निक में दान और प्रतिग्रह का तथा द्वितीय आह्निक में ब्रह्मचर्य गार्हस्थ्य वानप्रस्थ और संन्यास इन चार आश्रमों के उपयुक्त धर्मों का विवेचन है। इसी प्रकार, सातवें अध्याय में गुण और समवाय का प्रतिपादन है। उसके प्रथम आह्निक में बुद्धि निरपेक्ष जो रूप रस आदि गुण हैं उनका विवेचन है और द्वितीय आह्निक में बुद्धि-सापेक्ष जो द्वित्व परत्व अपरत्व पृथक्त्व आदि गुण हैं उनका और समवाय का भी विवेचन है। अष्टम अध्याय में निर्विकल्पक और सविकल्पक प्रत्यक्ष-प्रमाण का विवेचन है। नवम अध्याय में बुद्धि-विशेष का और दशम अध्याय में अनुमान-भेद पर विचार किया गया है। इस प्रकार, कुल दस अध्यायों में द्रव्य आदि सकल पदार्थ पृथक्‌रूपेण विवेचित हैं।

कणाद की ग्रन्थ-रचना की प्रक्रिया तीन प्रकार की है—उद्देश लक्षण और परीक्षा। अर्थात्, पहले उद्देश तत्पश्चात् लक्षण तदनन्तर परीक्षा। इस प्रकार ग्रन्थ की समाप्ति-पर्यन्त आचार्य की शैली विवेचन-प्रधान रही है।

उद्देश का तात्पर्य यह है, नाम-मात्र से वस्तु का संकीर्तन। जैसे—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय—ये छह पदार्थ हैं। इस प्रकार, वस्तु का नाम मात्र से निर्देशन कर देना ही उद्देश है। पदार्थों का साधारण ज्ञान होना, उद्देश का फल है।

असाधारण धर्म का नाम लक्षण है। जैसे—पृथिवी का असाधारण धर्म है गन्ध। यही पृथिवी का लक्षण हुआ। लक्षण का प्रयोजन है इतर-पदार्थ से भेद का ज्ञान कराना। जैसे—पृथिवी का लक्षण गन्धवत्त्व है। इसी से पृथिवी जलादि से भिन्न है। क्योंकि जलादि में गन्ध नहीं है।

लक्षित[1] का लक्षण युक्त है या नहीं—इस प्रकार के विचार का नाम परीक्षा है। लक्षण में दोष का परिहार परीक्षा का फल है।

अब प्रश्न यह है कि आचार्य ने पदार्थों का विभाग किया है, फिर भी विभाग सहित चार प्रकार की प्रवृत्तियों को तीन प्रकार की ही क्यों कहा? उत्तर यह है कि उद्देश दो प्रकार के हैं—सामान्य और विशेष। द्रव्य आदि छह पदार्थ हैं—यह सामान्य उद्देश है तथा पृथिवी आदि नव द्रव्य हैं, रूप रस आदि चौबीस गुण हैं—यह विशेष उद्देश है। इस प्रकार, विशेष उद्देश में ही विभाग का भी अन्तर्भाव हो जाने से विभाग की पृथक् प्रकार में गणना नहीं की गई।

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय—इस तरह पदार्थों का जो क्रम रखा गया है, उसका तात्पर्य यह है कि द्रव्य समस्त पदार्थों का आश्रय है। और धर्मों के ज्ञान के बिना धर्म का ज्ञान सुलभ नहीं होता। धर्मी रूप मनुष्य का ज्ञान होने पर ही उसमें विद्यमान स्थूलता कृशता-रूप धर्म का ज्ञान होता है। द्रव्यादि छह पदार्थों में द्रव्य से भिन्न गुणादि जो पाँच पदार्थ हैं, उन सबका साक्षात् या परम्परया द्रव्य ही आश्रय होता है। गुण और कर्म का साक्षात् आश्रय द्रव्य ही होता है। क्योंकि, द्रव्य से भिन्न पदार्थ में कहीं भी गुण कर्म नहीं रहते। द्रव्यत्व पृथिवीत्व घटत्व पटत्व आदि जो सामान्य[2] हैं, उनका भी साक्षात् आश्रय द्रव्य ही है। गुण-कर्म में विद्यमान जो गुणत्व कर्मत्व-सामान्य हैं, उनका गुण और कर्म के द्वारा परम्परया द्रव्य ही आश्रय है। विशेष का भी साक्षात् आश्रय द्रव्य ही है। समवाय का कहीं साक्षात्, कहीं गुण क्रिया आदि के द्वारा परम्परया आश्रय द्रव्य ही होता है। इसीलिए, द्रव्य का पहला स्थान है।

इसके बाद रूप आदि जो गुण हैं, वे द्रव्य के धर्म हैं। इसलिए, इन्हें दूसरा स्थान प्राप्त हुआ है। गुण और कर्म में भी गुण के सकल द्रव्य-वृत्तित्व होने के कारण यह पहले आता और चूँकि कर्म सब द्रव्यों में नहीं रहता, इसलिए उसका स्थान गुण के बाद रखा गया। आकाश, काल, दिक्, आत्मा—इन चार विभु द्रव्यों में

१ [illegible]
२ [illegible]

कर्म नहीं रहता। इनमें भी यदि कर्म की स्थिति मानें, तो इसका व्यापकत्व नहीं हो सकता। यद्यपि सब गुण भी सब द्रव्यों में नहीं रहते जैसे आकाश आदि में रूप, रस आदि नहीं हैं और पृथिवी में बुद्धि आदि नहीं है, तथापि कोई गुण प्रत्येक द्रव्य में अवश्य ही रहता है। जैसे—आकाश में शब्द और पृथिवी में गन्ध। इसलिए, सभी द्रव्य गुणों के आश्रय हैं, ऐसा माना जाता है। अतः द्रव्य का गुणाश्रयत्व रूप लक्षण भी सिद्ध होता है।

अब यहाँ प्रश्न है कि कणाद ने छह ही पदार्थ क्यों माने हैं? इन के अतिरिक्त अभाव भी तो एक पदार्थ है उसे क्यों नहीं माना गया? उत्तर यह है कि महर्षि कणाद ने यहाँ भाव-पदार्थ का ही विवेचन किया है। अभाव-पदार्थ का नहीं। अभाव यद्यपि पदार्थान्तर है तथापि वह निषेध विषयक बुद्धि का विषय है। जो निषेध विषयक बुद्धि का विषय न हो इस प्रकार के जो भाव-पदार्थ हैं उन्हीं के लिए यह 'षडेव पदार्थाः'—ऐसा नियम है।

अब यहाँ शङ्का होती है कि 'षडेव' में 'एव' शब्द से जिस पदार्थान्तर का निषेध किया जाता है, वह यथार्थ है या अयथार्थ? यदि यथार्थ है तो उसका निषेध हो नहीं सकता। यदि अयथार्थ है तो भी निषेध करना व्यर्थ है। क्योंकि असत् पदार्थ का निषेध करना तो मूषिक विषाण और वन्ध्या पुत्र आदि के निषेध के समान व्यर्थ ही है। इस अवस्था में असत् पदार्थान्तर के निषेध के लिए जो 'षडेव' में 'एव' शब्द का प्रयोग किया वह भी तो निष्फल ही हो जाता है। परन्तु, इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि 'षडेव' इस नियम से न तो केवल असत् का निषेध किया जाता है और न तो केवल भाव का ही। किन्तु असत् भाव का निषेध किया जाता है। केवल असत् से अन्धकार की प्रतीति होती है और केवल भाव से शक्ति और सादृश्य की प्रतीति होती है। यहाँ भागशः निषेध का प्रतियोगी यथार्थ है। इसी की व्यावृत्ति के लिए 'षडेव' यह नियम उपपन्न होता है। यद्यपि अन्धकार की प्रतीति भावरूप में नहीं होती है तथापि वह भाव नहीं है किन्तु तेज का अभाव-रूप अन्धकार है। इसी प्रकार शक्ति और सादृश्य की भी भावरूप में प्रतीति होती है परन्तु ये भी असत् नहीं हैं। क्योंकि, उनका उपर्युक्त छह पदार्थों (द्रव्य गुण आदि) में ही अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे—शक्ति को पदार्थ इसीलिए माना जाता है कि दाह का प्रतिबन्धक जो चन्द्रकान्त मणि है उससे सम्बन्ध होने पर अग्नि की दाहकत्व-शक्ति नष्ट हो जाती है तथा मणि के संयोग के नष्ट होने पर दाहकत्व-शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार शक्ति की उत्पत्ति और विनाश होने से शक्ति को भी कुछ लोगों ने पदार्थ माना है। पर, यह कणाद-सम्मत नहीं है। इनका कहना है कि दाह के प्रति अग्नि की जो कारणता है उसी का नाम शक्ति है। इनके मत में शक्ति कोई विशिष्ट पदार्थ नहीं है। और, कार्य-मात्र के प्रति प्रतिबंधक का अभाव कारण होता है। मणि के संयोग में प्रतिबंधक का अभाव नहीं है। किन्तु, दाह का प्रतिबंधक मणि विद्यमान है इसलिए मणि-संयुक्त अग्नि दाह का कारण नहीं होती। इसलिए, इनके मत से शक्ति को अतिरिक्त पदार्थ नहीं माना जाता।

इसी प्रकार, सादृश्य भी इनके मत में पदार्थान्तर नहीं है। क्योंकि उससे भिन्न और उसमें रहनेवाले धर्म का नाम ही सादृश्य है, कोई दूसरा पदार्थ नहीं। इसलिए, उसका सप्तम पदार्थत्व सिद्ध नहीं होने से 'षडेव पदार्थाः' यह नियम संगत हो जाता है।

द्रव्यादि के लक्षण

जो आकाश और कमल में समवाय-संबंध से रहता हो और नित्य हो और गंध में समवाय-संबंध से न रहता हो, वही द्रव्य का लक्षण है। जैसे—द्रव्यत्व पृथिवी आदि नवों द्रव्यों में समवाय-संबंध से है। आकाश और कमल में भी है। कमल भी पृथिवी के ही अन्तर्गत है इसलिए उसमें भी द्रव्यत्व का रहना सिद्ध है और जाति के नित्य होने से द्रव्यत्व जाति नित्य भी है। और, गन्धासमवेत[1] भी है। क्योंकि गन्ध गुण है और द्रव्यत्व केवल द्रव्य में ही रहनेवाला धर्म है। यह गुण में नहीं रहता। इसलिए, द्रव्यत्व के चार लक्षण सिद्ध होते हैं—आकाश-समवेत[2] कमल-समवेत, गन्धासमवेत, और नित्य। यहाँ लक्षण कोटि में आकाश-समवेत यदि न लिया जाय तो पृथिवीत्व में द्रव्य-लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है। क्योंकि पृथिवीत्व नित्य और कमल-समवेत और गन्धासमवेत भी है। पृथिवीत्व का गन्ध के साथ समानाधिकरण्य[3] होने पर भी, गन्ध में पृथिवीत्व समवाय-संबंध से नहीं रहता। और, कमल में समवाय-संबंध से रहता है तथा नित्य भी है अतः पृथिवीत्व में द्रव्य-लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है। इसलिए आकाश-समवेत का भी लक्षण-कोटि में निवेश करना चाहिए। इस स्थिति में अतिव्याप्ति[4] नहीं होती। क्योंकि पृथिवीत्व केवल पृथिवी में ही रहता है आकाश में नहीं रहता। यदि लक्षण में कमल-समवेत न कहें तो आकाश में रहनेवाली जो एकत्व-संख्या है उसमें अतिव्याप्ति हो जाती है। क्योंकि एकत्व-संख्या आकाश-समवेत है और नित्य भी है; क्योंकि नित्यगत संख्या नित्य ही होती है तथा गन्धासमवेत भी है। क्योंकि गुण में गुण नहीं रहता इस सिद्धांत से गन्ध में एकत्व नहीं रह सकता। क्योंकि दोनों गुण ही हैं। यद्यपि कमल में एकत्व रहता है परन्तु वह एकत्व आकाशगत एकत्व संख्या से भिन्न है। इसलिए, आकाशगत एकत्व-संख्या में अतिव्याप्ति न हो इसलिए कमल-समवेत भी लक्षण में रखना चाहिए। यदि लक्षण में नित्यत्व न रखा जाय तो आकाश और कमल दोनों में रहनेवाली जो द्वित्व-संख्या है उसमें अतिव्याप्ति दोष हो जायगा। क्योंकि, आकाश और कमलगत द्वित्व-संख्या आकाश और कमल दोनों में समवेत है और गन्धासमवेत भी है। किन्तु नित्य नहीं है। अपेक्षाबुद्धि से जन्य होने के कारण द्वित्वादि संख्या अनित्य ही होती है।

यदि लक्षण में गन्धासमवेतत्व विशेषण न दें तो द्रव्य, गुण, कर्म—इन तीनों में रहनेवाली जो सत्ता-जाति है उसमें द्रव्यत्व-लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है; क्योंकि

---

१ जो गन्ध में समवाय-संबंध से नहीं रहे।
२ समवाय-संबंध से रहनेवाले का नाम समवेत है।
३ एक ही स्थान में रहनेवाला।
४ जिसका लक्षण न करें उसमें भी लक्षण के चले जाने को अतिव्याप्ति-दोष कहते हैं।

सत्ता आकाश और कर्म दोनों में समवेत है और नित्य भी है। किन्तु, गन्धासमवेत नहीं है। क्योंकि गन्ध में भी सत्ता समवाय संबंध से रहती ही है। इसलिए, द्रव्य के लक्षण में गन्धासमवेत भी विशेषण देना आवश्यक है।

गुणत्व-निरूपण—समवायिकारणासमवेत और असमवायिकारण से भिन्न में समवेत तथा सत्ता की साक्षात् व्याप्य जो जाति है वही गुणत्व है। द्रव्य गुण और कर्म इन तीनों में रहनेवाली जो सत्ता-जाति है उसके साक्षात् व्याप्य द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व ये तीनों जातियाँ हैं। पृथिवीत्व, जलत्व आदि जाति द्रव्यत्वादि के साक्षात् व्याप्य होने पर भी सत्ता के साक्षात् व्याप्य नहीं हैं। किन्तु, सत्ता के परम्परया (द्रव्यत्वादि के द्वारा) व्याप्य हैं। गुणत्व सत्ता का साक्षात् व्याप्य है और समवायिकारणासमवेत भी है। क्योंकि समवायिकारण द्रव्य है, उसमें समवाय-संबंध से गुणत्व नहीं रहता। यद्यपि गुरुत्वादि गुण द्रव्य में समवाय रूप में रहते हैं तथापि गुणत्व केवल गुण में ही रहता है द्रव्य में नहीं एवं असमवायिकारण से भिन्न में समवेत भी है जैसे असमवायि कारण से भिन्न जो आत्म विशेष गुण ज्ञान आदि हैं, उनमें समवाय-संबंध से गुणत्व रहता है।

आत्मा के जो विशेष गुण ज्ञानादि हैं वे किसी के प्रति असमवायिकारण नहीं होते। यदि गुण के लक्षण में असमवायिकारणासमवेत यह विशेषण न दें, तो द्रव्य में भी गुण-लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। जैसे—द्रव्यत्व जाति सत्ता के साक्षात् व्याप्य और असमवायिकारण से भिन्न द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहती भी है। उक्त विशेषण रहने पर द्रव्यत्व में गुण-लक्षण की अति व्याप्ति नहीं होती। क्योंकि समवायि-कारण जो द्रव्य है उसमें गुणत्व समवाय सम्बन्ध से रहता है।

यदि असमवायिकारणभिन्नसमवेत यह विशेषण गुण-लक्षण में न दिया जाय तो कर्मत्व में गुण-लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है। क्योंकि कर्मत्व सत्ता का साक्षात् व्याप्य है और समवायिकारणासमवेत भी है। इसलिए, असमवायिकारण भिन्न समवेत भी गुण-लक्षण में देना आवश्यक है। उक्त विशेषण के देने पर अतिव्याप्ति नहीं होती। कारण यह है कि संयोग विभाग के प्रति कर्ममात्र असमवायिकारण है। असमवायि कारण से भिन्न कर्म होता ही नहीं।

यदि गुण लक्षण में सत्ता साक्षात् व्याप्य जाति यह विशेषण न दें तो ज्ञानत्व में भी गुण-लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है। क्योंकि समवायिकारण जो द्रव्य है उसमें ज्ञानत्व समवाय सबंध से नहीं रहता। इसलिए, समवायिकारणासमवेत है। और, असमवायिकारण से भिन्न जो ज्ञान है, उसमें समवेत यानी समवाय सम्बन्ध से रहता है। किन्तु, सत्ता का साक्षात् व्याप्य ज्ञानत्व नहीं है, इसलिए उक्त विशेषण देने पर ज्ञानत्व में अतिव्याप्ति नहीं होती।

कहीं-कहीं गुण का लक्षण भिन्न प्रकार से भी किया गया है जैसे समवायिकारण और असमवायिकारण से भिन्न में समवेत हो और सत्ता का साक्षात् व्याप्य हो वही गुण का लक्षण माना गया है। द्रव्यत्व में यह लक्षण नहीं घटेगा। कारण यह है कि द्रव्यत्व

द्रव्य-मात्र में ही समवेत है तथा द्रव्यमात्र समवायिकारण अवश्य होता है। द्रव्य-घटक ईश्वर भी 'जीवेश्वरौ' यहाँ पर जीव और ईश्वरगत द्वित्व-संख्या के प्रति समवायिकारण होता ही है। क्योंकि, द्वित्व के प्रति अपेक्षाबुद्धि कारण है और 'अयमेकः अयमेकः इति इमौ द्वौ' यही अपेक्षाबुद्धि का स्वरूप है।

कर्मत्व—जो नित्य पदार्थ में समवाय-सम्बन्ध से न रहता हो और सत्ता का साक्षात् व्याप्य जाति हो, वही कर्मत्व है। द्रव्यत्व जाति सत्ता का साक्षात् व्याप्य होने पर भी नित्य द्रव्य जो आकाश परमाणु आदि हैं उनमें समवाय सम्बन्ध से रहता है, अतः द्रव्यत्व में अतिव्याप्ति नहीं होती। इसी प्रकार, जलादि परमाणु में रहने वाले जो रूपादि हैं और परमात्मगत जो नित्य ज्ञान है, उनमें गुणत्व जाति भी समवाय संबंध से रहती ही है। इसलिए, वहाँ भी अतिव्याप्ति नहीं है। और कर्म तो कोई भी नित्य नहीं होता इसलिए कर्मत्व जाति नित्यासमवेत है पर सत्ता का साक्षात् व्याप्य भी है। इसलिए, नित्यासमवेत और सत्ता का साक्षात् व्याप्य कर कर्म-लक्षण का समन्वय हो जाता है।

सामान्य—सामान्य का लक्षण करते हुए महर्षि कणाद ने कहा है कि जो नित्य है और अनेक में समवाय-सम्बन्ध से रहनेवाला है, वही सामान्य है। जैसे—गोत्व आदि।

विशेष—विशेष उसको कहते हैं, जो अन्योन्याभाव के विरोधी सामान्य से रहित समवेत अर्थात् समवाय-संबंध से नित्य द्रव्यों में रहनेवाला होता है। सामान्य-रहित यह विशेषण करने से द्रव्य गुण, कर्म की व्यावृत्ति हो जाती है। क्योंकि, द्रव्यादि जो पदार्थ हैं वे सामान्य से रहित नहीं हैं। किन्तु द्रव्यत्वादि सामान्य से युक्त ही हैं तथा समवेत विशेषण से समवाय की व्यावृत्ति होती है। समवायान्तर (दूसरा समवाय) न होने के कारण समवाय समवेत नहीं होता। अर्थात्, समवाय कहीं समवाय संबंध से नहीं रहता। अन्योन्याभाव विरोधी इस विशेषण से सामान्य की व्यावृत्ति होती है। यद्यपि सामान्य स्वतः ही सामान्य रहित है, तथापि उसका सामान्य से रहित होना अन्योन्याभाव-विरोधी होने के कारण नहीं सिद्ध होता। परन्तु, सामान्यान्तर के स्वीकार करने पर अनवस्था-दोष हो जाता है—अतः वह सामान्य से रहित होता है। यह बात विशेष में नहीं है; क्योंकि विशेष में यदि विशेषत्व-रूप सामान्य स्वीकार करें, तब तो विशेष में ही विशेषत्व का अभाव हो जाता है जिससे इस दशा में रूप-हानि-दोष हो जायगा। न्यायसिद्धांत-मुक्तावली में भी आता है—

> व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः।
> रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः॥"

समवाय—गुण गुणी और जाति व्यक्ति तथा क्रिया क्रियावान् का जो सम्बन्ध है वही समवाय है तथा यह नित्य सम्बन्ध है। इस प्रकार, छहों पदार्थों का संक्षेप में लक्षण किया गया। अब क्रम-प्राप्त द्रव्यादि का विभाग और लक्षण किया जाता है।

द्रव्य नव प्रकार के होते हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन।

पृथिवीत्व—पाकज[1] रूप के समानाधिकरण में रहनेवाला जो द्रव्यत्व के साक्षात् व्याप्य जाति है वही पृथिवीत्व है। तेज के संयोग से पृथिवी के जो रूप रस आदि गुण हैं उनकी परावृत्ति होती रहती है। जैसे—पके हुए आम्रादि फलों में तेज के संयोग से पूर्व हरित रूप का नाश और पीत रूप की उत्पत्ति होती है।

जलादि का रूप पाकज नहीं कहा जाता, क्योंकि तेज के कितना भी संयोग होने से उसका रूप नहीं बदलता। जल में उष्णता की जो प्रतीति होती है वह उसमें प्रविष्ट सूक्ष्म अग्नि-कणों की ही उष्णता है। जल का वस्तुतः स्पर्श तो शीतल ही है। पृथिवीत्व लक्षण में पाकज-रूप समानाधिकरण जो विशेषण दिया है उससे जलादि की ही व्यावृत्ति होती है। जलत्वादि जाति द्रव्यत्व के साक्षात् व्याप्य होने पर भी पाकज-रूप समानाधिकरण नहीं है। एक बात और भी विचारने योग्य है कि किसी जाति का लक्षण करना हो तो उससे भिन्न जितनी जातियाँ हैं, उनकी व्यावृत्ति लक्षण में विद्यमान पदों के द्वारा ही करनी चाहिए। जातियाँ दो प्रकार की हैं—एक लक्ष्यभूत[2] जाति के समानाधिकरण और दूसरा उसके व्यधिकरण। समानाधिकरण के दो भेद हैं—एक तद्व्याप्या और दूसरा तद्व्यापिका।

पृथिवीत्व के लक्षण में पाकजरूप समानाधिकरण जो विशेषण दिया गया, उससे पृथिवीत्व के व्यधिकरण जो जलत्वादि जातियाँ हैं, उनकी व्यावृत्ति होती है। तथा द्रव्यत्व साक्षात् व्याप्य जो विशेषण दिया उसके द्वारा व्याप्या और व्यापिका ये दो प्रकार की समानाधिकरण जातियों की व्यावृत्ति होती है। जैसे—पृथिवीत्व की व्यापक जाति जो द्रव्यत्व और सत्ता है वह द्रव्यत्व की व्याप्य जाति नहीं है एवं पृथिवीत्व के व्याप्य जो घटत्वादि जाति है उसके द्रव्यत्व व्याप्य जाति होने पर भी साक्षात् व्याप्य नहीं है। इसलिए, उक्त विशेषण से अन्य सभी की व्यावृत्ति हो जाती है।

जलत्व—जलत्व की परिभाषा में महर्षि कणाद कहते हैं कि जो अग्नि में नहीं रहता हो और सरित्, सागर आदि में समवाय-संबंध से रहता हो वह जलत्व जाति है। यहाँ सरित्-समुद्र-समवेत विशेषण देने से जलत्व के व्यधिकरण पृथिवीत्व आदि की व्यावृत्ति हो जाती है; क्योंकि पृथिवीत्व आदि सरित्-सागर में समवेत नहीं हैं। इसी प्रकार, जलत्व के व्याप्य जो सरित्व सागरत्व आदि हैं उनकी व्यावृत्ति भी उक्त विशेषण से हो जाती है। क्योंकि सरित्व सागर-समवेत नहीं है और सागरत्व सरित्-समवेत नहीं है और जलत्व के व्यापक जो द्रव्यत्व अथवा सत्ता-जाति है उसका सरित्-समुद्र में समवेत होने पर भी अग्नि में समवेत न होने से उसकी भी व्यावृत्ति हो जाती है।

तेजस्त्व—जो सामान्य (जाति) चन्द्र और सुवर्ण में समवाय-संबंध से रहता हो और जो जल में न रहता हो उसे 'तेजस्त्व' कहते हैं। पृथिवीत्व की व्यावृत्ति के लिए

---

१ तेज के संयोग से उत्पन्न रूप पाकज कहलाता है।

२ लक्ष्य उसे जिसका लक्षण करते हैं।

चन्द्र-सुवर्ण समवेत विशेषण दिया गया। पृथिवीत्व चन्द्र और सुवर्ण में नहीं रहता इसलिए उसकी व्यावृत्ति होती है। जलत्व-जाति सलिलासमवेत नहीं है। इससे उसकी भी व्यावृत्ति होती है।

वायुत्व—जो त्वगिन्द्रिय में समवाय-सम्बन्ध से रहता हो और द्रव्यत्व का साक्षात् व्याप्य हो, वही वायुत्व की परिभाषा है। आकाशत्व, कालत्व, दिक्त्व—ये द्रव्यत्व से भिन्न कोई जाति नहीं हैं; क्योंकि ये सब एकमात्र वृत्ति हैं। अनेक में जो समवेत हो और नित्य हो, उसी को जाति माना गया है। आकाश, काल और दिक्—ये पारिभाषिक संज्ञाएँ हैं।

आकाशत्व—संयोग से अजन्य जो अनित्य विशेष गुण है उसका समानाधिकरण जो विशेष है, उसीके आश्रय का नाम आकाश है। विशेष नित्य द्रव्यों में अवश्य रहता है और आकाश भी नित्य द्रव्य है, अतः आकाश में भी कोई विशेष गुण अवश्य रहता है, यह मानना होगा। आकाश में विशेष गुण-शब्द तो रहता ही है। अतः एकही अधिकरण में रहने से शब्द का समानाधिकरण भी विशेष होता है तथा शब्द अनित्य होने से जन्य भी है। क्योंकि कणाद के मत में विभागज और शब्दज दो ही प्रकार के शब्द माने गये हैं, वे संयोगज शब्द को नहीं मानते। इसलिए शब्द संयोगाजन्य भी इनके मत में सिद्ध होता है। यहाँ विशेषाधिकरण कथन करने से द्व्यणुक और त्र्यणुक जो अनित्य द्रव्य हैं उनकी और गुण कर्म आदि की भी व्यावृत्ति सिद्ध होती है। क्योंकि, विशेष नित्य द्रव्य में ही रहनेवाला होने के कारण द्व्यणुक आदि में नहीं रहता। और, पृथिवी परमाणु में रहनेवाले जो रूपादि विशेष गुण हैं वे यद्यपि जन्य हैं तथापि संयोगाजन्य नहीं हैं। कारण यह है कि पृथिवी-परमाणुगत रूपादि भी 'पाकज' होते हैं तथा तेज के संयोग का ही नाम पाक है। अतः, पृथिवी-परमाणुगत रूपादि संयोग-जन्य ही हैं न कि संयोगाजन्य। जल तेज, वायु के परमाणुगत जो विशेष गुण हैं वे जन्य नहीं हैं इसलिए उनकी भी व्यावृत्ति होती है। दिक्, काल और मन में कोई विशेष गुण नहीं हैं अतः इनका भी निरास होता है तथा परमात्मा में रहनेवाले जो बुद्धि आदि विशेष गुण हैं वे जन्य नहीं हैं। जीवात्मा में रहनेवाले जो बुद्ध्यादि गुण हैं वे जन्य होने पर भी संयोगाजन्य नहीं हैं। क्योंकि जीवात्मगत गुण मनःसंयोग से जन्य ही हैं। अतः आकाश ही ऐसा बचता है जिसमें पूर्वोक्त लक्षणों का पूर्ण समन्वय होता है। 'शब्दगुणकम्' यही आकाश का पूर्ण लक्षण हो सकता है। अर्थात् जिसमें शब्द-मात्र ही एक विशेष गुण हो। आकाश का शब्दगुणक लक्षण से ही सबकी व्यावृत्ति हो जाती है। पूर्वोक्त विशद लक्षण केवल बुद्धि-वैशद्य के लिए भी आचार्यों ने किया है।

कालत्व—विभु और दिक् में असमवेत जो परत्व है उसका जो असमवायि कारण है, उसका जो अधिकरण है वही काल है। अर्थात् दिक् में समवाय-सम्बन्ध से नहीं रहनेवाला परत्व का आधारभूत जो विभु पदार्थ है, उसी को 'काल' कहते हैं।

परत्व दो प्रकार का होता है—एक सन्निकृष्ट वस्तु की अपेक्षा दूरस्थ वस्तु में रहनेवाला, दूसरा कनिष्ठ की अपेक्षा ज्येष्ठ में रहनेवाला। जैसे—पहले का उदाहरण

पाटलिपुत्र से काशी की अपेक्षा प्रयाग पर है, अर्थात् दूरस्थ है। पर प्रयाग की भी अपेक्षा काशी अपर या समीपस्थ है। इस परत्व और अपरत्व में दिक् और वस्तु (काशी आदि) का संयोग ही असमवायिकारण है। यह संयोग दिक्-समवेत, अर्थात् दिशा में समवाय-सम्बन्ध से रहनेवाला है तथा परत्व म भी रहता है। भेद में कालकृत परत्व है। जैसे—श्याम की अपेक्षा राम पर। यहाँ काल और वस्तु का संयोग असमवायिकारण है। यह दिक् में असमवेत और काल में समवेत है।

संयोग दो पदार्थों म रहनेवाला है अतः संयोग द्विष्ठ कहलाता है। यद्यपि यह संयोग द्विष्ठ होने स रूप रसादि में भी रहता है तथापि निमुत्वे सति' यह विशेषण देने से उसकी व्यावृत्ति हो जाती है। यहाँ परत्व विशेषण न देने स आकाश और आत्मा में भी अतिव्याप्ति हो जाती है। क्योंकि दिक् मे असमवेत असमवायिकारण जो शब्द और ज्ञान हैं उनका अधिकरण आकाश और आत्मा ही है और विभु भी है। अतः अतिव्याप्ति दोष-वारण क लिए परत्व विशेषण दिया गया।

परत्व का असमवायिकारण काल-वस्तु-संयोग की तरह दिक्-वस्तु-संयोग भी है। दिक्-वस्तु-संयोग में समवाय-सम्बन्ध से रहता ही है इसीसे दिक् समवेत ही है असमवेत नहीं। इसीलिए, दिक्समवेत' यह विशेषण दिक् में अतिव्याप्ति-वारण के लिए दिया गया है।

दिक्त्व—विशेष गुण स रहित और काल से भिन्न जो महत् पदार्थ है वही दिक् है। यहाँ काल-भिन्न कहने स काल में अतिव्याप्ति नहीं होती। विशेष गुण से रहित-विशेषण देने से आकाश और आत्मा में अतिव्याप्ति नहीं होती। क्योंकि वे विशेष गुण से युक्त ही हैं। मन में अतिव्याप्ति-वारणार्थ महत् विशेषण दिया गया है।

आत्मत्व—आत्मा की परिभाषा करते हुए महर्षि कणाद ने कहा है कि मूर्त पदार्थ से भिन्न द्रव्यत्व म जो व्याप्य जाति है वही आत्मत्व है। पृथिवी, जल तेज वायु और मन—ये ही मूर्त पदार्थ हैं। एक व्यक्ति-मात्र में रहने के कारण ही आकाश जाति नहीं होता। अतः, मूर्त म असमवेत द्रव्यत्वव्याप्य-जाति ही आत्मत्व-जाति हो सकती है।

मनस्त्व—जो द्रव्य का समवायिकारण न हो ऐसा जो अणु पदार्थ है उसमें रहनेवाली जो द्रव्यत्व की व्याप्य-जाति है वही मनस्त्व है। आत्मा विभु है, अणु नहीं; इसलिए मन की व्यावृत्ति होती है।

गुण के भेद

वैशेषिकों मत में चौबीस प्रकार के गुण माने गये हैं—रूप रस, गन्ध स्पर्श संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग विभाग परत्व अपरत्व बुद्धि, सुख दुःख इच्छा द्वेष, प्रयत्न गुरुत्व द्रवत्व स्नेह, संस्कार, अदृष्ट (धर्म अधर्म) और शब्द।

रूपादि शब्दों के रूपत्व आदि जाति ही वाच्य हैं। यथा नील की रूपविशेष है उसमें समवेत जो गुणत्व के साक्षात् व्याप्य-जाति है; वही रूपत्व है। यहाँ नीलसमवेत

विशेषण देने से रसत्वादि जाति में रूपलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। क्योंकि रसत्वादि जाति नीलसमवेत नहीं है। सत्ता जाति यद्यपि नीलसमवेत है, परन्तु वह गुणत्व के व्याप्य नहीं है। अतः, उसमें भी अतिव्याप्ति नहीं होती। क्योंकि, नीलत्व गुणत्व का साक्षात् व्याप्य नहीं है। अतः, रूप का नीलसमवेत गुणत्व के साक्षात् व्याप्य जाति—यही लक्षण निर्दोष होता है। इसी प्रकार रसादि के लक्षण में भी स्वयं विचार करना चाहिए। यथा, मधुरसमवेत जो गुणत्व की साक्षात् व्याप्य-जाति है, वही रसत्व का लक्षण होती है। विशेषणों की सार्थकता (पदकृत्य) पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

कर्म—कर्म पाँच प्रकार के होते हैं—उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन प्रसारण, और गमन। भ्रमण रेचन आदि जो भी कर्म देखे जाते हैं, उन सबका अन्तर्भाव गमन में हो जाता है। यथा—

> 'भ्रमणं रेचनं स्यन्दनोर्ध्वज्वलनमेव च।
> तिर्यग्गमनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते॥ (कारिकावली)

ऊपर की ओर वस्तु का जो संयोग होता है उस संयोग के असमवायिकारण तथा उसमें समवाय-सम्बन्ध से रहनेवाली जो द्रव्यत्व-व्याप्य जाति है, उसे ही उत्क्षेपण कहते हैं। इसी प्रकार अधोदेश के संयोग का जो हेतु है, वही अपक्षेपण है। बटोरने (समेटने) का जो हेतु है उसे आकुञ्चन; और पसारने के हेतुविशेष कर्म को ही प्रसारण कहते हैं। इसके अतिरिक्त सभी कर्म गमन हैं।

सामान्य—सामान्य दो प्रकार के हैं: परसामान्य और अपरसामान्य। द्रव्य गुण और कर्म इन तीनों में समवाय-सम्बन्ध से रहनेवाली जो सत्ता है, उसीको परसामान्य कहते हैं। द्रव्यत्व गुणत्व आदि अल्पदेश में रहनेवाली जो व्याप्य-जाति है उसीको अपरसामान्य कहते हैं।

विशेष सामान्य—विशेष अनंत प्रकार का होता है और समवाय एक ही प्रकार का है। अतः, इनका विभाजन सूत्रकार ने भी नहीं किया।

द्वित्वादि संख्याओं की उत्पत्ति के प्रकार—द्वित्व-संख्या पाकज उत्पत्ति, और विभागज-विभाग के विषय में वैशेषिकों का विशेष आग्रह रहता है। आचार्यों ने भी लिखा है—

> द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे।
> यस्य न स्खलिता प्रज्ञा तं वै वैशेषिकं विदुः॥

द्वित्व की उत्पत्ति किस प्रकार और किस क्षण में होती है इस विषय में पहले मीमांसकों का सिद्धांत दिखाया जाता है—जब दो घट परस्पर एक स्थान पर सन्निहित होते हैं तब उस समय द्वित्व संख्या की उत्पत्ति होती है। इसके बाद इन्द्रियसन्निकर्ष होने पर, अयमेकः अयमेकः इस प्रकार की अपेक्षाबुद्धि होने पर द्वित्व का ज्ञान होता है। अतः, अपेक्षाबुद्धि से द्वित्व की उत्पत्ति नहीं होती, बल्कि द्वित्व का ज्ञान ही होता है यही मीमांसकों का मत है। ये लोग अपेक्षाबुद्धि को द्वित्व का उत्पादक नहीं बल्कि व्यंजक-

नाश मानते हैं। और, जब दोनों घट विमुक्त हो जाते हैं, तब द्वित्व का नाश हो जाता है। इसी प्रकार, त्रित्व आदि संख्याओं की उत्पत्ति और नाश के विषय में भी मीमांसकों का मत समझना चाहिए। वैशेषिकों का मत इससे विपरीत है। इनका कहना है कि अज्ञात द्वित्व की उत्पत्ति मानना निरर्थक है। अतः अपेक्षाबुद्धि ही द्वित्व की उत्पादिका है अभिव्यञ्जिका नहीं। इस अवस्था में इन्द्रिय और विषयों के सम्बन्ध होने के बाद संस्कार उत्पन्न होने तक आठ क्षण लगते हैं। प्रथम क्षण में इन्द्रिय का पदार्थ के साथ सम्बन्ध होता है। द्वितीय क्षण में एकत्व सामान्य का ज्ञान होता है। तृतीय क्षण में 'अयमेकः अयमेकः'[1] इस प्रकार की अपेक्षाबुद्धि होती है। चतुर्थ क्षण में द्वित्व संख्या की उत्पत्ति और पंचम क्षण में द्वित्वत्व-सामान्य (जाति) का ज्ञान होता है तथा षष्ठ क्षण में द्वित्व-संख्या का ज्ञान होता है। सप्तम क्षण में ये दो घड़े हैं, इस प्रकार द्वित्व-संख्याविशिष्ट दो घट-व्यक्ति का ज्ञान होता है। अष्टम क्षण में उस ज्ञान से आत्मा में संस्कार उत्पन्न होता है। इस प्रकार इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष[2] के बाद से संस्कार-पर्यन्त की उत्पत्ति में कुल आठ क्षण लगते हैं। और, पूर्व पूर्व की उत्पत्ति उत्तरोत्तर की उत्पत्ति में कारण होती है यह सिद्ध होता है। इसी उत्पत्ति-क्रम को आचार्यों ने लिखा है—

> "आदाविन्द्रियसन्निकर्षघटनादेकत्वसामान्यधी-
> रेकत्वोभयगोचरा मतिरतो द्वित्वं ततो जायते।
> द्वित्वत्वप्रमितिस्ततोऽनुपरतो द्वित्वप्रमानन्तरम्
> द्वे द्रव्ये इति धीरियं निगदिता द्वित्वोदयप्रक्रिया॥"

यही द्वित्वादि के उदय में प्रक्रिया है।

मीमांसकों और वैशेषिकों में मतभेद यही है कि अपेक्षाबुद्धि द्वित्व की अभिव्यञ्जिका है या उत्पादिका। जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि मीमांसक अपेक्षाबुद्धि को द्वित्व का अभिव्यंजक-मात्र मानते हैं और वैशेषिक उत्पादक-मात्र। नैयायिकों का कहना है कि अपेक्षाबुद्धि द्वित्व की उत्पादिका भी हो सकती है। कारण यह है कि जहाँ व्यञ्जकत्वाभाव से सहकृत अपेक्षभाव रहता है वहाँ उत्पादकत्व भी रहता है। जैसे शब्द से अपेक्षित कण्ठ तालु आदि स्थानों में जो वायु-संयोग है वह शब्द का उत्पादक भी होता है। इसी प्रकार, द्वित्व की उत्पत्ति में भी अपेक्षाबुद्धि अपेक्षित है और व्यञ्जकता भाव सहकृत भी है। अतः, अपेक्षाबुद्धि द्वित्व की उत्पादिका हो सकती है। यही नैयायिकों का सिद्धान्त है।

वैशेषिकों का कहना है कि अपेक्षाबुद्धि द्वित्व की उत्पादिका भी हो सकती है ऐसी बात नहीं है। क्योंकि इससे तो अपेक्षाबुद्धि द्वित्व की अभिव्यञ्जिका भी सिद्ध हो जाती है जो अभीष्ट नहीं है।

द्वित्वादि अपेक्षाबुद्धि के व्यङ्ग्य हो ही नहीं सकते अपितु जन्य ही होते हैं। इसमें अनुमान का स्वरूप ऐसा है कि द्वित्व त्रित्व आदि संख्या (पक्ष) अपेक्षाबुद्धि का

१. 'यह एक यह एक' ऐसी ही अपेक्षाबुद्धि भी कहते हैं। २. सम्बन्ध।

व्यंग्य नहीं है (साध्य)- द्वित्व, त्रित्व आदि संख्याओं के अनेकाश्रित होने के कारण (हेतु) जो-जो अनेकाश्रित गुण हैं, वे अपेक्षा-बुद्धि के व्यंग्य नहीं होते (व्याप्ति)। जैसे, पृथक्त्व आदि गुण (दृष्टान्त)। यही अनुमान का स्वरूप है।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार पृथक्त्व आदि गुण अनेक द्रव्यों में आश्रित होने के कारण अपेक्षाबुद्धि के व्यंग्य नहीं होते, इसी प्रकार द्वित्व आदि भी अनेक में आश्रित होने से अपेक्षाबुद्धि के व्यंग्य नहीं हो सकते। इससे सिद्ध हो जाता है कि अपेक्षाबुद्धि द्वित्व आदि की उत्पादिका ही होती है, व्यंजिका नहीं।

द्वित्वादि निवृत्ति-प्रकार

पूर्व में इन्द्रिय और विषयों के साथ सम्बन्ध होने में संस्कार की उत्पत्ति-पर्यन्त जो आठ क्षण दिखाये गये हैं, उनमें तृतीय क्षण उत्पन्न होनेवाली जो अपेक्षाबुद्धि है, वह अपने से उत्तर चतुर्थ क्षण में द्वित्व का उत्पादन और द्वितीय क्षण में उत्पन्न एकत्व-जाति ज्ञान का नाश भी करती है। इसी प्रकार पञ्चम क्षण में उत्पन्न होनेवाला जो द्वित्व ज्ञान है, वह अपने से उत्तर षष्ठ क्षण में द्वित्व-संख्या-ज्ञान को उत्पन्न करता है और तृतीय क्षण में उत्पन्न होनेवाली अपेक्षाबुद्धि का नाश भी करता है। सप्तम क्षण अर्थात् जिस क्षण में 'दो घट' इस आकार का द्रव्य-ज्ञान होता है, चतुर्थ क्षण में उत्पन्न जो द्वित्व-संख्या है, उसका नाश करता है, क्योंकि द्वित्व-संख्या के कारणीभूत जो अपेक्षाबुद्धि है, उसकी निवृत्ति पहले ही हो चुकी है। इसी प्रकार, सप्तम क्षण उत्पन्न होनेवाला जो 'दो घट' इस आकार का द्रव्य-ज्ञान है, वह अपने से उत्तर अष्टम क्षण में आत्मा में संस्कार उत्पन्न करता है और षष्ठ क्षण में उत्पन्न द्वित्व-संख्या-ज्ञान को नष्ट भी करता है। इसी प्रकार, अष्टम क्षण में संस्कार की उत्पत्ति-काल में 'दो घट' इस द्रव्य-बुद्धि का भी नाश हो जाता है। इसी नाश-प्रक्रिया को संस्कृत के दर्शन ग्रन्थों में दिखाया गया है। जैसे—

> 'आदावपेक्षाबुद्ध्या हि नश्येदेकत्वजातिधीः।
> द्वित्वोदयसमं पश्चात् सा च तज्जातिबुद्धितः॥
> द्वित्वाख्यगुणधीकाले ततो द्वित्वं निवर्तते।
> अपेक्षाबुद्धिनाशेन द्रव्यधीजन्मकालतः॥
> गुणबुद्धिर्द्रव्यबुद्ध्या संस्कारोत्पत्तिकालतः।
> द्रव्यबुद्धिश्च संस्कारादिति नाशक्रमो मतः॥

विचारास्पद जो ज्ञान है (पक्ष), वह उत्तरोत्तर कार्य से नाश्य होता है (साध्य)- विभु-द्रव्य के क्षणिक विशेष गुण होने के कारण (हेतु)- विभु (व्यापक) द्रव्य के जितने क्षणिक विशेष गुण हैं वे सब उत्तरोत्तर काल में अपने कार्य से नाश्य होते हैं (व्याप्ति), जैसे आकाश का विशेष क्षणिक गुण शब्द (दृष्टान्त)। तात्पर्य यह है कि विभु-द्रव्य जो आकाश है उसका विशेष-गुण जो शब्द है, वह अपने द्वितीय क्षण में अपने सदृश शब्दान्तर को उत्पन्न करता है और उसी क्षण में नष्ट भी हो जाता है, अर्थात् कार्यभूत शब्द के उत्पन्न होने से कारणभूत शब्द का विनाश

हो जाता है। यही कारणभूत और कार्यभूत शब्दों का विनाश्य-विनाशक-भाव सम्बन्ध है। अर्थात्, कारणभूत शब्द विनाश्य और कार्यभूत शब्द विनाशक होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि शब्द प्रथम क्षण में स्वयं उत्पन्न होकर द्वितीय क्षण में शब्दान्तर को उत्पन्न करता है और तृतीय क्षण में स्वयं नष्ट हो जाता है और द्वितीय जो कार्यभूत शब्द है वही प्रथम (कारणभूत) शब्द का विनाशक होता है। इसी प्रकार विभु-द्रव्य जो जीवात्मा है उसका विशेष और क्षणिक गुण ज्ञान है वह भी द्वितीय क्षण में ज्ञानान्तर को उत्पन्न करता है और तृतीय क्षण में ज्ञानान्तर से स्वयं नष्ट भी हो जाता है। अर्थात्, प्रथम क्षण में उत्पन्न ज्ञान से उत्पादित जो ज्ञान अथवा संस्कार है वही प्रथम ज्ञान का विनाशक होता है। इससे उत्तरोत्तर ज्ञान अथवा संस्कार से पूर्व (कारणभूत) ज्ञान का नाश होता है।

अपेक्षाबुद्धि के नाश होने से द्वित्व का नाश होता है। यह पहले दिखाया जा चुका है। यहाँ एक और विशेष बात है—कहीं-कहीं अपेक्षाबुद्धि के नाश के बिना भी आश्रय के नाश के बिना भी आश्रय के नाश-मात्र से द्वित्व का नाश हो जाता है। जैसे—घटादि द्रव्यों के आरम्भक घटादि के अवयवों का जो संयोग है उस संयोग के विनाशक जो विभाग हैं उस विभाग के विनाशक जो कर्म हैं उन कर्मों से चतुर्थ क्षण में घट का नाश होता है, यह सिद्धान्त है। जैसे—घटादि द्रव्यों का नाशक दण्डप्रहारादि रूप कर्म प्रथम क्षण में हुआ। उस कर्म से द्वितीय क्षण में अवयवों का विभाग हुआ। विभाग के बाद तृतीय क्षण में घटादि के आरम्भक संयोग का नाश हुआ। चतुर्थ क्षण में घट का नाश हुआ यह द्रव्य-नाश का क्रम है।

पहले द्वित्व की उत्पत्ति के विचार में जो आठ क्षण बताये गये हैं उनमें अपेक्षाबुद्धि का जनक (उत्पादक) एकत्व-जाति का ज्ञान द्वितीय क्षण में उत्पन्न होता है यह कहा गया है। यह एकत्व-जाति का ज्ञान यदि उक्त क्षण-चतुष्टय के प्रथम क्षण में हो अर्थात् घट के नाश में जो चार क्षण दिखाये गये हैं उनमें यदि प्रथम क्षण में हो तो इस अवस्था में द्वितीय क्षण में अर्थात् संयोगनाशक विभाग क्षण में अपेक्षाबुद्धि की उत्पत्ति होगी। तृतीय संयोग नाश-क्षण में द्वित्वत्व-जाति का ज्ञान होगा। इस क्षण में द्वित्व का आश्रय जो घट है उसके नाश से ही उसके ऊपर क्षण में घटगत में रहनेवाला द्वित्व का नाश हो जाता है। क्योंकि द्वित्व का आश्रय जो घट है उसी का नाश हो गया तो द्वित्व रहेगा कहाँ ? यहाँ अपेक्षाबुद्धि के नाश के बिना ही केवल आश्रय के नाश से द्वित्व का नाश हो जाता है। यहाँ द्वित्व के नाश के पहले अपेक्षाबुद्धि का नाश नहीं होता। कारण यह है कि द्वित्वत्व-जाति के ज्ञान के बाद जब द्वित्व-संख्या का ज्ञान होता है उसके बाद अपेक्षाबुद्धि का नाश होता है। यहाँ द्वित्वत्व-जाति के ज्ञान-काल में ही घट-रूप आश्रय का नाश हो जाता है उस समय अपेक्षा-बुद्धि का नाशक द्वित्व संख्या का ज्ञान न होने से अपेक्षाबुद्धि का नाश नहीं हो सकता। क्योंकि अपेक्षाबुद्धि के नाश में द्वित्व संख्या ज्ञान ही कारण है। कारण के अभाव से कार्य का अभाव सर्वसम्मत है। यहाँ आश्रय के नाश के क्षण में अपेक्षाबुद्धि बनी रहती है

इसलिए यहाँ अपेक्षा-बुद्धि के रहने पर भी केवल आश्रय के नाश से ही द्वित्व का नाश मानना होगा।

यदि विभागजनक कर्म से पहले ही एकत्व-जाति का ज्ञान कदाचित् हो गया तो उस स्थिति में विभागजनक कर्म की उत्पत्ति के क्षण में (अर्थात् प्रथम क्षण में) अपेक्षा बुद्धि की उत्पत्ति होगी। द्वितीय विभाग-क्षण में द्वित्व की उत्पत्ति होगी। तृतीय संयोग-नाश-क्षण में द्वित्वत्व-जाति का ज्ञान होगा। चतुर्थ घट-नाश-क्षण में अपेक्षाबुद्धि का नाश होगा। इस स्थिति में, अपेक्षाबुद्धि और घटरूप आश्रय के एक ही क्षण में नाश होने से अपेक्षाबुद्धि और आश्रय (घट) इन दोनों के नाश से द्वित्व का नाश माना जाता है। यहाँ द्वित्व के नाश के दोनों कारण अपेक्षाबुद्धि और आश्रय का नाश विद्यमान हैं। विनाशक-विनाश की प्रतियोगिनी जो बुद्धि है वही अपेक्षाबुद्धि है। अर्थात् विनाशक का जो विनाश है उस विनाश की प्रतियोगिनी जो बुद्धि है, उसी का नाम अपेक्षाबुद्धि है। जैसे—अपेक्षाबुद्धि का जो नाश है वह द्वित्व-संख्या का विनाशक है। इस विनाशक बुद्धि के नाश की प्रतियोगिनी अपेक्षाबुद्धि है। इस प्रकार लक्षण का समन्वय होता है। इस लक्षण में यदि विनाशक पद न दें तो केवल विनाश प्रतियोगिनी बुद्धि को ही अपेक्षाबुद्धि मानना होगा। इस स्थिति में सकल जीव-बुद्धि में अतिव्याप्ति हो जायगी। क्योंकि, 'यह घट है यह घट है' इत्याकारक जो जीव-बुद्धि है उसका भी तृतीय क्षण में नाश अवश्यम्भावी है। इसलिए, 'यह घट है' इत्यादि बुद्धि भी विनाश की प्रतियोगिनी हो जाती है इससे अपेक्षाबुद्धि के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है। यदि विनाशक पद देते हैं तो 'यह घट है' इत्यादि बुद्धि के विनाशक न होने के कारण अतिव्याप्ति दोष नहीं होता; क्योंकि उस घट-ज्ञान के नाश से किसी अन्य विनाश की उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए, उस घट-ज्ञान का विनाश किसी का विनाशक नहीं है। और, अपेक्षाबुद्धि के नाश से द्वित्व संख्या का विनाश होता है इसलिए अपेक्षाबुद्धि का विनाश विनाशक-विनाश होता ही है। अतः इस विनाशक विनाश की प्रतियोगिनी बुद्धि अपेक्षाबुद्धि ही होगी, दूसरी नहीं। इस प्रकार लक्षण का समन्वय होता है।

उक्त संदर्भ के द्वारा यह दिखाया गया कि द्वित्व-संख्या अपेक्षाबुद्धि का जन्य है और अपेक्षाबुद्धि द्वित्व का जनक है अभिव्यञ्जक नहीं यह वैशेषिकों का मत है। यद्यपि नैयायिक लोग भी इसी का अनुसरण करते हैं तथापि उनका इतना आग्रह इस विषय में नहीं है जितना वैशेषिकों का। यदि कोई कहे कि द्वित्व अपेक्षाबुद्धि का व्यङ्ग्य है जन्य नहीं तो नैयायिक यहाँ मौन रह जाते हैं। अर्थात्, इसमें उनको कोई आपत्ति नहीं दीख पड़ती। परन्तु वैशेषिक इस बात को नहीं सह सकते। वैशेषिक किसी प्रकार भी द्वित्व को अपेक्षा-बुद्धि का व्यङ्ग्य नहीं मान सकते। इसी प्रकार विभागज विभाग के विषय में भी इनका यही सिद्धान्त है।

यहाँ तक वैशेषिकों का मत दिखाने के बाद क्रम-प्राप्त पाकजोत्पत्ति के विषय में लिखना आवश्यक हो जाता है इसलिए पाकज उत्पत्ति का प्रकार दिखाया जा रहा है—द्रव्य के साथ जब अग्नि का संयोग होता है, तब रूप, रस गन्ध, स्पर्श की

परावृत्ति देखी जाती है। जैसे—अपक्व अवस्था में श्यामवर्ण का जो घट है, वह अग्नि के संयोग से रक्त हो जाता है और हरित वर्ण का जो आम और केला का फल है वह तेज के संयोग से ही पीत वर्ण का हो जाता है। इसी प्रकार तेज के संयोग से उसमें मधुर सुगंध और मृदुता आ जाती है। यहाँ घटादि का अवयव जो कपाल है उसके वियुक्त (अलग) होने से या नाश होने से घटादि का नाश होता है।

इसी प्रकार, कपालों के भी अवयवों का वियोग अथवा नाश होने से कपाल का नाश होता है। इसी प्रकार, त्र्यणुक पर्यन्त द्रव्यों का नाश उनके अवयवों के नाश होने से होता है। किन्तु द्व्यणुक का नाश अवयवों के नाश से नहीं होता बल्कि द्व्यणुक के अवयवों का वियोग होने से ही द्व्यणुक का नाश होता है; क्योंकि द्व्यणुक के अवयव जो परमाणु हैं उनके नित्य होने के कारण उनका विनाश होना असम्भव ही है। इसलिए, द्व्यणुक के अवयव-परमाणुओं का परस्पर वियोग होने पर ही द्व्यणुक का नाश माना जाता है। इस प्रकार, परमाणु-पर्यन्त अवयवों के परस्पर-वियुक्त होने पर स्वतंत्र परमाणु में ही रूप रस आदि की परावृत्ति होती है। अर्थात्, परमाणु में पूर्व रूपादि का नाश और नवीन रूपादि की उत्पत्ति होती है और पुनः उन परमाणुओं के द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि क्रम से नवीन घटादि उत्पन्न होते हैं। यही वैशेषिकों की पीलुपाक-प्रक्रिया है। 'पीलु' परमाणु को ही कहते हैं। वैशेषिक लोग इसी क्रम से परमाणु में ही पाक मानते हैं। अर्थात्, परमाणु के वियुक्त होने पर स्वतन्त्र परमाणु में ही पाक जन्य रूपादि की परावृत्ति होती है, ऐसा वैशेषिक मानते हैं। इन विषयों का विवेचन मुक्तावली में विश्वनाथभट्ट ने भली भाँति किया है। वैशेषिकों का कहना है कि अवयवी से युक्त अवयवों में पाक होना असम्भव है किन्तु अग्नि-संयोग से जब अवयव वियुक्त हो जाते हैं या नष्ट हो जाते हैं तभी स्वतंत्र परमाणु में पाक होता है।

पीलुपाक

पाक परमाणुओं के संयोग होने से द्व्यणुक त्र्यणुक आदि क्रम से महा अवयवी घटादि-पर्यन्त की उत्पत्ति होती है। यहाँ तेज के अतिशय वेग के कारण पूर्वस्थिति पूर्व-व्यूह का नाश और व्यूहान्तर की उत्पत्ति होती है। इसमें सूक्ष्मतर काल के आकलन (ज्ञान) न होने के कारण पूर्व घट का नाश लक्षित नहीं होता। यह वैशेषिकों की पीलुपाक-प्रक्रिया का क्रम है।

पिठरपाक

नैयायिकों की पाक-प्रक्रिया का नाम पिठरपाक-प्रक्रिया है। पिण्डभूत घटादि अवयवी का नाम 'पिठर' है। इनके मत में तेज के संयोग होने पर भी अवयवों का विनाश नहीं होता। अवयवों से सम्बद्ध अवयवी में ही पाक होता है। अर्थात् वैशेषिकों के समान इनके मत में अग्नि-संयोग से परमाणुओं का विभाग और पूर्व श्याम आदि रूप का नाश तथा रक्त आदि रूप की उत्पत्ति-पर्यन्त नव या दस क्षण लगते हैं। नैयायिकों के मत में इस प्रकार इतने क्षण नहीं लगते। एक काल में ही अग्नि-संयोग से

पूर्वरूप का नाश और रूपान्तर की उत्पत्ति हो जाती है। यहाँ अवयवों का विभाग नहीं होता किन्तु अवयवों से युक्त अवयवी (घटादि) में एक काल में ही पूर्व रूप (श्यामता आदि) का नाश और पर रूप (रक्तता आदि) की उत्पत्ति होती है। यही पिठरपाक है। वैशेषिकों की पीलुपाक-प्रक्रिया में अग्नि-संयोग से सर्वप्रथम परमाणुओं में कर्म उत्पन्न होता है। वह कर्म द्रव्य का आरम्भक जो संयोग है उसके विनाशक-विभाग का उत्पन्न करता है। तात्पर्य यह है कि उस परमाणु के कर्म से परमाणु में विभाग उत्पन्न होता है, उस विभाग से परमाणुओं के संयोग का नाश होता है। यही द्रव्यारम्भक संयोग है। द्व्यणुकारम्भक संयोग के नाश होने पर द्व्यणुक का नाश हो जाता है। इस अवस्था में स्वतन्त्र परमाणु में अग्नि-संयोग से श्याम रूप का नाश होता है। द्व्यणुक के नाश होने के पूर्व परमाणु द्व्यणुक से युक्त रहता है, इसलिए सर्वावयव से सम्पूर्ण श्यामता की निवृत्ति नहीं हो सकती, इसीलिए द्व्यणुक का नाश मानना आवश्यक हो जाता है। श्यामता की निवृत्ति होने के बाद अन्य अग्नि के संयोग से रक्तता की उत्पत्ति होती है। पूर्व रूप का ध्वंस ही रूपान्तर की उत्पत्ति में कारण होता है। इसलिए, श्यामता के नाश के बाद ही रक्तता की उत्पत्ति होती है, उसके पहले नहीं। एक बात और भी है कि जिस अग्नि-संयोग से श्यामता का नाश होता है, उसीसे रक्तता की उत्पत्ति नहीं होती। कारण यह है कि रूप का नाशक जो अग्नि-संयोग है वह रूपान्तर का उत्पादक नहीं हो सकता। इसलिए, रूपनाशक अग्नि-संयोग से रूपान्तरजनक अग्नि-संयोग विजातीय होता है यह मानना ही होगा। इसी प्रकार रसजनक तेज के संयोग से विजातीय रसजनक तेज का संयोग होता है। आम आदि फल में जिस तेज के संयोग से पीत आदि रूप उत्पन्न होते हैं, उस तेज के संयोग से भिन्न तेज के संयोग से मधुर आदि रस उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार, प्रत्येक रूप रस गंध आदि के जनक जो तेज के संयोग हैं वे परस्पर भिन्न होते हैं। एक बात और है कि घट में अग्नि-संयोग से जब श्यामता की निवृत्ति और रक्तता की उत्पत्ति हो जाती है तब परमाणु में अदृष्ट का आश्रय जो आत्मा है उसके संयोग से द्रव्यारम्भक क्रिया उत्पन्न होती है। रक्तता आदि की उत्पत्ति के पहले द्रव्य का आरम्भ करनेवाली क्रिया की उत्पत्ति नहीं हो सकती। कारण यह है कि निर्गुण द्रव्य में क्रिया का रहना असम्भव है।

परमाणु में द्रव्यारम्भक क्रिया की उत्पत्ति में कोई भी दृष्ट कारण नहीं है और बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति असम्भव ही है। इसलिए, अदृष्ट को कार्य-मात्र के प्रति कारण माना गया है। अदृष्ट शब्द से धर्माधर्म का ग्रहण किया जाता है। उस अदृष्ट का आश्रय जीवात्मा है और वह व्यापक है। व्यापक होने के कारण सकल काल देश में सन्निहित रहता हुआ सकल कार्य-मात्र का साधारण कारण होता है। इसी अदृष्ट कारण से परमाणु में द्रव्यारम्भक क्रिया होती है और उस क्रिया से पूर्व देश से विभाग होता है। विभाग से पूर्व देश के साथ जो संयोग है उसकी निवृत्ति होती है। उसके निवृत्त होने पर दूसरे परमाणु के साथ संयोग होता है। इसी संयुक्त परमाणु-द्वय से द्व्यणुक का आरम्भ होता है। द्व्यणुक की उत्पत्ति के बाद कारण-परमाणु में जो-जो

गुण हैं उनकी कार्य में उत्पत्ति होती है। कारण में जो गुण हैं वे ही कार्य में उत्पन्न होते हैं। यह सर्वसिद्धान्तसिद्ध है 'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते' अर्थात् कारण में रहनेवाले गुण ही कार्य में गुण के आरम्भक होते हैं। जैसे तन्तु का रूप पट के रूप का आरम्भक होता है। जिस प्रकार तन्तु पट का समवायी कारण होता है उसी प्रकार तन्तु का रूप पटगत रूप का असमवायी कारण होता है। इस प्रकार, पाकज रूपादि की उत्पत्ति में पीलुपाक-प्रक्रिया से नव क्षण लगते हैं। विभागज-विभाग के अङ्गीकार करने पर दस क्षण भी माने जाते हैं।

विभागज-विभाग

विभागज विभाग दो प्रकार का होता है। एक कारण-मात्र विभाग से उत्पन्न, दूसरा कारणाकारण-विभाग से उत्पन्न। कारण-मात्र विभाग से उत्पन्न प्रकार—कार्य से व्याप्त जो कारण है उसमें जो कर्म उत्पन्न होता है वह जब अवयवान्तर से विभाग उत्पन्न करता है तब आकाश आदि प्रदेश से विभाग उत्पन्न नहीं करता और जब आकाश आदि प्रदेश से विभाग उत्पन्न करता है तब अवयवान्तर से विभाग उत्पन्न नहीं करता।

इसका तात्पर्य यह है कि कार्य से व्याप्त जो कारण है उसमें उत्पन्न जो कर्म है, वह द्व्यणुक का आरम्भक जो परमाणुद्वय का संयोग है, उसके विनाशक विभाग को उत्पन्न करता है और द्व्यणुक के अनारम्भक आकाश-प्रदेश का जो संयोग है, उसके विनाशक विभाग को उत्पन्न नहीं करता।

कारण यह है कि एक कर्म में कार्य का आरम्भक जो संयोगविशेष है उसके विनाशक विभाग को उत्पन्न करने की शक्ति और कार्य के अनारम्भक संयोगविशेष के विनाशक विभाग को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं रह सकती; क्योंकि एक कर्म में दो कर्मों का रहना सर्वथा असम्भव है। तात्पर्य यह है कि अग्नि-संयोग से जो परमाणु में कर्म उत्पन्न होता है उस कर्म से विभाग उत्पन्न होता है। उस विभाग में एक ही शक्ति रह सकती है चाहे वह कार्य के आरम्भक संयोग का आरम्भक नाशक हो, अथवा अनारम्भक संयोग का। यदि कार्य के आरम्भक और अनारम्भक दोनों प्रकार के संयोग के नाश करनेवाली शक्ति विभाग में मान लें तो कमल-कुड्मल का विकाश-काल में ही नाश हो जायगा।

कमल के विकाश-काल में कमल का अनारम्भक आकाश प्रदेश के साथ जो संयोग है उसके विनाशक विभाग का जनक एक प्रकार का कर्म उत्पन्न होता है। अर्थात्, विकाश-काल में जो कमल के अवयवों में कर्म उत्पन्न होता है उस कर्म से अवयवों में विभाग उत्पन्न होता है और उस विभाग से कमल का आकाश प्रदेश के साथ जो संयोग है उसका नाश होता है और वह संयोग कमल का आरम्भक नहीं है। अर्थात्, उस आकाश-प्रदेश के साथ जो कमल कुड्मल का संयोग है इसका नाशक विभाग को उत्पन्न करनेवाली शक्ति उस कर्म में मानी जाती है।

इस स्थिति में यदि कमल के आरम्भक अवयवों के साथ जो संयोग है, उसके विनाशक विभाग को उत्पन्न करने की शक्ति भी उस कर्म में मान लें, तब तो कमल के आरम्भक संयोग के नाश होने से कमल का भी नाश अवश्यम्भावी है। इसलिए, कमल-कुड्मल का भङ्ग होना निश्चित हो जाता है। इस अवस्था में, जिस प्रकार 'जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य है' इस साहचर्य-रूप व्याप्ति का व्यभिचार कहीं नहीं देखा जाता। उसी प्रकार, जिस कर्म में अनारम्भक आकाश प्रदेश के साथ संयोग के विनाशक-विभाग को उत्पन्न करने की शक्ति रहेगी उस कर्म में आरम्भक अवयवान्तरों के साथ संयोग के विनाशक विभाग को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं रहेगी इस नियम का भी व्यभिचार नहीं हो सकता। इसी प्रकार, जहाँ आरम्भक अवयवान्तरों के साथ संयोग के विनाशक विभाग को उत्पन्न करने की शक्ति रहती है वहाँ अनारम्भक आकाश देश के साथ संयोग के नाशक विभाग को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं रहती, यह नियम भी व्यभिचरित है। इसलिए, परमाणु में रहनेवाला जो अनारम्भक संयोग कर्म है उसके विरोधी आकाश प्रदेश के विभाग को उत्पन्न नहीं करता। किन्तु उस कर्म से जन्य (उत्पन्न) जो विभाग है वह उस क्षणवान् में भी आकाश प्रदेश के विभाग को उत्पन्न करता है। वह जो विभाग का जनक विभाग है वह अपने से अव्यवहित उत्तर-क्षण में आकाश-प्रदेश के विभाग को उत्पन्न नहीं करता; क्योंकि इसमें कोई सहायक नहीं है। यदि सहायक से रहित (असहाय) विभाग को ही आकाश प्रदेश के विभाग का जनक मान लें, तो कर्म का जो लक्षण आचार्य ने किया है उसकी विभाग में अतिव्याप्ति हो जायगी क्योंकि संयोग और विभाग का जो असहाय कारण है वही कर्म का लक्षण है, ऐसा आचार्य ने स्वयं कर्म का लक्षण किया है और यहाँ विभाग का असहाय कारण-विभाग भी हो जाता है। इसलिए, अतिव्याप्ति दोष कर्म-लक्षण के विभाग में हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि सहायवान् जो विभागजनक विभाग है वही अपने उत्तर-क्षण में आकाश-प्रदेश का विभाग उत्पन्न करता है असहाय नहीं है। यहाँ असहाय उसीको कहते हैं जो अपने उत्तर-क्षण में उत्पन्न भावान्तर की अपेक्षा न करे।

अब यहाँ शङ्का होती है कि जो विभाग जिस विभाग का उत्पादक है, उसमें सहायक कौन है? इसका उत्तर यह है कि प्रथम क्षण में अग्नि के संयोग से परमाणु में कर्म उत्पन्न होता है और द्वितीय क्षण में दूसरे परमाणु के साथ विभाग उत्पन्न होता है और तृतीय क्षण में द्व्यणुक का आरम्भक जो संयोग है उसका नाश होता है। चतुर्थ क्षण में द्व्यणुक का नाश होता है। द्व्यणुक के नाश-पर्यन्त वही कर्म रहता है। अब यहाँ यह विचारणीय है कि द्वितीय क्षण में उत्पन्न जो विभाग है वह तृतीय क्षण के आरम्भक संयोग का नाशक क्षण है उसकी सहायता से आकाश प्रदेश के विभाग को उत्पन्न करता है जब यह माना जाय तब तो यह विभागज विभाग चतुर्थ क्षण में उत्पन्न होता है, यह मानना होगा और यदि चतुर्थ द्व्यणुक-नाश-क्षण की सहायता से आकाश-प्रदेश का विभाग होता है, यह माना जाय तो द्व्यणुक-नाश के उत्तर क्षण में

अर्थात् द्व्यणुक के श्याम रूप के नाश के क्षण में आकाश-प्रदेश का विभाग उत्पन्न होता है यह मानना होगा। इस प्रकार ये दो पक्ष सिद्ध होते हैं।

यहाँ एक सिद्धान्त यह है कि आरम्भक संयोग का नाश-विशिष्ट जो क्षण है, और द्व्यणुक का नाश-विशिष्ट जो क्षण है वे दोनों क्षण उक्त विशिष्ट रूप से ही विभाग की सहायता करते हैं। दूसरे दार्शनिकों का सिद्धान्त यह है कि विशिष्ट भी उक्त क्षण में अपने एकमात्र स्वतन्त्र रूप से ही सहायता करते हैं। इस प्रकार, विशिष्ट अथवा केवल आरम्भक संयोग का नाशक जो क्षण है, यदि उसको विभाग का सहायक मानें तो पहले द्व्यणुक के नाश से लेकर रूपान्तर-युक्त द्व्यणुक की उत्पत्ति-पर्यन्त जो नव क्षण दिखाये गये हैं वहाँ दस क्षण मानना होगा। कारण यह है कि तृतीय और चतुर्थ क्षण के बीच में एक अधिक क्षण का स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार विशिष्ट अथवा केवल द्व्यणुक के नाश के क्षण को विभाग का सहायक मानें अर्थात् द्वितीय क्षण मानें तो ग्यारह क्षण मानना होगा; क्योंकि उसी तृतीय और चतुर्थ क्षण के बीच में दो क्षण और भी मानना आवश्यक हो जाता है। जैसे—पूर्व में उक्त जो नव क्षण हैं, उनमें चतुर्थ में पुनः द्रव्य का आरम्भक कर्म उत्पन्न होता है यह पहले ही कहा जा चुका है। यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि चतुर्थ क्षण में जो पुनः द्रव्यारम्भक कर्म की उत्पत्ति होती है वह विभागजनक जो कर्म है उसके नाश के बाद ही हो सकती है। विभागजनक कर्म के विद्यमान रहने पर भी आरम्भक कर्म का होना असम्भव ही है। कारण यह है कि विभाग और आरम्भ दो परस्पर-विरोधी होने के कारण एक काल में असम्भावित हैं।

दो पक्ष जिनके विषय में पहले कहा जा चुका है उनमें प्रथम पक्ष में विभागज-विभाग प्रथम, अर्थात् द्व्यणुक नाश-क्षण में उत्पन्न होता है। इसके बाद पूर्व संयोग का द्वितीय अर्थात् श्यामरूप के नाश-क्षण में नाश होता है। उत्तर देश के साथ संयोग की उत्पत्ति तृतीय अर्थात् रक्तता की उत्पत्ति के क्षण में होती है। यहाँ उत्तर देश के साथ संयोग की उत्पत्ति-पर्यन्त विभागजनक कर्म को अवश्य मानना होगा। क्योंकि कर्मरहित वस्तु का उत्तर-देश के साथ संयोग होना असम्भव ही है; इसलिए विभागजनक कर्म का नाश चतुर्थ क्षण में और आरम्भक कर्म की उत्पत्ति पञ्चम क्षण में माननी होगी।

द्वितीय पक्ष में द्वितीय क्षण के विभागज-विभाग की उत्पत्ति होगी और तृतीय अर्थात् रक्तता की उत्पत्ति के क्षण में पूर्व-संयोग का नाश होगा। चतुर्थ क्षण में उत्तर संयोग की उत्पत्ति होगी। पञ्चम क्षण में विभागजनक कर्म का नाश होगा। इसके बाद षष्ठ क्षण में आरम्भक कर्म की उत्पत्ति माननी होगी।

इस प्रकार विभागज-विभाग के अङ्गीकार करने में कारणभूत विभाग और कार्यभूत विभाग में पौर्वापर्य के भेद होने पर यह अनुचित नहीं होता। कारण यह है कि क्षणात्मक काल अत्यन्त सूक्ष्मतर है इसलिए ज्ञान का साधन किसी इन्द्रिय का

विषय नहीं होता। अर्थात्, क्षणात्मक काल के अत्यन्त सूक्ष्मतर होने से पौर्वापर्य का भेद लोक में प्रतीत नहीं होता।

इस प्रकार कारणमात्र विभागजन्य विभाग का निर्देश संक्षेप में किया गया। अब कारणाकारण-विभागजन्य विभाग का निर्देश संक्षेप में किया जाता है। यहाँ यह भी समझना चाहिए कि कारणमात्र-विभागज-विभाग इसलिए कहा जाता है कि केवल कारण-मात्र के ही विभाग से विभाग उत्पन्न होता है। जैसे द्व्यणुक का परमाणुद्वय (दोनों परमाणु) कारण होता है। इनमें कोई परमाणु अकारण नहीं होता है इसलिए इन परमाणुओं के विभाग से जो विभाग उत्पन्न होगा वह कारण-मात्र विभागजन्य कहा जायगा।

कारणाकारण-विभाग-जन्य-विभाग इसलिए कहा जाता है कि कारण और अकारण दोनों के विभाग से यह विभाग उत्पन्न होता है। जैसे—हाथ में उत्पन्न जो कर्म है, वह जिस प्रकार अपने अवयवान्तरों से विभाग उत्पन्न करता है उसी प्रकार आकाश देश से भी विभाग पैदा करता है। यहाँ हाथ शरीर का अवयव होने का कारण होता है। आकाश शरीर का कारण नहीं होता इसलिए आकाश अकारण ही है। इस कारण (हाथ) और अकारण (आकाश) के विभाग से जो शरीर और आकाश का विभाग होता है, वह कारणाकारण-विभाग से जन्य विभाग होता है। क्योंकि, हाथ कारण और आकाश अकारण—इन दोनों कारण अकारण के अनुकूल ही विभाग होता है। जैसे—हाथ दक्षिण से उत्तर की ओर चलता है, उस समय दक्षिण आकाश प्रदेश से ही हस्ताकाश का विभाग करता है और उस विभाग से उत्पन्न शरीराकाश का विभाग भी उसी प्रकार होता है। अब यहाँ यह विचार होता है कि शरीराकाश का जो विभाग है, वह शरीरगत कर्म-जन्य है अथवा हस्ताकाश के विभाग से जन्य। शरीरगत कर्म जन्य तो कह नहीं सकते क्योंकि उस काल में शरीरगत कोई कर्म नहीं है। केवल हस्तगत कर्म होने से कर्म का आश्रय हस्त ही कहा जायगा इसलिए शरीर निष्क्रिय है। अवयवी की क्रिया से अवयव भी क्रियाश्रय कहा जा सकता है परन्तु अवयव की क्रिया से अवयवी क्रिया का आश्रय नहीं हो सकता। यहाँ हस्तमात्र अवयव के प्रचलन होने से शरीर का प्रचलन नहीं कहा जा सकता। इसलिए, कारणाकारण के विभाग से ही शरीराकाश का विभाग मानना ही होगा। यदि कहें कि हस्त में रहनेवाली जो क्रिया है उसीसे शरीराकाश का भी विभाग हो जायगा। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार हस्तगत क्रिया से हस्त और आकाश का विभाग होता है उसी प्रकार हस्तगत क्रिया से ही शरीराकाश का भी विभाग हो सकता है तो यह भी ठीक बात नहीं है। कारण यह है कि क्रिया अपने आश्रय में ही अपना कार्य उत्पन्न कर सकती है अनाश्रय में नहीं। प्रकृत में कर्म हस्त में रहनेवाला है शरीर में नहीं; इसलिए हस्ताकाश के विभाग के उत्पादक होने पर भी शरीराकाश के विभाग का उत्पादक नहीं हो सकता। तात्पर्य यह कि हस्तगत कर्म व्यधिकरण होने के कारण शरीर और आकाश के विभाग का जनक नहीं हो सकता। इसलिए, हस्ताकाश के विभाग से ही शरीराकाश का विभाग मानना होगा। यही कारणाकारण-विभागज-विभाग कहा जाता है।

अन्धकार-विचार

अब अन्धकार के विषय में विचार किया जाता है—यहाँ वेदान्तियों और मीमांसकों का मत है कि स्वाभाविक नीलरूप से विशिष्ट अन्धकार भी द्रव्य है। इसमें श्रीधराचार्य का कहना है कि अन्धकार यद्यपि द्रव्य है परन्तु उसमें नीलरूप जो भासित होता है वह आरोपित है वास्तविक नहीं। जैसे—आकाश-मण्डल या जल में नील रूप का भान आरोपित होता है उसी प्रकार, तम (अन्धकार) में भी नील रूप आरोपित है। मीमांसकों में प्रभाकर के अनुयायियों का कहना है कि आलोक-ज्ञान का अभाव-स्वरूप ही तम है, कोई वस्तु नहीं। नैयायिकों और वैशेषिकों का मत है कि आलोक के अभाव का ही नाम तम है दूसरा नहीं। यह मीमांसकों और वेदान्तियों का जो द्रव्य-पक्ष है वह तो ठीक नहीं क्योंकि अन्धकार को यदि द्रव्य मानते हैं तो यह शङ्का होती है कि उक्त नव द्रव्य में ही इसका अन्तर्भाव है, अथवा यह दशम द्रव्य है? नव द्रव्यों में तो इसका अन्तर्भाव कर नहीं सकते, क्योंकि जिस द्रव्य में अन्तर्भाव मानेंगे उस द्रव्य के जितने गुण हैं, उन सबको तम में मानना होगा, जो तम में उपलब्ध नहीं होते। जैसे—यदि पृथिवी में अन्धकार का अन्तर्भाव मानें तो पृथिवी के जो गन्ध स्पर्श आदि चौदह गुण हैं इन सबको अन्धकार मानना होगा। पृथिवी आदि के जो गुण हैं, उनको आगे दिखाया जायगा। इसी प्रकार तेज में अन्तर्भाव मानने से तेज के जो उष्ण-स्पर्शादि गुण हैं उनको तम में मानना होगा। परन्तु पृथिवी आदि के गन्ध आदि जो गुण हैं उनकी उपलब्धि अन्धकार में नहीं होती, इसलिए किसी में भी अन्तर्भाव नहीं कर सकते। यदि द्वितीय पक्ष, अर्थात् दशम द्रव्य मानें यह भी ठीक नहीं है। कारण यह है कि अन्धकार निर्गुण होने के कारण द्रव्य ही नहीं हो सकता तो दशम द्रव्य मानना अनुचित ही है। तात्पर्य यह है कि द्रव्य का लक्षण गुणाश्रयत्व है अर्थात् जो गुण का आश्रय हो वही द्रव्य है। अन्धकार में रूप रस आदि गुणों में किसी गुण का भी लगाव नहीं है इसलिए जब द्रव्य का लक्षण ही अन्धकार में नहीं घटता तो पुनः उसका दशमद्रव्यत्व किस प्रकार सिद्ध हो सकता। यदि यह कहें कि नील रूप गुण के आश्रय होने से तम भी द्रव्य कहा जायगा। इससे तम का दशमद्रव्यत्व उपपन्न हो जाता है यह भी ठीक नहीं है। कारण यह है कि नील रूप रस गन्ध आदि से व्याप्त रहता है, अर्थात् जहाँ-जहाँ नील रूप है वहाँ वहाँ गन्ध रस आदि की उपलब्धि अवश्य रहती है। जैसे—नीलकमल भिन्नहु कलिका आदि में नील रूप के साथ साथ गन्धादि गुण अवश्य रहते हैं। इसलिए, नील रूप के व्यापक गन्धादि गुण होते हैं और व्यापक के अभाव में व्याप्य कभी नहीं रह सकता। इसलिए, अन्धकार में व्यापकीभूत गन्धादि गुणों के न रहने से व्याप्य नील रूप का अभाव स्वतः सिद्ध हो जाता है इसलिए अन्धकार में नील रूप के अभाव का निश्चय होता है। अब यहाँ यह भी आशङ्का होती है कि 'नीलं तमः चलति', अर्थात् नीला अन्धकार चलता है। यहाँ नील तम में गमन-क्रिया की जो प्रतीति होती है उसकी क्या गति होगी? इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार शून्य भ्रम में

भ्रममूलक नील रूप की प्रतीति होती है, उसी प्रकार अन्धकार में भी नील रूप और चलन क्रिया की प्रतीति भ्रम के कारण ही है, वास्तविक नहीं।

इस प्रकार, अन्धकार जब स्वतन्त्र द्रव्य सिद्ध नहीं हुआ तो उसमें नील रूप आरोपित है। यह जो श्रीधराचार्य का कहना है, वह भी नहीं बनता। क्योंकि अधिष्ठान के निश्चय के बिना आरोप होना असम्भव है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार शङ्ख के देखने पर ही उसमें पाण्डुरोग आदि दोष से ही पीतत्व आदि की प्रतीति होती है, अन्यथा नहीं। एक बात और भी है कि सहकारी जो बाह्यालोक है, उससे रहित चक्षु-रूप के आरोप में समर्थ नहीं होता है, अर्थात् सहकारी बाह्यालोक से युक्त जो चक्षु है, वही रूप के आरोप में समर्थ होता है और 'इदं तमः' (यह तम है), इस प्रकार का जो ज्ञान है वह चक्षुरिन्द्रिय से अजन्य है, ऐसी बात नहीं है। किन्तु अन्धकार का ज्ञान चक्षुरिन्द्रिय का जन्य ही है। क्योंकि, अन्धकार के ज्ञान में चक्षुरिन्द्रिय की अपेक्षा जो देखी जाती है, वह अन्यथा अनुपपन्न ही है। अर्थात्, यह अपेक्षा नहीं हो सकती। इस प्रकार, अन्धकार यदि चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय है, यह सिद्ध हो गया तो प्रभाकर के एकदेशियों का जो यह कहना है कि 'आलोक ज्ञान का अभाव-स्वरूप ही तम है' यह भी नहीं बनता। कारण यह है कि अभाव का जो प्रतियोगी है, उसका प्रत्यक्ष जिस इन्द्रिय से होता है, उसी इन्द्रिय से उस अभाव का भी प्रत्यक्ष होता है। 'येनेन्द्रियेण यद् गृह्यते तेनेन्द्रियेण तदभावोऽपि' यह नियम सर्वसम्मत है। जिस पदार्थ का अभाव होता है, वह पदार्थ उस अभाव का प्रतियोगी कहा जाता है। जैसे, घट के अभाव का प्रतियोगी घट होता है और जिस इन्द्रिय से घट का ज्ञान होता है, उसी इन्द्रिय से घट के अभाव का भी ग्रहण होता है। इस स्थिति में अन्धकार को यदि आलोक ज्ञान का अभाव-स्वरूप मानते हैं तो यहाँ अभाव का प्रतियोगी जो ज्ञान है उसके मानस-प्रत्यक्ष होने के कारण अन्धकार भी मानस प्रत्यक्ष का विषय होने लगेगा, जो सर्वथा अनुभव विरुद्ध है। इसलिए, आलोक ज्ञान का अभाव-स्वरूप ही तम है यह वैशेषिकों का सिद्धान्त है।

अब यहाँ आशङ्का होती है कि जितने अभाव हैं, उनका बोध नञ् शब्द के द्वारा ही किया जाता है और यहाँ तम अन्धकार इत्यादि विधि-प्रत्यय के वश हैं इसलिए अन्धकार अभाव स्वरूप नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि जिसका ज्ञान नञ् के द्वारा होता है वही अभाव है और जिसका ज्ञान नञ् के द्वारा नहीं होता वह भाव ही है अभाव नहीं। इसलिए, तम आदि शब्द से बोधित होने से अन्धकार भाव ही है यहाँ इस प्रकार का अनुमान किया जाता है। जैसे—विवादास्पद अन्धकार (पक्ष) भावरूप है (साध्य); नञ् से अनुल्लिखित बुद्धि के विषय होने से (हेतु) क्योंकि जो नञ् से अनुल्लिखित बुद्धि के विषय हैं वे सब भाव-रूप ही होते हैं, (व्याप्ति), जैसे—घट-पट आदि (दृष्टान्त); अर्थात् जिस प्रकार घट-पट आदि पदार्थों के अभाव की प्रतीति निषेध-मुख से होती है विधि-मुख से नहीं जैसे—'घट नहीं है', 'पट नहीं है' इत्यादि। इस प्रकार घट-पट आदि पदार्थों की प्रतीति निषेध मुख से नहीं होती; किन्तु 'घट है' 'पट है' इत्यादि की विधि-मुख से ही प्रतीति

होती है। इसी प्रकार अन्धकार है इस प्रकार विधि-मुख से ही अन्धकार की प्रतीति होने के कारण अन्धकार भाव ही है अभाव नहीं; यह सिद्ध हो जाता है।

इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि विधि-प्रत्यय वेद्य होने से अथवा 'नञ्' से अनुल्लिखित बुद्धि का विषय होने से यह जो हेतु दिया गया वह व्यभिचरित है। जैसे—प्रलय विनाश अवसान इत्यादि अभावार्थक शब्द भी विधि प्रत्यय-वेद्य अथवा नञ् से अनुल्लिखित बुद्धि के विषय होने से भावार्थक हो जाते हैं। वहाँ प्रलय शब्द से सृष्टि का अभाव विनाश शब्द से ध्वंस और अवसान शब्द से समाप्ति अथवा वर्द्ध का अभाव ही प्रतीत होता है और ये विधि प्रत्यय-वेद्य हैं तथा नञ् से अनुल्लिखित बुद्धि के विषय भी हैं। इसलिए यह हेतु व्यभिचरित होने से अन्धकार के भावत्व का साधक नहीं हो सकता। इसलिए, यह सिद्ध होता है कि अन्धकार अभाव-स्वरूप ही है। यदि यह कहें कि अन्धकार अभाव-रूप है तो उसमें भावधर्म का आरोप कैसे होगा? अर्थात् भाव जो नीलरूपादि हैं उनके जो नील आदि धर्म हैं, उनका आरोप अभाव-स्वरूप अन्धकार में नहीं हो सकता। यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि दुःख के अभाव में सुख की प्रतीति और संयोगाभाव में भी *विभाग का अभिमान देखा जाता है। जैसे मार के दूर जाने पर मैं सुखी हो गया'*, इस प्रकार की प्रतीति सर्वानुभवसिद्ध है।

अब यहाँ एक शङ्का और होती है। जिस प्रकार, रूपवान् घट के अभाव का ज्ञान आलोक-सहकृत चक्षुरिन्द्रिय से ही होता है उसी प्रकार रूपवान् आलोक के अभाव का भी ज्ञान आलोक-सहकृत चक्षु से ही होना चाहिए और ऐसा नहीं होता। किन्तु, अन्धकार के ज्ञान में आलोकनिरपेक्ष चक्षु ही कारण होता है इसलिए आलोकाभाव-स्वरूप अन्धकार नहीं हो सकता। यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिसके ज्ञान में चक्षु जिसकी अपेक्षा रखता हो उसी के अभाव के ज्ञान में उसकी अपेक्षा होती है। जैसे—घट के ज्ञान में चक्षु को आलोक की अपेक्षा है इसलिए घट के अभाव-ज्ञान में भी आलोक की अपेक्षा आवश्यक है। प्रकृत में आलोक के ज्ञान में आलोकान्तर की आवश्यकता नहीं रहती, इसलिए आलोक के अभावरूप अन्धकार के ज्ञान में भी आलोक की अपेक्षा नहीं होती। यदि यह कहें कि अन्धकार के ज्ञान में अधिकरण का ज्ञान होना आवश्यक है यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि अभाव के ज्ञान में अधिकरण-ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती। अन्यथा 'कोलाहल बन्द हो गया' यहाँ शब्द-नाश का जो प्रत्यक्ष होता है वह नहीं हो सकता। क्योंकि शब्द-नाश का आश्रय (अधिकरण) जो आकाश है उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। इस प्रकार, अन्धकार के आलोकाभाव का रूपसिद्ध हो जाने से अन्धकार को जो द्रव्यरूप मानते थे वे परास्त हो जाते हैं। इसी अभिप्राय से महर्षि कणाद ने यह सूत्र बनाया है—'द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः'। यहाँ निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति है और वैधर्म्य का अर्थ वैलक्षण्य है। अर्थात्, द्रव्य गुण कर्म की उत्पत्ति की विलक्षणता से अभाव-रूप ही तम है। तात्पर्य यह है कि तम उत्पत्ति-विनाशशाली होने से अनित्य है, इसलिए नित्य जो सामान्यविशेष

समवाय है, उसमें उसका अन्तर्भाव नहीं होता और न उत्पत्तिमान् द्रव्य-गुण-कर्म में ही क्योंकि द्रव्य-गुण कर्म की अपेक्षा इसकी उत्पत्ति विलक्षण है। जितने जन्य (उत्पन्न होनेवाले) द्रव्य हैं वे अवयव से आरम्भ होते हैं, जैसे—घट आदि।

तम की उत्पत्ति अवयव से आरम्भ नहीं है। आलोक के अपसरण में सहसा तम का अनुभव होने लगता है। तात्पर्य यह है कि गुण कर्म की उत्पत्ति द्रव्य के आश्रय से होती है और तम की उत्पत्ति में यह बात नहीं है। इसी उत्पत्ति की विलक्षणता से तम अभाव-रूप है, यह सिद्ध होता है और यही सूत्रकार का तात्पर्य भी है।

अभाव विचार

इसके बाद सप्तम अभाव पदार्थ का विवेचन किया जाता है। अभाव की प्रतीति निषेध-मुख प्रमाण से होती है। जैसे—'घट नहीं है' 'पट नहीं है' इत्यादि। समवाय-सम्बन्ध से रहित और समवाय से भिन्न जो पदार्थ है, वही अभाव का लक्षण है।

समवाय सम्बन्ध-रहित यह विशेषण देने से द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष में अभाव का लक्षण नहीं जाता है। क्योंकि, उक्त द्रव्यादि समवाय सम्बन्धवान् ही हैं। जैसे, द्रव्य का द्रव्य में रहनेवाले गुणों और क्रियाओं के साथ समवाय सम्बन्ध है और अनित्य द्रव्यों का स्वाश्रयभूत अवयवों के साथ समवाय है और गुण-कर्म का स्वाश्रयभूत द्रव्य के साथ और आश्रित सामान्य के साथ समवाय सम्बन्ध है। सामान्य का स्वाश्रयभूत द्रव्य, गुण और कर्म के साथ समवाय-सम्बन्ध है और विशेष का आश्रयभूत नित्य द्रव्य के साथ समवाय-सम्बन्ध है। इस प्रकार, द्रव्य-गुण-कर्म सामान्य और विशेष इन पाँचों में समवाय-सम्बन्ध से रहित न होने के कारण अभाव-लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। यद्यपि समवाय समवाय-सम्बन्ध से रहित है; क्योंकि अनवस्था के भय से समवाय में समवाय का अंगीकार नहीं किया जाता इसलिए समवाय-सम्बन्ध से रहित होने के कारण समवाय में अभाव-लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। तथापि समवाय-भिन्न इस विशेषण से उसकी व्यावृत्ति हो जाती है।

संक्षेप में अभाव दो प्रकार का होता है। पहला संसर्गाभाव दूसरा अन्योन्याभाव। अन्योन्याभाव एक ही प्रकार का है। इसलिए, इसका विभाग नहीं हो सकता। संसर्गाभाव तीन प्रकार का होता है—प्रागभाव प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव। इन तीनों में संसर्ग (सम्बन्ध) का ही अभाव होता है इसलिए उसका नामकरण संसर्गाभाव किया गया। संसर्ग-प्रतियोगी जो निषेध है वह संसर्गाभाव है। जैसे—घटोत्पत्ति के पहले यहाँ घट नहीं है। इस प्रकार प्रागभाव का व्यवहार किया जाता है। यहाँ मृत्पिण्ड में घट के सम्बन्ध का निषेध किया जाता है। इसी प्रकार, घट के नाश के बाद यहाँ घट नहीं है ऐसा प्रध्वंसाभाव का व्यवहार किया जाता है। यहाँ घड़े के टुकड़ों में घट के सम्बन्ध का निषेध प्रतीत होता है। इसी प्रकार भूतल में घट नहीं है इस अत्यन्ताभाव-स्थल में भी भूतल में घट के सम्बन्ध का ही

निषेध किया गया है। संसर्गाभाव में प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव अनित्य हैं; क्योंकि प्रागभाव अनादि होने पर भी सान्त है और प्रध्वंसाभाव अनन्त होने पर भी उत्पत्तिमान् है। केवल अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव नित्य हैं। इससे प्रागभाव का लक्षण यह होता है कि अत्यन्त अनादि होता हुआ भी जो अनित्य हो, वह प्रागभाव है और उत्पत्तिमान् होते हुए भी जो अविनाशी हो वह प्रध्वंसाभाव है। कोई भी भाव-पदार्थ अनादि होता हुआ अनित्य और उत्पत्तिमान् होता हुआ भी नित्य नहीं है। इसलिए, अतिव्याप्ति न होने के कारण लक्षण में अभाव-पद की आवश्यकता नहीं है।

प्रतियोगी है आश्रय जिसका ऐसा जो अभाव है वह अत्यन्ताभाव है। प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव का प्रतियोगी आश्रय नहीं होता; क्योंकि घटोत्पत्ति के पहले या घट-नाश के बाद प्रतियोगी घट की सत्ता नहीं है और घटाभाव भी है। इसलिए, यह सिद्ध हो जाता है कि वहाँ प्रागभाव प्रध्वंसाभाव का आश्रय प्रतियोगी नहीं होता। अन्योन्याभाव भी आश्रय प्रतियोगी नहीं होता क्योंकि घट में घट का भेद नहीं रहता। लेकिन, अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी आश्रय होता है। जैसे भूतल में घट का अभाव है वैसे घट में भी घट का अभाव है यह कह सकते हैं क्योंकि स्व में स्व नहीं रहता। अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव में एक यह भी विलक्षणता है कि अत्यन्ताभाव की प्रतीति प्रतियोगी के समानाधिकरण में नहीं होती। भूतल में घट रहने पर उस समय उस विद्यमान घटात्यन्ताभाव की प्रतीति नहीं होती और अन्योन्याभाव की प्रतीति प्रतियोगी के समानाधिकरण में होती है। जैसे घटवान् भूतल में घट के भेद की प्रतीति देखी जाती है। अत्यन्ताभाव के लक्षण में अभाव पद का जो निवेश किया जाता है उसका तात्पर्य है कि प्रतियोगी है आश्रय जिसका, वह अत्यन्ताभाव है। यदि इतना ही अत्यन्ताभाव का लक्षण करें तो आकाश के सदृश आकाश के आश्रित सूर्य का प्रकाश भी व्यापक है। यहाँ तादृश का अनुपयोगी जो सूर्य प्रकाश है वह प्रतियोगीभूत आकाश के आश्रित ही है इसलिए यहाँ अतिव्याप्ति हो जाती है। इसके वारण के लिए यहाँ अभाव पद भी दिया गया है जिससे अतिव्याप्ति न हो।

अन्योन्याभाव का लक्षण यह है कि अत्यन्ताभाव से भिन्न जो नित्य अभाव है वह अन्योन्याभाव है। अत्यन्ताभाव से भिन्न नित्य परमाणु आदि अतिव्याप्ति के वारण के लिए यहाँ भी अभाव पद दिया गया है। यहाँ यह भी आशङ्का होती है कि यदि अन्योन्याभाव को ही अत्यन्ताभाव मान लें तो क्या आपत्ति है?

इसका उत्तर यही है कि दोनों में भेद (विलक्षणता) का ज्ञान न रहने से ही यह आशङ्का होती है। अन्योन्याभाव में तादात्म्य अर्थात् स्वारूप्य का निषेध होता है। जैसे—'घट पट स्वरूप नहीं है' इस अभिप्राय से 'घट पट नहीं है'—ऐसा कहा जाता है। यह अन्योन्याभाव का उदाहरण है और अत्यन्ताभाव में सम्बन्ध का निषेध किया जाता है। जैसे—वायु में रूप नहीं है। यहाँ वायु में रूप के सम्बन्ध का ही निषेध किया जाता है। इसीलिए, अन्योन्याभाव से विलक्षण अत्यन्ताभाव सिद्ध होता है।

अब यहाँ एक आशङ्का और होती है कि यदि यह अभाव पुरुषार्थ का उपयोगी नहीं है, तो इसके विवेचन की क्या आवश्यकता है ? तात्पर्य यह है कि यदि छह पदार्थों के ज्ञान से ही मुक्ति होती है, तो पुनः अभाव का विवेचन क्यों किया ?

इसका उत्तर यह है कि पुरुषार्थ के उपयोगी न होने पर भी अभाव पुरुषार्थ स्वरूप ही है क्योंकि मुक्ति ही परम पुरुषार्थ है और मुक्ति का स्वरूप है—दुःख का अत्यन्तोच्छेद और अत्यन्तोच्छेद अभाव-रूप ही है। इसलिए, अभाव को परम पुरुषार्थ मुक्ति-स्वरूप होने के कारण इसका विवेचन युक्त होता है क्योंकि यह अभाव स्वयं परम पुरुषार्थ-स्वरूप है।

अन्धकार के विवेचन के समय गुण का आश्रय न होने के कारण तम का किसी में अन्तर्भाव नहीं होता, ऐसा कहा गया है। यहाँ जिज्ञासा होती है कि भिन्न-भिन्न द्रव्यों में कौन-कौन गुण रहते हैं ? इसके उत्तर में विश्वनाथभट्ट ने अपनी कारिकावली में लिखा है—

स्पर्शादयोऽष्टौ वेगाख्यः संस्कारो मरुतो गुणाः।
स्पर्शाद्यष्टौ रूपवेगौ द्रवत्वं तेजसो गुणाः॥
स्पर्शादयोऽष्टौ वेगश्च गुरुत्वं च द्रवत्वकम्।
रूपं रसस्तथा स्नेहो वारिण्येते चतुर्दश॥
स्नेहहीना गन्धयुताः क्षितावेते चतुर्दश।
बुद्ध्यादिषट्कं संख्यादिपञ्चकं भावना तथा।
धर्माधर्मौ गुणा एते आत्मनः स्युश्चतुर्दश॥
संख्यादिपञ्चकं कालदिशोः शब्दश्च ते च खे॥
संख्यादयः पञ्च बुद्धिरिच्छा यत्नोऽपि चेश्वरे।
परापरत्वे संख्याद्याः पञ्च वेगश्च मानसे॥

द्रव्यों का गुणबोधक चक्र

पृथिवी	जल	तेज	वायु	आकाश	काल	दिक्	जीवात्मा	ईश्वर	मन
स्पर्श	स्पर्श	स्पर्श	स्पर्श	संख्या	संख्या	संख्या	बुद्धि	संख्या	संख्या
संख्या	संख्या	संख्या	संख्या	परिमाण	परिमाण	परिमाण	सुख	परिमाण	परिमाण
परिमाण	परिमाण	परिमाण	परिमाण	पृथक्त्व	पृथक्त्व	पृथक्त्व	दुःख	पृथक्त्व	पृथक्त्व
पृथक्त्व	पृथक्त्व	पृथक्त्व	पृथक्त्व	संयोग	संयोग	संयोग	इच्छा	संयोग	संयोग
संयोग	संयोग	संयोग	संयोग	विभाग	विभाग	विभाग	द्वेष	विभाग	विभाग
विभाग	विभाग	विभाग	विभाग	शब्द			यत्न	बुद्धि	परत्व
परत्व	परत्व	परत्व	परत्व				संख्या	इच्छा	अपरत्व
अपरत्व	अपरत्व	अपरत्व	अपरत्व				परिमाण	यत्न	
वेग	वेग	वेग	वेग				पृथक्त्व		
गुरुत्व	गुरुत्व	रूप					संयोग		
द्रवत्व	द्रवत्व	द्रवत्व					विभाग		
रूप	रूप						भावना		
रस	रस						धर्म		
गन्ध	स्नेह						अधर्म		

ग्रन्थ में ऊपर हम जो कुछ लिख गये हैं उसे संक्षेप में यों समझा जाय कि कणाद ने अपने वैशेषिक-सूत्र को दस अध्यायों में लिखा है। प्रत्येक अध्याय के दो-दो आह्निक हैं। अध्यायों और आह्निकों का प्रतिपाद्य विषय इस प्रकार है—

अध्याय १		पदार्थ-कथन
	आह्निक १	सामान्य (= जाति) वान्
	आह्निक २	सामान्य, विशेष
अध्याय २		द्रव्य
	आह्निक १	पृथिवी आदि भूत
	आह्निक २	दिशा, काल
अध्याय ३		आत्मा, मन
	आह्निक १	आत्मा
	आह्निक २	मन
अध्याय ४		शरीर आदि
	आह्निक १	कार्य कारण भाव आदि
	आह्निक २	शरीर (पार्थिव, जलीय नित्य...)
अध्याय ५		कर्म
	आह्निक १	शारीरिक कर्म
	आह्निक २	मानसिक कर्म
अध्याय ६		धर्म
	आह्निक १	दान आदि धर्मों की विवेचना
	आह्निक २	धर्मानुष्ठान
अध्याय ७		गुण समवाय
	आह्निक १	निरपेक्ष गुण
	आह्निक २	सापेक्ष गुण
अध्याय ८		प्रत्यक्ष प्रमाण
	आह्निक १	कल्पना-सहित प्रत्यक्ष
	आह्निक २	कल्पना-रहित प्रत्यक्ष
अध्याय ९		अभाव हेतु
	आह्निक १	अभाव
	आह्निक २	हेतु
अध्याय १०		अनुमान के भेद
	आह्निक १	अनुमान के भेद
	आह्निक २	अनुमान के भेद

यद्यपि कणाद ने द्रव्य, गुण कर्म, प्रत्यक्ष, अनुमान-जैसी सांसारिक वस्तुओं पर ही एक बुद्धिवादी की दृष्टि से विवेचना की है तथापि उस विवेचना का मुख्य लक्ष्य है—धर्म के प्रति की गई शङ्काओं को युक्तियों के द्वारा दूर कर फिर से धर्म की धाक को स्थापित करना। इस दार्शनिक प्रयोजन की सिद्धि के लिए वह हेतु और प्रत्यक्ष कल्पना का भी आश्रय लेते हैं। प्रश्न के उदाहरण में चुम्बक और लोहा का उदाहरण ठीक बैठता है। कणाद पूछते हैं—चुम्बक की ओर लोहा क्यों खिंचता है?

वृक्ष के शरीर में ऊपर की ओर पानी कैसे चढ़ता है ? आग की लपट ऊपर की ओर कैसे उठती है ? हवा क्यों अगल-बगल में फैलती है ? परमाणुओं में एक दूसरे के साथ संयोग से प्रवृत्ति क्यों होती है ? इसी तरह जन्मान्तर—गर्भ में जीव का आना—आदि में हम अदृष्ट की कल्पना करनी पड़ेगी। इन सबका मूल हेतु यह है कि कणाद धर्म की स्थापना चाहते हैं और इसलिए अदृष्ट पर विश्वास रखने की बात सामने आती है। आहार भी धर्म का अंग है। शुद्ध आहार वह है, जो यज्ञ करने के बाद बच रहता है। जो आहार ऐसा नहीं है वह अशुद्ध है। कणाद ने विश्व के तत्त्वों को छः पदार्थों में विभाजित किया है—द्रव्य, गुण कर्म, सामान्य विशेष और समवाय। वे नव द्रव्य मानते हैं—पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश, काल दिक्, आत्मा और मन। इनमें आकाश काल दिक् और आत्मा सर्वव्यापी तत्त्व हैं। मन भी अति सूक्ष्म अणु-परिमाणवाला है। गुण सदा किसी द्रव्य में रहता है। जैसे—

	द्रव्य	विशेष गुण	सामान्य गुण		
१	पृथिवी	गन्ध	रस रूप, स्पर्श		
२	जल	रस	रस रूप स्पर्श तरलता स्निग्धता	संयोग विभाग परत्व, अपरत्व	संख्या परिमाण
३	अग्नि	रूप	रूप स्पर्श	परत्व अपरत्व	पृथक्त्व
४	वायु	स्पर्श	स्पर्श		
५	आकाश	शब्द	शब्द		
६	काल				
७	दिक्				
८	आत्मा				

कणाद ने सिर्फ ११ गुण माने हैं—रूप, रस गन्ध, स्पर्श, संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग विभाग परत्व और अपरत्व।

आत्मा के सम्बन्ध में कणाद का विचार है कि इन्द्रियों और विषयों के सम्पर्क से हमें जो ज्ञान होता है उसका आधार ज्ञान का अधिकरण आत्मा है क्योंकि इन्द्रियाँ और विषय दोनों ही जड़ हैं। श्वास-प्रश्वास, निमेष उन्मेष, सुख-दुःख इच्छा-द्वेष, प्रयत्न ये सब-के-सब शरीर के रहते हुए भी जिस एक तत्त्व के अभाव में नहीं होते, वही (तत्त्व) आत्मा है। आत्मा प्रत्यक्ष सिद्ध है।

प्रत्येक आत्मा का अलग-अलग मन है। मन प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। एक बार एक ही विषय का ज्ञान होने के कारण हम मन का अनुमान कर सकते हैं। ऊपर नव द्रव्यों में आत्मा परिगणित हुआ है किन्तु वह इन्द्रियों और मन की सहायता से ज्ञान प्राप्त करनेवाला अनेक जीव-रूप है। फल देनेवाला जो अदृष्ट—सुकृत दुष्कृत—है वह शेष वासना का संस्कार है उसे ईश्वर नहीं कहा जा सकता। सृष्टि के निर्माण के लिए परमाणुओं में गति की आवश्यकता है। कणाद के अनुसार यह परमाणु-गति अदृष्ट के अनुसार होती है। इस प्रकार, कुल मिलाकर कणाद के वैशेषिक दर्शन को हम अदृष्टवादी दर्शन कहते हैं।

योग-दर्शन

योग-दर्शन महर्षि पतञ्जलि की रचना है। पतञ्जलि ने जीव और ईश्वर दोनों तत्त्वों को माना है। इसीलिए, इसे 'सेश्वर सांख्य-दर्शन' कहते हैं। इसका एक नाम सांख्य-प्रवचन' भी है। पतञ्जलि-प्रणीत होने के कारण इसे 'पातञ्जल-दर्शन' भी कहते हैं। पतञ्जलि के पूर्व हिरण्यगर्भ, याज्ञवल्क्य आदि अनेक आचार्य योग-शास्त्र के प्रवक्ता थे। परन्तु जनसाधारण के लिए पतञ्जलि ने उसी योग-शास्त्र को सूत्र रूप में, सरल रीति से समझाया है। इसीलिए, इसे 'पातञ्जल-दर्शन' नाम से अभिहित करते हैं।

योग-शास्त्र में चार पाद हैं—समाधि पाद, साधन-पाद विभूति-पाद और कैवल्य-पाद। प्रथम पाद में 'अथ योगानुशासनम्' इस सूत्र से पतञ्जलि ने योग शास्त्रारम्भ की प्रतिज्ञा की है। इसमें 'अथ' शब्द मङ्गलवाचक है। 'अथ' शब्द का दूसरा अर्थ है—अधिकार, प्रस्ताव या प्रारम्भ। अतः, योगानुशासन का अर्थ है, साङ्गोपाङ्ग विवेचन। इसके अनन्तर योग की परिभाषा है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'। चित्त की वृत्तियाँ प्रमाण, विपर्यय विकल्प आदि हैं। इनका निरोध अर्थात् निवर्तन 'योग' शब्द का अर्थ है। समाधि का अर्थ है सम्यक् आधान अर्थात् चित्त का अपने स्वरूप में अवस्थान। योग-वाशिष्ठ में भी समाधि का लक्षण इस प्रकार बताया गया है—

'इमं गुणसमाहारमनात्मत्वेन पश्यतः।
अन्तःशीतलता यस्य समाधिरिति कथ्यते॥'

अर्थात्, इस गुण समूह को आत्मा से भिन्न देखते हुए जब अन्तःकरण में शीतलता का अनुभव होता है तब वही समाधि कही जाती है। वह दो प्रकार की है—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। सम्प्रज्ञात समाधि में संयम और विषयव से सूक्ष्म ध्येय का आकार अच्छी तरह ज्ञात होता है। इस अवस्था में वृत्ति तो ध्येयाकार रहती है किन्तु ध्यान और ध्येय में भेद बना रहता है। असम्प्रज्ञात समाधि में ध्येयाकार वृत्ति का भी निरोध हो जाता है। इसलिए, इसमें ध्यान और ध्येय का भेद नहीं रहता। अर्थात् ध्येय से पृथक् ध्यान भी भासित नहीं होता है।

द्वितीय पाद में—'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः' इत्यादि सूत्रों के द्वारा चञ्चल चित्तवालों के लिए तप स्वाध्याय प्रभृति क्रिया-योग और यम, नियम आदि बहिरङ्ग साधनों का वर्णन है। उक्त सूत्र में 'तप' शब्द से चान्द्रायण आदि क्लेशकारक तप का बोध नहीं होता; क्योंकि शरीर में क्लेश होने से चित्त एकाग्र नहीं रह सकता। यहाँ 'तप' का अर्थ है—हितकारक स्वल्प और सात्त्विक भोजन तथा शीत उष्ण सुख दुःख आदि का सहन एवं इन्द्रियों का निरोध। योग में तप प्रसन्नता का कारण होता है, न कि पीड़ा का। स्वाध्याय का अर्थ है—मोक्ष-शास्त्र का

अध्ययन, अथवा नियमपूर्वक प्रणव आदि का जप। ईश्वर-प्रणिधान का अर्थ है—परमात्मा का अनुचिन्तन और सब कर्मों का परमात्मा में समर्पण। अस्तु, ईश्वर प्रणिधान सब क्रिया-योगों में उत्तम क्रिया-योग माना गया है। ईश्वर में प्रणिधान करनेवाला व्यक्ति अपने सभी कर्मों को ईश्वर की सेवा-बुद्धि से करता है। 'यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो! तवाराधनम्' अर्थात् हे परमात्मन्! मैं जो कुछ कर्म करता हूँ, सब आपकी आराधना है। इस भावना में ममता का लेश भी नहीं रहता। यद्यपि उक्त 'क्रिया-योग' वस्तुतः योग नहीं है तथापि योग के साधन होने के कारण क्रिया योग शब्द से इसका व्यवहार शास्त्रकार ने किया है।

यम नियम आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार—ये बहिरङ्ग साधन हैं। यम पाँच हैं—अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। अपने आचरण और वाणी से किसी भी जीव को दुःख न देना अहिंसा है। जैसा मन में वैसा वचन में, यही सत्य है। बिना अनुमति के किसी की वस्तु को न लेना अस्तेय है। इन्द्रियों का नियमन करना ही ब्रह्मचर्य है। भोग साधनों को अस्वीकार करना ही अपरिग्रह है।

नियम भी पाँच हैं—शौच सन्तोष तप स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। शौच दो प्रकार के हैं—शारीरिक और मानसिक। मिट्टी जल आदि से शरीर आदि को शुद्ध करना बाह्य शौच है और पञ्चगव्य आदि के द्वारा अन्तःशुद्धि करना आभ्यन्तर शौच है। सन्तोष का अर्थ है—तृष्णा का क्षय अर्थात् किसी भी वस्तु की चाह न रहना। तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान का अर्थ ऊपर आ चुका है।

आसन का लक्षण पतञ्जलि ने बताया है—'तत्र स्थिरसुखमासनम्'। अर्थात्, जो स्थिर और सुखावह हो, वही आसन है। जैसे—सिद्धासन पद्मासन स्वस्तिकासन आदि। जिसका आसन स्थिर हो जाता है उसको शीत उष्ण आदि द्वन्द्व बाधा नहीं पहुँचाते।

प्राणायाम का अर्थ है—श्वास और प्रश्वास की स्वाभाविक गति का निरोध। नासिका के द्वारा वायु के अन्तर्गमन का नाम है श्वास और बहिर्गमन का नाम है प्रश्वास। इसी को पतञ्जलि ने सूत्र-रूप में कहा है—'श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः'।

प्राणायाम स्थिर होने से चित्त स्थिर होता है। चित्त के स्थिर होने से विषयों के साथ चित्त का सम्बन्ध टूट जाता है। उस समय इन्द्रियाँ भी विषयों से वियुक्त होकर निरवलम्ब चित्त का अनुसरण करने लगती हैं। इसी अवस्था का नाम प्रत्याहार है। प्रत्याहार की अवस्था में इन्द्रियाँ भी विषयों से निवृत्त होकर चित्त के साथ स्वरूपानुकारी हो जाती हैं।

योग के आठ अङ्गों में यम नियम, आसन प्राणायाम और प्रत्याहार बहिरङ्ग साधन हैं तथा धारणा ध्यान और समाधि अन्तरङ्ग साधन हैं। साक्षात् साधन होने से अन्तरङ्ग और परम्परया साधन होने से बहिरङ्ग कहे जाते हैं। इन सबका बीज यम और नियम ही है।

योग-रूप वृक्ष को तैयार करने के लिए चित्त-रूप क्षेत्र में यम-नियम-रूप बीज का वपन करना चाहिए, क्योंकि उसी बीज से आसन, प्राणायाम आदि अङ्कुर का उद्गम

होता है। फिर, श्रद्धापूर्वक अभ्यास-रूप जल से सेचन करने पर यही अङ्कुर एक दिन प्रत्याहार-रूप कुसुम और ध्यान-धारणा-रूप फल से परिपूर्ण होकर विशाल योग-वृक्ष के रूप में तैयार हो जाता है।

धारणा, ध्यान और समाधि—ये जो तीन अन्तरङ्ग साधन हैं और उनके अवान्तर फल जो अनेक प्रकार की सिद्धियाँ हैं उनका विवेचन तृतीय पाद में सूत्रकार ने किया है।

धारणा और ध्यान में अन्तर—विषयाकार चित्तवृत्ति को प्रत्याहार द्वारा खींचकर मूलाधार या हृत्पुण्डरीक में निहित करना धारणा है। 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।' इस सूत्र का यही तात्पर्य है। जब धारणा अभ्यास से अगाढ़ हो जाता है, तब उसे ध्यान कहते हैं। जब यही ध्यान अभ्यास से ध्येय-मात्राकार हो जाता है तब प्रत्याहार कहलाने लगता है। धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीनों की एक सञ्ज्ञा संयम है। 'त्रयमेकत्र संयमः।' इन तीनों का मुख्य फल योग है और अवान्तर फल सिद्धियाँ।

जन्मान्तर का ज्ञान भूत-भविष्यत् अर्थ का ज्ञान, अन्तर्धान इत्यादि अनेक प्रकार की सिद्धियों का वर्णन सूत्रकार ने तृतीय पाद में किया है।

चतुर्थ पाद में सूत्रकार ने 'जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः' इस सूत्र से पाँच प्रकार की सिद्धियों का वर्णन किया है। देवताओं की सिद्धि जन्म से हो होती है। पक्षियों का आकाश में उड़ना, पशुओं का जल में तैरना जन्म से ही प्रसिद्ध है। औषधियों से भी सिद्धि प्राप्त होती है। यह आयुर्वेद, रसधर-दर्शन आदि में वर्णित है। मन्त्र और तपोबल से भी सिद्धियों की प्राप्ति का वर्णन तन्त्रादि शास्त्रों में पाया जाता है। समाधि से सिद्धि इसी शास्त्र का गौण विषय है। यम नियम आदि आठ अङ्गों की दृढ़ उपासना से जब योग-वृक्ष फलित होता है तब पूर्ण भावना से समाधि-रूप फल के परिपक्व होने पर प्रकृति और पुरुष के भेद का साक्षात्कार होता है। उस समय असङ्ग और निर्लेप पुरुष के स्वरूप में अवस्थान होने से, दुःख का आत्यन्तिक विनाश रूप मोक्ष की सिद्धि होती है।

पतञ्जलि छब्बीस तत्त्वों को मानते हैं—एक मूलप्रकृति सात प्रकृति-विकृति सोलह केवल विकृति और एक पुरुष। इन पचीस तत्त्वों को तो सांख्य ने भी माना है। पतञ्जलि इनके अतिरिक्त एक ईश्वर तत्त्व का भी मानते हैं। इसीलिए, यह सेश्वर या ईश्वरवादी सांख्य कहा जाता है। ईश्वर का लक्षण बताते हुए पतञ्जलि लिखते हैं—

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।'

अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष द्वेष और अभिनिवेश—ये पाँच क्लेश हैं। शुभ या अशुभ अथवा विहित और निषिद्ध—ये दो प्रकार के कर्म हैं। कर्म का जो फल है जाति आयु और भोग—उन्हें विपाक कहते हैं। चित्त में कर्मजन्य जो संस्कार है उसको आशय कहते हैं। इसी का नाम कर्मवासना भी है। इसी प्रकार क्लेश कर्म विपाक और आशय से जो मुक्त है वही पुरुषविशेष ईश्वर है। जीव और ईश्वर में भेद यही है कि जीव अविद्याग्रस्त चित्त में रहनेवाले क्लेश आदि से प्रभावित होता रहता है,

परन्तु ईश्वर इनसे मुक्त है। यद्यपि जीव भी नित्य असङ्ग और निर्लेप माना गया है, तथापि चित्तानुकारी होने से उसमें औपाधिक क्लेश का भान होता है और ईश्वर में औपाधिक क्लेश की सम्भावना नहीं रहती। यही ईश्वर में विशेषता है।

ईश्वर अपनी इच्छामात्र से अनेक शरीर धारण करता है। इसी इच्छा-शरीर को निर्माण-काय कहते हैं। निर्माण काय में स्थित होकर ही परमात्मा संसार-रूप अग्नि से सन्तप्त मनुष्यों के ऊपर अनुग्रह करके लौकिक और वैदिक सम्प्रदायों का प्रवर्तन करता रहता है जिनके आश्रयण से विवेकी पुरुष त्रिविध तापों से विमुक्ति पाते हैं। यहाँ शङ्का होती है कि पुरुष पद्म-पत्र की तरह निर्लेप और निर्गुण है उसमें किसी प्रकार दुःख की सम्भावना नहीं है फिर अनुग्रह किसके लिए?

इसका उत्तर यह है कि पुरुष यद्यपि निर्लेप है तथापि त्रिगुणात्मक बुद्धि के साथ तादात्म्य होने से उसमें भी बुद्धिगत सुख दुःख और अविवेक भासित होते हैं उस समय बुद्धिगत सुख दुःख को बुद्धितादात्म्यापन्न पुरुष अपना ही समझने लगता है। इसी दुःख के नाश के लिए ईश्वरानुग्रह की आवश्यकता होती है।

यहाँ पुरुष के स्वरूप-ज्ञान के लिए पञ्चशिखाचार्य की उक्ति का उद्धरण दिया जाता है—"अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिः अप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति। तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपायाः बुद्धिवृत्तेरनुकारिमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते।" इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि पुरुष अपरिणामी भोक्तृशक्तिवाला है विषय से असम्बद्ध होने के कारण निर्लेप है तथापि सतत परिणामशील बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता हुआ तदाकार भासित होने लगता है। उस समय बुद्धि वृत्ति का अनुसरण करनेवाली हो जाती है। चैतन्य प्रतिबिम्ब को प्राप्त करनेवाली बुद्धि वृत्ति के अनुसरण से उससे अभिन्न भासित होती है और ज्ञानवृत्ति कहलाने लगती है। अर्थात्, आत्मा यद्यपि विकार के हेतुभूत संयोग से रहित होने के कारण निर्लेप है तथापि बुद्धि में प्रतिबिम्बित होने से बुद्धि-गुणों से तादात्म्य भासित होता है। अर्थात्, जिस प्रकार जलतरङ्ग की चञ्चलता से तद्गत सूर्य-प्रतिबिम्ब के चञ्चल होने पर भी वास्तविक सूर्य में चञ्चलता नहीं आती कुछ भी विकार नहीं होता उसी प्रकार बुद्धि के सुख दुःखादि आकार में परिणत होने पर उसमें प्रतिबिम्बित चेतन आत्मा भी सुख-दुःखादि से युक्त भासित होता है परन्तु वस्तुतः उसमें कुछ भी विकार नहीं होता—वह सदा निर्लेप और असङ्ग ही रहता है।

विषय के आकार में जो बुद्धि का परिणाम है वही ज्ञान है। यद्यपि ज्ञान बुद्धि का ही गुण है तथापि बुद्धि से संयुक्त आत्मा में भी वह भासित होता है इसीलिए 'आत्मा ज्ञानी है' इस प्रकार का व्यवहार लोक में होता है। बुद्धि-तत्त्व भी आत्मा के सम्बन्ध से चेतन कहा जाता है। इस प्रकार, निर्लेप आत्मा भी बुद्धिगत विषयाकार के ग्रहण-रूप प्रतीति का अनुसरण करता हुआ बुद्धि से अत्यन्त भिन्न होने पर भी बुद्धि स्वरूप ही भासित होता है। इस अवस्था में बुद्धिगत सुख-दुःखादि को अपना ही समझता है और अनुभव होता है। इसलिए, बुद्धिगत दुःखादि की निवृत्ति के लिए यम नियमादि का अनुष्ठान और ईश्वर प्रणिधान की अवश्यकर्तव्यता प्रतीत होती है।

अष्टाङ्ग योग के श्रद्धापूर्वक नित्य निरन्तर दीर्घकाल-पर्यन्त अनुष्ठान करने से बुद्धि तत्त्व और पुरुष (आत्मा) में भेद का प्रत्यक्ष होने लगता है। इसी भेद-ज्ञान का नाम अन्यथाख्याति है। इस अन्यथाख्याति से अविद्या आदि क्लेश का समूल नाश हो जाता है। इस अवस्था में निर्लेप पुरुष को कैवल्य अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार योगशास्त्र के सामान्य विषयों का संक्षेप में दिग्दर्शन कराकर कुछ खास सूत्रों के ऊपर पूर्वाचार्यकृत शङ्का-समाधान प्रस्तुत किये जाते हैं।

विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध और अधिकारी—इन चारों को अनुबन्ध कहते हैं। इस अनुबन्धचतुष्टय के ज्ञान होने के अनन्तर ही शास्त्रावलोकन में प्रवृत्ति होती है। इनमें एक के अभाव में भी ग्रन्थ अध्ययन की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। ग्रन्थ का विषय क्या है उसका क्या प्रयोजन है ग्रन्थ और प्रयोजन में क्या सम्बन्ध है और इस ग्रन्थ के पढ़ने का अधिकारी कौन है ? इत्यादि विषयों का ज्ञान अत्यावश्यक है। इसीके विश्लेषण के लिए योग-शास्त्र का पहला सूत्र है—

'अथ योगानुशासनम्।

इस सूत्र से आचार्य ने योग शास्त्रारम्भ की प्रतिज्ञा की है। योग और योग के अङ्ग जो अभ्यास, वैराग्य यम नियमादि हैं उनके लक्षण भेद, साधन और फल का प्रतिपादन करनेवाला जो शास्त्र है उसका मैं आरम्भ करता हूँ, यह सूत्र का अर्थ है। यहाँ अथ शब्द का प्रारम्भ अर्थ ही आचार्यों ने माना है।

'अथ' शब्द का विवेचन

यहाँ आशङ्का यह होती है कि कोश में अथ शब्द के अनेक अर्थ आचार्यों ने लिखे हैं—'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ । अर्थात् मङ्गल अनन्तर, आरम्भ, प्रश्न और कार्त्स्न्य अर्थ में 'अथो' और 'अथ' शब्द का प्रयोग होता है। तो, क्या कारण है कि प्रकृत में अथ का प्रारम्भ अर्थ ही लिया जाता है ? इसका उत्तर यह होता है कि शब्द का वही अर्थ गृहीत होता है जिसका अन्वय वाक्यार्थ में होता हो। प्रकृत में अथ शब्द के मङ्गल अर्थ का वाक्यार्थ में अन्वय नहीं होता। कारण अनिन्दित अर्थ की प्राप्ति ही मङ्गल शब्द का अर्थ है। और, सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति का ही नाम अभीष्ट है। योगानुशासन न सुख है और न दुःख का परिहार ही, इस स्थिति में 'योगानुशासन मङ्गल है' ऐसा सूत्र का अर्थ करना सर्वथा असङ्गत हो जाता है। वस्तुतः, बात यह है कि अथ शब्द का वाच्य अर्थ मङ्गल होता ही नहीं अपदार्थ होने से वाक्यार्थ में अन्वय नहीं होता; क्योंकि मङ्गल तो अथ शब्द के उच्चारण और श्रवण का कार्य है न कि उसका वाच्य अर्थ। जिस प्रकार, यात्रादि कार्य के लिए गीयमान शङ्ख पटह को देखने से ही यात्रिक का मङ्गल होता है, उसी प्रकार प्रारम्भ अर्थ में प्रयुज्यमान अथ शब्द के श्रवण से ही मङ्गल सम्भावित है, उसका वाच्य अर्थ होने से नहीं। अथ शब्द का लक्ष्य अर्थ भी मङ्गल नहीं है। कारण वाच्य अर्थ से सम्बद्ध ही लक्ष्य अर्थ होता है प्रकृत में किसी प्रकार भी अथ के वाच्य अर्थ से मङ्गल का सम्बन्ध नहीं है इसलिए पदार्थ न होने से वाक्यार्थ में उसका

अन्वय होना दुर्घट है। 'पदार्थः पदार्थेन नान्वेति' यह सर्वतन्त्र-सिद्धान्त है। दूसरी बात यह है कि वाक्यार्थ में मङ्गल के अन्वय होने की योग्यता भी नहीं है। क्योंकि अथ शब्द के श्रवणमात्र से मङ्गल अर्थ आर्थतः सिद्ध हो जाता है वह वस्तुतः पद का अर्थ नहीं है। और किसी पद का जो अर्थ होता है उसीकी वाक्यार्थ में अन्वययोग्यता रहती है। जैसे 'पीनोऽयं देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते' यहाँ दिन में भोजन के निषेध में और स्थूलत्व की अनुपपत्ति से जो रात्रि-भोजन का अनुमान या आक्षेप किया जाता है उस (रात्रि-भोजन अर्थ) का कहीं भी वाक्यार्थ में अन्वय नहीं होता; क्योंकि वह पदार्थ नहीं है। इसीलिए, वाक्यार्थ में अन्वय होने की उसमें योग्यता भी नहीं है। इसी प्रकार मङ्गल अर्थ भी रात्रि-भोजन की तरह आर्थतः सिद्ध होने से वाक्यार्थ में अन्वय के योग्य नहीं है। यदि आर्थिक (आर्थतः सिद्ध) अर्थ का भी वाक्यार्थ में अन्वय मान लें तब तो 'शाब्दी ह्याकांक्षा शब्देनैव प्रपूर्यते, यह सिद्धान्त भङ्ग हो जायगा। इसलिए, यहाँ अथ शब्द का मङ्गल अर्थ मानना उचित नहीं।

यहाँ दो शङ्काएँ और भी उपस्थित होती हैं—एक यह कि मङ्गल अर्थ अथ शब्द का वाच्य नहीं है यह स्मृति से विरुद्ध हो जाता है। स्मृति कहती है—'ओङ्कारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ।' अर्थात् ओम् और अथ—ये दोनों शब्द सृष्टि के आदि में ही ब्रह्मा के कण्ठ से उत्पन्न हुए, इसलिए माङ्गलिक अर्थात् मङ्गल के वाचक हैं। यदि यहाँ स्मृति से मङ्गल का वाचक अथ शब्द सिद्ध होता है, तो क्या कारण है कि प्रकृत में इस अर्थ को न माना जाय ?

दूसरी बात यह है कि—आरिप्सित ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए ग्रन्थ के आदि मध्य तथा अन्त में मङ्गल करना हमारे शिष्टाचार से सिद्ध है। पतञ्जलि ने कहा है—'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाणि च भवन्त्यायुष्मत्पुरुषाणि च अध्येतारश्च मङ्गलयुक्ता यथा स्युरिति मङ्गलमाचरणीयम्' अर्थात् जिस शास्त्र के आदिमध्यान्त में मङ्गल रहता है वह विख्यात होता है उसके अभ्यासवाले और पढ़नेवाले भी मङ्गलयुक्त होते हैं। इसलिए, मङ्गल का आचरण करना चाहिए।

इस स्थिति में जब अथ शब्द का वाच्य मङ्गल अर्थ सिद्ध हो जाता है और पतञ्जलि की आज्ञा से भी मङ्गल करना सिद्ध होता है तब फिर क्या कारण है कि प्रकृत में मङ्गल अथ शब्द का अर्थ न हो ? पतञ्जलि एक ओर मङ्गल की अवश्यकर्तव्यता बताते हैं और उन्हीं के रचित प्रकृत ग्रन्थ में मङ्गल अर्थ न माना जाय—यह किस प्रकार उचित हो सकता है ?

इसका उत्तर यह है कि जल-कार्य के लिए कोई व्यक्ति घड़ा में पानी भर कर ला रहा है। उसको यात्रा पर देखकर यात्रिक का मङ्गल भी होता है। इस प्रकार आरम्भ अर्थ के लिए प्रयुक्त अथ शब्द के श्रवणमात्र से मङ्गल होना आर्थतः सिद्ध है। वह अथ का वाच्य अर्थ नहीं है। 'तस्मान्माङ्गलिकावुभौ' यहाँ 'माङ्गलिकौ' का अर्थ 'मङ्गलवाचकौ' नहीं है; किन्तु—'माङ्गलिकौ' में 'मङ्गलं प्रयोजनमस्य इस

व्युत्पत्ति में 'प्रयोजनम्' इस सूत्र से प्रयोजन अर्थ में ठञ् प्रत्यय करने से 'मङ्गल प्रयोजनवाला' ऐसा अर्थ होता है।

इसी प्रकार यहाँ आनन्तर्य्य अर्थ भी अथ शब्द का नहीं होता क्योंकि— आनन्तर्य्य अर्थ मानने में यह आकांक्षा होती है कि किसके अनन्तर? यदि कर्म के अनन्तर अर्थ मानें, तो यहाँ अथ शब्द का ग्रहण ही व्यर्थ हो जाता है। क्योंकि, किसी काम के करने के अनन्तर ही किसी काम में कोई प्रवृत्त होता है इस स्थिति में अनन्तर अर्थ के स्वतः सिद्ध हो जाने से सूत्र में अथ शब्द का ग्रहण व्यर्थ ही हो जाता है, इसलिए अनन्तर अर्थ भी युक्त नहीं हो सकता। यदि शम-दमादि साधन सम्पत्ति के अनन्तर अर्थ मानें तो वह भी ठीक नहीं होता कारण यह है कि सूत्रजन्य बोध में जो प्रधान अर्थ होता है उसी में सूत्रघटक अथ शब्दार्थ का अन्वय करना सर्वसिद्धान्त और समुचित है। 'अथ योगानुशासनम्' इस सूत्रजन्य बोध में अनुशासन ही प्रधान है योग नहीं। योग तो अनुशासन के विषयक होने से गौण हो जाता है इसलिए अप्रधान है। अतः, अप्रधान योग में अथ शब्दार्थ अनन्तर का अन्वय करना सिद्धान्त के विरुद्ध और अनुचित हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि अनुशासन का अर्थ शास्त्र होता है। शास्त्र बनाने में ही सूत्रकार का तात्पर्य है, योग बनाने में नहीं। योग तो स्वयंसिद्ध है। इस शास्त्र में प्रवृत्ति के लिए अनुबन्धचतुष्टय के अन्तर्गत विषय को अवश्य दिखाने के लिए ही योग शब्द का सूत्र में प्रयोग किया गया है, इससे यह अप्रधान है। और, इस योग की शिक्षा देनेवाला शास्त्र ही प्रधान है। इसलिए, उसी में अथ शब्दार्थ का अन्वय होना युक्त प्रतीत होता है।

दूसरे शब्दों में अनुशासन की अपेक्षा नियमेन जो पूर्ववृत्ति हो उसीकी अपेक्षा आनन्तर्य मान लेना शास्त्रकारों का समुचित सिद्धान्त है। यहाँ प्रकृत में अनुशासन के कर्त्ता सूत्रकार हैं। सूत्रकार के सूत्र बनाने में प्रवृत्ति की अपेक्षा नियमेन पूर्वभावी तत्त्व ज्ञान की प्रकाशनेच्छा ही है, न कि शम-दमादि साधन-सम्पत्ति। क्योंकि, इसके बिना भी तत्त्व प्रकाशन की इच्छा-मात्र से ग्रन्थ बनाने में विद्वानों की प्रवृत्ति देखी और सुनी जाती है। अस्तु;

यदि यहाँ यह कहें कि शम-दमादि साधन-सम्पत्ति के बाद ही ग्रन्थ बनाने में प्रवृत्ति होती है तो इसी के आनन्तर्य अर्थ अथ शब्द के मान लेने में क्या आपत्ति है? इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि शास्त्रकार जिसके बाद शास्त्र-रचना में प्रवृत्त हुए हैं उसका ज्ञान श्रोताओं के शास्त्र से जायमान योगविषयक ज्ञान में अथवा योगविषयक प्रवृत्ति में कारण नहीं है, इसलिए उसकी अपेक्षा भी अथ शब्द का आनन्तर्य अर्थ नहीं ले सकते। वस्तुतः, अनुशासन की अपेक्षा से तत्त्व-प्रकाशन की इच्छा नियमेन पूर्वभावी है भी नहीं, कारण यह है कि तत्त्व-ज्ञान के प्रकाशन की इच्छा के बिना भी शिष्य *प्रश्न के बाद या गुरु की आज्ञा से शास्त्र रचने में प्रवृत्त* देखा जाता है। एक बात और है कि अथ शब्द के आनन्तर्य अर्थ माननेवाले के सामने भी यह प्रश्न होता है कि योगानुशासन निःश्रेयस् का हेतु निश्चित है,

अथवा नहीं? यदि आप पक्ष मानें तो तत्त्व-ज्ञान प्रकाशनेच्छा के अभाव में भी अनुशासन की कर्तव्यतापत्ति हो जायगी।

यदि योगानुशासन को निःश्रेयस् का निमित्त हेतु न माना जाय, तो तत्त्व प्रकाशन की इच्छा रहने पर भी अनुशासन की अकर्तव्यता हो जायगी क्योंकि योगानुशासन की निःश्रेयस् के निमित्त हेतु न होने के कारण आवश्यकता ही न रहेगी। और, योगानुशासन निःश्रेयस् का हेतु है, यह बात श्रुति स्मृति से सिद्ध है। श्रुति कहती है—'अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' अर्थात् ज्ञानी पुरुष आत्मा में चित् के निदिध्यासन-स्वरूप अध्यात्म-योग के लाभ होने से आत्मसाक्षात्कार कर हर्ष और शोक को त्याग देते हैं। इसी बात को गीता स्मृति में भगवान् ने अर्जुन से कहा है—'समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि' अर्थात् जब तुम्हारी बुद्धि समाधि में स्थिर हो जायगी, तब तुम योग का फल—आत्मसाक्षात्कार—पाओगे। श्रुति स्मृति के इन प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है कि योग मोक्ष का साधन अवश्य है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि तत्त्व-ज्ञान के प्रकाशन की इच्छा नहीं रहने पर भी उपर्युक्त कारणों से अनुशासन करने में प्रवृत्ति अवश्य होती है। इसलिए, तत्त्व प्रकाशनेच्छा अनुशासन की अपेक्षा नियमेन पूर्वभावी नहीं है यह सिद्ध हो जाता है।

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्र के भाष्य में भगवान् शङ्कराचार्य ने 'अथ' शब्द का आनन्तर्य अर्थ ही माना है अधिकार नहीं। अतः, 'अथ योगानुशासनम्' में भी 'अथ' शब्द का अधिकार अर्थ क्यों नहीं माना जाता? इसका उत्तर यह है कि ब्रह्म-जिज्ञासा में 'अथ' का अधिकार अर्थ नहीं हो सकता। कारण जिज्ञासा का तात्पर्य है—ब्रह्म ज्ञान की इच्छा और अधिकार का आरम्भ। इस स्थिति में सूत्र का अर्थ होगा—ब्रह्म-ज्ञान की इच्छा का आरम्भ किया जाता है। परन्तु यह अर्थ यहाँ ठीक नहीं होता क्योंकि इच्छा का कहीं आरम्भ नहीं किया जाता। प्रत्येक अधिकरण में इच्छा का कहीं आरम्भ नहीं किन्तु विचार किया गया है। यदि यहाँ यह कहें कि 'स विजिज्ञासितव्यः (छा० ८।७।१), 'तद्विजिज्ञासस्व' (तै० ३।१।१) इत्यादि वाक्यों में प्रायः सब लोगों ने सन् प्रत्ययान्त ज्ञा धातु का विचार अर्थ माना है ज्ञान और इच्छा अर्थ नहीं क्योंकि ज्ञान और इच्छा विधेय नहीं हैं किन्तु विचार का ही विधान किया जाता है। इसलिए, यहाँ भी जिज्ञासा का विचार अर्थ मानकर, अथ शब्द का अधिकार अर्थ मानने में क्या आपत्ति है? क्योंकि विचार तो प्रत्यधिकरण में किया ही जाता है।

इसका उत्तर यह होता है कि यद्यपि ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं है, तथापि अधिकारीविशेष के लाभ के लिए ही भाष्यकार ने अथ शब्द का आनन्तर्य अर्थ माना है। कारण यह है कि ब्रह्म विचार आरम्भ किया जाता है ऐसा अर्थ मानने पर जो ब्रह्म-विचार का जिज्ञासु होगा वही अधिकारी समझा जायगा; शम-दमादि साधनचतुष्टय सम्पन्न नहीं। यदि आनन्तर्य अर्थ मानते हैं तो किसके अनन्तर? इस आकांक्षा में जिस साधन के अनुष्ठान से ब्रह्म-विचार में सहायता मिले उसीकी अपेक्षा अनन्तर मानना युक्त और समुचित है।

शम दमादि साधनचतुष्टय-सम्पत्ति के बाद ही ब्रह्म विचार हो सकता है। इसलिए, उक्त साधन चतुष्टय की प्राप्ति के अनन्तर यही अर्थ अथ शब्द का होता है। साधनचतुष्टय सम्पत्ति के अनन्तर ब्रह्म विचार करना चाहिए, यह 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' का अर्थ है। उक्त साधनचतुष्टय से सम्पन्न अधिकारी के ज्ञान के लिए ही अथ शब्द का आनन्तर्य अर्थ जिज्ञासा सूत्र में भाष्यकार ने माना है। 'तस्माच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा आत्मन्येव आत्मानं पश्य' (बृ आ ४।४।२), यह श्रुति भी इसी अर्थ को पुष्ट करती है। इन प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है कि योग मोक्ष का साधन अवश्य है।

उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट सिद्ध हो गया कि प्रकृत 'अथ योगानुशासनम्' इस सूत्र में 'अथ' शब्द का अधिकार ही अर्थ है आनन्तर्य आदि नहीं। अन्यार्थ नीयमान उदक घट के समान श्रवणमात्र से मङ्गल भी स्वभावतः सिद्ध हो जाता है।

पहले कहा जा चुका है कि विषय प्रयोजन आदि अनुबन्धचतुष्टय को दिखाने के लिए आचार्य पतञ्जलि ने 'अथ शब्दानुशासनम्' सूत्र लिखा है। अब प्रकृत ग्रन्थ में विषय, प्रयोजन विषय के साथ ग्रन्थ का सम्बन्ध इत्यादि बातों के ऊपर विचार किया जाता है।

प्रकृत शास्त्र का विषय अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग साधनों के साथ सफल योग ही है; क्योंकि जिसका प्रतिपादन किया जाता है, वही विषय है, और इसीका प्रतिपादन प्रकृत ग्रन्थ में है। शास्त्र से प्रतिपादित जो योग है उसका मुख्य प्रयोजन कैवल्य है। शास्त्र और योग के साथ प्रतिपाद्य प्रतिपादक सम्बन्ध है। योग प्रतिपाद्य और ग्रन्थ प्रतिपादक है। योग और कैवल्य के साथ साध्य-साधन सम्बन्ध है। कैवल्य साध्य और योग साधन है। जब पूर्वोक्त प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका कि योग का फल मोक्ष ही है तब यह भी स्वभावतः सिद्ध हो जाता है कि मोक्ष चाहनेवाला ही इस ग्रन्थ का अधिकारी है।

उपर्युक्त विचारों से यह सिद्ध होता है कि विषय प्रयोजनादि से युक्त होने के कारण ब्रह्म-विचार के सदृश योगानुशासन शास्त्र का भी आरम्भ करना चाहिए। यद्यपि यहाँ प्रस्तुत योग ही है शास्त्र नहीं इसलिए पतञ्जलि को योग का ही आरम्भ करना चाहिए था शास्त्र का नहीं, तथापि मुख्यतया प्रतिपाद्य जो योग है उसका प्रतिपादन योगविषयक शास्त्र से ही हो सकता है इसलिए उस योग के प्रतिपादन में करण शास्त्र ही हो सकता है और कर्ता का व्यापार करण में ही होता है कर्म में नहीं। जैसे वृक्ष के काटनेवाले का व्यापार कुठार आदि करण में ही होता है वृक्ष आदि कर्म में नहीं वैसे पतञ्जलि का प्रवचन-रूप जो व्यापार है वह करणभूत शास्त्र में ही होगा कर्मभूत योग में नहीं। निष्कर्ष यह है कि अथ शब्द का जो अधिकार अर्थ सिद्ध हुआ वह किसका अधिकार? इस प्रकार की आकांक्षा होती है। इसमें प्रवचन-व्यापार की अपेक्षा शास्त्र का अधिकार और अभिधान-व्यापार की अपेक्षा योग का अधिकार समझना चाहिए। दूसरे शब्दों में, शास्त्र के प्रवचन द्वारा योग का अभिधान ही शास्त्र का मुख्य प्रयोजन सिद्ध होता है।

योग-विवेचन

अब प्रकृत शास्त्र में अनुशासनीय योग का क्या लक्षण है इस आकांक्षा में महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।'

अर्थात्, चित्त की जो अनेक प्रकार की बहिर्मुखी वृत्तियाँ हैं, उनका निरोध ही योग शब्द का वाच्यार्थ है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि 'युजिर्योगे' इस संयोगार्थक युज् धातु से निष्पन्न जो योग शब्द है उसका निरोध अर्थ मानना उचित नहीं हो सकता। इसी अभिप्राय से महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी कहा है—जीवात्मा और परमात्मा का जो संयोग है उसी को योग कहा जाता है—'संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः।' इस स्थिति में प्रकृत योग शब्द का निरोध अर्थ किस प्रकार होगा? इसका उत्तर यह है कि प्रकृत योग शब्द का संयोग अर्थ नहीं हो सकता क्योंकि जीवात्मा और परमात्मा के संयोग में कोई भी कारण नहीं है। संयोग के तीन कारण हैं अन्यतरकर्म, उभयकर्म और संयोग। इन्हीं तीन प्रकार के कारणों से उत्पन्न संयोग भी तीन प्रकार का होता है—अन्यतरकर्मज, उभयकर्मज और संयोगज। जहाँ दो में एक का कर्म से संयोग होता है उसे अन्यतरकर्मज कहते हैं। जैसे—वृक्ष और पक्षी का संयोग। यहाँ केवल एक पक्षी का ही कर्म से संयोग होता है। दो पहलवानों का जो संयोग है वह उभयकर्मज है क्योंकि वहाँ दोनों के कर्म से संयोग होता है। संयोग से जो संयोग उत्पन्न होता है उसे संयोगज कहते हैं जैसे—हस्त और पुस्तक के संयोग से शरीर और पुस्तक का जो संयोग है वह संयोगज है। प्रकृत में जीवात्मा और परमात्मा ये दोनों व्यापक हैं। व्यापक में चलनादि क्रिया नहीं रहती और बिना क्रिया के संयोग नहीं होता। इसलिए, इन दोनों का कोई संयोग हो ही नहीं सकता। यदि यह कहें कि जीवात्मा और परमात्मा का नित्य संयोग ही मान लें इसमें कारणान्तर की अपेक्षा नहीं है तो इसपर यही कहा जाता है कि व्यापक द्रव्यों के साथ संयोग किसी प्रकार का होता ही नहीं। नैयायिक और वैशेषिक भी दो व्यापक पदार्थों के संयोग का खण्डन करते हैं। वे संयोग को नित्य मानते ही नहीं। घट का पट या आकाश के साथ जो संयोग है उसको नित्य मानना तब शास्त्र और युक्ति के विरुद्ध है। यदि संयोगी नित्य भी हो परन्तु परिच्छिन्न हो तो भी उसका संयोग अनित्य देखा जाता है। जैसे—दो परमाणुओं का जो संयोग है वह अनित्य ही है। यदि दोनों संयोगी में एक विभु भी है तो संयोग अनित्य ही होता है। क्योंकि तत्तत् प्रदेश में नवीन-नवीन संयोग उत्पन्न होने से वह काय अर्थात् अनित्य हो रहता है। जैसे—आत्मा और मन का संयोग। वह तत्तत् आत्म प्रदेश में नवीन-नवीन उत्पन्न होता रहता है। यदि दोनों संयोगी को नित्य और व्यापक मानें तो उन दोनों विभु पदार्थों का संयोग भी नित्य हो सकता है परन्तु वह संयोग भी सदातन नित्य ही होगा इस स्थिति में यह विचार करना होगा कि प्रकृत अर्थ जो जीवात्मा और परमात्मा है वह सदातन नित्य है; इसलिए, इनका संयोग भी सदातन नित्य ही होगा। इस स्थिति में जीवात्मा और परमात्मा के संयोग के उद्देश्य से जो योग-शास्त्र का अनुशासन किया जाता है वह व्यर्थ हो हो जायगा;

क्योंकि संयोग तो दोनों का नित्य सिद्ध है और संयोग का फल जो मोक्ष है, वह भी उत्पत्तिमान होने से सिद्ध ही है।

यदि यह कहें कि संयोग के नित्य होने पर भी फल के उत्पादन में शास्त्रादि सहकारी कारण की अपेक्षा रखते ही हैं, इसलिए शास्त्रादि व्यर्थ नहीं हो सकते। इसका उत्तर यह है कि यदि सहकारी को अवश्य मानना है, तो सहकारी से ही फल उत्पन्न हो जायगा फिर नित्य संयोग की कल्पना ही व्यर्थ है। इसी कारण, संयोग को प्रायः सब लोगों ने अनित्य माना है। काल और आकाश का संयोग नहीं माना जाता; क्योंकि युत (सिद्ध) के साथ जो सम्बन्ध है, वही संयोग कहा जाता है। इसको नैयायिक और वैशेषिक तो अपना परम सिद्धान्त मानते हैं। इससे प्रकृत में यह सिद्ध हुआ कि योग शब्द का संयोग अर्थ नहीं हो सकता, किन्तु पूर्वोक्त चित्त-वृत्ति का निरोध ही योग शब्द का वास्तविक अर्थ है, अथवा धातु के अनेकार्थ होने के कारण 'युजिर्' धातु का भी समाधि अर्थ होने में कोई आपत्ति नहीं है। धातुओं का अनेकार्थ होना प्रायः सब ने स्वीकार किया है। इसी अभिप्राय से आचार्यों ने लिखा है—

'निपाताश्चोपसर्गाश्च धातवश्चेति ते त्रयः।
अनेकार्थाः स्मृताः सर्वे पाठस्तेषां निदर्शनम्॥

अर्थात्—निपात उपसर्ग और धातु—ये तीनों अनेकार्थ होते हैं, इनका पाठ उदाहरणमात्र है। इसलिए, वैयाकरणों ने युज् धातु का समाधि अर्थ भी माना है—'युज् समाधौ'। याज्ञवल्क्य का जो पूर्वोक्त 'संयोगो योग इत्युक्तः' वाक्य है, उसके साथ भी कोई विरोध नहीं होता क्योंकि वहाँ भी योग शब्द का समाधि अर्थ मानना समुचित प्रतीत होता है। इसीलिए, याज्ञवल्क्य ने स्वयं कहा है—

'समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः।
ब्रह्मण्येव स्थितिर्या सा समाधिरभिधीयते॥

अर्थात्—जीवात्मा और परमात्मा की जो साम्यावस्था है उसीको समाधि कहते हैं। जीवात्मा की ब्रह्म में जो स्थिति है, वही समाधि है। बुद्धि आदि उपाधि के सम्बन्ध से जीव में जो कल्पित धर्म प्रतीत होते हैं उनका परित्याग के साथ स्वाभाविक प्रत्यक्ष रूप से परमात्मा के समान जो स्थिति है उसीको साम्यावस्था कहते हैं। अपने स्वरूप से स्थिति का ही नाम समाधि है, और यही मोक्ष है। इसी अवस्थाविशेष की प्राप्ति के लिए भगवान् पतञ्जलि ने योग-शास्त्र का उपदेश किया है।

योग और समाधि

अब यहाँ शङ्का उठती है कि पूर्व सूत्र में चित्त-वृत्ति के निरोध को योग बताया गया है और इस समय समाधि को योग बताते हैं। यदि समाधि को चित्त-वृत्ति-निरोध से भिन्न माना जाय तो स्पष्ट ही पूर्वापरविरोध हो जाता है।

यदि चित्त-वृत्ति-निरोध का ही समाधि मानें तो 'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि' इस पतञ्जलि-सूत्र से विरोध हो जाता है। कारण इस सूत्र में समाधि को योग का अङ्ग कहा गया है। समाधि योग का अङ्ग होने से,

योग की उपकारक होगी, और योग उपकार्य। उपकार्य और उपकारक—इन दोनों का आश्रय भिन्न होता है। इसलिए, यहाँ समाधि को योग क्यों कहा?

इसका समाधान यह है कि यद्यपि योग का अङ्ग होने से समाधि योग से वस्तुतः भिन्न है तथापि अङ्ग और अङ्गी में अभेद का आरोप कर योग और समाधि को भाष्यकार ने एक माना है। वस्तुतः समाधि आठ योगाङ्गों में अन्तिम अवयव है। पतञ्जलि ने इसका निरूपण 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' इस सूत्र से किया है। सूत्रगत तत् पद से, 'प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' इस सूत्र से उक्त ध्यान का ही ग्रहण किया है। मात्र पद का अर्थ स्वयं सूत्रकार ने ही 'स्वरूपशून्यमिव' शब्द से स्पष्ट कर दिया है। भावार्थ यह है कि जब ध्यान ही ध्येय के आवेश में हो जाता है, उस समय ध्यातृ-ध्यानभाव अत्यन्त शून्य हो जाता है और वह केवल ध्येयमात्र का ही भासी होता है। उस समय ध्यान वर्तमान रहता हुआ भी ध्यातृ-ध्यान-ध्येय विभाग के ग्रहण न करने से स्वरूप-शून्य के सदृश हो जाता है। इसी का नाम समाधि है। यही सूत्र-कथित अन्तिम योगाङ्ग है।

वस्तुतः, विचार करने पर 'योगः समाधिः' इसमें कोई विरोध प्रतीत नहीं होता क्योंकि समाधि शब्द का अनेक अर्थ भाष्यकारों ने माना है। 'समाधानं समाधिः' इस भावसाधन व्युत्पत्ति से अङ्गीभूत योग-रूप समाधि का ग्रहण होता है। और 'समाधीयते अनेन' इस करण-साधन-व्युत्पत्ति से योगाङ्ग-रूप समाधि का ग्रहण है। इन दोनों अर्थों में समाधि शब्द का प्रयोग सूत्रकार ने स्वयं किया है। करण साधन-समाधि शब्द का प्रयोग 'यमनियमासन' इत्यादि सूत्रों में किया है। और 'ता एव सबीजः समाधिः' (यो. सू. १।४६) 'तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः' इन दोनों सूत्रों में अङ्गीभूत योग अर्थ में ही समाधि शब्द का प्रयोग किया गया है। व्यास-भाष्य में भी दोनों अर्थों में समाधि शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया गया है। इसलिए, 'योगः समाधिः' यह भाष्य भी सङ्गत हो जाता है। समाधि शब्द के भाव-साधन और करण-साधन-व्युत्पत्ति से, दोनों अर्थ मानने से स्कन्दपुराण का वचन भी सङ्गत होता है। जैसे—

'यत्समत्वं द्वयोरत्र जीवात्मपरमात्मनोः ।
सन्नष्टसर्वसंकल्पः समाधिरभिधीयते ॥
परमात्मात्मनोर्योऽयमविभागः परन्तप ।
स एव तु परो योगः समासात्कथितस्तव ॥'

इसका भावार्थ यह है कि जिस अवस्था में चित्त के विकारभूत समस्त संकल्प के नष्ट हो जाने से जीवात्मा और परमात्मा में समता आ जाती है उसे समाधि कहते हैं। यहाँ करण-साधन अङ्गवाचक समाधि शब्द का प्रयोग है। द्वितीय श्लोक में योग शब्द के वाच्य अर्थ में समाधि शब्द का प्रयोग है। परमात्मा और जीवात्मा का जो अविभाग, अर्थात् एकता है वही योग है। इससे दोनों अर्थों में समाधि शब्द का प्रयोग सिद्ध होता है।

आत्मा की अपरिणामिता

अब यहाँ यह आशङ्का होती है कि यदि चित्त-वृत्ति के निरोध को योग शब्द का अर्थ मानते हैं, तो आत्मा का कूटस्थ होना, जो शास्त्रों से सिद्ध है व्याहत हो जाता है क्योंकि प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति—ये पाँच प्रकार की वृत्तियाँ बताई गई हैं। उनमें अज्ञात अर्थ का निश्चय करानेवाली जो वृत्ति है वह प्रमाण है। मिथ्या ज्ञान का नाम विपर्यय है। वास्तव-रहित केवल कल्पनामय आहार्य ज्ञान-रूप जो प्रतीति है वही विकल्प है। निद्रा और स्मृति प्रसिद्ध हैं। इन्हीं वृत्तियों का निरोध योग कहा गया है। निरोध शब्द का अर्थ नाश ही होता है। और यह भी निश्चित है कि जो वृत्ति का आश्रय है, वही नाश का भी आश्रय होता है। और, वृत्ति के ज्ञान-स्वरूप होने म उसका तथा वृत्ति के निरोधरूप विनाश का भी आश्रय आत्मा ही होगा। इस प्रकार, आत्मा में जायमान जो वृत्ति-निरोधरूप विनाश है वह अपने आश्रयभूत आत्मा में भी किसी प्रकार विकार को उत्पन्न अवश्य ही करेगा; क्योंकि धर्म में विकार होने से धर्मी म भी अवश्य विकार होता है, यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। इसी तात्पर्य से आचार्यों ने लिखा है—'उपजायमान् धर्मो विकरोति हि धर्मिणम्' (स्या॰ रत्ना ति वि)। अर्थात्, धर्म का विकार धर्मी में भी अवश्य विकार पैदा करता है।

इस स्थिति में वृत्ति के निरोध-रूप विनाश-काल में आत्मा में भी विनाशत्व होने के कारण सर्वसिद्धान्त-सिद्ध आत्मा का कूटस्थ होना भङ्ग हो जायगा। कूटस्थ शब्द का सीधा-सादा अर्थ है — कूटेन मूलस्वरूपेण सदा तिष्ठति इति कूटस्थः अर्थात् सदा मूलस्वरूप से जो निर्विकार रहता है, वही कूटस्थ कहा जाता है। इसका समाधान यह है कि यह आशङ्का तभी हो सकती है जब प्रमाण आदि वृत्तियाँ आत्मा के धर्म हों परन्तु वास्तव में यह नहीं है; क्योंकि प्रमाणादि वृत्तियाँ चित्त के ही धर्म हैं, जिन्हें अन्तःकरण और बुद्धि का पर्याय कहते हैं। ज्ञान तो अन्तःकरण का ही परिणामविशेष है। बुद्धि-वृत्ति में विषयाकार का जो समर्पण है, वही विषय-ज्ञान है। और विषयों के आकार स उपरक्त जो बुद्धि-वृत्ति है, वही चिच्छक्ति अर्थात् आत्मा में प्रतिबिम्बित होती है। आत्मा में जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह प्रतिबिम्बन सामर्थ्य वृत्ति-विशिष्ट चित्त का ही है। जिस प्रकार, जल या दर्पणादि में प्रतिबिम्बन स्वभावतः स्वच्छ द्रव्य का ही सामर्थ्य होता है। उस समय बुद्धि-वृत्ति और चित्-शक्ति (आत्मा) में भेद की प्रतीति नहीं होने के कारण बुद्धि-वृत्ति से अभिन्न आत्मा अर्थ का अनुभव करता है ऐसा लोक म व्यवहार होता है।

इससे प्रकृत म यह सिद्ध होता है कि ज्ञान वस्तुतः आत्मा का धर्म नहीं है, किन्तु बुद्धि का ही धर्म है। इस स्थिति म ज्ञानविशेष रूप जो प्रमाणादि वृत्तियाँ हैं, वे भी बुद्धि के ही परिणामविशेष धर्म हैं आत्मा के नहीं। इसलिए, आत्मा के कूटस्थत्व का व्याघात नहीं होता।

यहाँ पुनः आशङ्का होती है कि नैयायिक ज्ञान को आत्मा का ही गुण मानते हैं। इस अवस्था में, कूटस्थत्व-भंग की बात पूर्ववत् बनी ही रहती है।

इसके उत्तर में मीमांसकों का कहना है कि यदि आत्मा को अपरिणामी—निर्विकार—कूटस्थ मानना है तो किसी प्रकार भी ज्ञान आत्मा का गुण नहीं हो सकता; क्योंकि विषयों का जो आकार है उस आकार के सदृश आकार से परिणाम का नाम ही ज्ञान है और इस प्रकार का आत्मा का परिणाम नैयायिक भी नहीं मानते, चूँकि आत्मा को परिणामी मानने से आत्मा अनित्य हो जाता है, जो आस्तिक दर्शनों का सम्मत नहीं है।

यदि कोई कहे कि आत्मा का अपरिणामी होना किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है, तो इसका उत्तर यह होता है कि आत्मा का विषय वृत्तिविशिष्ट बुद्धि ही है जिसको चित्त भी कहते हैं। और चित्त का विषय घटादि सकल पदार्थ होते हैं। घटादि पदार्थ आत्मा के साक्षात् विषय नहीं होते क्योंकि विषयों के प्रत्यक्ष होने में इन्द्रिय-संयोग और प्रकाशादि भी कारण होते हैं। इन्द्रिय-संयोग और प्रकाश के न रहने पर विद्यमान भी घटपटादि पदार्थ अज्ञात ही रहते हैं। परन्तु चित्तवृत्ति में यह बात नहीं है चित्तवृत्ति विद्यमान रहती हुई कदापि अज्ञात नहीं रह सकती। दूसरे शब्दों में, अज्ञात सत्ता का वृत्ति में सदा अभाव ही रहता है। यदि अज्ञात चित्तवृत्ति की भी सत्ता मानी जाय, तो विद्यमान चित्तवृत्ति का भी कदाचित् ज्ञान न होने से 'मैं सुखी हूँ अथवा नहीं' 'मैं दुःखी हूँ अथवा नहीं' 'मैं इच्छा करता हूँ या नहीं' इत्यादि अनेक प्रकार के संशय होने लगेंगे जो स्वभावतः किसी को नहीं होते। इससे सिद्ध होता है कि चित्तवृत्ति का ज्ञान सदैव बना रहता है। इसीलिए, पूर्वोक्त संशय नहीं होते; क्योंकि अज्ञात में ही संशय होता है, यह सर्वशास्त्र-सिद्ध और लोकानुभूत है।

अब यहाँ यह विचारना है कि जब चित्तवृत्ति सदा ज्ञात है, यह मान लिया, तब तो उसके सदा ज्ञातत्व की उपपत्ति के लिए वृत्ति के सान्निध्य-काल में आत्मा को अपरिणामी मानना आवश्यक हो जाता है। क्योंकि चित्त के सदृश आत्मा को भी यदि परिणामी मान लें तो उस अवस्था में चित्तवृत्ति का सदा ज्ञातत्व सिद्ध नहीं होता। कारण यह है कि परिणामी होने से आत्मा कादाचित्क हो जायगा सनातन नहीं रहेगा। अर्थात्, इस अवस्था में वह कभी रहेगा और कभी नहीं भी।

यहाँ ज्ञातता का तात्पर्य है ज्ञानविषयता। जिसका ज्ञान होता है वही ज्ञान का विषय या ज्ञात कहा जाता है। विषय में रहनेवाला धर्मविशेष का नाम विषयता या ज्ञातता है। जहाँ घट का ज्ञान होता है वहाँ घट ही ज्ञान का विषय और वही ज्ञात कहा जाता है। जिस समय घट का ज्ञान होता है उसी समय घट में ज्ञातता आती है। अज्ञात घट में ज्ञातता नहीं रहती। ज्ञातता का तात्पर्य है—अपने आकार के सदृश आकार का बुद्धिवृत्ति में समर्पण। तात्पर्य यह हुआ कि जिस समय विषय अपने आकार के सदृश आकार का बुद्धिवृत्ति में समर्पण करता है उस समय उसमें ज्ञातता आती है। यही विषय की ज्ञातता है और बुद्धिवृत्ति की ज्ञातता आत्मा में बुद्धिवृत्ति का प्रतिबिम्बन-मात्र है। इसका तात्पर्य यह है कि विषयों का ज्ञान अपने आकार के सदृश आकार का बुद्धिवृत्ति में समर्पण के बिना नहीं हो सकता और बुद्धिवृत्ति में ऐसी बात नहीं है। केवल बुद्धिवृत्ति की सत्ता से ही उसका ज्ञान सदा वर्तमान रहता है। अज्ञात

बुद्धिवृत्ति की सत्ता ही नहीं होती है। कारण यह है कि चित्शक्ति-रूप जो आत्मा है वह साक्षी अर्थात् अधिष्ठाता के रूप में सदा वर्त्तमान रहता है, और उस आत्मा का अपना अन्तरङ्ग जो स्वाभाविक निर्मल सत्त्व, अर्थात् प्रतिबिम्ब के ग्रहण करने की शक्ति है, वह भी सदा वर्त्तमान ही रहता है। इसलिए, बुद्धिवृत्ति के सत्ताकाल में उसका चित्शक्ति में सदा प्रतिबिम्बित होना भी स्वाभाविक ही हो जाता है। इस अवस्था में, बुद्धिवृत्ति का सदा ज्ञातत्व और चित्शक्ति का सदा ज्ञातृत्व स्वयं सिद्ध हो जाता है। चित्शक्ति के सदा ज्ञातृत्व होने के कारण ही उसका अपरिणामी होना भी सिद्ध हो जाता है; क्योंकि परिणामी का सदा ज्ञाता होना असम्भव है।

यहाँ एक शङ्का और होती है कि पुरुष यदि ज्ञाता है, तो विषय के साथ उसका सम्बन्ध होना अनिवार्य हो जाता है। इस स्थिति में आत्मा असङ्ग कैसे रह सकता है? इसका उत्तर यही होता है कि आत्मा का अन्तरङ्ग जो निर्मल स्वाभाविक सत्त्व अर्थात् प्रतिबिम्ब-ग्राहकत्व शक्ति है, वह भी सदा वर्त्तमान रहता है। इस कारण उस निर्मल तत्त्व में जिस विषय का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी विषय का भान होता है। इसलिए, छायामात्र से विषय के भान होने पर भी आत्मा निःसंग ही रहता है। जिस प्रकार, दर्पण में बिम्ब की छाया पड़ने पर भी दर्पण निर्मल और असंग ही रहता है, उसमें बिम्ब का विकार कुछ भी नहीं आता, उसी प्रकार आत्मा भी निर्लेप और असंग ही रहता है।

जिस प्रकार, चित्तवृत्ति परिणामशील है, उसी प्रकार चित्त भी परिणामी होता है; क्योंकि जिस वस्तु का चित्त में उपराग (छाया) होता है, वही ज्ञात कहा जाता है। जिसका चित्त में उपराग नहीं होता वह अज्ञात रहता है। जिस प्रकार चुम्बक अक्रिय होने पर भी लोहे का आकर्षक है, उसी प्रकार विषय अक्रिय होने पर भी क्रियाशील चित्त का आकर्षक है। अर्थात् यद्यपि विषय अक्रिय है तथापि अपने में वर्त्तमान आकर्षकत्व-शक्ति से इन्द्रियों के द्वारा चुम्बक के समान चित्त को खींचकर उसमें अपनी छाया को समर्पित कर देता है। इसीका नाम उपरञ्जन या उपराग है।

उपराग होने पर ही विषय ज्ञात कहा जाता है और चित्त के परिणामी होने पर ही उपराग सिद्ध होता है। इसलिए चित्त को परिणामी मानना आवश्यक है।

योगाचार्यों के मत में चित्त व्यापक माना जाता है। इनका कहना है कि यदि चित्त को अणु मान लिया जाय तो एक काल में अनेक विषयों के साथ सम्बन्ध न होने के कारण चित्त की एकाग्रता सिद्ध हो जाती है पुनः उसके लिए योग शास्त्र की रचना का प्रयोजन ही क्या हो सकता है? और, चन्दनादि सुगन्धि द्रव्यों से वासित शर्बत आदि के पीने में जो एक काल में अनेक इन्द्रियों के विषय का ज्ञान होता है वह भी नहीं बनता। और, योगियों को एक काल में अनेक वस्तुओं का जो ज्ञान होता है, वह भी अणु मानने से नहीं बनता।

यदि यह कहें कि योगियों का जो प्रत्यक्ष होता है वह तो लौकिक सन्निकर्ष से नहीं, बल्कि अलौकिक योग-सन्निकर्ष से ही होता है, इसके लिए व्यापक

मानना युक्त नहीं है। इसका उत्तर यह होता है कि मन के व्यापक मान लेने पर लौकिक सन्निकर्ष से ही सब सिद्ध हो जाता है, तो इसके लिए दूसरे सन्निकर्ष की कल्पना व्यर्थ हो है। और, दूसरे सन्निकर्ष की कल्पना करने में गौरव भी है इसलिए, योगजन्य साक्षात्कार में भी लौकिक सन्निकर्ष को ही कारण मानना समुचित है। तात्पर्य यह है कि सब पदार्थों के ग्रहण करने में स्वतः एक चित्त ही समर्थ है और तम नाम का जो एक आवरण है उसके निवारण करने में ही योग कारण होता है। विषय का साक्षात्कार सर्वार्थग्रहण-समर्थ चित्त का ही कार्य है। इसी प्रकार, उपलब्धि के प्रतिबन्धक जो अतिदूर, सामीप्य इन्द्रियघात, मनोऽनवस्थान आदि बताये गए हैं उनका निराकरण करना भी योग का कार्य होता है। अर्थात् चित् में सब पदार्थों के ग्रहण करने का सामर्थ्य स्वाभाविक है परन्तु तमोगुण से चित्त के आवृत होने के कारण या दूरादि प्रतिबन्ध होने से सबको सब वस्तुओं का ज्ञान नहीं होता। जब योग-बल से तमोगुण नष्ट हो जाता है और प्रतिबन्धक भी दूर हो जाते हैं, तब योगियों को एक काल में सकल पदार्थों का ज्ञान सुलभ हो जाता है। चित्त को सर्वार्थ ग्रहण करने का जो सामर्थ्य प्राप्त है, वह उसके व्यापक होने के ही कारण। इसलिए, चित्त व्यापक माना जाता है। इनके मत में इन्द्रियाँ भी व्यापक मानी जाती हैं। योगियों को देशान्तरस्थ और कालान्तरस्थ वस्तुओं का जो प्रत्यक्ष होता है वह इन्द्रियों के व्यापक मानने में ही युक्त होता है अणु मानने में नहीं। इन्द्रियों का ज्ञान तत्तत् स्थान में ही होता है, इसका कारण शरीरादि का सम्बन्ध ही है। इन्द्रियों का अणुत्व-व्यवहार भी शरीरादि-स्थानकृत होने से औपाधिक ही माना जाता है।

यदि यह कहें कि इन्द्रियों का व्यापक होना यद्यपि आवश्यक है तथापि उनके भौतिक होने के कारण व्यापक होना युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। इसका उत्तर यही होता है कि इन्द्रियों को यदि भौतिक मानें तो यह शङ्का युक्त हो सकती थी परन्तु इनके मत में इन्द्रियों की उत्पत्ति सात्त्विक अहङ्कार से मानी गई है। अहङ्कार के व्यापक होने से इन्द्रियों का व्यापक होना भी युक्तियुक्त है। यदि यह कहें कि मन की गमन क्रिया श्रुति-स्मृति से अनुमोदित और लोकप्रसिद्ध है तो इस स्थिति में उसका व्यापक होना नहीं बनता। कारण यह है कि क्रिया व्यापक पदार्थ में नहीं रहती और मन में रहती है, इसलिए मन को व्यापक नहीं मान सकते। इसका उत्तर यह होता है कि यद्यपि मन व्यापक है तथापि उपाधि के वश से मन का गमनागमन भी अयुक्त नहीं होता। व्यापक आत्मा का भी गमनागमन क्रिया 'तदेजति तन्नैजति' इत्यादि श्रुतियों में प्रसिद्ध है और वह औपाधिक माना भी गया है।

मन को मध्यम-परिमाण भी नहीं मान सकते। कारण यह है कि मन के मध्यम-परिमाण होने से प्रलय काल में उसका विनाश अवश्यम्भावी है फलतः शुभाशुभ कर्म-जन्य जो अदृष्ट संस्कार है उसका आधार ही नष्ट हो जायगा। इस स्थिति में पूर्वार्जित कर्मफल का भोग जन्मान्तर में नहीं हो सकता। इसलिए, मन को व्यापक मानना आवश्यक है।

मन को व्यापक मानने में एक दूसरा दोष यह दिया जाता है कि मन और इन्द्रियों को यदि व्यापक मानते हैं, तब तो सब विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध सदा रहने से योगी या अयोगी सब को सब काल में सब विषयों का ज्ञान होना चाहिए।

इसका उत्तर यह होता है कि यद्यपि चित्त (मन) व्यापक है, तथापि जिस शरीर में चित्त विषयाकार से परिणत होता है, उसी शरीर के साथ जिस विषय का सम्बन्ध है, उसी शरीर में उसी विषय का ज्ञान होता है, दूसरे शरीर में नहीं। इसलिए, यह दोष भी यहाँ नहीं हो सकता। पहले भी कह चुके हैं कि विषय चुम्बक के समान है और चित्त लोहा के समान। इन्द्रियों के द्वारा चित्त को आकृष्ट कर विषय उसे अपने आकार का समर्पण करता है। दूसरे शब्दों में, विषय इन्द्रिय के द्वारा चित्त से सम्बद्ध होकर उसे उपरक्त करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि परिणाम चित्त का ही धर्म है, आत्मा का नहीं। 'कामस्संकल्पोविचिकित्साश्रद्धाऽश्रद्धाधृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' (बृ० उ० १।५।३), यह श्रुति भी काम आदि को मन का ही धर्म बताती है। विषय की अभिलाषा का नाम काम है। 'यह नीला है' 'यह पीला है', इस आकार की कल्पना का नाम संकल्प है। विचिकित्सा संशय को कहते हैं। आस्तिक्य-बुद्धि को श्रद्धा और इससे विपरीत को अश्रद्धा कहते हैं। धृति को धैर्य और इससे इतर को अधृति कहते हैं। 'ह्री' लज्जा, 'धी' ज्ञान और 'भी' भय को कहते हैं। ये सब मन के ही परिणामविशेष हैं। श्रुति में 'मन एव' इस प्रकार एव शब्द का जो प्रयोग किया है, इससे सूचित होता है कि मन से भिन्न आत्मा के ये परिणाम या धर्म नहीं है। इसलिए, आत्मा परिणामी नहीं होता, यह बात सिद्ध हो जाती है। पुरुष का परिणामी न होना पञ्चशिखाचार्य ने भी लिखा है—'अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिः' इसका विवेचन पुरुषस्वरूप-निर्णय में आ चुका है।

भगवान् पतञ्जलि ने भी 'सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयः तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्' सूत्र से आत्मा को अनुमान द्वारा अपरिणामी सिद्ध किया है। सूत्र का भावार्थ यह है कि आत्मा की विषयभूत जो चित्तवृत्तियाँ हैं वे सदा विद्यमानावस्था में ज्ञात ही रहती हैं, चित्त के विषय घटादि के समान ज्ञात और अज्ञात दोनों प्रकार की नहीं होती हैं। इसका कारण यह है कि उन वृत्तियों का भोक्ता जो पुरुष है, वह विषयाकारादि प्रत्यक्षरूप अशेष परिणामों से शून्य है इसीलिए अपरिणामी भी है।

परिणाम-विवेचन

अब परिणाम कितने प्रकार के होते हैं इसके बारे में कुछ लिखा जाता है। परिणाम तीन प्रकार के होते हैं—धर्म-परिणाम लक्षण-परिणाम और अवस्था परिणाम। धर्मी में पूर्वधर्म के तिरोभाव से धर्मान्तर का प्रादुर्भाव होना धर्म-परिणाम है। चित्त के तत्तत् विषयों के आकारवाली जो अनेक प्रकार की वृत्तियाँ हैं उनको धर्म कहते हैं। उनमें एक नील के आलोचन-रूप जो नीलाकार चित्तवृत्ति है उसके तिरोभाव में विषयान्तर के आलोचनरूप वृत्ति का प्रादुर्भाव होता है। सुवर्ण के कटक-धर्म के तिरोभाव से मुकुट-धर्म का प्रादुर्भाव होता है।

मृत्तिका के पिण्ड-धर्म के तिरोभाव से घट-धर्म का प्रादुर्भाव होता है। यहाँ द्रव्य का भी धर्म शब्द से व्यवहार किया गया है।

एक बात और भी जानना चाहिए कि नाश और उत्पत्ति शब्द के स्थान में तिरोभाव और आविर्भाव शब्द का ही प्रयोग किया गया है। योगकारों के मत में सत्कार्यवाद सिद्धान्त होने से किसी वस्तु की उत्पत्ति या नाश नहीं माना जाता। इसलिए, आविर्भाव तिरोभाव ही इनके मत में अभीष्ट है। असत् की उत्पत्ति और सत् का विनाश इनके यहाँ नहीं होता। इस स्थिति में जिस प्रकार धर्मी स्वरूप में विद्यमान रहता हुआ ही सब धर्मों का जो अपने में होते रहते हैं ग्रहण करता रहता है उसी प्रकार प्रत्येक धर्म भी सदा विद्यमान रहता हुआ ही भूत भविष्यत्, वर्तमानरूप भिन्न-भिन्न लक्षणों से युक्त होता रहता है। यही धर्म का लक्षण-परिणाम कहा जाता है।

विद्यमान धर्मों के एक लक्षण को छोड़कर लक्षणान्तर से होनेवाले परिणाम को ही लक्षण-परिणाम कहते हैं। यहाँ लक्षण शब्द से भविष्यत्व वर्तमानत्व और भूतत्व—इन्हीं तीन का ग्रहण किया जाता है। यहाँ धर्मों के समान विद्यमान लक्षणों का ही आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। इसलिए, सत्कार्यवाद सिद्धान्त उपपन्न होता है। तीनों लक्षणों का प्रतिक्षण तारतम्य होता रहता है। लक्षणों का तारतम्य लक्षणों से युक्त धर्म में ही देखना चाहिए, क्योंकि लक्षणों का तारतम्य नहीं होता है। जैसे—नीलाकार-रूप चित्त-धर्म के विद्यमान रहने पर भी कभी अस्फुट, कभी अस्फुटतर, कभी स्फुट और स्फुटतर आदि अनेक अवस्थाओं से तारतम्य का अनुभव होता रहता है। इसी प्रकार, सुवर्ण का धर्म कटकादि और मृत्तिका का धर्म जो घटादि है उनके नवीनत्व पुरातनत्व आदि अनेक अवस्थाओं का भेद प्रतिक्षण अनुभूत होता रहता है। सत्त्वादि गुणों के अतिचञ्चल स्वभाव होने के कारण उनका प्रतिक्षण परिणाम होता रहता है यह अनुमान से सिद्ध होता है। यही लक्षण का अवस्था-परिणाम है।

वर्तमान जो लक्षण है उसे एक अवस्था को छोड़कर अवस्थान्तर में परिणत होते रहने का नाम अवस्था-परिणाम है। यह अवस्था-परिणाम वर्तमान काल में ही स्फुटतर प्रतीत होता है। इसी दृष्टान्त से भविष्य और भूतकाल का भी अनुमान किया जाता है। यह सब विचार धर्मी और धर्म के लक्षण की अवस्था में जो काल्पनिक भेद है उसी के आधार पर किया गया है। वास्तव में तो सब परिणाम धर्मी में ही होते हैं।

धर्म, लक्षण और अवस्था—ये सब धर्मिमात्र-स्वरूप हैं। दूसरे शब्दों में, धर्मी से अतिरिक्त धर्म की सत्ता ही नहीं है। धर्म के लक्षण या अवस्था के परिणाम से धर्मी के ही स्वरूप का परिणाम का विस्तार होता है।

धर्मी में तीनों प्रकार के केवल संस्थान का ही अन्यथाभाव होता है द्रव्य का नहीं। सुवर्ण के संस्थान अर्थात् आकार के भिन्न-भिन्न होते रहने पर भी सुवर्ण में किसी प्रकार का विकार नहीं आता। आकृति के नाश होने पर भी द्रव्य ही स्थिर रहता है इसी बात को पतञ्जलि ने महाभाष्य में कहा है— आकृतिरन्या चान्या च भवति द्रव्यं पुनः तदेव आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते इति। इससे यह सिद्ध होता है कि धर्म और धर्मी में न अत्यन्त भेद ही है, न अत्यन्त अभेद।

उक्त सन्दर्भ से यह सिद्ध हो जाता है कि प्रमाण, विपर्यय आदि जितनी वृत्तियाँ हैं, वे सब चित्त की ही हैं। और, इनका निरोध भी चित्त में ही होता है, आत्मा में नहीं। क्योंकि वृत्ति और निरोध इन दोनों का आश्रय एक ही होता है, आत्मा वृत्ति या निरोध किसी का भी आश्रय नहीं होता।

सुषुप्ति और योग

वृत्ति का आश्रय न होने से आत्मा में परिणामित्व होने की भी शङ्का नहीं रहती। वृत्ति-निरोध का जो योग माना गया है, उसमें एक और शङ्का होती है कि सुषुप्ति-काल में भी वृत्तियों का निरोध होता है, इसलिए सुषुप्ति को भी योग क्यों नहीं कहा जाता? यदि यह कहें कि सुषुप्ति में सकल वृत्तियों का निरोध नहीं होता; इसलिए वह योग नहीं है। यह भी उत्तर युक्त नहीं होता; क्योंकि सम्प्रज्ञात योग में सकल वृत्तियों के निरोध न होने पर भी उसका योग माना गया है। सम्प्रज्ञात में विशुद्ध सात्त्विक आत्मविषयक वृत्ति को सभी दार्शनिकों ने माना है, इस वृत्ति का वहाँ निरोध नहीं होता तो भी उसको योग माना गया है; इसी प्रकार सुषुप्ति को भी योग मानना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि चित्त की वृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं—क्षिप्त, मूढ विक्षिप्त एकाग्र और निरुद्ध विशुद्ध रजोगुण के बहिर्मुख होने के कारण विषय की ओर प्रेरित जो चित्त है वही क्षिप्त कहा जाता है। इस प्रकार का चित्त प्रायः दैत्य-दानवों में होता है। तमोगुण के बढ़ने से कृत्याकृत्य-विवेक-शून्य क्रोधादि से अभिभूत अथवा निद्रादि से युक्त जो चित्त है उसको मूढ कहते हैं। इस प्रकार का चित्त प्रायः राक्षस पिशाचों का होता है। क्षिप्त से विक्षिप्त में कुछ विशेषता है। सत्त्वगुण के बढ़ने से दुःख के साधनों को छोड़कर केवल सुख-साधनों में ही रत रहना विक्षिप्त है। विक्षिप्त चित्त प्रायः देवताओं में ही रहता है। यह चित्त विषय-विशेष के अनुसार कभी-कभी कुछ काल-पर्यन्त स्थायी भी रहता है। क्षिप्त की अपेक्षा इसमें यही विशेषता है। सुषुप्ति-काल में क्षिप्त और विक्षिप्त वृत्ति का अभाव रहता है, और जाग्रत् में मूढ वृत्ति का। एकाग्र और निरोध-वृत्ति का अभाव तो प्रायः सब समय मनुष्यों में होता है। इस प्रकार, कुछ वृत्तियों के निरोध सुषुप्ति में होने से योग लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है, यही शङ्का का तात्पर्य है।

इसका समाधान इस प्रकार होता है कि क्षिप्त मूढ आदि जो चित्त की पाँच अवस्थाएँ बताई गई हैं, उनमें क्षिप्त मूढ और विक्षिप्त—इन तीन अवस्थाओं को योग में स्थान्य होने के कारण, योग शब्द का वाच्य नहीं माना गया है तथापि योग में उपादेय जो एकाग्र और निरुद्धावस्था है उसमें वृत्ति निरोध को योग कहने में कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि जो चित्त रजोगुण-तमोगुण-रूप मल के सम्बन्ध से रहित होने से विशुद्ध सत्त्वप्रधान होकर किसी सूक्ष्म तत्त्व के आलम्बन करने से निर्वात देश में रहनेवाली स्थिर दीप-शिखा की तरह निश्चल रहता है वही एकाग्र कहा जाता है। विक्षिप्त से एकाग्र में यही विशेषता है कि विक्षिप्त चित्त में रजोगुण के एक कुछ सत्त्वगुण प्रधान रहता है और एकाग्र चित्त में रजोगुण का लेश भी नहीं रहता केवल विशुद्ध सत्त्व ही प्रधान रहता है। इसी एकाग्र को एकतान भी कहते हैं। एकाग्र चित्त उन्हीं का होता है जो यम-नियमादि के अभ्यास से सम्प्रज्ञात समाधि में

प्रारब्ध हो चुके हैं। और, जिस चित्त में समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है केवल संस्कारमात्र शेष रहता है वही निरुद्ध कहा जाता है। ये दोनों अवस्थाएँ स्वरूपावस्थिति का हेतु और क्लेशकर्मादि का परिपन्थी होने के कारण समाधि की साधिका होती हैं। इसलिए, एकाग्र और निरोध दोनों योग शब्द के वाच्य होते हैं। इस प्रकार 'चित्तवृत्तिनिरोधः' यह योग का जो लक्षण आचार्य ने किया है वह सम्यक् उपपन्न हो जाता है। सुषुप्ति आदि में जो योग-लक्षण का अतिव्याप्तिदोष दिया गया है वह भी ठीक नहीं है, कारण यह है कि किसी प्रकार के निरोध में ही आचार्य का अभिप्राय नहीं है किन्तु जिस वृत्ति-निरोध से द्रष्टा के स्वरूप में आत्यन्तिक अवस्थिति हो और जो क्लेशकर्मादि का परिपन्थी हो उसीको योग कहते हैं। क्षिप्तादि अवस्था में जो वृत्ति का निरोध है वह द्रष्टा के स्वरूप में अवस्थिति का हेतु और क्लेशकर्मादि का परिपन्थी होते हुए भी उसके विपरीत है। और सुषुप्ति या प्रलय आदि में जो निरोध है वह स्वरूपावस्थिति का हेतु होने पर भी आत्यन्तिक स्वरूपावस्थिति का हेतु नहीं होता इसलिए सुषुप्ति प्रलय आदि शब्द से योग का ग्रहण नहीं होता। सुषुप्ति में जो निरोध है, वह आत्यन्तिक नहीं है। सुषुप्ति से उठने पर सब वृत्ति पूर्ववत् जागरित हो जाती है। अतः, सुषुप्ति को योग नहीं कह सकते हैं। यद्यपि असम्प्रज्ञात भी द्रष्टा के स्वरूपावस्थान में साक्षात् हेतु नहीं होता तथापि असम्प्रज्ञात के द्वारा वह होता ही है, इसलिए योग शब्द का वाच्य होता है।

एकाग्र चित्त में बाह्यविषयक चित्तवृत्तियों का निरोध जिस अवस्था विशेष में हो वही सम्प्रज्ञात है। सम्प्रज्ञात समाधि में केवल बाह्यविषयक चित्तवृत्तियों का ही निरोध होता है आत्मविषयक सात्त्विकी चित्तवृत्ति बनी ही रहती है। 'सम्यक् ज्ञायते प्रकृतः भेदेन ध्येयस्वरूपं यस्मिन्' इस व्युत्पत्ति से यही सिद्ध होता है कि जिस अवस्था में ध्येय (आत्मा) का ज्ञान सम्यक् प्रकार से होता हो वही सम्प्रज्ञात है इसी व्युत्पत्ति के आधार पर सम्प्रज्ञात में आत्मविषयक सात्त्विक वृत्ति होना सिद्ध होता है।

सम्प्रज्ञात समाधि

सम्प्रज्ञात समाधि भी चार प्रकार की होती है—सवितर्क सविचार सानन्द और सास्मित। यहाँ समाधि शब्द का अर्थ भावना है। जिस वस्तु की भावना की जाती है, वह भाव्य भावनीय या ध्येय कहा जाता है। उसी ध्येय को विषयान्तर के परिहारपूर्वक बारम्बार चित्त में निविष्ट करने का नाम भावना है। दूसरे शब्दों में विषयान्तर में आसक्त चित्त को उस विषय से हटाकर ध्येय में बारम्बार लगाने का नाम है भावना।

भाव्य भी दो प्रकार का होता है—एक ईश्वर दूसरा तत्त्व। तत्त्व भी दो प्रकार का है—जड़ और अजड़। अजड़ से जीवात्मा को समझना चाहिए।

ईश्वर की तत्त्व से पृथक् गणना की गई है। प्रकृति आदि चौबीस जड़ तत्त्व होते हैं—प्रकृति महत्तत्त्व अहङ्कार पञ्चतन्मात्राएँ, पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ पञ्चभूत और मन। पुरुष को सम्मिलित कर लेने पर योगकारों के मत में पचीस तत्त्व होते हैं। ईश्वर तो तत्त्वातीत अर्थात् तत्त्वों से परे है।

ईश्वर-सहित ये ही सब तत्त्व भाव्य कहे जाते हैं, इन्हीं की भावना से परम लक्ष्य समाधि की सिद्धि होती है। इनकी भावना के प्रकार भेद होने के कारण सम्प्रज्ञात समाधि के भी सवितर्कादि भेद से चार प्रकार बताये गये हैं।

स्थूलविषयक साक्षात्कार का नाम वितर्क है। 'विशेषेण तर्कणम्, शब्दार्थज्ञानविकल्परूपं यत्र' अर्थात् जिस अवस्था में शब्द अर्थ ज्ञान के विकल्प-रूप तर्क (भावनाविशेष) हो उसे वितर्क कहते हैं। इस व्युत्पत्तिगम्य अर्थ से स्थूलविषयक भावना ही वितर्क है यह सिद्ध होता है क्योंकि स्थूल विषय में ही शब्द अर्थ और ज्ञान का अभेदेन भान होता है। इसका तात्पर्य यह है कि भावना का विषयभूत जो भाव्य है वह ग्राह्य ग्रहण और ग्रहीता के भेद से तीन प्रकार का होता है। इन तीनों में ग्राह्य स्थूल-सूक्ष्म भेद से दो प्रकार का है। पहले स्थूल ध्येयविषयक भावना को ही दृढ़कर पीछे सूक्ष्म विषय की भावना की जाती है। जिस प्रकार धनुर्विद्या में निपुणता प्राप्त करने के लिए पहले स्थूल लक्ष्य के वेधन करने का ही अभ्यास किया जाता है, इसके बाद सूक्ष्म लक्ष्य का। उसी प्रकार योग की इच्छा करनेवाला पहले स्थूल ध्येय की भावना को दृढ़कर बाद में सूक्ष्म ध्येय की भावना को शनैः-शनैः अभ्यास करता है। इसके बाद सूक्ष्मतर सूक्ष्मतम और फिर परमलक्ष्य-पर्यन्त पहुँचने की चेष्टा करता है। इस स्थिति में, स्थूल पञ्चभूत या पाञ्चभौतिक घटपटादि स्थूल रूप की भावना इसी प्रकार स्थूल भूतों के कारण सूक्ष्मभूत, जिनको तन्मात्र भी कहते हैं, की भावना एवं उसीमें पूर्वापर अनुसन्धानपूर्वक पहले सामान्य बादविशेष, तब धर्मी तब धर्म की जो भावना है, उसी का सवितर्क या वितर्कानुगत कहते हैं।

इस प्रकार जब स्थूल विषयों का यथार्थ अनुभव हो जाता है तब उनमें अनित्यत्व आदि दोष देखनेवाली स्थूलाकार दृष्टि को छोड़कर उन स्थूल पदार्थों के कारण जो अहङ्कार महत्तत्त्व प्रकृतिरूप सूक्ष्म तत्त्व उन स्थूल भूतेन्द्रियों में अनुगत रहते हैं की भावना करने से और उनमें रहनेवाले अभूतपूर्व विशेष धर्म की देश काल-धर्मानुसार भावना करने से जो साक्षात्कार होता है उसीको विचार कहते हैं। 'विशेषेण चारः सूक्ष्मवस्तुपर्यन्तः सञ्चारो यत्र' इस व्युत्पत्ति से जिस समाधि में सूक्ष्मवस्तु-पर्यन्त चित्त का सञ्चार हो उसीको विचार कहा गया है। विचार के सहित सविचार है।

सविचार में स्थूल विषयों में भी यथार्थ सूक्ष्म दृष्टि उत्पन्न होती है; क्योंकि सूक्ष्म तत्त्व कारणरूप से वहाँ भी वर्तमान रहता है और कार्य कारण में अभेद भी है। इसके बाद उस सूक्ष्मविषयक दृष्टि को भी, उसमें अनित्यत्वादि दोष देखने के कारण छोड़कर चौबीस तत्त्वों में अनुगत सत्त्व-गुण का कार्य जो सुख है उसके रजोगुण-तमोगुण के संग से अभिभूत होने के कारण चित्ति-शक्ति के तिरोभाव होने और उसके प्रवर्त्तमान भावना से मनोरम्य के सदृश काल्पनिक दैनिक सुख के साक्षात्कार होने का नाम ही आनन्द है। आनन्द के सहित को सानन्द समाधि कहते हैं। यद्यपि रूप के सदृश ही दुःख और मद भी सर्वत्र अनुगत रहता है तथापि उनके स्वभावतः हेय होने के कारण उनकी भावना की आवश्यकता नहीं रहती। इसके अनन्तर इस सुख में भी दर्शित।

अभिसन्धानादि दोष देखकर, उससे भी विराग होने के कारण, जीव और ईश्वर-स्वरूप का जड़ से भिन्न आत्माकार-रूप जो साक्षात्कार होता है, वही अस्मिता है।

इस अवस्था में रजोगुण-तमोगुण के लेश से अनभिभूत जो शुद्ध सत्त्व है, उसका भी तिरोभाव और चिति-शक्ति का आविर्भाव होता है। 'अस्मि', यही इसका आकार होता है इसीलिए इसको अस्मिता कहते हैं। इसमें भी पहले जीवात्म-विषयक अस्मिता होती है इसके अनन्तर उससे भी सूक्ष्मतमविषयक अस्मिता होती है। अर्थात्, पहले अस्मिता का विषय जीवात्मा ही रहता है इसके बाद कुछ विशेष भावना के दृढ़ होने पर केवल परमात्मा ही अस्मिता का विषय रह जाता है यही चित्त की अन्तिम अवस्था है। इसके बाद कुछ भी आलम्ब अवशेष नहीं रह जाता। इसीसे अमुक्त समाधि का नाम सास्मित समाधि है। इस समाधि में संस्कारमात्र शेष रहता है।

सम्प्रज्ञात में जो चार प्रकार के भेद बताये गये हैं उनमें चार प्रकार की चित्तभूमि होती है—मधुमती मधुप्रतीका विशोका और संस्कारशेषा। इन वितर्कादि अवस्थाओं का वर्णन सूत्ररूप में पतञ्जलि ने किया है—

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः।

असम्प्रज्ञात समाधि

जिस अवस्था म सकल वृत्तियों का निरोध होता है उसको असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इस अवस्था में किसी वृत्ति का भी अवशेष नहीं रहता है। सम्प्रज्ञात से इसमें यही विशेषता है कि सम्प्रज्ञात में प्रकृति-पुरुष की भिन्नताख्याति सत्त्वात्मिका जो वृत्ति (जिसमें विशुद्ध सत्त्व ही प्रधान रहता है) है उसका निरोध नहीं होता और असम्प्रज्ञात में उस वृत्ति का भी निरोध हो जाता है। इस अवस्था में जो संस्कार शेष रहता है उसका भी निरोध हो जाता है। पूर्व म सुषुप्ति और प्रलय में साम्य सबकी अतिव्याप्ति और सम्प्रज्ञात में अव्याप्ति के वारण के लिए क्लेशादि परिपन्थी, यह निरोध का विशेषण दिया गया है।

अब क्लेशादि के स्वरूप का विचार किया जाता है। क्लेश पाँच प्रकार का होता है—अविद्या अस्मिता राग द्वेष और अभिनिवेश। इसीको पतञ्जलि ने सूत्ररूप में कहा है— अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः।

अविद्या-विचार

अविद्या में पहला प्रश्न होता है कि अविद्या शब्द की व्युत्पत्ति क्या है? इसमें कौन समास है? इसका तात्पर्य क्या है? यदि 'विद्याया अभावः' इस व्युत्पत्ति में 'निर्मक्षिकम्' के समान अव्ययीभाव समास जिसका पूर्व पद प्रधान होता है करें, तो अविद्या पद का अर्थ विद्या का अभाव होगा जैसे 'निर्मक्षिकम्' का अर्थ मक्षिकाओं का अभाव होता है। इसमें पूर्व पदार्थ प्रधान है। यदि 'न विद्या अविद्या' इस विग्रह में नञ् तत्पुरुष करें, तो इसका अर्थ होगा विद्या से भिन्न या विद्याविरोधी कोई अन्य पदार्थ। जैसे अब्राह्मणः, अराजपुरुषः यहाँ ब्राह्मण से भिन्न क्षत्रियादि राजपुरुष से भिन्न साधारण पुरुष, अर्थ होता है। इसमें उत्तर पदार्थ प्रधान है।

अथवा 'अविद्यमाना विद्या यस्याः यस्यां वा' इस विग्रह में बहुव्रीहि समास करें तो अन्य पदार्थ प्रधान होता है, तो इस अविद्या का अर्थ होगा—अविद्यमान है विद्या जिसमें ऐसी बुद्धि। अर्थात् जिसमें विद्या का अभाव रहे, ऐसी बुद्धि ही अविद्या शब्द का वाच्य अर्थ होगा। इन तीन प्रकार के समासों में अविद्या शब्द में कौन समास होगा, यही प्रश्न का तात्पर्य है।

अव्ययीभाव तो ठीक नहीं होता क्योंकि पूर्वपदार्थ प्रधान होने से अविद्या में नञ् का प्रसज्य-प्रतिषेध अर्थ होगा प्राप्तिपूर्वक निषेध का नाम प्रसज्य प्रतिषेध है। अविद्या शब्द से विद्या का प्राप्तिपूर्वक अभावमात्र ही अर्थ होगा, भाव-रूप कोई अन्य अर्थ नहीं होगा, इस अवस्था में विद्या के अभाव-रूप अविद्या क्लेशादि के उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकती; क्योंकि अभाव से किसीकी उत्पत्ति नहीं हो सकती यह पहले भी बता चुके हैं। विद्याविपरीत जो ज्ञान है वही क्लेशादि को उत्पन्न कर सकता है, और जो क्लेशादि को उत्पन्न कर सके, वही अविद्या है; और अव्ययीभाव करने से यह अर्थ नहीं होता, इसलिए अव्ययीभाव नहीं कर सकते। अव्ययीभाव समास करने में एक दोष और हो जाता है कि स्त्रीलिङ्ग अविद्याशब्द की सिद्धि नहीं होती। कारण यह है कि अव्ययीभाव करने पर 'अव्ययीभावश्च' इस पाणिनि सूत्र से नपुंसक हो जायगा जैसे 'निर्मक्षिकम्' में होता है।

इसी प्रकार, तत्पुरुष समास करने पर भी अविद्या क्लेश का कारण सिद्ध नहीं होती। क्योंकि तत्पुरुष में उत्तर पदार्थ विद्या शब्द ही प्रधान होगा और नञ् का अर्थ अभाव है। इस स्थिति में, अभावयुक्त विद्या, यही अविद्या का अर्थ होगा। इस प्रकार, राग द्वेष आदि किसी के अभाव से युक्त विद्या क्लेशादि की नाशिका ही होगी, उत्पादिका नहीं; क्योंकि रागादि अन्यतम के अभाव से युक्त विद्या क्लेश की नाशिका होती है यह सर्वसिद्धान्त-सिद्ध है।

अविद्या शब्द में बहुव्रीहि करने पर भी नहीं है विद्या जिसमें ऐसी विद्यारहित बुद्धि ही समास का अर्थ होगा। यह बुद्धि भी विद्या के अभावमात्र से क्लेशादि की उत्पादिका नहीं हो सकती; क्योंकि विद्या के अभाव में भी जबतक विपरीत बुद्धि नहीं होगी, तबतक किसी प्रकार भी क्लेशादि की सम्भावना नहीं हो सकती। महर्षि पतञ्जलि ने भी अस्मितादि क्लेशों का मूल कारण अविद्या को ही माना है—

'अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्।' (यो॰ सू॰ 2।4)।

इसका तात्पर्य यह है कि पूर्व सूत्र में उक्त जो अविद्या आदि पाँच क्लेश हैं, उनमें अविद्या से उत्तर जो अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये चार क्लेश (जो प्रत्येकशः प्रसुप्त तनु, विच्छिन्न और उदार के भेद से चार-चार प्रकार के हैं) हैं उनका क्षेत्र, अर्थात् मूल कारण अविद्या ही है।

चित्तभूमि पर संस्कार अर्थात् बीज रूप से जो विद्यमान है, और उद्बोधक के अभाव से अपने कार्य का आरम्भ नहीं करता, वही प्रसुप्त है। जैसे बालक और प्रकृतिलयपर्यन्त योगी के चित्त में बीज-रूप से क्लेश विद्यमान रहते हुए भी उद्बोधक के अभाव में वे अपना कार्य करने से असमर्थ रहते हैं। तनु उस क्लेश का कहते हैं,

जो प्रतिपक्ष-भावना से शिथिल हो गया है। जैसे योगियों के हृदय में वासना-रूप से विद्यमान क्लेश। बलवान् क्लेश से जो अभिभूत हो गया है वह विच्छिन्न क्लेश है। जैसे रागावस्था में द्वेष और द्वेषावस्था में राग। उदार उसको कहते हैं, जो सहकारी के विद्यमान रहने से कार्यकारी अर्थात् कार्य करने में समर्थ है। जैसे, सकल मूढ़ जीवों का क्लेश। निबन्ध-शिरोमणि वाचस्पतिमिश्र ने भी योगभाष्य की टीका में लिखा है—

'प्रसुप्तास्तत्त्वलीनानां तन्ववस्थाश्च योगिनाम्।
विच्छिन्नोदाररूपाश्च क्लेशाः विषयसङ्गिनाम्॥'

इस प्रकार, उक्त तीनों समासों में किसी समास से भी अविद्या शब्द का क्लेशोत्पादिका अर्थ सिद्ध नहीं होता जो महर्षि पतञ्जलि का अभीष्ट है यही शङ्का का तात्पर्य है।

इसका उत्तर यह होता है कि यहाँ अविद्या पद में नञ् का पर्युदास अर्थ है उसके साथ विद्या का नञ् समास करने पर विद्याविरोधी, विपरीत ज्ञान अर्थ होता है। इसीको विपर्यय ज्ञान भी कहते हैं, जैसे अधर्म शब्द का धर्मविरोधी पाप अर्थ होता है। आचार्यों ने भी कहा—

'नामधात्वर्थयोगे तु नैव नञ् प्रतिषेधकः।
वदत्यब्राह्मणाधर्मौ अन्यमात्रविरोधिनौ॥
इत्थयोगसम्बन्धे हि तदर्थः सर्व एव वा।
तेन नञ् प्रयुक्तो यो न तस्मादपनीयते॥'

अर्थात् विधि अर्थ में जो लिङ् आदि प्रत्यय होते हैं, उनके योग में ही नञ् का प्रतिषेध अर्थ युक्त होता है जैसे 'न ब्राह्मणं हन्यात्, न सुरां पिबेत्' इत्यादि स्थलों में ब्राह्मण-हनन और सुरा-पान का प्रतिषेध-मात्र अर्थ होता है परन्तु नामार्थ और धात्वर्थ के योग में नञ् का निषेध अर्थ नहीं होता किन्तु पर्युदास ही होता है। जैसे, अब्राह्मण शब्द में जो नञ् है वह ब्राह्मण से भिन्न सदृश अर्थ का इंगित करता है और अधर्म शब्द में नञ् धर्मविरोधी पाप का ही संकेत करता है। इसलिए, हमारे आचार्यों के मत में शब्द का अर्थ वृद्धप्रयोगगम्य ही होता है इसलिए जिस अर्थ में जो शब्द प्रयुक्त है उससे उसको विलग नहीं करना चाहिए।

वाचस्पतिमिश्र ने भी 'अनित्याशुचि' इत्यादि सूत्र के भाष्य के व्याख्यान में लिखा है—'लोकाधीनावधारणो हि शब्दार्थयोः सम्बन्धः लोके चोत्तरपदार्थप्रधानस्यापि नञः उत्तरपदाभिधेयमर्दकस्य तद्विरुद्धतया तत्र तत्रोपलब्धेरिहापि तद्विरुद्धे प्रवृत्तिः इति।' अर्थात् शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का निश्चय लोक के अधीन है। लोक में उत्तर पदार्थप्रधान भी जो नञ् है और जो उत्तरपद के अभिधेय का बाधक है उसका उत्तरपदार्थ के विरुद्ध अर्थ में प्रयोग जहाँ-तहाँ देखा जाता है इसलिए अविद्या शब्द में भी नञ् का प्रयोग समझना चाहिए। इसी अभिप्राय से महर्षि पतञ्जलि ने कहा है—

'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।' (यो॰ सू॰ २।५)

अर्थात्, अनित्य में नित्यत्व, अशुचि में शुचित्व दुःख में सुख और अनात्मा में आत्मा की प्रतीति अविद्या का लक्षण है। यह लक्षण उदाहरणमात्र है, इससे नित्य शुचि आदि में अनित्य अशुचि आदि की प्रतीति भी अविद्या है यह सिद्ध होता है। अविद्या का जो सामान्य लक्षण आगे किया जायगा उसीका प्रकारान्तर भेद चार प्रकार का सूत्रकार ने बताया है। उदाहरणार्थ—अनित्य घटादि सकल प्रपञ्च में नित्यत्व का अभिमान अविद्या है अपवित्र शरीर में पवित्रता का ज्ञान भी अविद्या है। शरीर के अशुचि होने का कारण आचार्यों ने बताया है—

'स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निस्यन्दान्निधनादपि।
कायमाधेयशौचत्वात् पण्डिता ह्यशुचिं विदुः॥

इसका तात्पर्य यह है कि शरीर का उत्पत्ति-स्थान जो माता का उदर है वह मल-मूत्र से व्याप्त अन्य नाम अपवित्र है। इसका मूल कारण शुक्र शोणित भी अपवित्र ही है, और इसके पोषक भुक्त-पीत अन्नादि पदार्थों का रस भी अपवित्र ही है स्वेद-मूत्रादि का स्राव भी अपवित्र ही है, मरण तो सबसे बढ़कर अपवित्र है जो आत्मियों के शरीर को भी अपवित्र बना देता है इसलिए इस शरीर को पण्डित लोग अशुचि कहते हैं। इसी प्रकार चन्दन माला, स्त्री आदि में जो सुख का आरोप होता है, वह भी अविद्या ही है। विवेकियों को समस्त विषय-सुख में दुःख ही प्रतीत होता है। महर्षि पतञ्जलि ने भी कहा है—'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' इसका तात्पर्य यह है कि माला चन्दन वनिता आदि जितने सुख-साधन लोक में देखे जाते हैं उनसे उत्पन्न होनेवाले जो सुख हैं वे सब विवेकियों की दृष्टि में दुःख ही है। जिस प्रकार, विष मिला हुआ स्वादु अन्न परिणाम में दुःखद होता है। विषय-जन्य सुख ही परिणाम-दुःख ताप-दुःख संस्कार-दुःख का मूल कारण होता है। लौकिक सुखसाधनों की प्राप्ति अथवा सुख के उपभोग-काल में अनेक प्रकार के ज्ञात या अज्ञात हिंसा आदि पापों का होना स्वाभाविक होता है, उन पापों का अवश्यम्भावी जो दुःख है वही परिणाम-दुःख कहा जाता है। सुख के उपभोग-काल या सुखसाधनों के प्राप्ति-काल में दूसरों के सुख-साधन या उपभोग को अधिक देखकर मन में जो एक प्रकार का क्षोभ उत्पन्न होता है उसके नहीं सहने के कारण जो संताप होता है वह तापदुःख है इसी प्रकार, सुखोपभोग-काल में सुख के अनुभव जन्य संस्कार के स्मरण के द्वारा जो अधिक से अधिक सुख साधनों की अभिलाषा उत्पन्न होती है और उसकी पूर्ति नहीं होने से संस्कार-दुःख उत्पन्न होता है।

एक बात और है कि सत्त्व आदि गुणत्रय की जो प्रवृत्ति है उसमें सत्त्व रज और तम ये तीनों गुण संयुक्त रहते हैं इस अवस्था में जिस वस्तु को हम सुख समझते हैं उसमें भी दुःख का कारण रजोगुण वर्तमान ही रहता है इसलिए रजोगुण का कार्य दुःख होना अनिवार्य है और परिणाम में दुःख होना अवश्यम्भावी हो जाता है। अतः, जिसको सूक्ष्म क्लेशों का ज्ञान हो गया है और सकल सुख-साधन-सामग्रियों के दुःखजनक रजोगुण से युक्त होने का निश्चय हो चुका है, ऐसे विवेकियों के लिए

सभी सुख-साधन दुःख ही प्रतीत होते हैं। सहज में, इस प्रकार के दुःख-साधनों में सुख-साधन का या दुःख में सुख का ज्ञान होना अविद्या ही है।

इसी प्रकार, आत्मा से भिन्न जो शरीरादि हैं उनमें आत्मा का ज्ञान होना भी अविद्या है। इसी कारण यह संसार बन्ध है। और, मूल कारण अविद्या से छुटकारा पाना ही मोक्ष है। आचार्यों ने भी लिखा है—

'अनात्मनि हि देहादावात्मबुद्धिस्तु देहिनाम्।
अविद्या तत्कृतो बन्धस्तन्नाशो मोक्ष उच्यते॥'

इस अविद्या के चार पाद हैं—अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। अस्मिता की परिभाषा स्वयं पतञ्जलि ने की है—'दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतैवास्मिता', अर्थात् दृक्-शक्ति (आत्मा) और दर्शन-शक्ति (बुद्धि) इन दोनों आत्म और अनात्म पदार्थों में एकात्मता के सदृश जो एकाकारता की आपत्ति है वही अस्मिता है। जब अनात्मभूत बुद्धि में आत्म-बुद्धि-रूप अविद्या होती है तभी अस्मिता की उत्पत्ति होती है। यहाँ अविद्यावस्था में भी यद्यपि बुद्धि में सामान्यतः भेदबुद्धि रहती ही है तथापि उस बुद्धि का विषय भेद और अभेद दोनों रहता है; क्योंकि उस काल में अत्यन्त अभेद का ज्ञान नहीं होता। इसके बाद बुद्धि में रहनेवाले गुणों का पुरुष में आधान करने से 'मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ', इस प्रकार का जो अत्यन्त एकता का भ्रम है वही अस्मिता नाम का क्लेश है। जबतक एकता का भ्रम नहीं होता, तबतक परस्पर अध्यास-मात्र से भोग की सिद्धि नहीं होती। कारण यह है कि बुद्धि परिणामशील है और आत्मा अपरिणामी है इसलिए दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। इस स्थिति में दोनों में एकता की प्रतीति के बिना भोग असम्भव है। इसलिए, दोनों में भोगसिद्धि के हेतु अभेद का भ्रम होना अनिवार्य है।

अस्मितामूलक तीसरा क्लेश ही राग है और चौथा द्वेष। जो पुरुष सुख का अनुभव कर चुका है उसके चित्त में सुखानुभव-जन्य एक प्रकार का संस्कार उत्पन्न होता है उस संस्कार से सुख की अनुस्मृति होती है जिससे सुख के साधनों के विषय में तृष्णा होती है उसीका नाम राग है। इसी प्रकार, दुःख के साधनों में जो जिहासा[1] उत्पन्न होती है उसीका नाम द्वेष है। इसीको पतञ्जलि ने सूत्ररूप में कहा है—'सुखानुशयी रागः' 'दुःखानुशयी द्वेषः'।

अब अभ्यास पञ्चम क्लेश जो अभिनिवेश है उसका निरूपण किया जाता है। पूर्वजन्म में अनुभूत मरणजन्य जो दुःख है तदनुभवजन्य जो वासना है उससे (कृमि कीट से लेकर बड़े-बड़े विद्वान् महर्षियों तक) बिना कारण स्वभावतः ही उत्पन्न होनेवाला जो मरण का भय है उसीको अभिनिवेश कहते हैं। सूत्रकार ने भी लिखा है—'स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः'। ये ही अविद्या आदि पाँच अनेक प्रकार के सांसारिक दुःखों के कारण होकर मनुष्यों को क्लेशित करते रहते हैं इसलिए इनका नाम क्लेश है।

---

१ त्यागने की इच्छा।

ऊपर कहा जा चुका है कि क्लेश, कर्म, विपाक और आशय के परिपन्थी चित्त वृत्ति का निरोध ही योग है। क्लेश और उसके भेद और अवान्तर भेद की चर्चा ऊपर हो चुकी है। अब संक्षेप में कर्म, विपाक और आशय के सम्बन्ध में विचार किया जाता है।

कर्म दो प्रकार का होता है—शास्त्रविहित और शास्त्रप्रतिषिद्ध। यज्ञ दान, तप आदि शास्त्रविहित कर्म हैं और ब्रह्महत्या, अगम्यागमन मद्यसेवन आदि निषिद्ध कर्म। जाति, आयु और भोग को विपाक कहते हैं। 'विपच्यन्त कर्मभिः निष्पाद्यन्ते ये ते', इस व्युत्पत्ति से यही सिद्ध होता है कि जो कर्म से उत्पन्न किया जाय, वही विपाक है। कर्म का फल जाति, आयु और भोग ये ही तीन हैं, इसीलिए इनको विपाक कहा गया है। जाति का अर्थ है—जन्म। जीवन-काल का नाम है—आयु। शब्दस्पर्शादि विषयों में रहनेवाला जो सुख दुःख और मोहात्मकत्व है वही भोग है। उनमें भोग ही कर्म का मुख्य फल है। आशय का अर्थ है—संस्कार। 'आ—फलविपाकपर्यन्तं चित्तभूमौ शेरते इत्याशयाः' अर्थात् फलनिष्पत्ति पर्यन्त जो चित्तभूमि में सुप्त रहता है, वही आशय है। धर्म-अधर्म-सम्बन्धी जो कर्म हैं उनका एक प्रकार का संस्कार सोये हुए की तरह चित्तभूमि में रहता है। वही काल पाकर सहकारी कारण की सहायता से फल के रूप में परिणत होता है, जो आशय कहलाता है। इसीका नाम वासना भी है। फल और फलभोग का बोध यही है। इसी आशय-रूप बीज से प्रमाणादि चित्त की वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। दूसरे शब्दों में कर्मवासना ही प्रमाणादि वृत्ति के रूप में परिणत होती है। इन्हीं क्लेश कर्म, विपाक और आशय-रूप मलों के परिपन्थीभूत चित्तवृत्ति-निरोध को योग कहते हैं।

निरोध-लक्षण

अब निरोध का लक्षण बताया जाता है। निरोध शब्द यहाँ अभाव का द्योतक नहीं है। निरोध का फल है—आत्मसाक्षात्कार। वृत्ति-निरोध का अर्थ वृत्ति का अभाव नहीं है। कारण यह है कि अभाव किसीका कारण नहीं होता है और निरोध को आत्मसाक्षात्कार का कारण माना गया है, इसलिए वह अभाव-रूप नहीं हो सकता।

निरोध का वस्तुतः अर्थ चित्त का अवस्थाविशेष ही है, जिसको मधुमती, मधुप्रतीका विशोका और ज्योतिष्मती नाम से अभिहित किया गया है। सवितर्क समाधि में उत्पन्न होनेवाली जो चित्त की अवस्था है उसीको मधुमती कहते हैं। सविचार समाधि में जायमान चित्त की अवस्था को मधुप्रतीका कहते हैं। सानन्द समाधि में होनेवाली अवस्था को विशोका और सास्मित समाधि में होनेवाली अवस्था को ज्योतिष्मती कहते हैं। इन्हीं अवस्थाओं का नाम निरोध है।

इन अवस्थाओं के आविर्भाव होने से ध्येय का साक्षात्कार होना संगत होता है। 'निरुध्यन्ते प्रमाणाद्याः चित्तवृत्तयः यस्मिन् अवस्थाविशेषे' इस व्युत्पत्तिपूर्वक नि उपसर्ग रुध् धातु से अधिकरण में घञ् प्रत्यय करने पर उक्त अवस्था ही निरोध शब्द का वाच्य अर्थ होता है।

निरोध का उपाय

अब निरोध का उपाय बताते हैं। अभ्यास और वैराग्य से चित्तवृत्ति का निरोध होता है। पतञ्जलि ने कहा है—अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। चित्त नदी का प्रवाह निम्नगा होने के कारण विषयों का ही अनुगमन करता है। वह प्रवाह विषयों की ओर जाने से तबतक नहीं रुकता जबतक विषयों में दोषों का अनुसन्धान नहीं करता। विषयों के दोष देखने पर ही उससे वैराग्य उत्पन्न होता है, जिससे शनैः-शनैः प्रवाह रुकने लगता है और वह रुकता हुआ प्रवाह विवेक-दर्शन के अभ्यास से विवेक-मार्ग का अनुगामी होता है। विवेक-दर्शन के दृढ़ अभ्यास से ही ध्येयाकार वृत्ति का प्रवाह बलवान् और दृढ़ होता है।

अभ्यास की व्याख्या स्वयं पतञ्जलि ने की है—'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः। राजस-तामस-वृत्ति से रहित चित्त का प्रशान्तवाहिता-रूप जो परिणामविशेष है वही स्थिति है उसीके लिए बारम्बार यत्न करने का नाम अभ्यास है। जबतक चित्त में राजस और तामस वृत्ति रहती है तबतक चित्त का प्रवाह बहिर्मुख विषय की ओर जारी रहता है। यम नियमादि बहिरङ्ग साधनों के अनुष्ठान से राजस-तामस-वृत्ति का विलय और शुद्ध सात्त्विक वृत्ति का उद्रेक (उदय) होता है उस समय बहिर्मुख वृत्ति का प्रवाह स्वयं रुक जाता है। उस समय स्वरूपनिष्ठ चित्त की स्थिति प्रशान्त धारा की तरह हो जाती है। इसीके लिए (निमित्त) निरन्तर यत्न करने का नाम है अभ्यास। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि 'तत्र स्थितौ' यहाँ 'स्थितौ' पद में जो सप्तमी विभक्ति है वह अधिकरण में नहीं है, जिसका में या पर अर्थ होता है। किन्तु 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति' की तरह 'निमित्तात् कर्मयोगे' से निमित्त अर्थ में सप्तमी है इसलिए स्थिति के निमित्त यह अर्थ होता है। अब वैराग्य का भी लक्षण लिखा जाता है।

वैराग्य-लक्षण

महर्षि पतञ्जलि ने वैराग्य का लक्षण करते हुए लिखा है—'दृष्टानुश्रविकविषय-वितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्। इस संसार में तमाम भोग के लिए जो पदार्थ हैं वे ही दृष्टि के विषय होने से दृष्ट कहे जाते हैं। गुरु-मुख से सुना हुआ वेद ही अनुश्रव है इससे प्रतिपादित जो स्वर्गादि पारलौकिक सुख हैं उनके साधन का नाम आनुश्रविक कहलाता है। दृष्ट और आनुश्रविक इन दोनों की जो वशीकार-संज्ञा है, उसीका नाम है वैराग्य। 'ये सब विषय मेरे वश में हैं मैं इनके वश में नहीं हूँ' इस प्रकार के विचार का नाम है वशीकार।

जब दोनों प्रकार के विषयों में यह ज्ञात होता है कि ये सब विषय परिणाम में तुल्य रेशमवाले सुस्वादु मोदक की तरह मनोमोहक हैं इनसे कभी परिणाम (परमार्थ) में लाभ नहीं हो सकता तब विषयों से धीरे-धीरे चित्त हटने लगता है, और उसीके साथ वैराग्य का उदय होने लगता है।

क्रियायोग विचार

अब क्रिया-योग के विषय में विचार किया जायगा। बिना क्रिया-योग के क्लेश का तनूकरण और समाधि का लाभ नहीं होता है। क्रिया-योग से ही अभ्यास और वैराग्य सम्भव है। अर्जुन के प्रति स्वयं भगवान् ने कहा है—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥

तात्पर्य यह है कि योग-सोपान पर आरोहण करने की इच्छा करनेवाले मुनि के लिए योगारोहण का साधन कर्म अर्थात् क्रिया-योग ही है। जब निष्काम कर्म से चित्त की शुद्धि हो जाती है, तभी वैराग्य का उदय होता है। वैराग्य के उदय होने पर वृत्ति का निरोध होता है। जिस अवस्था में मानव योग प्रासाद पर आरूढ़ हो जाता है, उस अवस्था में उसीके लिए 'शम' अर्थात् सब कर्मों का संन्यास, ज्ञान-परिपाक का साधन बताया गया है। उपर्युक्त गीता के श्लोक में मुनिपद भावी अवस्था के अभिप्राय से दिया गया है। कारण यह है कि योगारूढ़ होने के बाद ही 'मुनि' संज्ञा होती है योगारूढ का लक्षण गीता में ही बताया गया है—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥'—गीता ६।४

अर्थात्, जब योगी इन्द्रियों के विषय और कर्म में आसक्त नहीं होता तब उन कर्मों के संन्यास के कारण वह योगारूढ़ कहा जाता है।

तप स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान ये ही तीन क्रिया-योग हैं। भगवान् पतञ्जलि ने कहा है—'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।' तप का स्वरूप याज्ञवल्क्य ने लिखा है—

'विधिनोक्तेन मार्गेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः।
शरीरशोषणं प्राहुः तपसां तप उत्तमम्॥'

अर्थात्, शास्त्रों में बताये गये मार्ग से विधिपूर्वक कृच्छ्र और चान्द्रायण के द्वारा शरीर का जो शोषण है वही उत्तम तप है। कृच्छ्रादि व्रतों का निर्णय धर्मशास्त्र-ग्रन्थों में बताया गया है।

मन्त्र गायत्री अथवा शक्ति रुद्रादि देव-मन्त्रों का अध्ययन मनन और उपासना का नाम स्वाध्याय है। प्रणव ॐकार को कहते हैं। मन्त्र का अर्थ ही है, 'मननात्त्रायते यस्तु तस्मान्मन्त्रः प्रकीर्तितः' अर्थात् मनन करने से जो रक्षा करता है, वह मन्त्र है। 'मन्त्राणामचिन्त्यशक्तिता' यह कल्पसूत्र है। अर्थात्, मन्त्रों की शक्ति अचिन्त्य है। मन्त्र दो प्रकार के हैं एक वैदिक दूसरा तान्त्रिक। वैदिक भी दो प्रकार का है—प्रगीत और अप्रगीत। प्रगीत साम को कहते हैं। अप्रगीत भी दो प्रकार का है—एक छन्दोबद्ध दूसरा उससे विलक्षण। छन्दोबद्ध ऋक् है, दूसरा यजु। महर्षि जैमिनि ने कहा है— तेषामृक् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था' 'गीतिषु सामाख्या' 'शेषे यजुः शब्दः (जै० सू० २।१।३१ ३५)। तात्पर्य यह है कि जिस वाक्य में अर्थवश

अर्थात्, यह सब काम ब्रह्म ही करता है, मैं इसका कर्ता नहीं हूँ, इस प्रकार के ज्ञान को ही तत्त्वदर्शी महात्माओं ने ब्रह्मार्पण कहा है।

अथवा कर्म-फल का परित्याग ही ईश्वर-प्रणिधान का मुख्य तात्पर्य है। इसीलिए, भगवान् ने कर्म-फल के त्यागपूर्वक कर्मयोग में ही अर्जुन को प्रेरित किया है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूः मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

अर्थात्, हे अर्जुन! तुम्हारा अधिकार केवल कर्म में ही है फल-भोग में नहीं। कर्म-फल में अधिकार का तात्पर्य है 'ममा इदं कर्मफलं भोक्तव्यम् इत्याकारकोऽभिलाषः' अर्थात्, मैं इस कर्म-फल को भोगूँगा इस प्रकार की अभिलाषा से काम करना। फल की कामना से कर्म करनेवाला फलहेतु कहा जाता है इसलिए ऐसा तुम न हो और कर्म के नहीं करने में भी तुम्हारी प्रीति न हो। तात्पर्य यह हुआ कि कर्म-फल की अभिलाषा का त्यागकर कर्म करते रहना चाहिए। यही तीन प्रकार का ईश्वर-प्रणिधान शास्त्रों में बताया गया है। फल की अभिलाषा से कर्म करना अनिष्ट का कारण है ऐसा आचार्यों ने बताया है—

'अपि प्रयत्नसम्पन्नं कामेनोपहतं तपः।
न तुष्टये महेशस्य श्वलीढमिव पायसम्॥

अर्थात् बहुत प्रयत्नों से किया गया भी तप यदि कामना से युक्त हो, तो वह कुत्ते से जूठा किया गया पायस की तरह भगवान् की प्रीति के लिए नहीं होता है।

इस प्रकार, तप स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान-रूप जो क्रिया है वही क्रिया-योग कहा जाता है यह बात सिद्ध होती है। क्रिया-योग से तात्पर्य है—क्रियात्मक योग। अर्थात्, यह करने की चीज है केवल इसके ज्ञान से कुछ नहीं होता।

एक शङ्का यहाँ होती है कि तप स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान इन तीनों में चित्तवृत्ति का निरोध नहीं होता तो इनका योग शब्द से व्यवहार क्यों किया जाता है?

इसका उत्तर यह है कि ये तीनों योग शब्द का वस्तुतः अभिधेय नहीं हैं तो भी योग के साधन होने के कारण शुद्ध सारोप लक्षणावृत्ति से इनमें भी योग शब्द का व्यवहार किया गया है। जिस प्रकार 'आयुर्वै घृतम्' में आयु के साधन होने के कारण ही घृत को आयु कहा जाता है। यहाँ शुद्ध सारोप लक्षणावृत्ति से ही ऐसा बोध होता है। लक्षणा का विवेचन काव्य-प्रकाश साहित्य दर्पण आदि ग्रन्थों में किया गया है। विशेष जिज्ञासुओं को वहाँ ही देखना चाहिए।

अष्टाङ्ग-योग-विवेचन

उपर्युक्त योग के आठ अङ्ग हैं—यम, नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि। यम पतञ्जलि के मत में पाँच ही हैं—अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। नियम भी इनके मत में पाँच ही हैं—शौच, सन्तोष तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। इन दोनों का स्वरूप-निर्देश पहले कर चुके हैं। इनके अतिरिक्त विष्णुपुराण में भी पाँच ही यम और नियम बताये गये हैं—

इन चार आसनों के स्वरूप का भी परिचय कराया जाता है—

'योनिस्थानकमङ्घ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेत्
मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम्।
स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्येद् भ्रुवोरन्तरं
ह्येतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते॥'
—ह. यो. प्र. १।३५

अर्थात्, मेढ्र (लिङ्ग) और गुदा के मध्यभाग को योनिस्थान कहते हैं। उसमें बायें पैर की एड़ी को लगाकर और दायें पैर की एड़ी को मेढ्र के ऊपर भली भाँति सटाकर रखे। हृदय के समीप चिबुक (दाढ़ी) को सटाकर रखे। निश्चल होकर बाह्य विषयों से इन्द्रियों को रोककर अचल दृष्टि से दोनों भौंहों के मध्यभाग को देखता रहे, यही मोक्ष के कपाट को भेदन करनेवाला सिद्धासन है। मत्स्येन्द्रनाथ के मतानुसार यह लक्षण है। अन्य योगियों के मत से निम्नोद्धृत लक्षण प्रकट है—

'मेढ्रादुपरि विन्यस्य सव्यं गुल्फं तथोपरि।
गुल्फान्तरं च निक्षिप्य सिद्धासनमिदं विदुः॥'

अर्थात्, मेढ्र के मूल भाग के ऊपर बायें पैर की एड़ी को रखकर, उसके ऊपर दायें पैर की एड़ी को रखे और सीधा होकर बैठे यही सिद्धासन है। इसीको वज्रासन, मुक्तासन, गुप्तासन आदि भी कहा जाता है। इसके उत्तम कोई आसन नहीं है। इस सम्बन्ध में आचार्यों का कहना है—

'नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भः केवलोपमः।
न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः॥'

पद्मासन-स्वरूप—

'वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम्।
अङ्गुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेत्
एतद्व्याधिविनाशकारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते॥'

वाम जङ्घा के ऊपर दक्षिण पैर को रखकर और दक्षिण जङ्घा के ऊपर वाम पैर को रखे, बाद में पश्चिम विधि से अर्थात् पृष्ठ की ओर दक्षिण हाथ फैलाकर वाम पैर पर रखे हुए दक्षिण पैर के अँगूठे को भली-भाँति पकड़कर पुनः पृष्ठ भाग से वाम हाथ फैलाकर दक्षिण पैर पर रखे हुए वाम पाद के अँगूठे को अच्छी तरह पकड़कर चिबुक (दाढ़ी) को हृदय में सटाकर नासिका के अग्र भाग को देखे। यह नियमी के सकल रोगों का नाश करनेवाला पद्मासन है। इसका नियम से अभ्यास करने पर सकल रोगों का नाश होता है। इसीको बद्धपद्मासन भी कहते हैं। जिसमें पीठ अँगूठे को न पकड़ा जाय वह मुक्त पद्मासन है।

सिंहासन-स्वरूप—

'गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत्।
दक्षिणे सव्यगुल्फं तु दक्षगुल्फं तु सव्यके॥

हस्तौ तु जान्वोः संस्थाप्य स्वाङ्गुलीः सम्प्रसार्य च ।
व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः ॥
सिंहासनं भवेदेतत् पूजितं योगिपुङ्गवैः ।
बन्धत्रितयसन्धानं कुरुते चासनोत्तमम् ॥'

वृषण के नीचे सीवनी के दोनों पार्श्वभागों में वाम गुल्फ को दक्षिण में और दक्षिण गुल्फ को वाम में लगावे, बाद में जाँघों के ऊपर हाथ रखके अँगुलियों को फैलाकर मुँह खोलकर सावधानी से नासिका के अग्रभाग को देखे। यह योगियों से पूजित सिंहासन है। इसके अभ्यास से मूल उड्डीयान और जालन्धर इन तीन बन्धों का सन्धान होता है।

भद्रासन स्वरूप—

गुल्फौ तु वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ।
सव्यं गुल्फं तथा सव्ये दक्षगुल्फं तु दक्षिणे ॥
पार्श्वे पादौ तु पाणिभ्यां दृढं बद्ध्वा सुनिश्चलम् ।
भद्रासनं भवेदेतत् सर्वव्याधिविनाशनम् ॥

वृषण के नीचे सीवनी के पार्श्वभागों में बाईं ओर वामगुल्फ और दाईं ओर दक्षिण गुल्फ को लगाकर सीवनी के पार्श्ववर्ती पैरों को दृढ़ बाँधकर निश्चल रूप से स्थित रहे यह सब व्याधियों का नाश करनेवाला भद्रासन कहलाता है।

यहाँ तक चार मुख्य आसनों के स्वरूप दिखाकर अब प्राणायाम के विषय में विचार किया जायगा।

प्राणायाम का वास्तविक फल चित्त की एकाग्रता ही है। प्राणवायु के चञ्चल होने के कारण ही चित्त में चञ्चलता आती है। चञ्चल चित्त धारणा, ध्यान और समाधि का उपयोगी नहीं होता। प्राणायाम के अभ्यास से ही शनैः-शनैः चित्त में एकाग्रता आने लगती है। यद्यपि चित्त के एकाग्र होने के लिए महर्षि पतञ्जलि ने बहुत-से साधन बताये हैं तथापि सबसे उत्तम, सरल और सुगम होने के कारण ही धारणा ध्यान के पहले प्राणायाम को ही अभ्यसनीय बताया है।

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् ।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ॥

—इत्यादि अनेक प्रमाणों से प्राणायाम को ही सबसे उत्तम स्थैर्य का साधन बताया गया है। एक बात और भी है कि व्याधि-स्त्यान-संशय आदि जो योग के अन्तराय बताये गये हैं उनमें मुख्य व्याधि ही है। व्याधि होने पर कोई भी योग नहीं बन सकता। और आसन स्थैर्य के अनन्तर विधिवत् प्राणायाम के अभ्यास करने पर व्याधि की उत्पत्ति ही नहीं होती, इसलिए प्राणायाम से योग का मार्ग निर्विघ्न रहता है। अतः, प्राणायाम आवश्यक है। एक बात और है कि सुषुम्ना नाड़ी में प्राणवायु का सञ्चार तबतक नहीं होता जबतक नाड़ियों में व्याप्त मल की विशुद्धि नहीं होती। इसलिए, धौति, नेती, बस्ती आदि षट्कर्मों का विधान हठयोग में किया गया है। पतञ्जलि ने इन षट्कर्मों के बारे में कुछ नहीं कहा। उन्होंने यम नियम के अनन्तर आसन और प्राणायाम को ही महत्त्व दिया है।

इसका तात्पर्य यही हो सकता है कि जो काम षट्कर्म से होता है, वह केवल आसन और प्राणायाम के अभ्यास से ही हो जाता है। हठयोगियों को भी यह मान्य है, इसीलिए हठ-योग में भी नाड़ी-शोधक प्राणायाम का ही पहले उपदेश किया गया है। प्राणायाम की परिभाषा करते हुए पतञ्जलि ने लिखा है— 'श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।' अर्थात्, श्वास प्रश्वास की स्वाभाविक निरन्तर प्रवहणशील जो गति है, उसका विच्छेद हो जाना या रुक जाना ही प्राणायाम कहा गया है। बाह्य वायु का अन्तःप्रवेश श्वास है। भीतरी वायु का बाहर निकलना प्रश्वास कहा जाता है। इन दोनों की जो निरन्तर वहनशील स्वाभाविक गति है उसका विच्छेद प्राणायाम शब्द का मुख्य अर्थ है। रेचक और पूरक में यद्यपि गति रहती है तथापि स्वाभाविक गति का विच्छेद वहाँ भी होता ही है, पर अनुभव-सिद्ध है। इसीलिए, रेचक-पूरक को भी प्राणायाम कहा जाता है।

वस्तुतः, यह बात है कि श्वासपूर्वक गति का जो अभाव होता है, वह पूरक प्राणायाम है और प्रश्वासपूर्वक गति का जो अभाव होता है, वह रेचक प्राणायाम कहा जाता है। कुम्भक में बाह्य और आभ्यन्तर दोनों वायुओं का सङ्कोच हो जाता है। जैसे तप्त लोहे के ऊपर जल देने से चारों तरफ से जल संकुचित हो जाता है। यही इसमें विशेषता है। अब प्राणवायु के बहने का स्थान दिखाया जाता है— मनुष्यों की वाम नाड़ी का नाम इडा है, और दक्षिण नाड़ी का नाम पिङ्गला। दोनों के बीच मध्यस्थ रूप से सुषुम्ना का निवास है। इन दोनों नाड़ियों से सूर्योदय से आगामी सूर्योदय-पर्यन्त निरन्तर वायु का सञ्चार होता रहता है। शुक्ल पक्ष में चन्द्र नाड़ी से सूर्योदय-काल में वायु का सञ्चार शुरू होता है, और कृष्णपक्ष में सूर्य नाड़ी से। इस प्रकार, रात-दिन में २१६   श्वास-प्रश्वास चलते हैं।

इन संख्याओं का स्पष्टीकरण अजपा-मन्त्र के रहस्यों को जाननेवाले योगियों ने मन्त्र-समर्पण के विषय में किया है—

> 'षट्शतानि गणेशाय षट्सहस्रं स्वयम्भुवे।
> विष्णवे षट्सहस्राणि षट्सहस्रं पिनाकिने॥
> सहस्रमेकं गुरवे सहस्रं परमात्मने।
> सहस्रमात्मने चैवमर्पयामि कृतं जपम्॥

तात्पर्य यह है कि जीवात्मा अजपा-मन्त्र का ६ घड़ी में २१६   बार जो जप करता है उसीका समर्पण उक्त श्लोकों में बताया गया है। *पहले विघ्नहर्ता गणेश को ६ ,* ब्रह्मा को ६ , विष्णु को ६   महेश को ६   गुरु को १ , परमात्मा को १   और आत्मा को १   ।

इस प्रकार, दिन-रात के २४ घण्टे में जो २१६   बार श्वास और प्रश्वास चलता है उसीमें 'हंसः' की भावना की जाती है। भीतर से बाहर वायु जाने के समय 'हं' की भावना और बाहर से भीतर आने में 'सः' की भावना की जाती है। यही अजपा-जप कहलाता है। इसके स्वाभाविक होने के कारण और मन्त्रों के समान जप नहीं किया जाता, इसीलिए इसको अजपा कहते हैं। एक बात और भी

मालूम है कि दोनों नाड़ियों से वायु के सञ्चरण-काल में पृथिवी जल आदि तत्त्वों का भी सूक्ष्मरूप से सञ्चार होता है। उनका ज्ञान उनके पीत, नील आदि वर्ण-विशेष के द्वारा होता है। उन तत्त्वों के वर्णों का ज्ञान सूक्ष्म आभ्यन्तर दृष्टि से किया जाता है। तत्त्वों के बहने का स्थान इस प्रकार है—अग्नि-तत्त्व ऊपर की ओर बहता है और जल-तत्त्व नीचे की ओर। वायु तिर्यग् बहता है और पृथिवी मध्य-पुट में तथा आकाश तत्त्व सर्वत्र बहता है। इसका क्रम इस प्रकार है कि जब नाड़ी बहने को प्रवृत्त होती है उस समय पहले वायु तत्त्व २ पल तक चलता है। उसके बाद ३ पल तक अग्नि-तत्त्व ४ पल तक जल-तत्त्व ५ पल तक पृथिवी तत्त्व उसके बाद १ पल तक आकाश तत्त्व बहता है। इस प्रकार एक नाड़ी में सब तत्त्वों के बहने में १५ पल लगते हैं जिसका समय-मान ढाई घड़ी अर्थात् प्रचलित एक घण्टा होता है।

तत्त्वों के बहने में जो न्यूनाधिक समय लगता है उसका कारण यह है कि पृथिवी में शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध ये पाँच गुण रहते हैं। प्रत्येक गुण पर १ पल के हिसाब से ५ पल होते हैं। जल आदि में एक एक गुण घट जाने से १ १ पल कम होते जाते हैं आकाश में केवल एक शब्द ही गुण रहता है, जिससे उसमें १ ही पल लगते हैं। सब तत्त्वों का पृथक्-पृथक् फल भी कहा गया है। पृथिवी-तत्त्व के बहने में चित्त की स्थिरता रहती है। जल-तत्त्व में कार्य आरम्भ करने पर फल अधिक मिलता है। अग्नि तत्त्व में चित्त-वृत्ति तीव्र रहती है। वायु-तत्त्व में चित्तवृत्ति चञ्चल और आकाश तत्त्व में गम्भीर रहती है। इसी प्रकार, प्रत्येक में क्रमशः स्थैर्य काम-वासना ताप कोप चञ्चलता और गम्भीरता का भी अनुभव होता है। तत्त्वों के जानने का उपाय भी योग-शास्त्र में बताया गया है—पद्मासन या सिद्धासन पर बैठकर दोनों हाथों के अँगूठों से दोनों कान बन्द करे, दोनों मध्यमा से दोनों नासिका और दोनों तर्जनी से दोनों आँख अनामिका और कनिष्ठिका से दोनों ओठ दबाकर मुँह बन्द करे। बाद में ध्यान देने पर छोटे-छोटे बिन्दु मालूम पड़ेंगे उन बिन्दुओं के वर्ण से तत्त्वों का ज्ञान करना होता है। पीतवर्ण होने से पृथिवी और श्वेतवर्ण से जल, रक्तवर्ण से तेज हरा होने से वायु और वर्णरहित होने से आकाश-तत्त्व समझना चाहिए।

'पीता पृथ्वी जलं श्वेतं रक्तं तेज उदाहृतम्।
श्यामो वायुराकाशः निःसामि(?)वर्णकः॥'

इस प्रकार, उक्त रीति से तत्त्वों को समझकर प्राणायाम के द्वारा वायु का निरोध करने पर विवेक-ज्ञान को आवृत करनेवाला जो पाप-कर्म और उसका मूलभूत अविद्यादि क्लेश है उनका नाश हो जाता है। पाप और उसका मूल कारण अविद्यादि क्लेश ही महामोहक शब्द-स्पर्शादि विषयों की सहायता से विवेकशालशील बुद्धि-तत्त्व को आवृत किये रहते हैं। ये अविद्यादि क्लेश बुद्धि-तत्त्व का आच्छादन ही नहीं करते किन्तु अकर्तव्य कराने में भी नियोजित करते रहते हैं। प्राणायामों के नियमपूर्वक अभ्यास करने पर क्लेश दुर्बल होते-होते अपना कार्य करने में असमर्थ हो जाते हैं और प्रतिदिन क्षीण होने लगते हैं। कर्म का नाशक होने के कारण ही

प्राणायाम को तप भी कहा जाता है। तप कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि जो तप हैं वे केवल पाप कर्म का ही नाश करते हैं, और प्राणायाम-रूप जो तप है उससे कर्म के मूलभूत अविद्या आदि क्लेशों का भी नाश होता है। इसीलिए, शास्त्रों में कहा है—'न तपः प्राणायामात्परम्' अर्थात् प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नहीं है। महात्माओं ने कहा है—

'दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
प्राणायामैस्तु दह्यन्ते तद्वदिन्द्रियजाः मलाः॥'

अर्थात्, जिस प्रकार सुवर्ण आदि धातुओं को अग्नि में तपाने से उसके मल जल जाते हैं, उसी प्रकार प्राणायाम से इन्द्रियों के मल नष्ट हो जाते हैं और प्रकाश के आवरण भी क्षीण हो जाते हैं। पतञ्जलि ने लिखा है—'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्'। यह प्राणायाम का अवान्तर फल है। मुख्य फल तो धारणा के लिए योग्यता प्राप्त करना है। जब यम, नियम, आसन और प्राणायाम के नियमपूर्वक अनुष्ठान से योगी का मन संस्कृत हो जाता है तभी वह धारणा का अधिकारी होता है। प्राणायाम के बिना मन संस्कृत नहीं होता और मन के संस्कार के बिना धारणा दृढ़ नहीं होती। प्राणायाम के बिना धारणा करने की योग्यता ही नहीं आती। धारणा के लिए योग्यता की प्राप्ति ही प्राणायाम का मुख्य प्रयोजन है।

यम नियम आसन, प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि योग के इन आठ अङ्गों में धारणा, ध्यान और समाधि ये तीनों योग के अन्तरङ्ग अङ्ग हैं। इन्हीं की संज्ञा संयम है। संयम से ही योग की सिद्धि होती है। प्रत्याहार के बिना संयम हो नहीं सकता। इसलिए, प्रत्याहार की साधना अत्यन्त आवश्यक है। शब्द स्पर्श रूप और रसादि जो विषय हैं उनमें कुछ तो रञ्जनीय होने के कारण राग के प्रयोजक हैं। कुछ कोपनीय होने से द्वेष के प्रयोजक हैं और कुछ मोहनीय होने से वैचित्र्य अथवा मोह के प्रयोजक। उक्त विषयों में इन्द्रियों की जो प्रवणता (अनुगामिता) है, वही विषयासक्ति है। इन्द्रियों का प्रवाह विषयों की ओर ही नियमेन होता रहता है यही इन्द्रियों की विषय प्रवणता है।

विषयों की ओर से इन्द्रियों को निर्विकार आत्मा में आसक्त चित्त के अनुकारी कर देना ही प्रत्याहार है। प्रश्न यहाँ यह उपस्थित होता है कि इन्द्रियों का प्रवाह बाह्य शब्दादि विषयों में होना यदि स्वाभाविक है तो वे आभ्यन्तर चित्त की अनुकारिणी कैसे हो सकती हैं? इसका उत्तर यह है कि इन्द्रियों का वस्तुतः चित्त-स्वरूपानुकार नहीं होता किन्तु चित्तानुकार के सदृश होने में ही तात्पर्य है। जब चित्त निरोध के अभिमुख हो जाता है तब इन्द्रियों का भी प्रयत्न के बिना ही निरोध हो जाता है। यही इन्द्रियों का चित्तानुकार है। इसीलिए, प्रत्याहार के लक्षण में सादृश्यार्थक इव शब्द का प्रयोग पतञ्जलि ने किया है—

'स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।

—पा० सू० २।५४

यहाँ तात्पर्य यह है कि जब चित्त का निरोध हो जाता है तब इन्द्रियों का भी विषय से सम्बन्ध छूट जाता है। विषयों से सम्बन्ध छूटना ही इन्द्रियों का

चित्तानुकार है और यही प्रत्याहार है। अर्थात् चित्त के निरोध में इन्द्रियों को विषय से विमुख करने के लिए प्रयत्नान्तर की आवश्यकता नहीं होती। जिस प्रकार, मधुमक्खियों की रानी के उड़ जाने पर सब मधुमक्खियाँ स्वयं उड़ने लगती हैं उसी प्रकार चित्त के निरोध होने पर इन्द्रियों का भी निरोध स्वयं हो जाता है। विष्णु पुराण में भी लिखा है—

> 'शब्दादिष्वनुरक्तानि निगृह्याक्षाणि योगवित्।
> कुर्याच्चित्तानुकारीणि प्रत्याहारपरायणः॥
> वश्यता परमा तेन जायतेऽतिचलात्मनाम्।
> इन्द्रियाणामवश्यैस्तैर्न योगी योगसाधकः॥

अब बहिरङ्ग साधनों के बाद अन्तरङ्ग साधनों में क्रम-प्राप्त धारणा का विवेचन किया जायगा। आभ्यन्तर या बाह्य किसी एक देश में चित्त का स्थिरीकरण धारणा का अर्थ है। मूलाधार, नाभिचक्र, हृदय पुण्डरीक, नासिका का अग्रभाग और ललाट आदि आभ्यन्तर विषय कहे जाते हैं और हिरण्यगर्भ इन्द्र आदि देवगण या उनकी प्रतिमा बाह्य विषय कहे जाते हैं। जिस देशविशेष में धारणा की जाती है वही ध्यान का आधार होता है। पतञ्जलि ने कहा है—'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा', अर्थात् देशविशेष में चित्त का दृढ़ सम्बन्ध ही धारणा है। अन्यत्र भी कहा है—

> 'हृत्पुण्डरीके नाभ्यां वा मूर्ध्नि पर्वतमस्तके।
> एवमादिप्रदेशेषु धारणा चित्तबन्धनम्॥'

पुराणों में लिखा है—

> 'प्राणायामेन पवनं प्रत्याहारेण चेन्द्रियम्।
> वशीकृत्य ततः कुर्याच्चित्तस्थानं शुभाश्रये॥
>
> —वि पु ६।७।४५

तात्पर्य यह है कि प्राणायाम से वायु को और प्रत्याहार से इन्द्रियों को वश में करके शुभ आश्रय में चित्त को स्थिर करे।

धारणा के बाद ध्यान की स्थिति आती है। महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है—'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्'। अर्थात्, ध्येयाकार चित्तवृत्ति की एकाग्रता ही ध्यान है। चित्तवृत्ति का निरन्तर प्रवाह एक ही दिशा में हो और किसी अन्य विषय की ओर न हो, उस अवस्था को ध्यान कहते हैं। ध्येयाकार वृत्ति की एकाग्रता को ही ध्यान की संज्ञा दी जाती है। विष्णुपुराण में आया है—

> 'तद्रूपप्रत्यया चैका सन्ततिश्चान्यनिःस्पृहा।
> तद्ध्यानं प्रथमैरङ्गैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप॥'

तात्पर्य यह है कि विषयान्तर की ओर से ध्यान-शून्य जो अखण्ड वृत्ति प्रवाह है उसीका नाम ध्यान है। दीर्घकाल-पर्यन्त निरन्तर श्रद्धापूर्वक योगाङ्गों के अनुष्ठान करने से समाधि के प्रतिपक्षी अविद्या आदि क्लेशों का नाश हो जाता है। अभ्यास-वैराग्य के दृढ़ होने से मधुमती, मधुप्रतीका विशोका और ज्योतिष्मती इन चार सिद्धियों की क्रमशः प्राप्ति होती है।

सिद्धिचतुष्टय और प्रकृति-कैवल्य

ऋतम्भरा नाम की जो समाधि सिद्धि है, उसीको मधुमती भी कहते हैं। जहाँ रजोगुण और तमोगुण का लेश भी नहीं है जहाँ बुद्धिसत्त्व केवल सुखप्रकाशमय है और जहाँ सत्त्व का स्वच्छ प्रकाश है और प्रवाह है वहाँ ऋतम्भरा नाम की प्रज्ञा-समाधि से उत्पन्न सिद्धि 'मधुमती' कही जाती है। भगवान् पतञ्जलि ने लिखा है—'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा' (या सू १।४८)। अर्थात्, अध्यात्म प्रसाद होने पर समाहितचित्त योगी की जो एक प्रकार की चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है उसीका नाम ऋतम्भरा है। 'ऋत सत्यं बिभर्ति=धारयति इति ऋतम्भरा' अर्थात् सत्य का धारण करनेवाली जो प्रज्ञा है उसीको ऋतम्भरा कहते हैं। ऋतम्भरा को ही मधुमती कहते हैं। द्वितीय कक्षा के योगियों को यह प्रज्ञा होती है। योगी चार प्रकार के होते हैं—(१) प्राथमकल्पिक (२) मधुभूमिक, (३) प्रज्ञाज्योति और (४) अतिक्रान्तभावनीय। जिसका ज्ञान पूर्णतः परिपक्व नहीं है वह प्राथमकल्पिक है। जिसकी प्रज्ञा ऋतम्भरा हो गई वह द्वितीय अर्थात्, मधुभूमिक है। तीसरा प्रज्ञाज्योति, जो पर-वैराग्य से सम्पन्न है। चौथा है अतिक्रान्तभावनीय जिसका कोई भी लक्ष्य शेष नहीं रहता। जिसमें मनोजवित्वादि की प्राप्ति हो, वह मधुमतीका है। पतञ्जलि ने कहा है—'मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधान जयश्च'। मन के सदृश शरीर का भी उत्तम गति प्राप्त होना मनोजवित्व कहलाता है। इस अवस्था को प्राप्त योगी जहाँ चाहे, मन की तरह, जा सकता है।

शरीर की अपेक्षा के बिना ही इन्द्रियों का अभिमत देशों में जाना विकरण भाव है। इस अवस्था में बैठा हुआ योगी दूर या व्यवहित वस्तुओं को भी देख-सुन लेता है। कार्य-कारण अर्थात् प्रकृति-महत्तत्त्वादि के ऊपर वशित्व प्राप्त करना प्रधान जय कहलाता है। इस अवस्था को प्राप्त योगी सकल भूत और भौतिक पदार्थों को अपनी इच्छाशक्ति से ही उत्पन्न करता है। ऐसे योगी को प्रज्ञाज्योति कहते हैं। इन्द्रियों के स्वरूप के जय से ही इन्द्रियों के कारण का जय होता है। कारणपञ्चक पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। ग्रहण स्वरूप अस्मिता अन्वय और अर्थवत्त्व—ये ही पाँच ग्रहणादि पञ्चस्वरूप कहे जाते हैं। निश्चय अभिमान चक्षुरूप दर्शन और श्रवण—ये पाँच वृत्तियाँ हैं, इन्हीं का नाम ग्रहण है।

एकादश इन्द्रियों को स्वरूप कहते हैं। अस्मिता बुद्धि और अहङ्कार को कहते हैं। कारण के अनुसन्धान का नाम अन्वय है। जैसे घट में मृत्तिका। मनोजवित्वादि जो सिद्धियाँ हैं उनकी मधुमतीका संज्ञा क्यों है, इसके ऊपर विचार करते हुए महर्षि ने कहा है कि जिस प्रकार मधु के प्रत्येक कण में माधुर्य होता है उसी प्रकार, प्रत्येक मनोजवित्वादि में मधुर स्वाद प्रतीत होता है।

विशोका सिद्धि उसको कहते हैं जिसमें साधक प्रकृति और पुरुष का भेद समझ लेता है और सर्वज्ञत्व प्राप्त कर लेता है। प्रकाशात्मक और अप्रकाशात्मक दो प्रकार के पदार्थ होते हैं। प्रकाशात्मक इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियों के विषय जो शब्द स्पर्शादि और उनके आश्रय जो पृथिवी आदि पदार्थ हैं उनको अप्रकाशात्मक कहते हैं।

प्रकाशात्मक और अप्रकाशात्मक इन दोनों पदार्थों के ऊपर पूर्ण आधिपत्य होना और सब पदार्थों में अपनी इच्छा के अनुकूल व्यवहार करने का सामर्थ्य प्राप्त होना विशोका सिद्धि है।

विशोका में निखिल पदार्थों का साक्षात्कार एक ही काल में हो जाता है। यही सर्वज्ञातृत्व है। पतञ्जलि ने भी कहा है—'विशोका वा ज्योतिष्मती।' अर्थात्, योग से उत्पन्न जो साक्षात्कार है उसके तद्रूप अन्तःकरण की वृत्ति को ज्योतिष्मती कहते हैं। शोक की नाशिका होने के कारण इसे ही विशोका कहते हैं।

जिस वृत्ति में संस्कार मात्र ही शेष है वह संस्कारशेषा सिद्धि है। विशोका और संस्कारशेषा ये दोनों सिद्धियाँ चतुर्थ कक्षा के योगियों को प्राप्त होती हैं। सभी वृत्तियों के सम्यक्तया निरोध में पर वैराग्य के अभ्यास से जब जाति आयु और भोग के बीज समाप्त हो जाते हैं अविद्या आदि क्लेश निर्बीज हो जाते हैं असम्प्रज्ञात समाधि की उपलब्धि हो जाती है और जिसमें संस्कार मात्र ही शेष रह जाता है तब इस प्रकार की जो चित्त की निरोधावस्था है उसीको संस्कारशेषा सिद्धि कहते हैं। भगवान् पतञ्जलि ने भी कहा है—'विराम प्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः' (यो० सू० १।१८)। अर्थात्, तत्त्वज्ञानरूपा जो सात्त्विकी चित्तवृत्ति है उसका भी विराम हो तथा ऐसी वृत्ति निरोधावस्था जिसमें संस्कारमात्र शेष रहता हो और जो सम्प्रज्ञात से भिन्न हो, वह असम्प्रज्ञात है। 'संस्कारशेषः' कहने से मोक्षावस्था से इसमें भेद सूचित होता है। असम्प्रज्ञात समाधि में पुनरुत्थान के लिए वृत्ति के न रहने पर भी वृत्ति का संस्कार रहता है और मोक्ष में चित्त के अत्यन्त विलय होने के कारण संस्कार भी नहीं रहता। यही असम्प्रज्ञात व मोक्ष में विशेषता है। इस प्रकार सर्वथा विराम उत्पन्न करनेवाले साधकों के जो क्लेश बीज हैं वे भूने गये धान के बीज की तरह कार्योत्पादन में असमर्थ होकर मन के साथ ही विलीन हो जाते हैं। इस प्रकार, क्लेश-बीज रूप कर्माशयों के अपने कारण में विलीन हो जानेपर प्रकृति और पुरुष का भेद साक्षात्कार-रूप जो विवेक ख्याति है उसका आविर्भाव होता है। बाद में जैसे-जैसे विवेक-ख्याति का परिपाक होता है वैसे-वैसे शरीर और इन्द्रियों का अपने कारणप्रधान में लय हो जाता है। यही प्रकृति का कैवल्य है।

पुरुष-कैवल्य

एकाकित्व का ही नाम कैवल्य है। प्रकृति के कार्यभूत महत्तत्त्वादि के विलय होने से और पुरुष के साथ प्रकृति का आत्यन्तिक वियोग होने से ही प्रकृति का एकाकित्व सिद्ध होता है। पुरुष का कैवल्य यह है कि आत्मा अपने समस्त औपाधिक स्वरूप को छोड़कर अपने मूल स्वरूप में स्थित हो जाय। इस कैवल्य के अनन्तर आत्मा का बुद्धि तत्त्व से कभी सम्बन्ध नहीं होता। पतञ्जलि ने दो प्रकार की मुक्ति बताई है—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः।

—यो० सू० ४।३४

अभिप्राय यह है कि महत्तत्त्व से सूक्ष्मभूत-पर्यन्त जो कुछ भी लिङ्गशरीर आदि गुण हैं, वे पुरुष के भोगोपकरण हैं। वे जब कृतकार्य हो जाते हैं, तब पुरुषार्थशून्य हो जाते हैं। उसी समय वे अपने कारण में लीन होकर प्रतिप्रसव की संज्ञा प्राप्त करते हैं। बुद्धि-तत्त्व के साथ आत्मा का सम्बन्ध छूट जाने के कारण आत्मा अपने मूल असङ्ग निर्लेप-स्वरूप में जब अवस्थित हो जाता है, तब उसीको पुरुष का कैवल्य कहा जाता है।

इस प्रकार के कैवल्य के बाद पुनर्जन्म नहीं होता; क्योंकि कारण के अभाव में कार्य का होना असम्भव है। 'कारणाभावात् कार्याभावः।'

योग-शास्त्र के चार व्यूह

जिस प्रकार, चिकित्सा-शास्त्र में रोग, रोगहेतु आरोग्य और भेषज (औषध) ये चार व्यूह हैं, उसी प्रकार योग-शास्त्र के भी चार व्यूह माने जाते हैं—संसार, संसारहेतु मोक्ष और मोक्षोपाय। दुःखमय संसार हेय है। प्रधान पुरुष का संयोग दुःखमय संसार का हेतु है। प्रधान पुरुष के संयोग की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है। और उसका उपाय है—सम्यग् दर्शन। प्रकृति और पुरुष के स्वाभाविक भेद का साक्षात्कार ही सम्यग्दर्शन है।

सांख्य-दर्शन

सांख्य-शास्त्र के प्रवर्तक भगवान् कपिल हैं। सांख्य-शास्त्र में संक्षेपतः तत्त्वों के चार प्रकार माने गये हैं—(१) प्रकृति (२) प्रकृति विकृति उभयात्मक (३) केवल विकृति और (४) अनुभयात्मक[1]। केवल प्रकृति को ही मूल प्रकृति या प्रधान कहते हैं, क्योंकि यही सकल प्रपञ्च का मूल कारण है। प्रकृति शब्द की व्युत्पत्ति है—'प्रकर्षेण करोति=कार्यमुत्पादयति इति प्रकृतिः' जो अपने से भिन्न तत्त्वान्तरों को उत्पन्न करे, वही प्रकृति है। यहाँ प्र शब्द से जो प्रकर्ष प्रतीत होता है वह तत्त्वान्तरारम्भक[2] ही है। यहाँ शङ्का होती है कि मृत्तिका घट की प्रकृति है, इस प्रकार का व्यवहार लोक में देखा जाता है परन्तु मृत्तिका से भिन्न घट कोई तत्त्वान्तर नहीं है फिर भी मृत्तिका को घट की प्रकृति क्यों कहते हैं? इसका समाधान यह होता है कि यद्यपि मृत्तिका घट की प्रकृति वस्तुतः नहीं है तथापि प्रकृति शब्द में प्रकर्ष की अविवक्षा से केवल उपादान-कारण को ही प्रकृति मानकर उक्त व्यवहार किया जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अपने से भिन्न तत्त्वान्तर को जो उत्पन्न करे, वही प्रकृति का सामान्य लक्षण है।

उक्त प्रकृति का लक्षण आठ तत्त्वों में ही घटता है। प्रधान, महत्तत्त्व, अहङ्कार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये ही आठ तत्त्व हैं। इनमें शब्द, स्पर्श आदि पञ्चतन्मात्र कहे जाते हैं। प्रधान से महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है। महत्तत्त्व प्रधान से भिन्न तत्त्व माना जाता है इसलिए तत्त्वान्तर का उत्पादक होने के कारण प्रधान महत्तत्त्व की प्रकृति है और महत्तत्त्व प्रधान की विकृति[3]। प्रधान किसीसे उत्पन्न नहीं होता और प्रधान से ही सकल प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है इसीलिए प्रधान को मूल प्रकृति कहते हैं। महत्तत्त्व से अहङ्कार और अहङ्कार से पञ्चतन्मात्र उत्पन्न होते हैं। इसलिए, महत्तत्त्व अहङ्कार की प्रकृति और प्रधान की विकृति सिद्ध होता है। अहङ्कार महत्तत्त्व की विकृति और पञ्चतन्मात्र की प्रकृति है। पञ्चतन्मात्र से पञ्चभूतों की उत्पत्ति है। पञ्चभूत पञ्चतन्मात्र से भिन्न तत्त्वान्तर हैं इसलिए पञ्चतन्मात्र पञ्चभूतों की प्रकृति और अहङ्कार की विकृति सिद्ध होते हैं। महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्र ये सात तत्त्व प्रकृति-विकृति उभयात्मक कहे जाते हैं। पञ्चभूत, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय और मन ये सोलह तत्त्व केवल विकृति-मात्र हैं, क्योंकि इनसे किसी तत्त्वान्तर की उत्पत्ति नहीं होती।

प्रकृति के स्वरूप का विवेचन

मूल प्रकृति का स्वरूप त्रिगुणात्मक है। सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणों की जो साम्यावस्था है उसीका नाम प्रधान, मूलप्रकृति और अव्यक्त है। साम्यावस्था

---

१ प्रकृति और विकृति दोनों से भिन्न। २. जो अपने से भिन्न दूसरे तत्त्व को उत्पन्न करे।
३ उत्पन्न होनेवाले कार्य को विकृति कहते हैं।

होने के कारण ही यह सत्त्व है, यह रज है, यह तम है, इस प्रकार का व्यवहार इसमें नहीं होता और इसमें क्रिया भी नहीं होती। इसलिए, ये तीन तत्त्व नहीं माने जाते। यह त्रिगुणात्मक एक ही तत्त्व माना जाता है।

सत्त्व रज और तम ये तीनों वस्तुतः द्रव्यरूप ही हैं, गुणरूप नहीं। यहाँ शङ्का यह होती है कि यदि सत्त्व, रज और तम ये द्रव्यरूप हैं तो लोक और शास्त्र में इनका गुण-शब्द से व्यवहार क्यों किया जाता है? इसका समाधान यह है कि ये तीनों पुरुष के भोग-साधन-मात्र हैं। इसलिए, गुणीभूत होने के कारण गुण-शब्द से इनका व्यवहार किया जाता है। वस्तुतः, गुण नहीं हैं। क्योंकि ये गुण से भिन्न ही गुणी का स्वरूप होता है। गन्ध से भिन्न पृथिवी का गुण गन्ध होता है। परन्तु, यहाँ ऐसा नहीं है। यहाँ तो सत्त्व, रज तम इनसे भिन्न प्रकृति का कोई स्वरूप है ही नहीं। ये तीनों प्रकृति के स्वरूप ही हैं, धर्म नहीं। इसीलिए, सूत्रकार ने सांख्य-प्रवचन में लिखा है—'सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्', अर्थात् सत्त्वादि तद्रूप होने के कारण प्रकृति के धर्म नहीं हैं।

अब यहाँ दूसरी शङ्का यह होती है कि यदि सत्त्वादि प्रकृति के गुण नहीं हैं, तो 'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः', इस प्रकार गीता आदि स्थलों में सत्त्व, रज, तम का 'प्रकृति के गुण' शब्द से जो व्यवहार किया गया है, उसकी सङ्गति किस प्रकार होगी? इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि जिस प्रकार वृक्षों के समुदाय से भिन्न कोई वन नहीं है, किन्तु वृक्ष-समुदाय को ही वन कहा जाता है, उसी प्रकार वन के ये वृक्ष हैं इस प्रकार का व्यवहार लोक में प्रसिद्ध है। इसी प्रकार, सत्त्वादि के अतिरिक्त प्रकृति के न होने पर भी प्रकृति के सत्त्वादि गुण हैं, इस प्रकार का व्यवहार भी शास्त्रकारों ने किया है।

अब यहाँ तीसरी शङ्का यह होती है कि यदि सत्त्वादि प्रकृति के स्वरूप हैं तो 'सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः', इस गीता-वाक्य में प्रकृतिसम्भवाः[1] यह जो सत्त्वादि का विशेषण दिया गया वह किस प्रकार सङ्गत होगा? क्योंकि सत्त्वादि के अतिरिक्त तो प्रकृति कोई है नहीं जिससे इनकी उत्पत्ति सिद्ध हो।

इसका समाधान यह होता है कि प्रकृति के स्वरूपभूत जो सत्त्व, रज, तम हैं उनका यहाँ ग्रहण नहीं है किन्तु सत्त्वादि की साम्यावस्था को प्राप्त जो मूल प्रकृति है, उससे उत्पन्न जो वैषम्यावस्था को प्राप्त सत्त्व आदि गुण हैं उन्हीं का यहाँ ग्रहण है। ये ही वैषम्यावस्थापन्न[1] सत्त्व रज तम महत्तत्त्व के कारण होते हैं। इन्हीं की उत्पत्ति उपर्युक्त गीता-वाक्य में बताई गई है। मूलप्रकृति के स्वरूपभूत साम्यावस्थापन्न जो सत्त्व रज तम हैं वे तो नित्य हैं उनकी उत्पत्ति मानने में प्रकृति के नित्यत्वरूप की क्षति

---

१ यहाँ के बाद [illegible]

हो जायगी। ये तीनों गुण न्यूनाधिक मात्रा में होकर जब मूल प्रकृति में क्षोभ का सञ्चार करते हैं तब इसी से महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है। बहुत से लोग इनको तत्त्वान्तर भी मानते हैं जिनको मिलाकर २८ तत्त्व होते हैं।

गुणों के स्वभावों का विचार

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः।
गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥

—सांख्यकारिका

सत्त्व का स्वभाव लघु और प्रकाशक होता है। रज का स्वभाव चञ्चल होता है। तम गुरु और आवरण करनेवाला होता है। सत्त्वगुण और तमोगुण में स्वाभाविक क्रियाशीलता नहीं होती। जब रजोगुण का अंश उसमें मिलता है तभी वह सक्रिय होता है। अर्थात्, सत्त्व लघु होने से ही प्रकाशक होता है रज सक्रिय होने के कारण ही अपने अपने कार्य में प्रवर्तक होता है और तम गुरु होने से ही आच्छादक होता है।

प्रकृति के स्वरूपभूत जो सत्त्व रज और तम हैं वे प्रत्येकशः अनेक प्रकार के होते हैं। कोई अणु परिमाणवाले और कोई विभु परिमाणवाले होते हैं। केवल मध्यम परिमाणवाले नहीं होते क्योंकि मध्यम परिमाण मानने से घटादि के समान सावयव होने से अनित्य होने लगेंगे जो इनके सिद्धान्त के प्रतिकूल है। मूल प्रकृति से उत्पन्न जो वैषम्यापन्नावस्थापन्न सत्त्वादि हैं वे मध्यम परिमाणवाले भी माने जाते हैं। अतः, सत्त्वादि अनेक प्रकार के सिद्ध होते हैं।

यहाँ एक शङ्का होती है कि यदि सत्त्वादि अनेक प्रकार के हैं तो तीन ही क्यों कहे जाते? इसका समाधान यह होता है कि जिस प्रकार वैशेषिकों के मत में पृथिवी, जल आदि द्रव्यों में प्रत्येक के—नित्य, अनित्य शरीर, इन्द्रिय और विषय के भेद से—अनेक प्रकार के होने पर भी, पृथिवीत्व आदि द्रव्य-विभाजक उपाधि के नव होने से नव ही द्रव्य माने जाते हैं उसी प्रकार गुणत्व-विभाजक सत्त्वत्व, रजस्त्वादि उपाधि के तीन ही होने से गुण तीन ही हैं इस प्रकार का व्यवहार लोक में होता है।

सांख्यतत्त्वविवेक में 'प्रीती प्रकाशनः' सूत्र के ऊपर सत्त्व रज और तम के अनेक प्रकार के धर्म बताये गये हैं। जैसे—सत्त्व का सुख प्रसन्नता और प्रकाश; रज का दुःख कालुष्य-प्रवृत्ति और तम का मोह, आवरण तथा स्तम्भ। इस प्रकार, सत्त्व सुखात्मक रज दुःखात्मक और तम मोहात्मक कहा जाता है।

मूल प्रकृति का स्वरूप यद्यपि प्रत्यक्ष-प्रमाण का विषय नहीं है तथापि अनुमान प्रमाण से इसकी सिद्धि की जाती है। अनुमान का प्रकार इस प्रकार होता है—महत्तत्त्व से लेकर भौतिक प्रपञ्च पर्यन्त जितने दृश्यमान कार्य हैं वे सब सुख-दुःख-मोहात्मक और उत्पन्न होनेवाले कार्य हैं। इसलिए, इनका कारण कोई अवश्य होगा और वह सुख दुःख और मोहात्मक ही होगा यह सिद्ध होता है। क्योंकि बिना कारण के कार्य होता नहीं, और कारण में जो गुण रहते हैं वे ही कार्य में उत्पन्न होते हैं;

सर्वमान्य सिद्धान्त भी है कि 'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते।' महदादि सकल प्रपञ्च सुख-दुःख-मोहात्मक देखे जाते हैं, इसलिए इनका कारण भी सुख-दुःख-मोहात्मक द्रव्य ही सिद्ध होता है। जो जो सुख-दुःख-मोहात्मक कार्य हैं, वे सब सुख-दुःख मोहात्मक कार्य के परिणाम हैं। जैसे—वस्त्रादि कारण के परिणामभूत शय्या और आसनादि।

यहाँ यह आशङ्का होती है कि शय्या और आसन का जो दृष्टान्त दिया जाता है, वह युक्त नहीं होता। कारण यह है कि शय्या आसनादि सुखादि के साधनमात्र हैं, सुखादिस्वरूप नहीं हैं। क्योंकि सुख, दुःख और मोह ये सब अन्तःकरणविशेष-रूप मन के धर्म होते हैं, विषय के धर्म नहीं हो सकते।

इसका उत्तर यह होता है कि मन में जो सुख दुःख और मोहादि धर्म हैं वे कारणगुणपूर्वक ही होते हैं। इसलिए, मन की परम्परया कारणीभूत जो मूलप्रकृति है उसमें सुख दुःख, मोहादि धर्म को अवश्य मानना होगा। क्योंकि जो गुण कारण में नहीं रहते, वे कार्य में आते ही नहीं। इसी सिद्धान्त से मूलप्रकृति में रहनेवाले सुख दुःख और मोहादि जो धर्म हैं वे ही उक्त न्याय[1] से अपने कार्यभूत मन में जिस प्रकार सुख दुःख मोहादि के आरम्भक[2] होते हैं उसी प्रकार अपने कार्यभूत पञ्चमहाभूतों में भी सुख, दुःख और मोह के आरम्भक होते हैं। इस प्रकार, भौतिक विषयों में भी सुख-दुःख-मोहादि सिद्ध होते हैं। इसीलिए, धर्म और धर्मी में अभेद विवक्षा से शय्या और आसनादि का जो दृष्टान्त दिया गया है वह अयुक्त नहीं होता।

एक बात और है कि जिस प्रकार घट-रूप, पट-रूप इस प्रकार की प्रतीति होती है, उसी प्रकार चन्दन सुख स्त्री-सुख इस प्रकार की भी प्रतीति होती ही है इससे भी विषयों में सुख दुःखादि की सिद्धि अवश्य हो जाती है। जिस प्रकार 'आयुर्वै घृतम्' में आयु के साधन होने से घृत को आयु माना गया है उसी प्रकार सुखादि के साधन होने से विषयों को सुख, दुःख और मोहात्मक मानना समुचित ही है।

महत्तत्त्व-विवेचन

जिन आठ तत्त्वों को प्रकृति शब्द का वाच्य मानते हैं उनमें द्वितीय का नाम बुद्धि-तत्त्व है; इसीको महत्तत्त्व भी कहते हैं। धर्म, ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य आदि उत्कृष्ट गुण इसीमें पाये जाते हैं। इसलिए, यह महत्तत्त्व है। यद्यपि इसमें सत्त्व रज और तम ये तीनों गुण रहते हैं, तथापि सत्त्व की प्रधानता रहती है रज और तम तिरोहित रहते हैं। महत्तत्त्व के परिणामविशेष ही बुद्धि मन और अहङ्कार हैं। इन तीनों को ही अन्तःकरण कहा जाता है। अन्तःकरण जिस समय निश्चयात्मक वृत्ति के रूप में परिणत होता है उस समय उसे बुद्धि कहते हैं। अभिमानात्मक वृत्ति के रूप में परिणत अन्तःकरण को अहङ्कार कहते हैं और सङ्कल्प विकल्प तथा संशयात्मक वृत्ति में परिणत अन्तःकरण को मन कहा जाता है। मन बुद्धि और अहङ्कारात्मक जो अन्तःकरण रूप वृक्ष है उसीकी अङ्कुरावस्था महत्तत्त्व है।

---

१. 'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते'। २. [illegible]।

जिस प्रकार प्रधान में सत्त्वादि गुणों के न्यूनाधिक्य से अनेक प्रकार के भेद बताये गये हैं उसी प्रकार महत्तत्त्व में भी अनेक प्रकार के भेद सिद्ध होते हैं। ब्रह्मा से स्थावर-पर्यन्त जितने जीव माने गये हैं उनमें प्रत्येक का एक-एक उपाधिभूत महत्तत्त्व माना गया है। यद्यपि सब बुद्धि-तत्त्वों में सत्त्व अंश प्रधान रहता है तथापि कहीं रजोगुण अधिक उद्भूत रहता है और सत्त्व तथा तम तिरोहित रहते हैं। कहीं सत्त्व और तम ही उद्भूत रहते हैं और रज तिरोहित।

ब्रह्मा की उपाधिभूत बुद्धि में रजोगुण ही अधिक प्रकट रहता है और सत्त्व-तम तिरोहित रहते हैं। विष्णु और महेश में क्रमशः सत्त्व और तम अधिक रहते हैं और अन्य तिरोहित रहते हैं। किसी-किसी बुद्धितत्त्व में तो तमोगुण और रजोगुण इतने अधिक होते हैं कि वहाँ सत्त्व अंशतः रहता हुआ भी नहीं के बराबर प्रतीत होता है। इसलिए, वह महत् शब्द का वाच्य होता हुआ भी अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य आदि अनेक दुर्गुणों से युक्त होता है। इस प्रकार की बुद्धिवाले मनुष्य धर्माचरण से बिलकुल विमुख रहते हैं।

अहङ्कार-विचार

अब अहङ्कार के विषय में विचार करते हैं। महत्तत्त्व से अहङ्कार की उत्पत्ति होती है। बुद्धि-विशेष का ही नाम अहङ्कार है। अहन्ता (अहमाकार), इदन्ता (इदमाकार) बुद्धि को ही बुद्धि-विशेष कहते हैं। अहन्ता के बिना इदन्ता का उदय नहीं होता। इसलिए, अहन्ता बुद्धि-विशेषभूत अहङ्कार की उत्पत्ति हुई। यह तृतीय तत्त्व है। महत्तत्त्व के समान अहङ्कार के भी सत्त्वादि गुणों के उत्कर्षापकर्ष से तीन प्रकार के भेद होते हैं। सात्त्विक को वैकारिक, राजस को तैजस और तामस को भूतादि भी कहते हैं। जहाँ रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण ही उत्कट रहता है वहीं सात्त्विक अहङ्कार की स्थिति है। सात्त्विक अहङ्कार राजस की सहायता से प्रवृत्तिधर्मी एकादश इन्द्रियों को उत्पन्न करता है। पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय और मन ये ही एकादश इन्द्रियाँ हैं। पञ्चतन्मात्र में—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच आते हैं। इनके दो भेद होते हैं—सविशेष और निर्विशेष। शब्द में उदात्त, अनुदात्त, निषाद और गान्धर्व आदि विशेष गुण रहते हैं। स्पर्श में उष्णत्व, शीतत्व, मृदुत्व आदि; रूप में शुक्लत्व, कृष्णत्व आदि; रस में मधुरत्व, अम्लत्व आदि और गन्ध में सुरभित्व, असुरभित्व आदि विशेष गुण रहते हैं। ये पञ्च तन्मात्राएँ क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी इन पञ्च महाभूतों की प्रकृति हैं। मूलप्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्र, पञ्चमहाभूत, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय तथा मन ये सब मिलकर चौबीस तत्त्व होते हैं। पचीसवाँ तत्त्व पुरुष है। यही जीवात्मा है। इससे भिन्न सर्वज्ञ ईश्वर सांख्य-मत में नहीं माना जाता। जीवात्मा प्रति शरीर में भिन्न भिन्न है। यदि जीवात्मा को भिन्न भिन्न न माना जाय तो एक के बद्ध होने पर सबको बद्ध, एक के मुक्त होने पर सबको मुक्त, एक को सुखी होने पर सबको सुखी, एक को दुःखी होने पर सबको दुःखी मानना होगा। इसलिए, सांख्य-प्रवचन में लिखा है—जन्मादि-व्यवस्थातः

पुरुषपुरुषम्'। यही जीवात्मा अनादि, सूक्ष्म, चेतन, सर्वगत, निर्गुण, कूटस्थ, द्रष्टा, भोक्ता और क्षेत्रविद् भी कहा जाता है।

वैशेषिकों के मत में द्रव्यगुणादि जो सात पदार्थ माने गये हैं, उन इन्हींमें अन्तर्भाव हो जाता है। यथा—पृथिवी आदि नव पदार्थों में पृथिवी जल, वायु आकाश और मन इन छह पदार्थों का तत्तत् नाम से ही निर्देश गया है। आत्मा का पुरुष पद म निर्देश किया गया है। इनके मत में दिक् काल का आकाश में ही अन्तर्भाव माना गया है। सूत्रकार ने भी लिखा 'दिक्कालावाकाशादिभ्यः'। अर्थात्, दिक् और काल आकाश से ही सिद्ध हो जात

गुण कर्म और सामान्य को द्रव्य से अतिरिक्त कोई पदार्थ सांख्यकार नहीं म इसलिए, विशेष और समवाय भी इनके मत म अनुपयुक्त ही हैं। अभाव भी इनके भावान्तर-स्वरूप ही है। जैसे घट का प्रागभाव मृत्तिका-स्वरूप ही है। प्रध्वंसाभाव घट का खण्ड-स्वरूप है। घट का अत्यन्ताभाव अधिकरण (? स्वरूप है। घट का अन्योन्याभाव पटादि-रूप है। इसलिए, अभाव भी इनके नहीं माना जाता।

सांख्यीय सृष्टि-क्रम

सृष्टि-क्रम के सम्बन्ध में सांख्य का स्वतन्त्र विचार है। सृष्टि के आदि स्वतन्त्र प्रवृत्तिवाली केवल मूल प्रकृति ही थी। वह प्रवृत्तिस्वभाव होने के स्वयं क्षुब्ध होकर पुरुष-विशेष-संज्ञक जीव-विशेष को नारायण पदवाच्य है, के संयुक्त होती है। इसके बाद अन्य सजातीय प्रकृति के अंशों के साथ, न्यूनाधिकमा मिलकर महत्तत्त्व का आरम्भ करती है।

यहाँ यह शङ्का होती है कि 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' अर्थात् पुरुष असङ्ग है त प्रकृति के साथ संयोग कैसे करता है? इसका उत्तर यह है कि विकार ज जो संयोग है पुरुष में उसीका अभाव श्रुति बताती है। प्रकृति के साथ पुरुष का होने पर भी पुरुष में विकार नहीं होता। वह 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' बना रहता है।

महत्तत्त्व चेतन और अचेतन उभयात्मक माना जाता है। प्रकृति म अंश की ही मुख्य उत्पत्ति मानी जाती है। चेतन अंश की अभिव्यक्ति-मात्र होती चेतन (पुरुष) का प्रतिबिम्ब ही महत्तत्त्व में भासित होता है। इसलिए, इसकी गौण मानी गई है। इसी प्रकार, सृष्टि के आरम्भ में महत्तत्त्व के कारणीभूत प्रकरणावाले गुणत्रय के सम्बन्ध से जीवविशेषभूत आदिशक्ति भी प्रगट होती है। यही प्रकृति की अधिष्ठात्री देवी है। इसका नाम महालक्ष्मी, दुर्गा म भगवती आदि पुराणों में प्रसिद्ध है। लोक में रहनेवाली जितनी विशेषताएं वे प्रधानादि उपाधि के सम्बन्ध से ही भासित होती हैं। इसलिए न सब औपाधिक जाते हैं। इनसे परम औपाधिक विशेषताओं से रहित निर्विशेष जीवसमष्टि उसीको ब्रह्म कहते हैं और उपाधिविशिष्ट सविशेष जीवसमष्टि को स्वयम्भू कहते

विशेषता केवल उपाधि-प्रयुक्त ही है, जीव का धर्म नहीं। जीव की उपाधि लिङ्ग शरीर ही है। बुद्धि, अहङ्कार, मन, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय और पञ्चमहाभूतों के समुदाय को लिङ्ग-शरीर कहते हैं।

कहीं-कहीं सत्रह तत्त्वों के समुदाय को ही लिङ्ग-शरीर कहा गया है। उनके मत में अहङ्कार का बुद्धि में ही अन्तर्भाव माना जाता है। बुद्धि का जो वृत्तिभेद है, उसीका नाम भाव है। यह कोई भिन्न तत्त्व नहीं माना जाता। आत्मचैतन्य की अभिव्यक्ति उपाधि में ही होती है; अतः आत्मचैतन्याभिव्यक्ति का आधार उपाधि ही होती है। जिस प्रकार, अग्नि की अभिव्यक्ति का आधार ईन्धन ही होता है। सबसे पहले यह लिङ्ग-शरीर स्वयम्भू का उपाधिभूत एक ही होता है। बाद में उसके अंशभूत व्यष्टिलिङ्ग शरीर व्यष्टि जीवों की उपाधि होकर अनेक प्रकार से विभक्त होते हैं। जैसे—पिता के लिङ्ग-शरीर से अनेक पुत्र के लिङ्ग-शरीर उत्पन्न होते हैं। यही स्वयम्भू अपने सूक्ष्म लिङ्ग-शरीरावयवों को अपने सूक्ष्म चैतन्यांशों से संयुक्तकर सब प्राणियों की सृष्टि करता है। जीव वस्तुतः परस्पर भिन्न ही हैं।

यहाँ शङ्का यह होती है कि यदि व्यष्टिलिङ्ग-शरीर-रूप उपाधि से संयुक्त होने से ही जीवसंज्ञा होती है तो जीवों में भेद भी उपाधिकृत ही होना चाहिए, स्वाभाविक भेद मानना युक्त नहीं होता। इसका उत्तर यह होता है कि उपाधि से जीवों में अविद्यमान भेद उत्पन्न नहीं होता, किन्तु जैसे विद्यमान घटादि पदार्थ दीप के प्रकाश से अभिव्यक्त होता है, वैसे विद्यमान जीवगत स्वाभाविक भेद भी शरीर आदि उपाधि से ही अभिव्यक्त होता है; क्योंकि जीवगत परस्पर भेद स्वाभाविक ही होता है। पूर्वोक्त स्वयम्भू को स्थूलशरीरोपाधि से विशिष्ट होने के कारण नारायण कहते हैं। स्थूल शरीर क्या है? और इसकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है? इस सम्बन्ध में सांख्य का अपना स्वतन्त्र विचार है, जिसको आगे दिखाया जा रहा है।

महत्तत्त्व से अहङ्कार की उत्पत्ति होती है, अहङ्कार से तन्मात्राएँ। अहङ्कार महत्तत्त्व का दशमांश होता है। अहङ्कार से उत्पन्न तन्मात्राओं में शब्दतन्मात्रा से उत्पन्न जो आकाश है, वह अहङ्कार का दशमांश होता है। आकाश का दशमांश वायु, वायु का दशमांश तेज, तेज का दशमांश जल और जल का दशमांश पृथिवी, यही स्थूल-शरीर का बीज है। यही बीज अण्ड रूप में परिणत होता है। उसी अण्ड में चतुर्दशभुवनात्मक स्वयम्भू का शरीर रहता है। यही स्थूलशरीरोपाधिविशिष्ट होने से नारायण-पद का वाच्य होता है।

इन्द्रियों से पहले तन्मात्राएँ होती हैं या तन्मात्राओं से पहले इन्द्रियाँ अथवा कौन सी इन्द्रिय किसके पहले उत्पन्न हुई, इसमें कोई क्रम-नियम नहीं होता। केवल तन्मात्राओं की उत्पत्ति में क्रम-नियम रहता है। सबसे पहले तामस अहङ्कार से शब्द-तन्मात्रा की उत्पत्ति होती है। उस अहङ्कारसहित शब्दतन्मात्रा से शब्द और स्पर्श दोनों गुणोंवाली स्पर्शतन्मात्रा उत्पन्न होती है, और अहङ्कारसहित स्पर्शतन्मात्रा से शब्द, स्पर्श और रूप गुणोंवाली रूपतन्मात्रा उत्पन्न होती है। अहङ्कारसहित रूपतन्मात्रा से शब्द, स्पर्श और रस गुणोंवाली रसतन्मात्रा उत्पन्न होती है। अहङ्कारसहित रसतन्मात्रा से शब्द, स्पर्श,

रूप रस और गन्ध गुणोंवाली गन्धतन्मात्रा उत्पन्न होती है। इन पञ्चतन्मात्राओं से ही क्रमशः उत्तरोत्तर एक अधिक गुणवाले आकाशादि पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार, मूलप्रकृति महत्तत्त्व अहङ्कार और पञ्चतन्मात्राएँ पञ्चज्ञानेन्द्रिय पञ्चकर्मेन्द्रिय मन तथा पञ्चमहाभूत ये मिलकर चौबीस तत्त्व होते हैं। पुरुष प्रकृति-विकृति के अतिरिक्त अपरिणामी और निर्लेप होता है। इसको मिलाकर सांख्य-मत में कुल पचीस तत्त्व होते हैं।

इस प्रकार मूलतः दो ही तत्त्व हैं—एक चित्, दूसरा अचित्, अर्थात् पुरुष और प्रकृति। इन दोनों के अभेद-ज्ञान से ही पुरुष बद्ध होता है। और, इन दोनों के भेदज्ञान के विवेक से ही पुरुष मुक्त होता है। सारांश यह कि पुरुष और प्रकृति के अविवेक-ज्ञान से ही बन्धन और विवेक-ज्ञान से ही मोक्ष होता है। इसी भेद-ज्ञान के लिए ही मूलप्रकृति के परिणामस्वरूप महदादि तत्त्वों की कल्पना की गई है। अन्यथा आत्मा के उपाधिभूत जो बुद्धि, मन तथा शरीर आदि हैं उनसे आत्मा का विवेक-ज्ञान नहीं होता। इन सब तत्त्वों का परिगणन सांख्यकारिका के एक ही श्लोक में किया गया है—

'मूलप्रकृतिरविकृतिः महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारः न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥

भाव यह है कि मूल प्रकृति किसी की विकृति नहीं होती। महत् आदि सात तत्त्व प्रकृति और विकृति दोनों होते हैं। महत्तत्त्व अहङ्कार की प्रकृति और मूलप्रकृति की विकृति है। एवं अहङ्कार भी महत्तत्त्व की विकृति और तमोगुण के अधिक प्रकट होने से शब्द-स्पर्शादि पञ्चतन्मात्राओं की प्रकृति भी होता है। और, यही अहङ्कार-तत्त्व सत्त्व-गुण के अधिक होने से श्रोत्र त्वक्, चक्षु रसना और घ्राण इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों और वाक् पाणि पाद पायु और उपस्थ इन पाँच कर्मेन्द्रियों और मन की प्रकृति होता है। रजोगुण ही सत्त्व और तम में क्रिया का उत्पादन करता है। इसलिए, इसको भी कारण माना जाता है। उक्त सात तत्त्व प्रकृति और विकृति दोनों हैं। इनके अतिरिक्त सोलह तत्त्व केवल विकृति होते हैं; क्योंकि इनसे किसी तत्त्वान्तर की उत्पत्ति नहीं होती। पुरुष प्रकृति और विकृति कुछ भी नहीं है। वह अपरिणामी निर्गुण और निर्लेप है। मूल प्रकृति किसी की विकृति नहीं होती कारण यह है कि उसको विकृति मानने से उसका कोई अन्य कारण मानना होगा। पुनः उसके कारणान्तर मानने में अनवस्था दोष हो जाता है। इसीलिए सूत्रकार ने भी लिखा है—'मूले मूलाभावादमूलं मूलम्'। अर्थात् मूलप्रकृति अमूल है। इसमें कोई कारण नहीं है। ऊपर लिख चुके हैं कि रजोगुण ही सत्त्व और तम में क्रिया का सञ्चालन करता है। ईश्वरकृष्ण ने भी सांख्यकारिका में इस विषय में लिखा है—

'अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद्‌द्विविधः प्रवर्तते सर्गः।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रा पञ्चकश्चैव॥
सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम्॥

इन कारिकाओं का वाचस्पति मिश्र ने भावार्थ लिखा है कि अभिमान को ही अहङ्कार कहते हैं। अहङ्कार से दो प्रकार की सृष्टि होती है एक प्रकाशक दूसरा जड़। प्रकाशक इन्द्रियाँ हैं और शब्दादि पञ्चतन्मात्र जड़। यहाँ शंका होती है कि एक ही अहङ्कार से प्रकाशक और जड़ इन दो प्रकार की विलक्षण सृष्टि किस प्रकार होती है? इसके उत्तर में उपर्युक्त कारिकाकार कहते हैं कि 'सात्त्विक एकादशकः' तात्पर्य यह है कि एक ही अहङ्कार सत्त्व रज और तम इन तीन के उत्कर्ष और अपकर्ष से तीन प्रकार का होता है। उनमें सत्त्व के आधिक्य से सत्त्वप्रधान वैकृत कहा जाता है। तमोगुण के आधिक्य से तमःप्रधान भूतादि कहा जाता है। और रजोगुण के आधिक्य से रजःप्रधान तैजस कहा जाता है। प्रकृत में वैकृतसंज्ञक सत्त्वप्रधान अहङ्कार से एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। इसलिए, इनको भी सात्त्विक कहा जाता है। भूतादि नाम का जो तामस अहङ्कार है, उससे पञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। रजःप्रधान जो तैजस अहङ्कार है उसका दूसरा कोई काम नहीं है। अर्थात् तैजस अहङ्कार किसी तत्त्वान्तर का स्वतन्त्र कारण नहीं होता। किन्तु वैकृत और भूतादिक सहायकमात्र होते हैं। तात्पर्य यह है कि सत्त्वगुण और तमोगुण समर्थ होने पर भी तबतक कुछ भी नहीं कर सकता जबतक कि रजोगुण उसका सञ्चालन न करे। इसलिए, उक्त कारिका में 'तैजसादुभयम्' कहा गया है।

'बुद्धीन्द्रियाणि' में इन्द्र शब्द आत्मा का वाचक होता है। इन्द्रस्य (आत्मनः) लिङ्गम् (ज्ञापकम्) इस व्युत्पत्ति से इन्द्रिय शब्द का अर्थ आत्मा का ज्ञापक होता है; क्योंकि इन्द्रिय-प्रवृत्ति के द्वारा ही आत्मा का अनुमान किया जाता है। इन्द्रिय शब्द सात्त्विक अहङ्कार के कार्य में ही योगरूढ माना गया है इसलिए अहङ्कार में उसकी अतिव्याप्ति नहीं होती। मन के तीन विशेषण दिये गये हैं—उभयात्मक संकल्प और इन्द्रिय।

मन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों के प्रवर्त्तक होने से उभयात्मक है। संकल्प का तात्पर्य है—सम्यक् कल्पना करनेवाला अर्थात् यहाँ विशेष्य-विशेषण भाव से अच्छी प्रकार कल्पना की जाय। मनःसंयुक्त इन्द्रिय के द्वारा पहले सामान्य रूप से ही वस्तु का ज्ञान होता है। बाद में यह इस प्रकार का है इस प्रकार का नहीं है इसमें यह विशेषता है इस प्रकार सम्यक् विवेचन करना मन का कार्य है। जैसे, अन्य इन्द्रियाँ सात्त्विक अहङ्कार के कार्य हैं वैसे मन भी सात्त्विक अहङ्कार का कार्य है इसीलिए यह मन भी इन्द्रिय कहा जाता है। आकाश आदि पञ्चमहाभूत और एकादश इन्द्रियाँ—ये सोलह तत्त्व केवल विकृति कहे जाते हैं। ये किसी की प्रकृति नहीं होते।

मौलिक पदार्थ और मन

अब मौलिक पदार्थों का सबसे परिगणन क्यों नहीं किया गया इस बात को दिखाया जाता है। सांख्य-शास्त्र के अनुसार विवेक-ज्ञान से ही मोक्ष-सिद्धि मानी गई है। विवेक का अर्थ है चित् और अचित् में भेद का ज्ञान। भेद का ज्ञान प्रतियोगी और अनुयोगी

ज्ञान का सापेक्ष ही होता है। जिसका भेद होता है, वह प्रतियोगी कहा जाता है। और जिसमें भेद होता है, वह अनुयोगी कहा जाता है। जैसे—गो का भेद अश्व में है, वहाँ गो प्रतियोगी और अश्व अनुयोगी होता है। गो और अश्व के ज्ञान के बिना गो और अश्व में भेद का ज्ञान नहीं हो सकता। प्रकृत में प्रकृति और पुरुष दो तत्त्व माने जाते हैं। क्योंकि, इन्हीं के विवेक-ज्ञान से मोक्ष होता है। अतः 'तत्त्वज्ञानान्मोक्षः' यह प्रवाद सङ्गत होता है। इसीलिए, विवेक ज्ञान में प्रतियोगित्वया अथवा अनुयोगित्वया जिसका सम्बन्ध रहे, वही तत्त्व का सामान्य लक्षण सिद्ध होता है। अतएव प्रकृति पुरुष का स्वरूप-ज्ञान आवश्यक होता है।

मूलप्रकृति के अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण उसका ज्ञान होना असम्भव है। इतना ही नहीं, प्रकृति का साक्षात् कार्य महत्तत्त्व, महत्तत्त्व का कार्य अहङ्कार और उसका कार्य पञ्चतन्मात्र ये सात तत्त्व भी सूक्ष्म ही हैं। इसलिए, इनका भी विशद रूप से ज्ञान होना सम्भव नहीं। प्रकृति की परम्परा में इन्द्रियों या भूतों के समूह में इन सोलह विकारों को विशद रूप से जाना जा सकता है। सोलह विकारों का विशद रूप से ज्ञान होने पर उनसे भिन्न पुरुष में भेद ज्ञान होना सुकर हो जाता है। तात्पर्य यह है कि षोडश विकारों से पुरुष में भेद सिद्ध होने पर उनका मूल कारण जो मूलप्रकृति है, उससे भी पुरुष में भेद-ज्ञान अवश्य सिद्ध हो जाता है।

अश्व, घट आदि जो भौतिक पदार्थ हैं, उनके अनन्त होने के कारण उनका विशद रूप से ज्ञान होना सम्भव नहीं है। और भी मोक्ष के साधनभूत भेद ज्ञान में भौतिक गो घटादि का ज्ञान आवश्यक भी नहीं है। कारण यह है कि पृथिवी आदि भूतों के साथ आत्मा के भेद-ज्ञान होने पर भौतिक घटादि के साथ भेद-ज्ञान की आवश्यकता भी नहीं रहती। क्योंकि पुरुष निर्विशेष है उसका विधि-मुख से ज्ञान नहीं हो सकता। अर्थात् यह स्थूल है, नील है, पीत है, इस प्रकार विधि-मुख से आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता। किन्तु, यह (आत्मा) नील नहीं है पीत नहीं है इत्यादि निषेध-मुख से ही इसका ज्ञान होना सम्भव है।

अब यहाँ यह विचारना है कि जब यह (आत्मा) स्थूल नहीं है नील नहीं है पीत नहीं है, इत्यादि निषेध ज्ञान से आत्मा में इन्द्रियमात्र समस्त गुणों का निषेध हो जाता है तो फिर कौन-सा विशेष गुण पुरुष में रह जाता है जिसके निषेध के लिए भौतिक गोघटादि के ज्ञान की आवश्यकता हो?

सिद्ध है कि मोक्षसाधनीभूत विवेक-ज्ञान में भौतिक पदार्थों का प्रतियोगित्वया या अनुयोगित्वया किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। और जिसका मोक्षसाधन विवेक में प्रतियोगित्वया या अनुयोगित्वया सम्बन्ध रहता है वही वास्तविक तत्त्व कहा जाता है यह पहले भी लिख चुके हैं। इसीलिए, भौतिक पदार्थों की गणना तत्त्वान्तर में नहीं की गई।

अब यहाँ यह समझना चाहिए कि शब्द स्पर्श, रूप रस और गन्ध—इन पञ्चतन्मात्राओं से क्रमशः आकाश, वायु तेज, जल और पृथिवी इन पञ्च महाभूतों की

उत्पत्ति होती है। इसमें यह विशेषता है कि उत्तरोत्तर भूतों में एक-एक अधिक गुण हो जाता है। इसका कारण यह है कि पूर्व पूर्व सूक्ष्मभूतसहित तन्मात्राओं से ही उत्तरोत्तर भूत उत्पन्न होते हैं। अतः, पूर्व सूक्ष्मभूत गुण भी उत्तरभूतों में आ जाते हैं। जैसे केवल शब्दतन्मात्रा से आकाश की उत्पत्ति हुई इसलिए आकाश में एक शब्द ही गुण हुआ। सूक्ष्म आकाशसहित स्पर्शतन्मात्रा से वायु उत्पन्न हुआ इसलिए वायु में शब्द और स्पर्श दो गुण हुए। इसी प्रकार, सूक्ष्म आकाश और वायुसहित रूप-तन्मात्रा से तेज की उत्पत्ति हुई। इसीलिए, तेज में शब्द स्पर्श और रूप ये तीन गुण हुए। इसी प्रकार, जल म शब्द स्पर्श, रूप और गन्ध ये चार गुण और पृथिवी में शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध ये पाँच गुण। पूर्व-पूर्व सूक्ष्मभूतों के कारण ही उत्तरोत्तर भूतों में एक-एक अधिक गुण हो जाता है। वैकृत सात्त्विक अहङ्कार से इन्द्रियों की उत्पत्ति पहले ही बता चुके हैं।

इन तत्त्वों की उत्पत्ति के सम्बन्ध म सांख्यकारिका कहती है—

'प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥'

भावार्थ यह है कि प्रकृति से महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से अहङ्कार और अहङ्कार से सोलह गण उत्पन्न होते हैं। पञ्चतन्मात्रा पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय और मन ये सब मिलकर सोलह होते हैं। ये ही प्रकृति से भूत पर्यन्त चौबीस तत्त्व हुए। इनसे भिन्न पचीसवाँ तत्त्व पुरुष है। इन पचीस तत्त्वों के साधक तीन प्रमाण होते हैं। प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द। सांख्यकारिका में भी लिखा है—

'दृष्टमनुमानमाप्तवचनञ्च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि॥'

भावार्थ यह है कि दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष अनुमान और आप्तवचन (शब्द) ये ही तीन प्रमाण सर्वप्रमाण से सिद्ध हैं। और, प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के ही अधीन है। इन तीन प्रमाणों में ही उपमानादि अन्य प्रमाणों का अन्तर्भाव हो जाता है। प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण यह है कि विषय-सन्निकृष्ट जो इन्द्रिय है उसके साथ मन के विषय-देश में जायमान जो विषयाकार वृत्ति है वही प्रत्यक्ष-प्रमाण है। जब मन विषय-देश में जाता है तभी वह विषयाकार में परिणत हो जाता है उसी परिणामविशेष का नाम वृत्ति है और इन्द्रियसन्निकृष्ट विषयाकार में परिणत मन की वही वृत्ति है प्रत्यक्ष प्रमाण। आत्मा के व्यापक होने के कारण उसी विषय देश में मन की वृत्ति का प्रतिबिम्ब उस (आत्मा) में पड़ता है। उसी वृत्ति प्रतिबिम्ब से युक्त चैतन्य का नाम प्रत्यक्ष-प्रमाण है। इसी प्रकार व्याप्ति ज्ञान से उत्पन्न साध्यविशिष्ट पक्ष के आकार में परिणत जो मन की वृत्ति है वही अनुमान प्रमाण है। और, उसी वृत्ति-प्रतिबिम्ब से युक्त आत्मचैतन्य का नाम अनुमिति है। इसी प्रकार आप्तवाक्य से अन्य पदार्थ तदाकार म परिणत जो मन की वृत्ति है वही शब्द प्रमाण है और उसी वृत्तिप्रतिबिम्ब से युक्त आत्मचैतन्य का नाम शाब्दप्रमा या शाब्दबोध है।

परोक्षत्व, अपरोक्षत्व, स्मृतित्व, संशयत्व और विपर्ययत्व आदि जो धर्म हैं वे सब मनोवृत्ति के ही धर्म हैं और वे केवल वृत्ति के प्रतिबिम्ब-रूप उपाधि के वश से आत्मचैतन्य में भासित होते हैं। आत्मचैतन्य तो असङ्ग और निर्लेप है। उपर्युक्त जो तीन प्रमाण हैं उन्हींके द्वारा पचीस तत्त्वों को सिद्ध करना है। उनमें प्रथम जो प्रधान तत्त्व है, उसका साधक अनुमान प्रमाण ही है। वह भी 'सतः सञ्जायते' इस कार्यकारण-भाव के आधार पर ही होता है।

सत् और असत् की उत्पत्ति का विवेचन

'सतः सञ्जायते' इस कार्यकारण-भाव के व्यवस्थापनार्थ चार प्रकार की विप्रतिपत्ति आचार्यों ने दिखलाई है। अर्थात्, कार्यरूप समस्त जगत् और इसके मूल कारण के इन दोनों के सत्त्व और असत्त्व के भेद से, चार पक्ष होते हैं—(१) असतः असञ्जायते। (२) असतः सञ्जायते। (३) सतः असञ्जायते। ४) सतः सञ्जायते। इन चार पक्षों में प्रथम पक्ष तो अत्यन्त असङ्गत है; क्योंकि असत्पदार्थों के साथ कार्यकारण-भाव शश-विषाण के समान असम्भव है। असत् से सत् उत्पन्न होता है यह द्वितीय पक्ष बौद्धों का है। वे लोग समस्त भाव-पदार्थों को क्षणिक मानते हैं। और क्षणिक भाव-पदार्थों में कार्यकारण-भाव हो नहीं सकता। कारण यह है कि कार्य-क्षण में कारण नहीं रहता और कारण-क्षण में कार्य नहीं रहता। इसलिए, पूर्व क्षणिक भाव का जो विनाश (अभाव) है, उसीको उत्तर क्षणिक भाव का कारण अगत्या स्वीकार करना ही होगा। बौद्धों के मत में कार्यों की सत्ता क्षणिक अवस्थिति-रूप ही है। इनके मत में ऐसी कोई सत्ता नहीं है, जिसका कभी बाध न हो।

सत् कारण से असत्-कार्य की उत्पत्ति मायावादी वेदान्ती मानते हैं। परन्तु सांख्यकारों के मत में सकल मिथ्याप्रपञ्च का कारण एक सद्ब्रह्म ही है। उसके कार्यभूत सकल प्रपञ्च उसीका विवर्त है। इनके मत में प्रपञ्च की व्यावहारिक सत्ता मानी जाती है पारमार्थिक सत्ता नहीं। इसलिए, प्रपञ्च की व्यावहारिक सत्ता होने पर भी पारमार्थिक सत्ता के न होने से प्रपञ्च-रूप कार्य असत् ही है। अतः 'सतः असञ्जायते' यह सिद्धान्त इनके मत से सिद्ध हो जाता है। इनके मत में पारमार्थिक सत्यत्व न होने से ही प्रपञ्च असत् माना जाता है शश-विषाण के समान अत्यन्त तुच्छ होने से नहीं। इसलिए, कार्य की उत्पत्ति इनके मत से असङ्गत नहीं होता; क्योंकि प्रपञ्च की व्यावहारिक सत्ता तो ये मानते ही हैं।

'सतः सञ्जायते यह चतुर्थ पक्ष सांख्य का ही है। सत्-कारण से सत्-कार्य की उत्पत्ति ये मानते हैं। नैयायिकों का भी प्रायः यही मत है। भेद केवल इतना ही है कि नैयायिक कार्य के विनाशी होने पर भी उसके कुछ काल-पर्यन्त अवस्थित रहने से ही, उसे पारमार्थिक सत्य मानते हैं। और, सांख्य लोग जिसका तीनों काल में कभी बाध न हो इस प्रकार का कालत्रयाबाध्यत्वरूप सत्यत्व मानते हैं। यहाँ यह भी जान लेना आवश्यक है कि नैयायिक लोग भी कार्योत्पत्ति के पहले कार्य की सत्ता नहीं मानते।

इनका कहना है कि अविद्यमान (असत्) जो घटादि कार्य हैं, वे मृदादि कारण व्यापार से उत्पन्न होते हैं। वैशेषिकों का भी यही मत है। इसलिए, सत्-कारण से असत्-कार्य की उत्पत्ति नैयायिक और वैशेषिक दोनों का अभिमत है।

अब यहाँ यह विचारना है कि असत् तो शश-विषाण के समान तुच्छ है। इसलिए, वह किसी का उपादान नहीं हो सकता। और पूर्व क्षणिक घट का अभाव ही उत्तर क्षणिक घट का कारण बौद्ध मानते हैं। अभाव के स्वरूपरहित (तुच्छ) होने के कारण भावरूप घटादि के साथ तादात्म्य भी नहीं बनता। और तादात्म्य न होने से उपादानोपादेय भाव भी नहीं सिद्ध होता। एक बात और भी है कि अभाव को कारण मानने से हर जगह कार्य की उत्पत्ति होनी चाहिए। क्योंकि किसीका अभाव तो हर जगह रहता ही है। इसलिए, अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं माननी चाहिए। इसी प्रकार, सत् से भी असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। असत् घटादि कार्य सत् मृदादि कारण से उत्पन्न होता है यह नैयायिकों का सिद्धान्त है। परन्तु, यह ठीक नहीं है। कारण यह है कि सत्ता के साथ सम्बन्ध का ही नाम उत्पत्ति है। और, सम्बन्ध दो विद्यमान पदार्थों के ही साथ होता है। सत् और असत् के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। असत् शश-विषाण के साथ अमुक व्यक्ति का सम्बन्ध हो गया इस प्रकार कहना उन्मत्त-प्रलाप ही कहा जायगा। इसी प्रकार असत् घटादि पदार्थ कुलालादि कारण-व्यापार से कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता। इसका कारण अभी बता चुके हैं कि दो सत् पदार्थों के साथ ही सम्बन्ध होता है और सत्ता के साथ सम्बन्ध का ही नाम उत्पत्ति है।

यदि यह कहें कि सत्त्व और असत्त्व ये दोनों घटादि के धर्म हैं जिस प्रकार कटकत्व धर्मवाला सुवर्ण सुवर्णकार के व्यापार से कुण्डलत्व धर्मवाला हो जाता है उसी प्रकार असत्त्व धर्मवाला घटादि (घटाभाव) भी कुलाल-व्यापार से सत्त्वधर्मविशिष्ट सत् घट हो जाता है। यह भी युक्त नहीं होता। कारण यह है कि यदि असत्त्व को कार्य घटादि का धर्म मानते हैं तो धर्म धर्मी (आश्रय) के बिना रह नहीं सकता इसलिए असत्त्व धर्म का आश्रय उत्पत्ति से पहले मानना आवश्यक हो जाता है; क्योंकि धर्म निराश्रय कहीं नहीं रहता। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि उत्पत्ति से पहले भी कार्य कारण-रूप में विद्यमान ही रहता है।

यहाँ एक दूसरी शङ्का होती है कि घटादि कार्य उत्पत्ति से पहले यदि सिद्ध ही है तो उसकी उत्पत्ति के लिए कुलालादि व्यापार की आवश्यकता ही क्या है? इसका उत्तर यह होता है कि कुलालादि व्यापार से केवल घट की अभिव्यक्ति होती है। कारक-व्यापार के पहले कारणरूप में अनभिव्यक्त घट बाद में कारक-व्यापार से अभिव्यक्त (प्रकट) हो जाता है। जिस प्रकार, तिल-समूह में अनभिव्यक्त जो तैल है वही निपीडन-व्यापार से अभिव्यक्त हो जाता है। और गो-स्तन में वत्स भाव दुग्ध ही दोहन-व्यापार से अभिव्यक्त हो जाता है। जिस प्रकार निपीडन और दोहन तैल तथा दुग्ध के अभिव्यञ्जक होने से ही तैल और दुग्ध का कारण कहा जाता है उसी प्रकार दण्डादि भी घटादि के अभिव्यञ्जक होने से घटादि के कारण कहे जाते हैं।

असत् की उत्पत्ति में कोई दृष्टान्त भी नहीं मिलता। इसलिए, कार्य कभी असत् नहीं हो सकता। यदि यह कहें कि असत् घटादि ही कारण-व्यापार से उत्पन्न होता है यही दृष्टान्त विद्यमान है, तो इसका उत्तर यह होता है कि यदि उभय पक्ष सम्मत दृष्टान्त हो, तो वह मान्य होता है। उक्त दृष्टान्त सांख्यों का अभिमत नहीं है। वे किसी प्रकार भी असत् कार्य की उत्पत्ति नहीं मानते। केवल सत् घट की अभिव्यक्ति ही इनके मत में मान्य है।

दूसरी युक्ति यह है कि मृत्तिका आदि कारण घटादि कार्य से सम्बद्ध होकर घटादि कार्य का उत्पादक होता है अथवा असम्बद्ध होकर ही? यदि कार्य से सम्बद्ध कारण को कार्य का उत्पादक मानें तो तत्सम्बन्धी घट कारण-व्यापार से पहले सत् सिद्ध हो जाता है, क्योंकि 'सतोरेव सम्बन्धः' यह नियम सर्वमान्य है। यदि कार्य से असम्बद्ध कारण को उत्पादक मानें तब तो मृदादि कारण से पटादि कार्य की भी उत्पत्ति होनी चाहिए, क्योंकि घट के समान पट भी असम्बद्ध ही है।

इसी बात को प्रकारान्तर से सांख्याचार्यों ने लिखा है—

'असत्त्वान्नास्ति सम्बन्धः कारणैः सत्त्वसङ्गिभिः।
असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः॥'

इसका तात्पर्य यह है कि नैयायिक उत्पत्ति से पहले कार्य की सत्ता नहीं मानते हैं। इससे सत्त्वसङ्गी अर्थात् सत्त्वविशिष्ट मृदादि कारणों के साथ उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि कार्य से असम्बद्ध कारण को ही कार्योत्पादक मान लें, तो मृदादि कारण से घटादि कार्य की ही उत्पत्ति होगी, पटादि की नहीं; इस प्रकार की जो व्यवस्था है, वह नहीं हो सकती।

इस पर नैयायिकों का यह कहना है कि कार्य के साथ असम्बद्ध वही कारण कार्य का उत्पादक हो सकता है जिस कार्य के उत्पादन करने में वह समर्थ हो। दूसरे शब्दों में जिस कारण में जिस कार्य के उत्पादन करने की शक्ति रहती है, वही कारण उस कार्य को उत्पन्न कर सकता है, दूसरा नहीं। जैसे मृदादि कारण में घटादि के ही उत्पादन करने की शक्ति रहती है पटादि की उत्पादन-शक्ति नहीं रहती इसलिए मृदादि घटादि को ही उत्पन्न करता है पटादि को नहीं। कारणगत उत्पादकत्व-शक्ति का ज्ञान कार्य देखकर ही होता है। मृदादि कारण से पटादि कार्य की उत्पत्ति कहीं नहीं देखी जाती इसलिए मृदादि से पटादि की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

परन्तु सांख्यकारों का यह कहना है कि तैलोत्पत्ति के पहले तिल में विद्यमान जो तैलोत्पादकत्व-शक्ति है उसका ज्ञान तैल की उत्पत्ति देखकर, पीछे अनुमान से होता है इसमें कोई विवाद नहीं है। किन्तु उत्पत्ति से पहले तिल में रहनेवाली जो तैलोत्पादकत्व-शक्ति है वह उत्पत्ति के पहले तैल से सम्बद्ध है, अथवा नहीं? यह विकल्पदोष पूर्ववत् रह जाता है। क्योंकि यदि सम्बद्ध कहें तो उत्पत्ति से पहले कार्य की सिद्धि हो जाती है और यदि असम्बद्ध कहें तो वह तैलोत्पादकत्व

शक्ति है, ऐसा निरूपण नहीं कर सकते। कारण यह है कि असम्बद्ध हेतु साध्य का अनुमापक नहीं हो सकता।

एक बात और है कि सांख्य के मत में कार्य-कारण में भेद नहीं माना जाता। अर्थात् कारणगत जो सत्ता है उससे अतिरिक्त दूसरी कोई कार्य की सत्ता है, यह नहीं माना जाता। इस अवस्था में तैलादि की उत्पत्ति के पहले कारण की सत्ता रहने से उससे अभिन्न कार्य की भी सत्ता मानना इनके मत में आवश्यक हो जाता है। इसलिए, इनका सत्कार्यवाद सिद्ध हो जाता है।

कार्यकारण-भाव के अभेद होने में अनुमान ही प्रमाण दिया जाता है। जैसे, पट-रूप कार्य (पक्ष) तन्तु से भिन्न नहीं है (साध्य), पट के तन्तु-धर्म होने से (हेतु) जो जिससे भिन्न नहीं होता वह उसका धर्म भी नहीं है (व्याप्ति), जैसे अश्व गो का धर्म नहीं होता (दृष्टान्त)। तात्पर्य यह है कि इनके मत में तन्तु आदि कारण के ही धर्म पट आदि कार्य माने जाते हैं। उससे भिन्न कोई कार्य नहीं होता। यदि यह कहें कि तन्तु-स्वरूप ही यदि पट है तो आवरण का कार्य तन्तु से ही क्यों नहीं होता? इसका उत्तर यह होता है कि अवयव-सन्निवेश-विशेष के भेद से जब तन्तु में पटभाव का आविर्भाव हो जाता है तभी उसमें शीतापनोदन आदि आवरण का कार्य होता है अन्यथा नहीं। इसलिए, आवरण का कार्य तन्तु से नहीं होता। जिस प्रकार, कूर्म का अङ्ग उसके शरीर में प्रविष्ट रहता हुआ तिरोहित रहता है और बाहर आने पर आविर्भूत होता है उसी प्रकार विद्यमान भी तन्तु-रूप कारण तिरोहित रहने से कूर्माङ्ग के समान प्रतीत नहीं होता। इनके मत में वस्तु का आविर्भाव और तिरोभाव ही होता है नाश नहीं।

इसी बात को प्रकारान्तर से गीता में भी लिखा है—

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

इसका तात्पर्य यह है कि असत् वस्तु की उत्पत्ति और सत् वस्तु का विनाश कभी नहीं होता। दूसरे शब्दों में जो सत् है वह सदा सत् ही रहता है और जो असत् है वह सदा असत् ही रहता है। इस प्रकार, नैयायिकों के मत का खण्डन कर अद्वैत वेदान्तियों के मत का खण्डन करने के लिए उनके मत का दिग्दर्शन कराया जाता है।

वेदान्तियों का मत है कि सत् ब्रह्म में असत् प्रपञ्च का विवर्त होता है। विवर्त उसे कहते हैं कि जो अपने स्वरूप को न छोड़कर भी स्वरूपान्तर से भासित हो। जैसे, शुक्ति में रजत और रज्जु में सर्प। जिस प्रकार शुक्ति और रज्जु अपने स्वरूप को बिना बदले रजत और सर्प के रूप में भासित होता है उसी प्रकार सद्ब्रह्म भी असत्, प्रपञ्च रूप से भासित होता है। यहाँ सांख्यों का कहना है कि यह ठीक नहीं है। कारण यह है कि शुक्ति और रजत का जो दृष्टान्त दिया गया है वह उपपन्न नहीं होता। क्योंकि 'नेदं रजतम्' 'नायं सर्पः' इस ज्ञान से रजत और सर्प का बोध हो जाता है इसलिए रजत और सर्प को विवर्त मानना ठीक हो सकता है। परन्तु, 'नायं प्रपञ्चः' इस ज्ञान से प्रपञ्च का बाध नहीं होता। अतः, प्रपञ्च विवर्त (भ्रम) नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह है कि विवर्त का हेतु सारूप्य ही होता है वैरूप्य नहीं। जैसे शुक्ति और रजत में सारूप्य होने से ही विवर्त होता है। कहीं भी वृक्षादि विरूप में रजत का विवर्त नहीं होता। प्रकृत में ब्रह्म चित् और प्रपञ्च जड़ है, इसलिए दोनों में सारूप्य न होने से प्रपञ्च भ्रम का अधिष्ठान नहीं हो सकता है। इसलिए 'सतः सञ्जायते' यह सांख्य का सिद्धान्त सिद्ध हो जाता है। सांख्यकारिका में भी यही लिखा है—

'असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥

इस कारिका में सत्कार्य की सिद्धि के लिए जो-जो हेतु दिये हुए हैं, प्रायः उनका निदर्शन संक्षेप में पहले ही कर दिया गया है। इसलिए, इसका व्याख्यान यहाँ नहीं किया जाता। अबतक सत्कार्य के विरोधी बौद्ध नैयायिक और वेदान्ती के मत में दोष दिखाकर सत्कार्यवाद को पुष्ट किया गया। आगे प्रधान (मूलप्रकृति) में प्रमाण दिखाया जाता है। प्रधान की सिद्धि में केवल अनुमान को ही प्रमाण सांख्यों ने माना है। यहाँ अनुमान का प्रकार इस प्रकार होता है—

सकल पदार्थसमूह (पक्ष) सुख-दुःख-मोहात्मक कारण से जन्य है (साध्य) सुख-दुःख-मोह से युक्त होने के कारण (हेतु) जो जिससे युक्त होता है वह तत्कारक ही होता है (व्याप्ति), जैसे—सुवर्ण से युक्त कुण्डल का सुवर्ण ही कारण होता है (दृष्टान्त)। तद्वत् सकल पदार्थ समूह भी सुख-दुःख-मोहात्मक ही है (उपनय), इसलिए यह सुख-दुःख-मोहात्मक कारण से जन्य है (निगमन)। इस प्रकार, पञ्चावयव अनुमान से सकल पदार्थ-जात का मूलकारण सुख-दुःख-मोहात्मक ही सिद्ध होता है। यदि यहाँ कोई आशङ्का करे कि मूलकारण का पूर्वोक्त अनुमान से, सुख-दुःख-मोहात्मकत्व सिद्ध हो जानेपर भी वह सत्त्वरजस्तमोगुणात्मक है, यह सिद्ध नहीं होता। इसका उत्तर यह होता है कि मूलकारण में जो सुखात्मकता है वही सत्त्व है दुःखात्मकता रजोगुण है और मोहात्मकता ही तमोगुण है। इसलिए मूलप्रकृति सुख-दुःख-मोहात्मक सत्त्वरजस्तमोमय तथा त्रिगुणात्मक (प्रधान) सिद्ध हो जाती है।

मूल प्रकृति की त्रिगुणात्मकता

अब पदार्थमात्र की सुख-दुःख-मोहात्मकता सिद्ध की जाती है। जैसे, कोई स्त्री अपने गुणों से अपने पति को सुख पहुँचाती है; क्योंकि उस पति के प्रति उस स्त्री का सत्त्व-गुण प्रादुर्भूत हो जाता है और वही स्त्री अपनी सपत्नियों के प्रति दुःख का कारण होती है; क्योंकि उनके प्रति उसका स्त्रीगत रजोगुण प्रकट हो जाता है और वही स्त्री उदासीन के प्रति मोह का कारण बन जाती है। उस समय उसका तमोगुण प्रकट रहता है। उपेक्षाविषयत्व का ही नाम मोह है; क्योंकि मुह् वैचित्त्य धातु से मोह बनता है। वैचित्त्य-नाम चित्तवृत्ति राहित्य का है। उपेक्ष्य विषय में चित्त की वृत्ति नहीं उदित होती। इसलिए मोह का उपेक्षाविषयत्व सिद्ध होता है। इसी प्रकार, प्रत्येक पदार्थ में सुख-दुःख और मोह का होना सिद्ध होता है और सुख-दुःख मोह सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुण का ही धर्म है। इस कारण पदार्थमात्र त्रिगुणात्मक

सिद्ध होता है और इसके मूलकारण का त्रिगुणात्मकप्रकृतित्व भी सिद्ध हो जाता है। उक्त सिद्धान्त का पुष्ट करनेवाली एक श्रुति भी श्वेताश्वतरोपनिषद् में पाई जाती है—

'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥'

इसका तात्पर्य यह है कि 'न जायते इति अजा' इस व्युत्पत्ति से जिसकी उत्पत्ति नहीं हो उसको अजा कहते हैं। मूल प्रकृति नित्य होने से उत्पन्न नहीं होती, इसलिए अजा शब्द से उसीका बोध होता है। वह एक ही है इसलिए 'एकाम्' विशेषण दिया है। 'लोहितशुक्लकृष्णाम्' इस विशेषण से सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुण का बोध होता है। जैसे लोहित (रक्त) कुसुम्भादि पट का रञ्जक होता है वैसे पदार्थ-गत रजोगुण भी मनुष्यों को रञ्जित करता है। इसलिए, रञ्जकत्व-साधर्म्य से लोहित शब्द से रजोगुण का ही ग्रहण होता है। इसी प्रकार, शुक्ल (तेजोद्रव्य सूर्य आदि) प्रकाशक होता है इसलिए प्रकाशकत्व-साधर्म्य से शुक्ल शब्द का अर्थ सत्त्व गुण होता है। इसी प्रकार, कृष्ण मेघादि सूर्य का आवरक होता है इसलिए आवरकत्व-साधर्म्य से कृष्ण शब्द से तमोगुण का ही बोध होता है। इस प्रकार, 'लोहितशुक्लकृष्णाम्' इस विशेषण से सत्त्वरजस्तमोमयी मूलप्रकृति का ही बोध होता है। यह त्रिगुणात्मिका मूलप्रकृति 'सरूपाः' स्वसमानजातीय त्रिगुणात्मक 'बह्वीः प्रजाः' सकल पदार्थों को उत्पन्न करनेवाली होती है। अर्थात्, वही त्रिगुणात्मक मूलप्रकृति त्रिगुणात्मक सकल चराचर प्रपञ्च को उत्पन्न करती है। 'अजो ह्येको' एक बद्ध पुरुष 'जुषमाणः', उस प्रकृति की सेवा करता हुआ 'अनुशेते' अनुसरण करता है। अर्थात्, उसी प्राकृत पदार्थों में रत रहता है। 'अन्यः अजः' अन्य मुक्त पुरुष 'भुक्तभोगामेनाम्' जिस प्रकृति का भोग कर लिया है उस प्रकृति का 'जहाति' त्याग कर देता है। इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध में मूल प्रकृति त्रिगुणात्मक सिद्ध होती है और उत्तरार्द्ध से आत्म (पुरुष)-गत भेद सिद्ध किया है। इसी मन्त्र के आधार पर सांख्य-शास्त्र का निर्माण हुआ है।

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि अचेतन प्रकृति बिना चेतन की सहायता से महदादि कार्योत्पादन में प्रवृत्त नहीं हो सकती; क्योंकि लोक में कहीं भी चेतन की प्रेरणा के बिना अचेतन का किसी कार्य के लिए स्वयं प्रवृत्त होना नहीं देखा जाता; जैसे रथ जहाज आदि अचेतन पदार्थ चेतन की प्रेरणा के बिना स्वयं नहीं चलते। इसलिए, उसका प्रेरक अधिष्ठाता सर्वान्तर्वर्ती परमेश्वर को मानना आवश्यक हो जाता है।

सांख्य-शास्त्र का कहना है कि यह शङ्का ठीक नहीं है; क्योंकि बिना चेतन की सहायता के भी लोक में अचेतन की प्रवृत्ति देखी जाती है। जैसे वत्स की वृद्धि के निमित्त अचेतन दूध की प्रवृत्ति लोक में देखी जाती है। अचेतन मेघ भी लोकोपकार के लिए किसी चेतन की सहायता के बिना ही जल-वर्षण में प्रवृत्त हो जाता है। इसी प्रकार, अचेतन प्रकृति भी पुरुष की मुक्ति के लिए स्वयं प्रवृत्त हो जाती है। सांख्यकारिका में भी लिखा है—

'वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य॥'

भाव यह है कि जैसे जड़ अचेतन दुग्ध की, वत्स की पुष्टि के लिए, स्तन में प्रवृत्ति होती है, वैसे अचेतन प्रकृति की भी, पुरुष के मोक्ष के निमित्त, प्रवृत्ति होती है।

प्रकृति की प्रवृत्ति से पुरुष का मोक्ष

यहाँ एक प्रश्न और उठता है कि प्रकृति की प्रवृत्ति से पुरुष का मोक्ष किस प्रकार सिद्ध हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि मोक्ष आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति को कहते हैं और आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति प्रकृति-पुरुष के विवेक-ज्ञान से होती है। विवेक-ज्ञान प्रकृति के स्वरूप-ज्ञान के बिना नहीं हो सकता। सांख्यवादी यह नहीं मानते कि ईश्वर अपनी करुणा से सृष्टि का प्रवर्तक होता है।

सांख्यवादी इसमें यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि ईश्वर सृष्टि से पहले अपनी करुणा के कारण प्रवृत्त होता है या सृष्टि के बाद ? यदि सृष्टि के पहले कहें, तो ठीक नहीं होता; क्योंकि परदुःखप्रहाणेच्छा ही करुणा है। और दुःख शरीर-सम्बन्ध के बिना नहीं हो सकता। शरीर-सम्बन्ध सृष्टि से पहले नहीं होता। इसलिए, सृष्टि से पहले करुणा का होना असम्भव है। यदि सृष्टि के बाद कहा जाय तो भी ठीक नहीं बैठता; क्योंकि करुणा के बाद सृष्टि और सृष्टि के बाद करुणा यह परस्पराश्रय दोष हो जाता है। इसलिए, करुणा से सृष्टि नहीं मान सकते। जैसा पहले कह चुके हैं कि विवेक-ज्ञान प्रकृति के स्वरूप-ज्ञान के बिना नहीं हो सकता और प्रकृति का स्वरूप भी अत्यन्त सूक्ष्म है उसका सुलभतया ज्ञान नहीं हो सकता। प्रकृति के स्वरूप-ज्ञान के बिना केवल पुरुष से भेद का ज्ञान होना असम्भव है। इसीलिए, प्रकृति की प्रवृत्ति होती है। प्रकृति की प्रवृत्ति के बाद भौतिक स्थूल कार्यों का ज्ञान विशद रूप से होना सुलभ हो जाता है। उसके बाद भौतिक कार्यों से पुरुष का भेद ज्ञान अवश्य हो सकता है। भूत से पुरुष का भेद-ज्ञान होता है। भूत के कारण तन्मात्रा और उसके कारण अहंकार से पुरुष का भेद-ज्ञान होता है। कारण-परम्परया 'स्थूलारुन्धती' न्याय से प्रकृति से भी पुरुष का विवेक-ज्ञान सुलभ हो जाता है, जिससे पुरुष का मोक्ष होना भी सुलभ हो जाता है।

प्रकृति-पुरुष की परस्परापेक्षिता

एक बात और भी ज्ञातव्य है कि पुरुष के संयोग से ही प्रकृति में व्यापार होता है जैसे चुम्बक के संयोग से लोहा में क्रिया-शक्ति आ जाती है। प्रकृति और पुरुष का संयोग 'पंग्वन्ध' न्याय से परस्परापेक्षामूलक ही होता है। जैसे—प्रकृति भोग्य है, वह भोक्ता पुरुष की अपेक्षा करती है और पुरुष भोग्य प्रकृति की अपेक्षा करता है। इस प्रकार, परस्परापेक्षा से दोनों का संयोग होता है जिससे सृष्टि का विस्तार होता है।

१

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि पुरुष तो निर्गुण, निर्लेप और असङ्ग है, वह प्रकृति की अपेक्षा क्यों करेगा ? इसका समाधान यह है कि पुरुष में यद्यपि प्रकृति और प्रकृति की कार्य-बुद्धि से भेद विद्यमान है तथापि उस भेद के अज्ञान से पुरुष अपने को बुद्धिस्वरूप ही मानता है। और, बुद्धि में रहनेवाले सुख दुःखादि गुणों को अपना ही गुण समझता है। अतः, इनसे छुटकारा पाने के लिए कैवल्य की अपेक्षा करता है। कैवल्य केवल प्रकृति-पुरुष के विवेक ज्ञान के अधीन है। इसलिए, भेद ज्ञान की प्रतियोगिनी जो प्रकृति है, उसका ज्ञान पुरुष को अवश्य अपेक्षित है। अर्थात्, प्रकृति के ज्ञान के बिना प्रकृति से अपने में भेद-ज्ञान असम्भव है। इसलिए, पुरुष को भी प्रकृति की अपेक्षा अवश्य करनी पड़ती है। इससे प्रकृति पुरुष में संयोग का हेतु परस्परापेक्षा ही होती है यह सिद्ध हो जाता है।

प्रकृति और पुरुष का संयोग अन्धे और लँगड़े का संयोग है। दोनों मिलकर ही रास्ता तय करते हैं। प्रकृति भोग्या और पुरुष भोक्ता है। दोनों का संयोग 'पङ्ग्वन्ध' न्याय से बताया गया है। एक बार बहुत-से लोग जंगल की राह से जा रहे थे। एक लँगड़ा और एक अन्धा भी उसी मार्ग से जा रहा था। दैव-संयोग से एकाएक बड़े जोर का तूफान आया। सब लोग भाग चले। बेचारा अन्धा और लँगड़ा दोनों विवश थे। परन्तु, संयोग से ये दोनों परस्पर आकर मिल गये। अन्धे ने लँगड़े को अपने कन्धे पर बैठा लिया। लँगड़ा रास्ता दिखाने लगा और अन्धा चलने लगा। दोनों अपने गन्तव्य स्थान को पहुँच गये। इसी प्रकार, परस्परापेक्षा रखनेवाले इन प्रकृति और पुरुष के द्वारा यह सृष्टि का क्रम चलता रहता है। सांख्यकारिका में लिखा है—

> पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
> पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥

इसका तात्पर्य यह है कि गमन-शक्ति-रहित पङ्गु को अपने अभीष्ट देश की प्राप्ति के लिए गमनशक्तिमान् पुरुष की अपेक्षा रहती है। और, दर्शन-शक्ति-रहित अन्धे को दर्शनशक्तिमान् की अपेक्षा रहती है। इसलिए, पङ्गु और अन्धे का संयोग होता है। इसी प्रकार, प्रकृति को अपने प्रदर्शन के लिए पुरुष की अपेक्षा रहती है और पुरुष को कैवल्य के लिए प्रकृति की अपेक्षा रहती है। इसी अपेक्षा के कारण प्रकृति और पुरुष का संयोग होता है। इसी संयोग से सृष्टि होती है।

यहाँ यह भी जान लेना चाहिए कि पुरुष क्रिया-शक्ति से रहित होने के कारण पङ्गु के समान है और प्रकृति अचेतन होने के कारण अन्ध के समान। जिस प्रकार, पङ्गु के सम्बन्ध से अन्धा मार्ग में प्रवृत्त होता है उसी प्रकार अचेतन प्रकृति भी पुरुष के सम्पर्क से कार्य करने में प्रवृत्त हो जाती है। अन्ध के सम्बन्ध से जैसे पङ्गु अपने अभीष्ट देश को जाता है प्रकृति के सम्बन्ध से पुरुष भी विवेक-ज्ञान द्वारा कैवल्य प्राप्त करता है। यही इसका रहस्य है।

मीमांसा-दर्शन

धर्म के अनुष्ठान से ही अभिमत फल की सिद्धि होती है, यह श्रुति, स्मृति पुराण आदि अनेक धर्म-ग्रन्थों में प्रसिद्ध है। यहाँ जिज्ञासा होती है कि धर्म का स्वरूप क्या है? धर्म में प्रमाण क्या है? पूर्वमीमांसा में इसी जिज्ञासा का समाधान किया गया है। मीमांसा-दर्शन के प्रवर्त्तक महर्षि जैमिनि हैं। यह बारह अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय में अनेक पाद हैं।

प्रथम अध्याय में, विधि, अर्थवाद, मन्त्र और स्मृति आदि के प्रामाण्य का विचार किया गया है। इसके प्रथम पाद में केवल विधि के ही प्रामाण्य का विचार है। द्वितीय पाद में अर्थवाद मन्त्र के, तृतीय पाद में मनु आदि स्मृतियों के और आचार के भी प्रामाण्य का विवेचन किया गया है। चतुर्थ में उद्भिद् चित्रादि नामधेयों के प्रामाण्य का विचार किया गया है।

द्वितीय अध्याय में उपोद्घात, कर्मभेद, प्रमाणापवाद, प्रयोग-भेद स्वरूप अर्थ का विचार किया गया है। इसके प्रथम पाद में कर्मभेद-चिन्ता के उपयुक्त उपोद्घात का और द्वितीय में धातुभेद और पुनरुक्ति आदि से कर्मभेद का वर्णन है। तृतीय पाद में कर्मभेद-प्रमाण के अपवाद का और चतुर्थ में नित्य और काम्य प्रयोग में भेद का विचार किया गया है।

तृतीयाध्याय में श्रुति लिङ्ग आदि प्रमाणों में पूर्व-पूर्व के प्राबल्य का विचार किया गया है। यहाँ जैमिनि का सूत्र है— 'श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्।' इसका तात्पर्य यह है कि मन्त्र देवता हवि आदि द्रव्यों का अथवा अन्य किसी का विनियोग कहाँ करना चाहिए? इस आकांक्षा में श्रुति लिङ्ग आदि छह प्रमाणों को निर्णायक माना गया है। और, जहाँ दो प्रमाणों का सन्निपात हो वहाँ पूर्व की अपेक्षा पर का दुर्बल माना जाता है। क्योंकि पूर्व की अपेक्षा पर-प्रमाण विलम्ब से अर्थ-प्रतीति का जनक होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि सर्वत्र सबका निर्णायक श्रुतिरूप एक ही प्रमाण है और इसकी अपेक्षा अन्य प्रमाण दुर्बल हैं।

श्रुति दो प्रकार की है एक साक्षात् पठित द्वितीय अनुमित। प्रथम का उदाहरण— 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते।' यहाँ इन्द्र देवता-सम्बन्धी जो ऋक् है उसका गार्हपत्य अग्नि के उपस्थान में विनियोग साक्षात् श्रुति बताती है। द्वितीय का उदाहरण— 'स्योन त इति पुरोडाशस्य सदन करोति'। यह वाक्य श्रुति में कहीं भी नहीं मिलती, परन्तु, 'स्योनं ते सदनं करोमि' यह वाक्य तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।६ में मिलता है। इसी मन्त्र का अर्थ देखकर इसी लिङ्ग अर्थात् ज्ञापक से मन्त्रार्थ के अनुसार ही मन्त्र का विनियोग करनेवाली इस श्रुति का अनुमान किया जाता है और उसीसे विनियोग भी।

अर्थ प्रकाशन में जो समर्थ है, वही लिङ्ग है। वही श्रुति का अनुमापक भी होता है। वह भी दो प्रकार का है—एक साक्षात् दृश्यमान, दूसरा अनुमित। पहले का उदाहरण दिया चुके हैं। दूसरा यह कि 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनो बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां जुष्टं निर्वपामि' (तै सं १।१।४)। यह एक वाक्य है। आकांक्षा योग्यता आदि के वश से परस्पर अन्वितार्थक पदों का जो समूह है, उसीको वाक्य कहते हैं। 'देवस्य त्वा' इस वाक्य में 'अग्नये जुष्टम्' इस भाग का निर्वाप-रूप अर्थ प्रकाशन का सामर्थ्य प्रत्यक्ष देखा जाता है। उसीकी एकवाक्यता होने से अवशिष्ट 'देवस्य त्वा' इत्यादि जो भाग हैं उनके वाक्य प्रमाण के बल से उसी प्रकार निर्वाप-रूप अर्थ प्रकाशन-सामर्थ्य का अनुमान किया जाता है। उसी अनुमित लिङ्ग से 'देवस्य त्वेति निर्वपति' इस श्रुति का अनुमान किया जाता है, और उसी अनुमित श्रुति से 'देवस्य त्वा' इस मन्त्र का निर्वाप-कर्म में विनियोग भी किया जाता है।

लिङ्ग का अनुमापक वाक्य भी दो प्रकार का होता है—एक साक्षात्, दूसरा अनुमित। पहले का उदाहरण पूर्वोक्त है। दूसरे का, 'समिधो यजति', इस श्रुति में फलविशेष का निर्देश न होने के कारण समिद्-याग से किसकी भावना करनी चाहिए, इस प्रकार उपकाम की आकांक्षा बनी रहती है और दर्शपूर्णमास-सम्बन्धी 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत्' इस वाक्य में भी 'कथं भावयेत्' इस प्रकार उपकारक की आकांक्षा बनी रहती है। और, दोनों की आकांक्षा करनेवाला जो प्रकरण है, वही प्रमाण कहा जाता है। दोनों की आकांक्षा रहने से ही उन दोनों की एकवाक्यता का अनुमान किया जाता है। उसी अनुमित एकवाक्यता के बल से दर्शपूर्णमास-याग के फलीभूत जो स्वर्ग है उसके साधनीभूत जो अर्थ-प्रकाशन-सामर्थ्य है वह 'समिधो यजति' इस वाक्य का है, ऐसा अनुमान होता है। उससे श्रुति का, और उस श्रुति से समिद् याग का दर्शपूर्णमास-कर्म में विनियोग होता है।

प्रकरण-शब्द-वाच्य जो उभयाकांक्षा है, वह भी दो प्रकार की है—एक साक्षात् भूत दूसरा अनुमित। पहले का उदाहरण पूर्वोक्त है; दूसरे का 'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्' (तै सं २।२।११); वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्' (तै सं० २।२।५); इत्यादि क्रम से इष्टि का विधान किया गया है। यहाँ 'इन्द्राग्नी रोचना दिवः' (तै सं ४।२।११) इत्यादि मन्त्रों का यथासंख्य पाठ के अनुरोध से प्रथम का प्रथम और द्वितीय का द्वितीय इस प्रकार यथाक्रम विनियोग किया गया है। पाठ-स्थान के विशेष होने से ही उभयाकांक्षा का अनुमान उभयाकांक्षा से एकवाक्यता का एकवाक्यता से लिङ्ग का तथा लिङ्ग से श्रुति का अनुमान और उससे विनियोग होता है।

उभयाकांक्षा का अनुमापक स्थान-प्रमाण भी दो प्रकार का है—एक साक्षात् और दूसरा समाख्या से अनुमित। समाख्या योग-बल अर्थात् अन्वर्थता, को कहते हैं। पहले का उदाहरण पूर्वोक्त है। दूसरे का उदाहरण 'हौत्रम्', 'आौद्गात्रम्' इत्यादि हैं। यहाँ होतुरिदं हौत्रम् इस योग-बल से हौत्रादि समाख्या से जन्य जो कर्म है वह इस आदि के ही अनुष्ठान करने योग्य है यह अनुमान होता है। समाख्या सम्बन्ध-प्रयुक्त ही रहती है। अवधिरित के साथ सम्बन्ध न होने के कारण उसकी सिद्धि के लिए सन्निधि

पाठक्रम क्रम की कल्पना होती है। अनुमान से पाठक्रम के सिद्ध हो जाने पर उससे उसमाकांक्षा का अनुमान होता है। उससे एकवाक्यता और उससे लिङ्ग, लिङ्ग से श्रुति का अनुमान और श्रुति से विनियोग होता है।

तृतीयाध्याय के आठ पाद हैं—प्रथम पाद में प्रकृतस्वीकृत छह प्रमाणों में श्रुति का विचार किया गया है। द्वितीय में लिङ्ग का तृतीय में वाक्य प्रकरण, स्थान और समाख्या का विचार है। चतुर्थ पाद में निवीत उपवीत आदि में अर्थ-वादत्व-विचित्र आदि के निर्णय-वेद श्रुति आदि के विरोध और परिहार का विचार किया गया है। पञ्चम में प्रतिपत्ति-कर्म का विचार है। प्रतिपत्ति का अर्थ उपयुक्त द्रव्य का विनियोग है। षष्ठ में अनारभ्याधीत और सप्तम में बहुप्रधानोपकारक प्रयाजादि कर्मों का विचार है। अष्टम पाद में यजमान के कर्मों का विचार है।

चतुर्थाध्याय के प्रथम पाद में, प्रधानभूत आमिक्षा दध्यानयन की प्रयोजिका है, इत्यादि प्रधान के प्रयोजकत्व का विचार किया गया है। द्वितीय में, अप्रधानीभूत जो वत्स का अपाकरण है वह शाखाच्छेद म प्रयोजक है इत्यादि अप्रधान का ही प्रयोजकत्व दिखाया गया है। तृतीय में 'जुहू पर्णमयी' इत्यादि का अपापश्लोक श्रवणादि के फल के भावाभाव का विचार है। चतुर्थ में राजसूयगत अक्षद्यूत आदि गौण अङ्गों का विचार किया गया है।

पञ्चमाध्याय म श्रुति के क्रम, तद्विशेष-वृद्धिप्रवृत्ति, और प्राबल्य-दौर्बल्य का विचार किया गया है। यहाँ श्रुति आदि का क्रम-विचार भी करना आवश्यक है इसलिए संक्षेप में दिखाया जाता है। श्रुति अर्थ पाठ स्थान, मुख्य और प्रवृत्ति ये छह प्रमाण क्रम के बोधन द्वारा प्रयोग-विधि के अङ्ग होते हैं। श्रुति का उदाहरण है। 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति'। यहाँ वेद दर्भमुष्टि को कहा जाता है। यहाँ वेद अर्थात् दर्भमुष्टि बनाने के बाद वेदी बनाने का विधान है। क्योंकि वेदं कृत्वा में क्त्वा प्रत्यय से वेदी के पूर्वकाल म ही वेद विधान प्रतीत होता है। जैसे 'भुक्त्वा व्रजति' में भोजन के बाद ही गमन-क्रिया होती है। यही श्रुति क्रम है।

प्रयोजन के वश से क्रम का जो निर्णय किया जाता है वह अर्थक्रम है। जैसे अग्निहोत्रं जुहोति 'यवागूं पचति'। यद्यपि यहाँ यवागू पाक अग्निहोत्र-हवन के बाद पढ़ा गया है तथापि यवागू होम के लिए ही बनाया जाता है इसलिए प्रयोजनवश हवन के पहले ही यवागूकरण का विधान समझा जाता है। पाठक्रम के अनुसार यदि हवन के बाद यवागू पाक का विधान हो तो यवागू-पाक का प्रयत्न ही व्यर्थ मानना होगा। इससे यह निश्चित होता है कि यहाँ औत्सक्रम या अर्थक्रम न हो वहाँ ही पाठक्रम लिया जाता है।

उपस्थिति को स्थान कहते हैं अर्थात् देश और काल से यहाँ जो उपस्थित हो, वहाँ उसी का विधान करना चाहिए, बाद में दूसरे का। प्रधानों के क्रम से जो अङ्गों का क्रम है वह मुख्य क्रम कहा जाता है। जैसे जिस क्रम से आदित्यादि प्रधान देवताओं की पूजा होती है उसी क्रम से उनकी अधिदेवताओं की भी पूजा की जाती है।

प्रवृत्ति-क्रम यह है कि एक स्थान में जिस क्रम से उपचार प्रवर्तित हुआ, उसी क्रम से अन्वय भी हो। इस प्रकार, पञ्चमाध्याय के प्रथम पाद में श्रुति, अर्थ आदि के क्रम का विचार किया गया है। द्वितीय पाद में क्रमविशेष का और अनेक पशुओं में एक-एक धर्मों के समापन आदि का विचार है। तृतीय पाद में वृद्धि-अवृद्धि का विचार है। जैसे, अग्निषोमीय पशु में 'एकादश प्रयाजान् यजति' यह पाठ है वहाँ पञ्च प्रयाजों की दो बार और अन्तिम की एक बार आवृत्ति करने पर एकादश संख्या की पूर्ति होती है। यही वृद्धि है। जिसकी वृद्धि नहीं होती, वही अवृद्धि है।

पञ्चमाध्याय के चतुर्थ पाद में श्रुति आदि छह प्रमाणों में पूर्व-पूर्व के प्राबल्य और उत्तरोत्तर के दौर्बल्य का विचार किया गया है।

षष्ठाध्याय के प्रथम पाद में कर्म के अधिकार का विचार किया गया है। अर्थात्, अन्धा आदि का कर्म में अधिकार नहीं है, किन्तु चक्षुष्मान् का ही इसीका निश्चय किया गया है। द्वितीय में अधिकारी के धर्म का और तृतीय में मुख्य के प्रतिनिधि का ग्रहण कहाँ किया जाता है कहाँ नहीं इसका विचार है। चतुर्थ में कहाँ किसका लोप है इसका और पञ्चम में कालादि के वैगुण्य में प्रायश्चित्त का विचार है। सप्तम में प्रदेय का तथा अष्टम में लौकिक अग्नि में कहाँ हवन करना चाहिए, इसका विचार है।

सप्तमाध्याय के प्रथम पाद में, 'समानम्' इत्यादि प्रत्यक्ष वचनों से अतिदेश का और द्वितीय में उस प्रकार के अतिदेशों के शेष का विवेचन किया गया है। तृतीय में अग्निहोत्र नाम से अतिदेश का निर्णय है। चतुर्थ में लिङ्ग का अतिदेश है।

अष्टमाध्याय के प्रथम पाद में प्रत्यक्ष वचन के अभाव में भी स्पष्ट लिङ्गों से अतिदेश का तथा द्वितीय में अस्पष्ट लिङ्गों से अतिदेश का विचार किया गया है। तृतीय में प्रबल लिङ्गों से अतिदेश का विचार तथा चतुर्थ में अतिदेशों के अपवाद का वर्णन किया गया है।

नवमाध्याय के प्रथम पाद में ऊह का आरम्भ किया गया है। मन्त्रों में स्थित देवता लिङ्ग संख्या आदि के वाचक जो शब्द हैं, उनका उन उन देवताओं के लिङ्ग-संख्यादि के अनुसार परिवर्तन करने को ऊह कहते हैं। द्वितीय में साम का ऊह, तृतीय में मन्त्रों का ऊह और चतुर्थ में मन्त्रों के ऊह-प्रसङ्ग में जो आया है उसका विचार किया गया है।

दशमाध्याय के प्रथम पाद में बाध के हेतुभूत द्वार-लोप का विचार है। जैसे जहाँ वेदी के निष्पादन-रूप द्वार नहीं है वहाँ वेदी के निष्पादन करनेवाले जो उद्धनन आदि कर्म हैं उनका बाध होता है। और जहाँ धान्य का निस्तुषीकरण नहीं है वहाँ अवघात का बाध होता है। द्वितीय पाद में उसी द्वार लोप का अनेक उदाहरणों से विस्तार किया गया है। तृतीय में बाध का कारणकार्यैकत्व दिखाया गया है। जैसे प्रकृतिभूत याग में जो अश्व आदि दक्षिणा का कार्य ऋत्विक् का परिक्रय बताया गया है। विकृतिभूत याग में उसी याग के लिए धेनु दक्षिणा बताई गई है। उस दक्षिणा में 'प्रकृतिवत्' अतिदेश से

मास जो प्रथम आदि हविष्य है, उसका बाध बताया गया है। चतुर्थ में जहाँ बाध का कारण नहीं है वहाँ समुच्चय बताया गया है। पञ्चम में बाध के प्रसङ्ग में ग्रह आदि का और षष्ठ में बाध प्रसङ्ग में साम का विचार किया गया है। सप्तम में बाध-प्रसङ्ग में इतर सामान्य का विचार और अष्टम में बाध के उपयुक्त समर्थ का विचार किया गया है।

एकादश अध्याय में तन्त्र के विषय में विचार है। एक बार अनुष्ठान से जो सिद्धि होती है वह तन्त्र कहा जाता है, अथवा जिसमें बहुतों के उपकार का विस्तार किया जाय वह तन्त्र है और अनेक के उद्देश्य से एक बार अनुष्ठान का नाम भी तन्त्र ही है। जैसे अनेक के बीच रखा हुआ दीप। जो आवृत्ति से अर्थात् बार-बार करने से बहुतों का उपकारक हो वह आवाप कहा जाता है—जैसे बहुतों का भोजन। अन्य के उद्देश्य से अन्यदीय का भी साथ ही अनुष्ठान करना प्रसङ्ग कहा जाता है। एकादश के प्रथम पाद में तन्त्र का उपोद्घात, द्वितीय में तन्त्र और आवाप का विचार, तृतीय में तन्त्र का और चतुर्थ में आवाप का विस्तार है।

द्वादश अध्याय में प्रसङ्ग, तन्त्री निर्णय, समुच्चय और विकल्प का विचार किया गया है। एक के उद्देश्य से किसी एक अङ्ग का अनुष्ठान देश, काल और कर्ता के ऐक्य होने पर यदि अनुष्ठित अङ्ग अनुद्देश्य का भी उपकार करे, तो वह प्रसङ्ग कहा जाता है। इसका विचार द्वादश अध्याय के प्रथम पाद में है। द्वितीय में तन्त्री का निर्णय किया गया है। साधारण धर्म का नाम तन्त्र है, वह जिसमें रहे, वह तन्त्री है। तृतीय में समुच्चय तथा चतुर्थ में विकल्प का विचार है। इस प्रकार, बारहों अध्यायों के विषयों का संक्षेप में दिग्दर्शन कराया गया। अब आचार्य कुमारिल भट्ट के मत से अधिकरण का विवेचन संक्षेप में किया जायगा।

कुमारिल भट्ट के मतानुसार अधिकरण का विवेचन

"अथातो धर्मजिज्ञासा।" (जै० सू० १।१।१)

यह प्रथम अधिकरण पूर्वमीमांसा के आरम्भ का उपपादनपरक है। अवान्तर प्रकरण का नाम अधिकरण है। अधिकरण के पाँच अवयव होते हैं—विषय, संशय, पूर्वपक्ष, सिद्धान्त और सङ्गति। जिस उद्देश्य से विचार किया जाय वही विषय है। जिस ज्ञान का विषय दो कोटी में आन्दोलित रहे, उसको संशय कहते हैं। वह कोटीद्वय कहीं भावरूप और कहीं अभावरूप रहता है। जैसे यह स्थाणु है अथवा पुरुष? यहाँ स्थाणु या पुरुष दोनों भावरूप ही हैं। मनुष्य है या नहीं? यहाँ है से भावरूप और न से अभावरूप कोटी का विषय समझना चाहिए। कहीं कोटीद्वय अनेक कोटी का भी उपलक्षण है। वादी जिस मत का उपपादन करता है वह पूर्वपक्ष है। निर्णय का नाम सिद्धान्त है। सङ्गति तीन प्रकार की है—अधिकरण-सङ्गति, पाद-सङ्गति और अध्याय सङ्गति। इसका स्वरूप यह है कि यह विचार इसी अधिकरण, इसी पाद और इसी अध्याय में करना समुचित है, इस प्रकार के विचार को सङ्गति कहते हैं। भट्ट लोग सङ्गति को अधिकरण का अङ्ग नहीं मानते, वे सङ्गति के स्थान पर उत्तर को अङ्ग

मानते हैं। उत्तर और निर्णय में यही भेद है कि उत्तर वादी के मत का खण्डन-मात्र करता है, परन्तु वह सिद्धान्त नहीं होता जैसे—वासुत्तर। और, निश्चय सिद्धान्त है यही दोनों में भेद है। इसीलिए, उत्तर की अपेक्षा निर्णय की गणना पृथक् की गई है—

'विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।
निर्णयश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्॥'

तात्पर्य यह कि विषय, विशय अर्थात् संशय पूर्वपक्ष, उत्तर और निर्णय ये ही पाँच अधिकरण के अवयव हैं। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' अर्थात् वेद पढ़ना चाहिए, यही वाक्य इस प्रथम अधिकरण का विषय है।

विचार (मीमांसा)-शास्त्र की प्रयोजनीयता का व्यालोचन

संशय यह है कि 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस सूत्र से 'अन्वाहार्ये च दर्शनात्' इस सूत्र पर्यन्त जो जैमिनि का धर्मशास्त्र है, वह अनारम्भणीय है अथवा आरम्भणीय? इस संशय का मूल है—'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः', यह अध्ययन-विधि दृष्टार्थ है या अदृष्टार्थ? यदि अध्ययन-विधि का अदृष्ट अर्थ मानते हैं, तब तो विचार-शास्त्र की आवश्यकता नहीं रहती। कारण यह है कि आचार्य-कृत उच्चारण के अनुसार समानानुपूर्विक उच्चारण को ही अध्ययन कहा जाता है और उच्चारण-मात्र से किसी दृष्ट अर्थ की सिद्धि होती नहीं और विधिशास्त्र निरर्थक भी नहीं हो सकता; इसलिए विधिशास्त्र का स्वर्गादि अदृष्ट फल होता है, वह अनुमानादि प्रमाण से कल्पना करते हैं और यह स्वर्ग-रूप अदृष्ट फल केवल पाठमात्र से सिद्ध हो जाता है इसके लिए विचार-शास्त्र की आवश्यकता नहीं है।

यदि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' का तात्पर्य तदर्थज्ञान-रूप दृष्टफल-पर्यन्त मानें तब तो अर्थज्ञान के लिए विचार-शास्त्र की आवश्यकता हो जाती है क्योंकि विचार के बिना अर्थज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए, जैमिनि-प्रोक्त विचार-शास्त्र आरम्भणीय सिद्ध होता है।

संक्षेप में इसका तात्पर्य यह होता है कि यदि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययन विधि का अर्थावबोध-पर्यन्त दृष्टफल मानते हैं तब तो विधि की अनुकूलता होने के कारण विचार-शास्त्र आवश्यक हो जाता है इसलिए वह आरम्भणीय है यह सिद्ध होता है। यदि अध्ययन-विधि का अर्थावबोध-रूप दृष्टफल न मानकर स्वर्ग-रूप अदृष्ट ही फल मानें तब तो पाठरूप अध्ययन विधि से स्वर्ग की सिद्धि हो जायगी इसके लिए विचार-शास्त्र की आवश्यकता नहीं है अतः विचार-शास्त्र अनारम्भणीय है, यह पूर्वपक्ष सिद्ध होता है।

अर्थावबोधपर्यन्त अध्ययन-विधि का तात्पर्य मानकर जो विचार-शास्त्र की आवश्यकता बताते हैं उनके प्रति पूर्वपक्षी का यह प्रश्न होता है कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययन-विधि से क्या अत्यन्त अप्राप्त अध्ययन का विधान है अथवा पाक्षिक अप्राप्त के लिए नियम किया जाता है? दूसरे शब्दों में, क्या

अध्ययन-विधि अपूर्वविधि है या नियम विधि? जिसका जो अर्थ प्रमाणान्तर से अप्राप्त है उसका उसी अर्थ में विधान का नाम अपूर्वविधि है।

उदाहरण के लिए—'स्वर्गकामो यजेत' यहाँ याग का फल स्वर्ग है, यह दूसरे किसी भी अनुमानादि प्रमाण से प्राप्त नहीं है, किन्तु उक्त श्रुति से ही याग का फल स्वर्ग है, यह सिद्ध होता है, इसलिए अप्राप्त का विधान करने से यह अपूर्वविधि कहलाता है। पक्ष में अप्राप्त जो विधि है वह नियम-विधि है। जैसे 'व्रीहीन् अवहन्ति' को नियम-विधि कहते हैं। इस श्रुति में धान के अवघात (कूटना) का प्रयोजन धान को तुषरहित करना ही बोधित होता है। और अवघात से धान का तुषरहित होना लोक से भी सिद्ध (प्राप्त) है, इसलिए यह नियम-विधि है। अप्राप्त अंश का पूरण करना ही नियम का फल है। धान को तुषरहित करना नख-विदलन आदि अनेक उपायों से साध्य है। इसलिए, अवघात को छोड़कर यदि दूसरा उपाय का आश्रयण करें, तो अवघात अप्राप्त हो जाता है। अतः, अवघात-श्रुति से अवघात के विधान का प्रयोजन अप्राप्त अंश का पूरण करना ही सिद्ध होता है। इस अवस्था में अध्ययन विधि क्या अपूर्वविधि है या नियम-विधि यह पूर्वोक्त प्रश्न ज्यों का त्यों रह जाता है।

इस अवस्था में अध्ययन-विधि को अपूर्वविधि तो मान नहीं सकते; क्योंकि अनुमान-प्रमाण से भी अर्थावबोध के लिए अध्ययन प्राप्त है और प्रमाणान्तर से अप्राप्त का ही विधान अपूर्वविधि माना गया है। यहाँ अनुमान का स्वरूप इस प्रकार होता है—विवादास्पद वेदाध्ययन (पक्ष) अर्थावबोध के लिए ही होता है (साध्य) अध्ययन होने के कारण (हेतु) जो अध्ययन है वह अर्थावबोध के लिए ही होता है (व्याप्ति) भारताध्ययन के सदृश (दृष्टान्त)। इस अनुमान से विधि के बिना भी अर्थावबोध के लिए अध्ययन प्राप्त ही है, इसलिए अप्राप्त विधि नहीं होने से अपूर्वविधि नहीं हो सकती। अतएव द्वितीय अर्थात् नियमविधि पक्ष को मानना चाहिए। जिस प्रकार, नखविदलन और अवघात आदि से तण्डुल निष्पत्ति सिद्ध है इसलिए पाक्षिक अवघात का विधान अवश्य करना चाहिए, यह विधिशास्त्र से नियम किया जाता है, उसी प्रकार गुरु के उपदेश के बिना भी केवल लिखित पाठ से अर्थज्ञान के लिए यदि कोई प्रवृत्त हो तब तो अध्ययन अप्राप्त है; इसलिए अप्राप्त अध्ययन की यह नियम-विधि है यह सिद्ध हो जाता है।

परन्तु, पूर्व-पक्षी का कहना है कि यह भी युक्त नहीं है, कारण यह है कि अवघात-श्रुति जो अध्ययन-विधि का दृष्टान्त है, दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में साधर्म्य न होने से युक्त नहीं है। इसका कारण यह है कि अवघात से निष्पन्न जो तण्डुल है, उसीसे पुरोडाश बनाने पर अवान्तर अपूर्व उत्पन्न होता है जिसके द्वारा दर्शपूर्णमास परमापूर्व को उत्पन्न करता है जो स्वर्ग का साक्षात् साधन होता है। अवघात के बिना अवान्तरापूर्व नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि स्वर्ग का साक्षात् साधन जो परमापूर्व है वह याग से उत्पन्न होता है और परमापूर्व की उत्पत्ति में सहायक अवान्तरापूर्व ही है जो अवघात से उत्पन्न होता है। अपूर्व परमापूर्व आदि

जो अदृष्ट वस्तुएँ हैं, उनकी उत्पत्ति में कार्यकारणभाव केवल शास्त्र-प्रमाण से ही सिद्ध होता है।

यदि अवघात-नियम से अपूर्व की कल्पना न की जाय या कल्पित अवान्तरापूर्व को परमापूर्व की उत्पत्ति में सहायक न माना जाय तब तो अवघात का विधान करनेवाली श्रुति ही व्यर्थ हो जायगी। धान के तुषरहित करने के लिए तो विधान की आवश्यकता कह नहीं सकते; क्योंकि वह तो लोक से ही सिद्ध है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रुति से जो अवघात का नियम किया है उससे दर्शपूर्णमास से उत्पन्न परमापूर्व ही हेतु है। और, स्वाध्यायोऽध्येतव्यः से जो अध्ययन-विधि का नियम संगठित है, वह अर्थज्ञान के लिए है ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि बिना अध्ययन के भी लिखित पाठ से अर्थज्ञान होना लोक में देखा जाता है। अर्थज्ञान होने पर यज्ञादि का अनुष्ठान भी सुकर हो जाता है। इस स्थिति में वितुषीकरण के लिए अवघात-विधि का जो नियम है, उसमें उत्पन्न अवान्तरापूर्व के स्वीकार न करने पर परमापूर्व की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती इसलिए मुख्यापूर्व ही अवान्तरापूर्व के स्वीकार करने में हेतु होता है।

इसी प्रकार, 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः से अर्थज्ञान के लिए जो अध्ययन-विधि का नियम है उसमें उत्पन्न अवान्तरापूर्व के स्वीकार करने में कोई भी हेतु नहीं है। यदि कहें कि अवान्तरापूर्व के स्वीकार न करने पर अध्ययन-विधान ही व्यर्थ हो जायगा। यह भी ठीक नहीं है क्योंकि विश्वजित्' न्याय से पाठमात्र का स्वर्ग फल कल्पना कर सकते हैं। इस प्रकार स्वर्ग-फल स्वीकार करने पर अध्ययन विधि का अपूर्वविधि होना भी सिद्ध हो जाता है। क्योंकि अध्ययन स्वर्गार्थ है यह बात इस श्रुति में बिना सिद्ध नहीं हो सकती। इसलिए अध्ययन के विधान करने से यह अपूर्वविधि सिद्ध हो जाती है। अध्ययन विधि का फल स्वर्ग ही है अर्थज्ञान नहीं, यह भी सिद्ध हो जाता है। इसलिए अध्ययन विधान करने का उद्देश्य अर्थज्ञान न होने से अर्थज्ञान वैध नहीं होता; इसके वैध न होने से अर्थज्ञान के उपयोगी मीमांसा-शास्त्र भी अवैध हो जाता है इसलिए अवैध होने के कारण मीमांसा-शास्त्र अनारम्भणीय है यह पूर्वपक्ष सिद्ध हो जाता है।

पूर्व में विश्वजित् न्याय का जो दृष्टान्त दिया है, उसका क्या तात्पर्य है? इस आकांक्षा में उसका स्वरूप दिखाया जाता है—विश्वजित्-याग का फल स्वर्ग सूत्रकार जैमिनि ने स्वर्ग बताया है—'स स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्' (४ सू० ४।३।१५)। इसका तात्पर्य यह है कि दुःख से असम्भिन्न निरतिशय सुख का आधार जो स्वर्ग है वही विश्वजित् याग का फल है। इसमें हेतु है—'सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्' अर्थात् कामनायुक्त सकल मनुष्यों के प्रति अविशिष्ट होने से। तात्पर्य यह है कि विश्वजिता यजेत इस श्रुति से याग का विधान किया गया है उसमें अमुक कामनावाले याग करें इस प्रकार अधिकारी का नियम सूत्रकार ने नहीं बताया। इसलिए, विश्वजित् याग का कौन अधिकारी है इस प्रकार की आकांक्षा में किसी फल की कल्पना कर उस चाहनेवाला अधिकारी होगा। जिसकी कल्पना की गई है, वही कल्प्यमान विश्वजित्

याग का फल होगा, और उस फल को ऐसा होना चाहिए, जो सबका अभीष्ट हो। दुःख से रहित निरतिशय सुख ही जिसे स्वर्ग कहते हैं सबका अभीष्ट है। इसलिए, स्वर्ग ही विश्वजित् याग का फल है यह सिद्ध होता है। यही 'विश्वजित्' न्याय है।

इसी तात्पर्य से कुमारिल भट्ट ने कहा है—

'विनापि विधिना दृष्टलाभान्नहि तदर्थता।
कल्प्यस्तु विधिसामर्थ्यात् स्वर्गो विश्वजिदादिवत् ॥

स्वर्ग-रूप फल की कल्पना करने पर अध्ययन-विधि का तात्पर्य अर्थज्ञान-पर्यन्त न होने के कारण ही 'वेदमधीत्य स्नायात्' श्रुति भी अनुपपन्न होती है। तात्पर्य यह है कि वेदाध्ययन करने के बाद (अव्यवहित उत्तरकाल में) स्नायात्—समावर्तन संस्कार करे। अध्ययन के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश का अधिकार प्राप्त करने के लिए जो संस्कारविशेष है उसको समावर्तन कहते हैं, उसीका बोधक श्रुति में 'स्नायात्' पद है। इस समावर्तन-विधि में 'अधीत्य' में क्त्वा विधि से अध्ययन और समावर्तन में अव्यवधान प्रतीत होता है। यदि अध्ययन के बाद धर्म विचार के लिए पुनः गुरुकुल में रहना हो तब तो अध्ययन और समावर्तन में अव्यवधान का बोध हो जाता है। इसलिए, विचार-शास्त्र के भेद न होने पर पाठमात्र से ही स्वर्ग-फल की सिद्धि हो जाने तथा समावर्तन-शास्त्र के विरोध होने पर भी विचार-शास्त्र की आवश्यकता नहीं होने से धर्मविचार-शास्त्र अनारम्भणीय है यह पूर्वपक्ष सिद्ध होता है।

यहाँ सिद्धान्ती का यह कहना है कि यह सब पूर्वपक्षी का कहना युक्त नहीं है। कारण यह है कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययन-विधि को जो पूर्वपक्षी कहते हैं कि न यह अपूर्वविधि है और न नियम-विधि ही, यह बिलकुल अयुक्त है। यद्यपि अप्राप्त विधि न होने से अपूर्वविधि नहीं हो सकती, तथापि नियम विधि का अपलाप नहीं कर सकते। कारण यह है कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' के 'अध्येतव्यः' में जो तव्य है वह अभिधा-भावना का बोध कराता है। अभिधा-भावना को ही शाब्दी भावना कहते हैं। इसीका नाम प्रेरणा भी है। जिसका उद्देश्य पुरुषप्रवृत्ति-रूप आर्थी भावना है। तात्पर्य यह है कि तव्य का विधान विधि-अर्थ में होता है। विधि का अर्थ है भावना। वह दो प्रकार की होती है—अभिधा भावना और आर्थी भावना। अभिधा शब्द को ही कहते हैं। अभिधीयते अर्थः अनेन—जिससे अर्थ का अभिधान किया जाय इस व्युत्पत्ति से शब्द को ही अभिधा कहते हैं; क्योंकि शब्द से ही अर्थ का अभिधान किया जाता है। शब्द में रहनेवाली जो भावना है वही शाब्दी भावना है। व्यापारविशेष का ही नाम भावना है। यह भावना शब्द प्रत्यय का वाच्य है; क्योंकि स्वाध्यायोऽध्येतव्यः, वाक्य में जो तव्य है उसके श्रवण-मात्र से 'यह शब्द अध्ययन के लिए मुझको प्रेरित करता है' इस प्रकार की प्रतीति स्वयं होती है। और जिसके सुनने से जो अर्थ नियमेन प्रतीत हो वह उसका वाच्य होता है। तव्य सुनने से प्रेरणा की प्रतीति होती है इसलिए तव्य का ही वाच्य भावना है यह सिद्ध होता है। लोक में प्रेरणा पुरुष में ही रहती है इसलिए प्रकृत में भी भावना का आश्रय पुरुष ही है, इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। कारण यह है कि वेद अनादि है इसका बनानेवाला

कोई नहीं है। इसलिए, अभिधा-भावना का आश्रय 'तव्य' शब्द ही हो सकता है, और वही तव्य भावना का वाचक भी है यह सिद्ध होता है।

इसी शाब्दी भावना से अध्ययन याग इत्यादि में पुरुष की प्रवृत्ति कराई जाती है। इसी प्रवृत्ति का नाम आर्थी भावना है; क्योंकि यह पुरुष-रूप अर्थ में ही रहनेवाली है। इस आर्थी भावना का भी वाचक तव्य प्रत्यय ही है; क्योंकि धातु अध्ययन-मात्र का ही वाचक है। इससे यह सिद्ध हुआ कि शाब्दी भावना और आर्थी भावना—इन दोनों का वाचक तव्य प्रत्यय है। और शाब्दी भावना का आश्रय तव्य प्रत्यय है, और आर्थी भावना का पुरुष। अब एक आकांक्षा और होती है कि पुरुषप्रवृत्ति-रूप जो आर्थी भावना है, उसका उद्देश्य क्या है? इसके दो ही उद्देश्य हो सकते हैं—समान पद का वाच्य, या समान वाक्य का वाच्य। समान पद से प्राप्त अध्ययन है और समान वाक्य से प्राप्त स्वाध्याय (वेदराशि)। अध्ययन तो पुरुष प्रवृत्ति का उद्देश्य हो नहीं सकता, कारण यह है कि अध्ययन क्लेशावह होता है, और उद्देश्य ऐसा होना चाहिए, जो सुखकारक हो क्योंकि सुख ही सबका उद्देश्य रहता है। यदि स्वाध्याय (वेद) को आर्थी भावना का उद्देश्य मानें तो भी ठीक नहीं होता। कारण यह है कि प्रकृत में उद्देश्य का अर्थ है साध्य अर्थात् जिसमें क्रिया का फल रहता है। वेद अनादि, नित्य और सिद्ध है। इसलिए, यह साध्य अर्थात् उद्देश्य नहीं हो सकता।

तात्पर्य यह है कि जिसमें क्रिया का फल रहता है, वही उद्देश्य होता है। क्रिया का फल चार प्रकार का होता है—उत्पत्ति प्राप्ति, विकार और संस्कार। जैसे कुलाल की क्रिया से घट की उत्पत्ति होती है। गमन-क्रिया से देशान्तर प्राप्ति होती है, पाक-क्रिया से तण्डुल का विकार होता है और लाक्षा-रस के सेक से कपास के बीज में गुणाधान द्वारा संस्कार होता है, अथवा मणि या दर्पण में निघर्षण के द्वारा दोष निकल जाने से संस्कार होता है। इन चार क्रिया फलों में कोई भी वेद में नहीं आता। अध्ययन में प्रवृत्ति होने से वेद की उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि वह नित्य है। विभु होने से उसकी प्राप्ति भी नहीं होती। अध्ययन करने से किसी प्रकार का वेद में विकार भी नहीं आता और अध्ययन से वेद का संस्कार भी नहीं होता। कारण यह है कि कार्यान्तर की योग्यता का आधान करने का नाम संस्कार है, और निर्विकार स्फोट-स्वरूप शब्द-ब्रह्मरूप वेद में कोई भी ऐसा विशेष गुण नहीं है जिसका आधान किया जाय। कोई दोष भी नहीं है जिसका अपकरण-रूप संस्कार किया जाय। इसलिए, यह सिद्ध होता है कि अध्ययन या वेद दोनों में कोई भी आर्थी भावना का उद्देश्य नहीं हो सकता। उद्देश्य के बिना भावना व्यर्थ हो जाती है इसलिए अर्थावबोध को उद्देश्य मानना आवश्यक है। ऐसा न मानने से अध्ययन विधि व्यर्थ हो जायगी।

अतः, अध्ययन-विधि के सामर्थ्य से उसका फल अर्थज्ञान ही है, यह कल्पना की जाती है। अध्ययन के द्वारा ही अर्थज्ञान का सम्पादन करे, यही 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययन-विधि का तात्पर्य है। यद्यपि अध्ययन-विधि का फल स्वर्ग भी हो सकता है और यह 'विश्वजित्' न्याय से अनुमोदित भी है, तथापि

याग का फल होगा, और उस फल को ऐसा होना चाहिए, जो सबका अभीष्ट हो। दुःख से रहित निरतिशय सुख ही, जिसे स्वर्ग कहते हैं सबका अभीष्ट है। इसलिए, स्वर्ग ही विश्वजित् याग का फल है यह सिद्ध होता है। यही 'विश्वजित्' न्याय है।

इसी तात्पर्य से कुमारिल भट्ट ने कहा है—

'विनापि विधिना दृष्टलाभान्नहि तदर्थता।
कल्प्यस्तु विधिसामर्थ्यात् स्वर्गो विश्वजिदादिवत् ॥'

स्वर्ग-रूप फल की कल्पना करने पर अध्ययन-विधि का तात्पर्य अर्थज्ञान-पर्यन्त न होने के कारण ही 'वेदमधीत्य स्नायात्' श्रुति भी अनुगृहीत होती है। तात्पर्य यह है कि वेदाध्ययन करने के बाद (अव्यवहित उत्तरकाल में) स्नायात्—समावर्तन संस्कार करे। अध्ययन के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश का अधिकार प्राप्त करने के लिए जो संस्कारविशेष है उसको समावर्तन कहते हैं, उसीका बोधक श्रुति में 'स्नायात्' पद है। इस समावर्तन-विधि में 'अधीत्य' में क्त्वा विधि से अध्ययन और समावर्तन में अव्यवधान प्रतीत होता है। यदि अध्ययन के बाद धर्म विचार के लिए पुनः गुरुकुल में रहना हो, तब तो अध्ययन और समावर्तन में अव्यवधान का बाध हो जाता है। इसलिए, विचार-शास्त्र के वैध न होने तथा पाठमात्र से ही स्वर्ग-फल की सिद्धि हो जाने तथा समावर्तन-शास्त्र के विरोध होने पर भी विचार-शास्त्र की आवश्यकता नहीं होने से धर्मविचार-शास्त्र अनारम्भणीय है यह पूर्वपक्ष सिद्ध होता है।

यहाँ सिद्धान्ती का यह कहना है कि यह सब पूर्वपक्षी का कहना युक्त नहीं कारण यह है कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययन-विधि को जो पूर्वपक्षी न न यह अपूर्वविधि है और न नियम-विधि ही, यह बिलकुल अयुक्त है। विधि न होने से अपूर्वविधि नहीं हो सकती, तथापि नियम नहीं कर सकते। कारण यह है कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' के 'तव्य' यह अभिधा-भावना का बोध कराता है। अभिधा-भावना को इसीका नाम प्रेरणा भी है। जिसका उद्देश्य पुरुष तात्पर्य यह है कि तव्य का विधान विधि अर्थ में होता यह दो प्रकार की होती है—अभिधा-भाव शब्द को ही कहते हैं। अभिधीयते अर्थः इस व्युत्पत्ति से शब्द को ही अभिधा किया जाता है। शब्द में रह व्यापारविशेष का ही नाम भा स्वाध्यायोऽध्येतव्यः, वाक्य से के लिए मुझको प्रेरित करता है' इस सुनने से जो अर्थ नियमेन प्रतीत हो प्रेरणा की प्रतीति होती है, इसलिए शब्द का ही व लोक में प्रेरणा पुरुष में ही रहती है इसलिए प्रकृत में भी मा इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। कारण यह है कि वेद अनादि है

अध्यापन करने से ही अध्यापक में एक प्रकार का संस्कार उत्पन्न होता है। वही आचार्य शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त है, अर्थात् उसीसे वह आचार्य कहलाने के योग्य होता है।

अब यहाँ यह विचार करना है कि आचार्य का अध्यापन माणवक के अध्ययन के बिना कदापि सिद्ध नहीं हो सकता इसलिए अध्यापन विधि से ही अध्ययन का विधान सिद्ध हो जाता है। इस स्थिति में, 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस वाक्य का अध्ययन-विधित्व सिद्ध नहीं होता, कारण यह है कि अध्यापन-विधि से ही अध्ययन का लाभ हो जाता है, इसलिए अध्ययन अप्राप्त नहीं है, और अप्राप्त के ही विधान करने में विधान-श्रुति की चरितार्थता है। दूसरी बात यह है कि विधायकत्वेन प्रतीयमान वाक्य भी नित्यप्राप्त का अनुवादक होता है। इसलिए, 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह वाक्य अनुवादक होने के कारण विधि नहीं हो सकता अतएव अर्थज्ञान पर्यन्त इसका तात्पर्य है ऐसा जो पूर्व में कहा गया है वह युक्त नहीं है। फलतः, 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' को विषय मानकर पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष का जो उपन्यास किया गया है, उसे दूसरे प्रकार से ही दिखाना समुचित प्रतीत होता है। वह दूसरा प्रकार इस तरह हो सकता है—विचार-शास्त्र अवैध होने के कारण अनारम्भणीय है यह पूर्वपक्ष है और वैध होने के कारण आरम्भणीय है यह सिद्धान्त-पक्ष है। विचार-शास्त्र को वैध माननेवाले सिद्धान्ती से यह प्रश्न होता है कि क्या अध्यापन विधि माणवक को अर्थ का बोध भी कराती है, अथवा पाठमात्र को बताती है? पहला पक्ष तो कह नहीं सकते क्योंकि अर्थावबोध के बिना भी पाठमात्र से अध्ययन सिद्ध हो जाता है। यदि द्वितीय पक्ष अर्थात् पाठमात्र, अध्ययन विधि का तात्पर्य माने तब तो विचार-शास्त्र का न कोई विषय रहेगा और न कोई प्रयोजन ही; क्योंकि शब्द के श्रवण-मात्र से जो अर्थ प्रतीत होता है, उसमें यदि सन्देह हो तो वह विचार शास्त्र का विषय होता है और उसका निर्णय विचार शास्त्र का प्रयोजन होता है। प्रकृत में पाठमात्र को ही यदि अध्ययन मानते हैं अर्थज्ञान को नहीं, तब तो सन्देह का कोई विषय ही नहीं रहता और विचार का फल जो निर्णय है वह तो दूर की बात है। इस प्रकार, विषय और प्रयोजन के न रहने से विचार शास्त्र अनारम्भणीय है यह पूर्वपक्ष सिद्ध हो जाता है।

इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि केवल अध्यापन विधि से अर्थ का ज्ञान न हो परन्तु जो व्याकरण निरुक्त आदि वेदाङ्गों के साथ वेद का अध्ययन करता है और पद-पदार्थ के सम्बन्ध का ज्ञान जिसको हो गया है उस पुरुष को पौरुषेय ग्रन्थों का अर्थज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार, वेदवाक्यों का भी अर्थ-ज्ञान होना अनिवार्य है; क्योंकि शब्दों का अर्थबोध कराना स्वभाव ही है। अर्थज्ञान होने पर कहीं सन्देह होना भी अनिवार्य है, इसलिए विचार-शास्त्र की आवश्यकता होती है। पूर्वपक्षी का एक प्रश्न और होता है कि जिस प्रकार शत्रु के घर भोजन करने के लिए तैयार पुत्र के प्रति माता, मना करने के अभिप्राय से कहती है—'विषं भुङ्क्ष्व विष खाओ' इस वाक्य में माता का तात्पर्य विष भक्षण में होना असम्भव है इसलिए वाक्य का अर्थ जो विष-भक्षण है उसकी विवक्षा नहीं की जाती बल्कि शत्रु के घर भोजन के निषेध में ही तात्पर्य समझकर वही अभर्थ माना जाता है। इसी प्रकार, वेदवाक्य के

स्वर्ग इसका अर्थ नहीं होता; क्योंकि स्वर्ग अदृष्ट फल है और इस पक्ष के रहते अदृष्ट फल की कल्पना अन्याय्य होती है—सम्भवति दृष्टफलकत्वे अदृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वम् ।'

यदि यह कहें कि इसका तो लिखित पाठ से भी सिद्ध हो जाता है, इसके लिए विधि करने की क्या आवश्यकता है ? तो इसका उत्तर पहले ही दे चुके हैं कि अपूर्वविधि के न होने पर भी नियम विधि के होने में कोई बाधक नहीं है। अध्ययन विधि के नियम होने से यह मात्र सिद्ध होता है कि अर्थज्ञान-रूप फल भी गुरुमुख से अध्ययनपूर्वक ही होना चाहिए लिखित पाठ आदि से नहीं। इसी नियम के बल से अध्ययन नियम के उल्लङ्घन न होने के कारण अवश्य अवान्तरापूर्व-रूप अदृष्ट फल की कल्पना की जाती है। इस प्रकार की कल्पना में समस्त क्रतुजन्य अपूर्व ही हेतु होता है। क्योंकि अर्थज्ञान के बिना कोई भी यज्ञ नहीं हो सकता। इसीलिए, महर्षि जैमिनि ने षष्ठ अध्याय में कहा है कि जिसको अर्थज्ञान नहीं है उसका भी यज्ञ में अधिकार नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि स्वाध्याय भी अध्ययन से संस्कृत होना चाहिए। यही अध्ययन-विधि का तात्पर्य है। इससे सिद्ध होता है कि जिस प्रकार दर्शपूर्णमास यज्ञ से उत्पन्न होनेवाला जो परमापूर्व है वही प्रयाजादि से उत्पन्न अवान्तरापूर्व का ज्ञापक होता है उसी प्रकार समस्त क्रतुजन्य जो परमापूर्व है वही अध्ययन-विधि से उत्पन्न अवान्तरापूर्व का ज्ञापक होता है। यदि अध्ययन नियम से उत्पन्न अवान्तरापूर्व को न मानें तो अध्ययनविधायक श्रुति ही निरर्थक हो जायगी। यदि 'विश्वजित्' न्याय से अदृष्ट फल स्वर्गादि की कल्पना करें तो भी ठीक नहीं होता इसका कारण पहले ही बता चुके हैं। दृष्टफल की सम्भावना में अदृष्ट फल की कल्पना अयुक्त है। इसीको दूसरे शब्दों में लिखा है—

'सम्भवति फले दृष्टे नादृष्टपरिकल्पना।
विधेस्तु नियमार्थत्वान्नानर्थक्यं भविष्यति ॥'

अर्थात् दृष्टफल के लाभ होने की सम्भावना में अदृष्ट फल की कल्पना नहीं होती, और विधि भी व्यर्थ नहीं होता क्योंकि नियम के लिए वह चरितार्थ है।

पूर्व में जो स्वाध्याय को अध्ययन से संस्कृत होना बताया गया है उसका तात्पर्य स्वाध्याय को फल के अभिमुख करना ही है गुरुपान या दीपायमयन नहीं। क्योंकि ऐसा मानने से वेद अनित्य हो जायगा। इसलिए, फल के अभिमुख करना ही स्वाध्याय का संस्कार समझना चाहिए। इसमें वेद में उक्त दोष भी नहीं आता।

एक शङ्का और होती है कि केवल वेदमात्र के अध्ययन से अर्थ का ज्ञान न हो, परन्तु जो व्याकरण आदि अङ्गों के साथ वेद का अध्ययन करता है उसके लिए अर्थज्ञान होना सुकर है पुनः इसके लिए विचार-शास्त्र की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर यह है कि यद्यपि साङ्गवेद पढ़नेवालों के लिए अर्थज्ञान होना सुलभ है तथापि केवल अर्थज्ञान मात्र से किसी विषय का निश्चय नहीं हो सकता; क्योंकि निर्णय विचार शास्त्र के ही अधीन होता है। जैसे —'अक्ताः शर्करा उपदधाति' (तै० ब्रा० ३।१२।५) इस मन्त्र में अक्त शर्करा का उपधान बताया है। अक्त का

अर्थ है घृत या तेल मिलाया हुआ। अब यहाँ सन्देह होता है कि किससे अक्त (मिश्रित) शर्करा का उपधान किया जाय? घृत या तेल से? केवल अर्थज्ञान से यह निर्णय नहीं हो सकता कि घृत से ही मिश्रित शर्करा होनी चाहिए तेल से नहीं। विचार-शास्त्र से यह निर्णय सुलभ हो जाता है। जैसे—'अक्ताः शर्करा उपदधाति' मन्त्र के वाक्यशेष में 'तेजो वै घृतम्' इस वाक्य से घृत की प्रशंसा की गई है इससे इस निर्णय पर आते हैं कि घृत से ही शर्करा को अक्त (मिश्रित) करना मन्त्र का अभिप्राय है। इस प्रकार, निर्णय के लिए विचार शास्त्र की आवश्यकता होती है।

अब यहाँ एक और भी सन्देह होता है कि वेदाध्ययन के बाद भी धर्म-विचार के लिए गुरुकुल में यदि रहना हो तब तो 'वेदमधीत्य स्नायात्' इस श्रुति का बाध हो जाता है। तात्पर्य यह है कि वेदाध्ययन के अव्यवहित उत्तरकाल में समावर्तन, अर्थात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना श्रुति बताती है। यदि अध्ययन के बाद गुरुकुल में रहना हो तब तो श्रुति का अवश्य बाध हो जाता है। 'अधीत्य' पद में जो (ल्यप्) है उसका अव्यवहित उत्तरकाल ही अर्थ होता है।

इसका उत्तर यह होता है कि समानकर्तृ कयोः पूर्वकाले इस सूत्र में 'अधीत्य' में जो त्वा (ल्यप्) प्रत्यय का विधान है वह एक कर्तावाले दो धातुओं के बीच पूर्वकाल में विद्यमान धातु से ही होता है। यहाँ त्वा प्रत्यय का निमित्त क्रिया का अव्यवधान होना पाणिनि ने कहीं नहीं बताया। इसलिए, 'स्नात्वा भुङ्क्ते'—स्नान कर भोजन करता है, यहाँ स्नान के बाद भोजन करने में सन्ध्या-पूजा आदि के व्यवधान होने पर भी त्वा प्रत्यय होता है। यदि त्वा प्रत्यय का निमित्त क्रिया में व्यवधान भी माना जाय तब तो स्नान के बाद वस्त्र पहनने में भी भोजन का व्यवधान हो जाता है। सन्ध्या पूजा आदि करने में तो और अधिक व्यवधान है।

इस स्थिति में 'वेदमधीत्य स्नायात्' यहाँ त्वा प्रत्यय से अध्ययन और समावर्तन में अव्यवधान की प्रतीति किसी प्रकार भी नहीं मानी जा सकती है। इस प्रकार, एक हजार अधिकरणवाला मीमांसा-शास्त्र अवश्य आरम्भणीय है यह सिद्धान्त स्थिर हो जाता है।

यह आचार्य कुमारिलभट्ट के मतानुसार अधिकरण का स्वरूप दिखाया गया। इसीको भट्ट-मत या आचार्य-मत कहते हैं। मीमांसा-शास्त्र के दो प्रसिद्ध आचार्य माने जाते हैं—एक कुमारिलभट्ट दूसरा प्रभाकर। परन्तु, आचार्य मत कहने से कुमारिलभट्ट का ही मीमांसा-शास्त्र में बोध होता है और गुरु-मत कहने से प्रभाकर का ही मत समझा जाता है। इसका कारण यह बताया जाता है कि किसी समय प्रभाकर को उनके गुरुजी पढ़ा रहे थे। पढ़ाते समय गुरुजी को एक पङ्क्ति के विषय में कुछ सन्देह हुआ। वह विषय यही था कि—'तत्र तु नोक्तम् अत्रापि नोक्तमतः पौनरुक्त्यम्'। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वहाँ तो नहीं कहा और यहाँ भी नहीं कहा इसलिए पुनरुक्त हुआ। गुरुजी के मन में शङ्का हुई कि पुनरुक्त वह कहा जाता है, जिसको पहले कह चुके हों उसीको पुनः कहा जाय। यहाँ तो वहाँ भी नहीं कहा यहाँ भी नहीं कहा फिर पुनरुक्त कैसा? इस प्रकार संशय होने से गुरुजी का चित्त आन्दोलित होने लगा।

स्वर्ग इसका अर्थ नहीं होता; क्योंकि स्वर्ग अदृष्ट फल है और इस फल के रहते अदृष्ट फल की कल्पना अन्याय्य होती है—सम्भविदृष्टफलकत्वे अदृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वम्।

यदि यह कहें कि इसका तो लिखित पाठ से भी सिद्ध हो जाता है, इसके लिए विधि करने की क्या आवश्यकता है? तो इसका उत्तर पहले ही दे चुके हैं कि अपूर्वविधि के न होने पर भी नियम विधि के होने में कोई बाधक नहीं है। अध्ययन विधि के नियम होने से यह भाव सिद्ध होता है कि अर्थज्ञान-रूप दृष्टफल भी गुरुमुख से अध्ययनपूर्वक ही होना चाहिए लिखित पाठ आदि से नहीं। इसी नियम के बल से अध्ययन नियम के दृष्टफल न होने के कारण अगत्या अपूर्वान्तरापूर्व-रूप अदृष्ट फल की कल्पना की जाती है। इस प्रकार की कल्पना में समस्त अनुष्ठान अपूर्व ही हेतु होता है। क्योंकि अर्थज्ञान के बिना कोई भी यज्ञ नहीं हो सकता। इसीलिए, महर्षि जैमिनि ने षष्ठ अध्याय में कहा है कि जिसको अर्थज्ञान नहीं है उसका भी यज्ञ में अधिकार नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि स्वाध्याय भी अध्ययन से संस्कृत होना चाहिए। यही अध्ययन-विधि का तात्पर्य है। इससे सिद्ध होता है कि जिस प्रकार दर्शपूर्णमास यज्ञ से उत्पन्न होनेवाला जो परमापूर्व है वही प्रयाजादि से उत्पन्न अपूर्वान्तरापूर्व का ज्ञापक होता है उसी प्रकार समस्त अनुष्ठान का परमापूर्व है वही अध्ययन-विधि से उत्पन्न अपूर्वान्तरापूर्व का ज्ञापक होता है। यदि अध्ययन नियम से उत्पन्न अपूर्वान्तरापूर्व को न मानें तो अध्ययनविधायक श्रुति ही निरर्थक हो जायगी। यदि 'विश्वजित्' न्याय से अदृष्ट फल स्वर्गादि की कल्पना करें तो भी ठीक नहीं होता इसका कारण पहले ही बता चुके हैं। दृष्टफल की सम्भावना में अदृष्ट फल की कल्पना अयुक्त है। इसीको दूसरे शब्दों में लिखा है—

'सम्भवति फले दृष्टे नादृष्टपरिकल्पना।
विधेस्तु नियमार्थत्वात्तावदर्थवत्त्वं भविष्यति॥'

अर्थात् दृष्टफल के लाभ होने की सम्भावना में अदृष्ट फल की कल्पना नहीं होती और विधि भी व्यर्थ नहीं होता; क्योंकि नियम के लिए वह चरितार्थ है।

पूर्व में जो स्वाध्याय को अध्ययन से संस्कृत होना बताया गया है उसका तात्पर्य स्वाध्याय को फल के अभिमुख करना ही है गुरूच्चारण या दोषापनयन नहीं। क्योंकि ऐसा मानने में वेद अनित्य हो जायगा। इसलिए, फल के अभिमुख करना ही स्वाध्याय का संस्कार समझना चाहिए। इससे वेद में उक्त दोष भी नहीं आते।

एक शङ्का और होती है कि केवल वेदमात्र के अध्ययन से अर्थ का ज्ञान न हो परन्तु जो व्याकरण आदि अङ्गों के साथ वेद का अध्ययन करता है उसके लिए अर्थज्ञान होना सुकर है पुनः इसके लिए विचार-शास्त्र की क्या आवश्यकता है?

उत्तर यह है कि यद्यपि साङ्गवेद पढ़नेवालों के लिए अर्थज्ञान होना सुलभ है तथापि केवल अर्थज्ञान मात्र से किसी विषय का निर्णय नहीं हो सकता; क्योंकि निर्णय विचारशास्त्र के ही अधीन होता है। जैसे—'अक्ताः शर्करा उपदधाति' (तै० ब्रा० ३।१२।५) इस मन्त्र में अक्त शर्करा का उपधान बताया है। अक्त का

अर्थ है घृत या तेल मिलाया हुआ। अब यहाँ सन्देह होता है कि किसमें अक्त (मिश्रित) शर्करा का उपधान किया जाय? घृत या तेल से? केवल अर्थज्ञान से यह निश्चय नहीं हो सकता कि घृत में ही मिश्रित शर्करा होनी चाहिए, तेल में नहीं। विचार-शास्त्र से यह निश्चय सुलभ हो जाता है। जैसे—'अक्ताः शर्करा उपदधाति' मन्त्र के वाक्यशेष में 'तेजो वै घृतम्' इस वाक्य से घृत की प्रशंसा की गई है; इससे इस निर्णय पर आते हैं कि घृत से ही शर्करा को अक्त (मिश्रित) करना मन्त्र का अभिप्राय है। इस प्रकार निश्चय के लिए विचार-शास्त्र की आवश्यकता होती है।

अब यहाँ एक और भी सन्देह होता है कि वेदाध्ययन के बाद भी धर्म-विचार के लिए गुरुकुल में यदि रहना हो, तब तो 'वेदमधीत्य स्नायात्' इस श्रुति का बाध हो जाता है। तात्पर्य यह है कि वेदाध्ययन के अव्यवहित उत्तरकाल में समावर्तन, अर्थात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना श्रुति बताती है। यदि अध्ययन के बाद गुरुकुल में रहना हो, तब तो श्रुति का अवश्य बाध हो जाता है। 'अधीत्य' पद में जो (ल्यप्) है, उसका अव्यवहित उत्तरकाल ही अर्थ होता है।

इसका उत्तर यह होता है कि 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' इस सूत्र से 'अधीत्य' में जो क्त्वा (ल्यप्) प्रत्यय का विधान है, वह एक कर्तावाले दो धात्वर्थों के बीच पूर्वकाल में विद्यमान धातु से ही होता है। यहाँ क्त्वा प्रत्यय का निमित्त क्रिया का अव्यवधान होना पाणिनि ने कहीं नहीं बताया। इसलिए, 'स्नात्वा भुङ्क्ते'—स्नान कर भोजन करता है, यहाँ स्नान के बाद भोजन करने में सन्ध्या-पूजा आदि के व्यवधान होने पर भी क्त्वा प्रत्यय होता है। यदि क्त्वा प्रत्यय का निमित्त-क्रिया में व्यवधान भी माना जाय, तब तो स्नान के बाद वस्त्र पहनने में भी भोजन का व्यवधान हो जाता है। सन्ध्या-पूजा आदि करने में तो और अधिक व्यवधान है।

इस स्थिति में, 'वेदमधीत्य स्नायात्' यहाँ क्त्वा प्रत्यय से अध्ययन और समावर्तन में अव्यवधान की प्रतीति किसी प्रकार भी नहीं मानी जा सकती है। इस प्रकार, एक हजार अधिकरणवाला मीमांसा-शास्त्र अवश्य आरम्भणीय है, यह सिद्धान्त स्थिर हो जाता है।

यह आचार्य कुमारिलभट्ट के मतानुसार अधिकरण का स्वरूप दिखाया गया। इसीको भट्ट-मत या आचार्य-मत कहते हैं। मीमांसा-शास्त्र के दो प्रसिद्ध आचार्य माने जाते हैं—एक कुमारिलभट्ट, दूसरा प्रभाकर। परन्तु, आचार्य-मत कहने से कुमारिलभट्ट का ही मीमांसा-शास्त्र में बोध होता है और गुरु-मत कहने से प्रभाकर का ही मत समझा जाता है। इसका कारण यह बताया जाता है कि किसी समय प्रभाकर को उनके गुरुजी पढ़ा रहे थे। पढ़ाते समय गुरुजी को एक पंक्ति के विषय में कुछ सन्देह हुआ। वह विषय यही था कि—'तत्र तु नोक्तम्, अत्रापि नोक्तमतः पौनरुक्त्यम्'। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यहाँ तो नहीं कहा और यहाँ भी नहीं कहा, इसलिए पुनरुक्त हुआ। गुरुजी के मन में शङ्का हुई कि पुनरुक्त वह कहा जाता है, जिसको पहले कह चुके हों, उसीको पुनः कहा जाय। यहाँ तो कहीं भी नहीं कहा, यहाँ भी नहीं कहा, फिर पुनरुक्त कैसा? इस प्रकार संशय होने से गुरुजी का चित्त आन्दोलित होने लगा।

वे शीघ्र बाहर जाकर सोचने लगे। प्रभाकर को यह बात मालूम हो गई, उन्होंने कर कलम उठाकर पुस्तक में इस प्रकार पदच्छेद कर दिया—'तत्र तुना (तुशब्देन) उक्तम्, अत्र अपिना (अपिशब्देन) उक्तम्, अतः पौनरुक्त्यम्'—वहाँ तु शब्द से कहा और यहाँ अपिशब्द से इसलिए पुनरुक्त है। इस प्रकार, पदच्छेद को देखते ही गुरुजी का सन्देह निवृत्त हो गया और वे छात्रों से पूछने लगे कि किसने पदच्छेद किया है? विद्यार्थियों ने कहा प्रभाकर ने। इस पर प्रसन्न होकर गुरुजी ने प्रभाकर से कहा—'त्वमेव गुरुः'। उसी समय से प्रभाकर को आज तक गुरु कहा जाता है और उनका मत गुरु-मत माना जाता है। अब गुरु-मत से भी अधिकरण का स्वरूप दिखाया जायगा।

प्रभाकर (गुरु) के मतानुसार अधिकरण-स्वरूप

'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत'—आठ वर्ष में ब्राह्मण का उपनयन करे और उसे पढ़ावे इस श्रुति का विधेय विषय अध्यापन ही प्रतीत होता है दूसरे शब्दों में श्रुति अध्यापन का ही विधान करती है। विधि को ही नियोग कहते हैं। जिसके प्रति नियोग अर्थात् विधान किया जाय वह नियोज्य कहा जाता है। नियोग नियोज्य की अपेक्षा करता है। प्रकृत में कौन नियोज्य है? इस आकांक्षा में जिसको आचार्यत्व प्राप्ति की कामना होगी, वही नियोज्य समझा जायगा। कारण यह है कि मन्त्र में 'उपनयीत' जो पद है उसमें 'उप' उपसर्गपूर्वक 'नी' धातु का विधिपूर्वक अपने समीप में ले आना ही अर्थ होता है और ले आने का फल माणवक का संस्कार ही है और यह संस्कार माणवक में ही होता है आचार्य में नहीं। इसलिए, उपनयन-रूप क्रिया का फल जो माणवक-वृत्ति-संस्कार है वह आचार्य-रूप कर्ता में नहीं रहता इसलिए क्रियाफल के कर्तृगामी नहीं होने से 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' इस सूत्र से आत्मनेपद सिद्ध नहीं होगा इसलिए 'सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः' इस सूत्र से आचार्यकरण-अर्थ में आत्मनेपद का विधान किया जाता है। यहाँ आचार्यकरण का तात्पर्य है—आचार्य का कर्म। यह आचार्य-कर्म धातु प्रयोग की उपाधि और आत्मने पद का निमित्त है।

इस अवस्था में 'उपनयीत' यहाँ आत्मनेपद से आचार्य-कर्म की ही प्रतीति होती है। इसलिए, आचार्य-कर्म को चाहनेवाला ही प्रकृत में नियोज्य हो सकता है। उपनयन में जो नियोज्य है वही अध्यापन में भी नियोज्य होगा, क्योंकि उपनयन और अध्यापन इन दोनों क्रियाओं का एक ही प्रयोजन होता है। तात्पर्य यह है कि इन दोनों सम्मिलित क्रियाओं से ही आचार्यत्व-प्राप्ति-रूप एक प्रयोजन सिद्ध होता है।

मनु में भी कहा है—

> उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः।
> साङ्गं च सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥

अर्थात् जो ब्राह्मण शिष्य को उपनीत कर अङ्ग और रहस्य के सहित वेद पढ़ाता है, उसीको पूर्वाचार्य लोग आचार्य कहते हैं। तात्पर्य यह है कि उपनयनपूर्वक

अर्थ की अविवक्षा की जाय तो विचार का कोई विषय नहीं रह जायगा। इस अवस्था में पूर्वोक्त विषयाभाव-रूप दोष पुनः गलेपतित हो जाता है।

इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि यह प्रश्न भी ठीक नहीं है। कारण यह है कि वेदवाक्य के साथ 'विषं भुङ्क्ष्व' का दृष्टान्त लागू नहीं होता क्योंकि माता पुत्र को विष खाने के लिए कभी आज्ञा नहीं दे सकती, इसलिए माता के तात्पर्य से विष-भक्षण-रूप मुख्य अर्थ के बाधित होने से प्रतीयमान शत्रु-गृह में भोजन का निषेध ही अर्थ की विवक्षा की जाती है किन्तु उक्त प्रकार वेदवाक्य में अर्थ की अविवक्षा नहीं कर सकते क्योंकि वेद अपौरुषेय है। इसका रचयिता कोई नहीं है। यदि वेद का भी कोई कर्त्ता होता तो उसके तात्पर्य से मुख्यार्थ का बाध हो सकता था, परन्तु ऐसा नहीं है। अपौरुषेय होने से वेदवाक्य में प्रतीयमान अर्थ की अविवक्षा नहीं हो सकती। प्रतीयमान अर्थ की विवक्षा मानने में जहाँ-जहाँ पुरुष को सन्देह होगा वे सब विचार-शास्त्र के विषय होंगे और उसका प्रयोजन निर्णय होगा। निर्णय के लिए ही विचार-शास्त्र आवश्यक होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि अध्यापन विधि से सिद्ध जो अध्ययन विधि है, उससे होनेवाला जो ज्ञान है वह विचार के योग्य है इसलिए विचार के वैध होने से विचार शास्त्र आरम्भणीय है, यह सिद्धान्त सिद्ध हो जाता है।

वेद के अपौरुषेयत्व का विचार

अब यहाँ नैयायिकों का आक्षेप होता है कि यदि वेद का अपौरुषेयत्व सिद्ध हो तब तो यह सिद्धान्त माना जा सकता है। परन्तु वेद के अपौरुषेयत्व में कोई भी प्रमाण नहीं है इसलिए यह पौरुषेय है अर्थात् पुरुष प्रणीत है। यहाँ पुरुष शब्द से ईश्वर का ग्रहण किया जाता है। ईश्वर प्रणीत जो आनुपूर्वीविशेष विशिष्ट शब्द-राशि है वही वेद है ऐसी इनकी मान्यता है। ईश्वर-प्रणीत होने से यह पौरुषेय सिद्ध होता है।

इस पर मीमांसकों का कहना है कि अनुमान-प्रमाण से ही वेद का अपौरुषेयत्व सिद्ध होता है। अनुमान का स्वरूप यह है—वेद (पक्ष) अपौरुषेय है (साध्य) सम्प्रदाय के विच्छेद न होने पर भी कर्त्ता के स्मरण न होने से (हेतु) आत्मा के सदृश (दृष्टान्त)। इस प्रकार के अनुमान से वेद का अपौरुषेय होना सिद्ध होता है। यहाँ सिद्धान्ती का अभिप्राय यह है कि जिस ग्रन्थ के आदि मध्य या अन्त में अथवा अवान्तर प्रकरण में कहीं भी ग्रन्थकार अपना नाम लिख देता है तो वहाँ सकर्तृक होने में कोई भी सन्देह या विवाद नहीं होता जैसे महाभाष्य प्रदीप रघुवंश कौमुदी आदि। और, जहाँ सम्प्रदाय के अविच्छेद में भी गुरु-परम्परया कर्त्ता का स्मरण रहता है वहाँ भी सकर्तृक होने में सन्देह या विवाद नहीं होता जैसे पाणिनि पतञ्जलि व्यास आदि के रचित व्याकरण योग वेदान्त आदि ग्रन्थों में। और, जहाँ ग्रन्थकर्त्ता ने कहीं पर भी अपना नाम नहीं लिखा और सम्प्रदाय का भी विच्छेद हो गया और सम्प्रदाय के विच्छेद होने से कर्त्ता का भी स्मरण नहीं रहा वहाँ पौरुषेय होने में सन्देह हो सकता है। परन्तु, सम्प्रदाय के अविच्छिन्न रूप से निरन्तर

धारा प्रवाह-रूप से चलते रहने पर भी यदि कर्त्ता का स्मरण न हो तब तो वहाँ कर्त्ता का प्रमाण ही कारण हो सकता है। इस प्रकार, सम्प्रदाय का विच्छेद न होने पर भी कर्त्ता का स्मरण न होने से वेद को अपौरुषेय माना जाता है।

यहाँ पूर्वपक्षी का कहना है कि यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि सम्प्रदाय का अविच्छेद होने पर भी यह जो विशेषण हेतुरूप में दिया गया वह असिद्ध है; क्योंकि वेद को पौरुषेय माननेवाले प्रलय-काल में सम्प्रदाय का विच्छेद मानते हैं, इसलिए हेतु स्वरूपासिद्ध हो जाता है, इससे अनुमान का प्रयोजक नहीं होता। जिस प्रकार, शब्द नित्य है द्रव्य होने पर भी स्पर्श-रहित होने से आकाश के सदृश। इस अनुमान में पक्षभूत जो शब्द है उसमें द्रव्यत्व नहीं है; इसलिए द्रव्यत्व विशेषण के असिद्ध होने से शब्द के नित्यत्वानुमान का वह प्रयोजक नहीं हो सकता। उसी प्रकार, प्रकृत में भी सम्प्रदाय का अविच्छेद होने पर यह जो हेतु का विशेषण है, उसके असिद्ध होने से अनुमान का प्रयोजक नहीं हो सकता। दूसरा कारण यह है कि अपौरुषेयत्व होने में अस्मर्यमाण कर्तृत्व अर्थात् कर्त्ता का अस्मरण-रूप जो हेतु दिया गया है, उसका तात्पर्य क्या है? वेद का कर्त्ता प्रमाण से सिद्ध नहीं यह अथवा वेद का कर्त्ता स्मरण का विषय नहीं, यह है?

प्रमाण से सिद्ध नहीं है, यह तो कह नहीं सकते क्योंकि 'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमिदं यद् ऋग्वेदः यजुर्वेदः' 'तस्माद् यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' 'इदं सर्वमसृजत ऋचो यजूंषि सामानि' इत्यादि अनेक श्रुतियों के प्रमाण से वेद का कर्त्ता सिद्ध है। यदि दूसरा पक्ष अर्थात् स्मरण के विषय न होने से यह कहें, तो भी ठीक नहीं जमता। कारण यह है कि इसमें विकल्प का समाधान नहीं होता। विकल्प यह होता है कि एक का स्मरण-विषय न होने के कारण अथवा सबका?

पहला पक्ष तो मान नहीं सकते; क्योंकि मुक्तकोक्ति में व्यभिचार हो जाता है। परस्पर असम्बद्ध एकत्र संगृहीत जो स्फुट श्लोक हैं, उन्हींका नाम मुक्तक है। यह पौरुषेय होता है। प्रथम विकल्प मानने में इसमें भी अपौरुषेय का लक्षण चला जाता है। इसलिए, अतिव्याप्ति दोष हो जाता है। यदि द्वितीय पक्ष मानें, तो भी ठीक नहीं होता। कारण यह है कि सबके स्मरण का विषय नहीं है यह सर्वज्ञ ही जान सकता है। क्योंकि, वेद के कर्त्ता का किसी ने कहीं भी कदापि निश्चय नहीं किया। यह निश्चय करना असर्वज्ञ मनुष्यों के लिए सर्वदा असम्भव है। इसके अतिरिक्त पौरुषेयत्व का साधक अनुमान प्रमाण भी है—वेदवाक्य (पक्ष) पौरुषेय है (साध्य), वाक्य होने के कारण (हेतु), व्यासादि वाक्य के समान (दृष्टान्त)। इस अनुमान से भी वेद का पुरुष प्रणीत होना निश्चित हो जाता है।

इस प्रकार वेद का पौरुषेयत्व-साधन करने पर मीमांसक कहते हैं कि यह भी अनुमान ठीक नहीं है; क्योंकि इसके विपरीत अपौरुषेयत्व का साधक प्रबल अनुमान विद्यमान है—

वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा॥

अर्थात् समस्त वेदाध्ययन (पक्ष) गुरु के अध्ययनपूर्वक ही होता है (साध्य), वेदाध्ययन होने के कारण (हेतु) वर्तमान वेदाध्ययन के सदृश (दृष्टान्त)। तात्पर्य यह है कि वेद का अध्ययन और अध्ययनों से विलक्षण है। और अध्ययन बिना गुरु के लिखित पाठ आदि से भी सम्भव है परन्तु वेद का अध्ययन ऐसा नहीं है। बिना गुरु के वेद नहीं पढ़ा जाता यह नियम है। यदि वेद का कर्त्ता मानें तो उसके बनानेवाले ने भी किसी गुरु से पढ़ा होगा यह मानना होगा। और वह गुरु भी किसी अन्य गुरु से। इस प्रकार, वेद का पौरुषेय मानने में अनवस्था-दोष हो जाता है। इसलिए, अपौरुषेय मानना ही युक्त है।

इसपर पूर्वपक्षी का कहना है कि इस प्रकार का अनुमान करने से तो महाभारतादि भी अपौरुषेय होने लगेंगे। जैसे—

भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
भारताध्ययनत्वेन साम्प्रताध्ययनं यथा॥'

भारताध्ययन भी गुरु से अध्ययनपूर्वक है भारताध्ययन होने से इस समय के अध्ययन के समान। इस प्रकार के अनुमान से महाभारत भी अपौरुषेय होने लगेगा। इसलिए, वेद को पौरुषेय मानना ही युक्त है। इसपर सिद्धान्ती कहते हैं कि यह आप (पूर्वपक्षी) का अनुमान 'सिद्धम वेद का पौरुषेयत्व-साधन करते हैं' अनुमानाभास है; क्योंकि 'कोऽन्यः पुण्डरीकाक्षान्महाभारतकृद्भवेत्' इत्यादि स्मृति-वचनों से महाभारत का कर्त्ता सिद्ध है। इसपर पूर्वपक्षी का कहना है कि 'ऋचः सामानि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तस्मादजायत' इत्यादि श्रुति-प्रमाण से वेद का भी कर्त्ता सिद्ध है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सिद्धान्ती भारताध्ययनत्व-हेतु से महाभारत के पौरुषेयत्व का अनुमान आभासी मानते हैं उसी प्रकार वेदाध्ययनत्व-हेतु से वेद के अपौरुषेयत्व का अनुमान भी आभासी हो जाता है; क्योंकि इस अनुमान में भी कोई अनुकूल तर्क नहीं है। जो-जो अध्ययन हैं वे सब गुरु से अध्ययनपूर्वक ही हैं इसमें कोई भी हेतु नहीं है। इसलिए, वेद को पौरुषेय ही मानना उचित है।

वेद का अनित्यत्व-साधन

एक बात और है जिससे वेद का पौरुषेय होना सिद्ध होता है—यथार्थ ज्ञान का साधक और विशेष प्रकार की रचनाविशिष्ट जो शब्द-राशि है उसीको वेद कहते हैं। शब्द अनित्य होता है और जो अनित्य है वह उत्पन्न होने के कारण अपौरुषेय नहीं हो सकता। और शब्द के अनित्य होने में अनुमान ही प्रमाण होता है। अनुमान का स्वरूप—शब्द (पक्ष) अनित्य है (साध्य) जातिमान् होकर बाह्येन्द्रिय से ग्राह्य होने के कारण (हेतु), घट के समान (दृष्टान्त)। अर्थात्, जिस प्रकार घट, घटत्व जाति का आश्रय होकर बाह्येन्द्रिय अर्थात् चक्षु-इन्द्रिय से ग्राह्य होने के कारण अनित्य होता है उसी प्रकार शब्द भी शब्दत्व जाति का आश्रय और बाह्येन्द्रिय श्रोत्र से ग्राह्य होने से अनित्य है।

इस पर मीमांसक कहते हैं कि शब्द यदि अनित्य हो तो देवदत्त से उच्चरित जो 'ग' शब्द है उसके अनित्य होने से उच्चारण के बाद ही उसका नाश हो जायगा, फिर यज्ञदत्त से उच्चरित 'ग' में वही यह गकार है, इस प्रकार की जो प्रत्यभिज्ञा होती है, वह नहीं हो सकती।

प्रत्यभिज्ञा एक प्रकार का प्रत्यक्षविशेष ही है। इन्द्रिय-सहकृत संस्कार से जन्य, यही इसकी परिभाषा है। इस प्रत्यभिज्ञा से बाधित होने के कारण शब्द के अनित्यत्व का अनुमान नहीं हो सकता। इसलिए, वेद भी पौरुषेय नहीं हो सकता, यह मीमांसकों का तात्पर्य है। इस पर नैयायिकों का कहना है कि 'सोऽयं गकारः', वही यह गकार है, इस प्रकार की जो प्रत्यभिज्ञा है, उसका विषय गकार नहीं है किन्तु मात्र जाति है। अर्थात्, उस गकार के नष्ट हो जाने पर भी उसका सजातीय जो अन्य गकार है, उसीमें 'सोऽयं गकारः', यह प्रत्यभिज्ञा होती है। जिस प्रकार, सिर के केश काटने पर दूसरे जो केश जमते हैं, उनमें वे ही यह केश हैं, इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा होती है। उसी प्रकार, यहाँ पर भी उसके समान जातिवाले दूसरे गकार में ही 'सोऽयं गकारः' यह प्रत्यभिज्ञा होती है। इसलिए, इस प्रत्यभिज्ञा से शब्द के अनित्यत्व का बाध नहीं हो सकता। अतः, शब्द के अनित्य होने से वेद का पौरुषेय होना सिद्ध हो जाता है।

अब यहाँ यह आशङ्का होती है कि वेद के पौरुषेयत्व का तात्पर्य क्या है? यदि पुरुष का तात्पर्य ईश्वर है, और उससे रचित ग्रन्थ-विशेष पौरुषेय है, ऐसा अर्थ मानें, तब तो युक्त नहीं होता। कारण यह है कि ईश्वर निराकार है, उसके कण्ठ, तालु आदि अवयव भी नहीं है; क्योंकि निराकार का अवयव नहीं होता। जैसे— आकाश काल आदि निराकार पदार्थ के अवयव नहीं होते। शब्द की उत्पत्ति कण्ठ तालु आदि के अभिघात से ही होती है। ईश्वर को कण्ठ, तालु आदि नहीं हैं, तो वह वेद को किस प्रकार बना सकता है? इस शङ्का के उत्तर में नैयायिकों का कहना है कि ईश्वर यद्यपि निराकार है, तथापि लीला से शरीर धारण करना सम्भव है; क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है और भक्तों के अनुग्रहार्थ शरीर धारण करता है। यह श्रुति, स्मृति, पुराण और इतिहास आदि प्रमाणों से सिद्ध है। इस प्रकार, शरीर की कल्पना से ही वेद ईश्वर-कृत माना जाता है। इसलिए, यह पौरुषेय भी है यह पूर्वपक्षी का तात्पर्य है।

यहाँ सिद्धान्ती का पुनः यह प्रश्न होता है कि पौरुषेय का तात्पर्य क्या है? क्या पुरुष से उच्चरित होना ही पौरुषेय है जैसे हमलोगों से प्रतिदिन उच्चरित वेद अथवा प्रमाणान्तर से अर्थ को जानकर उसके प्रकाशन के लिए रचित आधुनिक विद्वानों के निबन्ध? प्रथम पक्ष में तो कोई विवाद नहीं है; क्योंकि हमलोगों के सदृश ही पुरुष से उच्चरित होने के कारण पुरुषनिर्मित नहीं कहा जा सकता इसलिए पौरुषेयत्व की सिद्धि नहीं हो सकती, वेद का अपौरुषेयत्व स्वस्थ रह जाता है। यदि यह कहें कि प्रमाणान्तर से अर्थ जानकर उसके प्रकाशन के लिए रचना की गई, तो भी ठीक नहीं होता। क्योंकि, इसमें दो विकल्पों का समाधान नहीं होता। यथा

प्रमाणान्तर से जानकर, इसमें प्रमाणान्तर पद से क्या अनुमान का ग्रहण है, अथवा आगम का ? यदि अनुमान का ग्रहण मानें, तो अर्थ होगा कि अनुमान-प्रमाण से जानकर प्रकाशन के लिए ग्रन्थ बनाना। इस अवस्था में पौरुषेयत्व का अनुमापक जो वाक्यत्व हेतु दिया था वह मालतीमाधव, दशकुमारचरित आदि काल्पनिक ग्रन्थों में व्यभिचरित हो जायगा। क्योंकि, मालतीमाधव, दशकुमारचरित आदि काल्पनिक ग्रन्थ अनुमान-प्रमाण से अर्थ निश्चयकर नहीं लिखे गये हैं इसलिए वे पौरुषेय नहीं कहे जा सकते। और, वहाँ वाक्यत्व है, अतः पौरुषेयत्व-रूप साध्य के अभावस्थल उक्त काल्पनिक ग्रन्थों में वाक्यत्व-हेतु के रहने से हेतु व्यभिचरित हो जाता है और व्यभिचरित होने से साध्य का साधक नहीं हो सकता। क्योंकि, व्यभिचरित होने से हेत्वाभास हो जाता है। इस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि केवल वाक्यत्व हेतु नहीं है, किन्तु—प्रमाणत्वे सति वाक्यत्वात्—प्रमाण होकर वाक्य होने से इतना हेतु है। प्रकृत काल्पनिक ग्रन्थों में प्रमाणत्व नहीं रहने से विशेषण के अभाव में विशिष्ट का भी अभाव होता है इस सिद्धान्त से उक्त ग्रन्थों में व्यभिचार नहीं होता।

परन्तु, यह भी पूर्वपक्षी का कहना समुचित नहीं है कारण यह है कि वेद-वाक्य वही होता है जो अन्य प्रमाणों से सिद्ध नहीं होनेवाले अर्थ का प्रकाशक हो। दूसरे शब्दों में प्रमाणान्तर के अविषय जो अर्थ हैं उनका प्रतिपादन करनेवाले जो वाक्य हैं, वे ही वेदवाक्य कहे जाते हैं। और वे ही वेदवाक्य यदि अनुमान प्रमाण से सिद्ध अर्थ का प्रतिपादन करें तब तो 'मम माता वन्ध्या' वाक्य के सदृश व्याघात-दोष हो जायगा।

इससे यह सिद्ध हुआ कि वेदवाक्य का पौरुषेयत्व-साधन करनेवाला जो वाक्यत्व हेतु है, वह सिद्ध नहीं होता; क्योंकि पौरुषेयत्व के तात्पर्य में कहा गया है कि अनुमानादि प्रमाण से सिद्ध जो अर्थ है उसको जानकर जिसकी रचना की गई है, वही पौरुषेय है और यह लक्षण वेद-वाक्य में घटता नहीं; क्योंकि प्रमाणान्तर के अविषयीभूत अर्थ के प्रतिपादक वाक्य ही वेद-वाक्य हैं। एक बात और भी है कि आप (पूर्वपक्षी) ने जो कहा कि परमात्मा के शरीर न होने पर भी भक्तों के ऊपर अनुग्रह के लिए लीला-शरीर का ग्रहण करते हैं इसलिए वेद की रचना कर सकते हैं सो भी ठीक नहीं है। कारण यह है कि लीला-शरीर धारण करने पर भी अतीन्द्रिय अर्थ को देखना सम्भव नहीं होता। जो अर्थ देश काल और स्वभाव से दूर है, उसके ग्रहण करने का कोई उपाय नहीं है। देशान्तर या लोकान्तर में विद्यमान जो वस्तु है वह देश से विप्रकृष्ट अर्थात् दूर कहा जाता है। भूत और भविष्य में होनेवाला वस्तु काल से विप्रकृष्ट कहा जाता है इन सबका इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध न होने से प्रत्यक्ष नहीं होता। स्वभावतः विप्रकृष्ट वह है जिसमें स्वभाव से ही उस वस्तु के ग्रहण करने का सामर्थ्य न हो। जैसे चक्षु इन्द्रिय का सामर्थ्य स्वभाव से ही रस और गन्ध के ग्रहण करने में नहीं है। चक्षु केवल रूप का ही ग्रहण करता है। चक्षु के साथ पुष्प के सन्निकर्ष होने पर भी पुष्प में विद्यमान गन्ध का ग्रहण नहीं करता; क्योंकि केवल रूप का ही ग्रहण करना उसका स्वभाव है। इसी प्रकार हर एक

इन्द्रियाँ एक विशेष गुण का ही ग्रहण करती हैं, अन्य का नहीं, यह उनका स्वभाव है। इसलिए, शरीर-धारण करने पर भी ईश्वर देश काल और स्वभाव से विप्रकृष्ट अर्थ का ज्ञान नहीं कर सकता। इसपर पूर्वपक्षी का कहना है कि ईश्वर अचिन्त्यशक्ति है उसकी इन्द्रियों की शक्ति भी विलक्षण है। उसकी इन्द्रियाँ देश, काल और स्वभाव से विप्रकृष्ट वस्तुओं का भी ग्रहण कर लेती हैं। यही ईश्वर की विशेषता है। परन्तु, सिद्धान्ती मीमांसक इस बात को नहीं मानते। उनका कहना है कि दृष्ट के अनुसार ही कल्पना का प्रामाण्य युक्त होता है। कुमारिलभट्ट ने लिखा है—

'यत्राप्यतिशयो दृष्टः सस्वार्थानतिलङ्घनात्।
दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता॥'

अपने विषय का अतिक्रमण कर कहीं भी अतिशय नहीं देखा गया है। केवल दूरस्थ पर्वतादि में रहनेवाले सूक्ष्मतर परमाणु आदि का भी ज्ञान कर सकता है, यही अतिशय का फल है। परन्तु रूप के ग्रहण करने में श्रोत्र-इन्द्रिय का व्यापार कभी समर्थ नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि ईश्वर की इन्द्रियों में अतिशय सामर्थ्य होने पर भी दूरस्थ पर्वतादि में रहनेवाले जो अव्यवहित सूक्ष्म परमाणु आदि हैं उनका वह ज्ञान कर सकता है परन्तु देश काल और स्वभाव से जो विप्रकृष्ट हैं उनका ज्ञान नहीं कर सकता; क्योंकि यह युक्ति से विरुद्ध हो जाता है। इसीलिए, मीमांसक के मत में कोई सर्वज्ञ ईश्वर नहीं माना जाता। अतएव 'आगम से जानकर' यह जो द्वितीय विकल्प किया है वह भी युक्त नहीं होता क्योंकि युक्ति से कोई सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता है। 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादि श्रुतियों में जो सर्वज्ञत्व दिखाया गया है वह सर्वमूलभूत आगम का प्रवर्त्तक होने के कारण ही आरोपित है। इससे यह सिद्ध होता है कि श्रुति में जो सर्वज्ञत्व दिखाया गया है वह आरोपित है इसलिए कोई यथार्थ ईश्वर इनके मत में नहीं है जो वेद-जैसे ज्ञान-भाण्डार की रचना कर सके। इसलिए, वेद को अपौरुषेय मानना ही समुचित है।

अब यहाँ नैयायिकों का यह प्रश्न होता है कि यदि वेद को अपौरुषेय मानते हैं तब तो काठकः कालापः तैत्तिरीयः आदि जो यौगिक शब्द हैं उनकी क्या गति होगी? इन प्रयोगों में, प्रोक्त अर्थ में 'तेन प्रोक्तम्' से अण् आदि प्रत्यय होते हैं। प्रोक्त का अर्थ कृत निर्मित या रचित, यही हो सकता है। इससे यही अर्थ निकलता है कि कठ कलाप और तित्तिरि से बनाया गया निबन्ध काठक कालाप और तैत्तिरीय कहा जायगा। इस स्थिति में वेद का पौरुषेय होना स्वयंसिद्ध हो जाता है। इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि 'तेन प्रोक्तम्' में प्रोक्त का कृत या रचित अर्थ नहीं है, किन्तु प्रचारक या प्रवर्त्तक यही अर्थ युक्त होता है। इसका तात्पर्य है कि जिसका प्रचार अध्यापन द्वारा कठ ने किया वह काठक कहा गया जिसका अध्यापन द्वारा कलाप ने प्रचार किया वह कालाप और जिसका तित्तिरि ने किया वह तैत्तिरीय कहा गया।

इसमें प्रमाण यह है कि प्रोक्त का अर्थ यदि कृत मानें तब तो 'कृते ग्रन्थे' इस सूत्र से प्रत्यय सिद्ध ही था पुनः उसी अर्थ में विधान करने के लिए 'तेन प्रोक्तम्' की क्या आवश्यकता है? इसलिए, सूत्र के आरम्भ-सामर्थ्य से प्रोक्त का अर्थ अध्यापन

या प्रत्यभिज्ञा के द्वारा प्रचार ही होता है। यही अर्थ समुचित और सिद्ध भी है। इसीलिए, शाबरभाष्य में ही श्रुति कहा गया है 'श्रुतयो मन्त्रब्राह्मणे'। इससे सिद्ध हो जाता है कि उक्त दृष्टान्त से वेद को पौरुषेय सिद्ध नहीं कर सकते। बल्कि, उससे अपौरुषेय ही सिद्ध होता है।

पहले अनुमान के बल से शब्द में जो अनित्यत्व का साधन किया था, उसका उत्तर था, 'सोऽयं गकारः' इस प्रत्यभिज्ञा के विरोध से शब्द अनित्य नहीं हो सकता यह, पहले ही दिया जा चुका है। इस पर नैयायिकों ने 'यही यह गकार है, इस प्रकार की जो प्रत्यभिज्ञा होती है उसका विषय गत्व जाति है न व्यक्ति नहीं। इसी प्रकार छिन्नपुनर्जात केश में भी केशत्व जाति वही है, जो छिन्न केश में। अतः 'सोऽयं गकारः' इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा-रूप जो प्रत्यक्ष है उसका मूल कारण गत्व-रूप जाति का ऐक्य ही है इसलिए प्रत्यभिज्ञा का विरोध हो जायगा यह जो उत्तर पूर्व में कहा था, वह ठीक नहीं है।

अब यहाँ यह विचार करना है कि जातिमूलक प्रत्यभिज्ञा कहाँ होती है? एक तो बलवान् बाधक न होने से दूसरा व्यभिचार न देखने से। इतर प्रमाण से जहाँ व्यक्ति के भेद का निश्चय हो जाय, वहीं बलवद् बाधक होता है। 'सोऽयम्' यही यह है, इस प्रकार का निश्चय ऐक्य के रहने पर ही होता है, और कहीं ऐक्य के न रहने पर भी, जैसे छिन्न पुनर्जात केश में यही यह है, इस प्रकार की जो प्रत्यभिज्ञा देखी जाती है वह उसी उक्त नियम का व्यभिचार दर्शन है। इस प्रकार कहीं पर किसी प्रकार का व्यभिचार देखकर यदि सर्वत्र उसी की सम्भावना करें, तब तो समस्त व्यवहार ही लुप्त हो जायगा। इसमें स्वतः प्रमाणवादी का कहना है—

'उत्प्रेक्षेत हि यो मोहादजातमपि बाधकम्।
स सर्वव्यवहारेषु संशयात्मा विनश्यति॥'

अर्थात्, जो मनुष्य अज्ञान से अज्ञात बाधा की सम्भावना करता है वह समस्त सांसारिक व्यवहार में संशयग्रस्त होकर नष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह कि कोई मनुष्य किसी काम के लिए जाता हुआ मोटर से दबकर मर गया, या कहीं रेल आदि की दुर्घटना से मर गया तो उसको देख या सुनकर कोई शङ्का करे कि कदाचित् मैं भी इन कारणों से मर जाऊँगा तब तो समस्त व्यवहार ही लुप्त हो जायगा। क्योंकि, वह भय से किसी काम में प्रवृत्त नहीं होगा। इसलिए, कहीं व्यभिचार देखने से ही सर्वत्र उसकी आशङ्का नहीं करनी चाहिए। इसलिए, प्रत्यभिज्ञा के सामान्यविषयक होने में जो द्वितीय हेतु व्यभिचार दर्शन दिया है वह युक्त नहीं है यह सिद्ध होता है।

बलवद् बाधक होने से सामान्यनिबन्धन प्रत्यभिज्ञा होती है यह जो प्रथम हेतु दिया है उसका विचार किया जाता है—पूर्वपक्षी का तात्पर्य है कि यही यह गकार है इस प्रकार की जो प्रत्यभिज्ञा होती है उसका विषय [illegible] व्यक्ति है [illegible] नहीं परन्तु यह भी युक्त नहीं है; क्योंकि गकार व्यक्ति के न[illegible] कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है। जाति का लक्षण है, न[illegible] [illegible])।

अर्थात्, नित्य और अनेक व्यक्ति में रहनेवाला जो सामान्य है, वही जाति है। ग व्यक्ति यदि अनेक होता, तो उसमें रहनेवाली गत्व जाति की कल्पना हो सकती थी परन्तु ऐसा नहीं है, ग व्यक्ति एक ही है इसलिए गत्व जाति की कल्पना नहीं हो सकती।

जाति-विचार

नैयायिकों का कहना है कि यह गकार द्रुत है, यह मध्यम है, यह विलम्बित है, इत्यादि अनेक प्रकार ग व्यक्ति की प्रतीति अबाधरूप से होती है, इसलिए अनेक ग व्यक्ति में रहनेवाली गत्व जाति की कल्पना में कोई बाधक नहीं है। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि इस प्रकार गकारादि व्यक्ति का अनेकत्व सिद्ध नहीं हो सकता, और *सोऽयं गकारः* यह *प्रत्यभिज्ञा भी नहीं बन सकती।* कारण यह है कि द्रुतत्व आदि की ग में जो प्रतीति होती है, वह द्रुतादि अवस्थामूलक है, गकारादि व्यक्ति का भेदमूलक नहीं। इसलिए द्रुतत्वादि के अवस्थामूलक होने से वे गकारादि व्यक्ति के भेद का साधक नहीं हो सकते। और, व्यक्ति के अनेक न होने से अनेक में अनुगत जाति की भी सिद्धि नहीं हो सकती।

यहाँ पूर्वपक्षी का प्रश्न होता है कि, वर्णों में भेद द्रुतत्वादि अवस्था प्रयुक्त है, व्यक्ति का भेदनिमित्तक नहीं इसमें क्या प्रमाण है?

एक बात और है कि मीमांसक के मत में तो भेदाभेद दोनों माने जाते हैं, सर्वथा भेद ही नहीं माना जाता जिससे द्रुतत्व आदि के भेद होने पर भी गकारादि धर्मी में भेद न माना जाय। इसलिए जिस प्रकार कृष्ण, रक्त पीतादि धर्म के भेद होने से तत्सम्बन्धी गो, घट आदि धर्मी (व्यक्ति) में भी परस्पर भेद होता है, और व्यक्ति-भेद होने से घटत्व गोत्व आदि जाति की सिद्धि होती है, उसी प्रकार द्रुतत्व विलम्बित आदि धर्मों के भेद होने से धर्मी जो गकार आदि वर्ण हैं उनमें भी परस्पर भेद सिद्ध हो जाता है और भेद सिद्ध होने से गत्वादि जाति की कल्पना भी क्यों नहीं होती?

इसके समाधान में मीमांसकों का कहना है कि भेदाभेद-पक्ष के स्वीकार करने पर द्रुतत्व आदि धर्म के भेद होने से भी गकारादि व्यक्ति में भेद नहीं हो सकता। कारण यह है कि भेद और अभेद का अवभास सार्वत्रिक नहीं होता है। कहीं भेदांश धर्मी के आलम्बन से होता है और अभेदांश धर्म के आलम्बन से। और, कहीं भेदांश ही धर्म के आलम्बन से और अभेदांश धर्मी के आलम्बन से होता है। दूसरे शब्दों में, कहीं भेद धर्मीविषयक और अभेद धर्मविषयक और कहीं अभेद ही धर्मीविषयक और भेद धर्मविषयक होता है। उदाहरण के लिए: मुण्ड गौ, चित्र गौ, रक्त गौ इत्यादि स्थलों में मुण्ड-चित्रादि गोधर्मी के परस्पर भेद होने के कारण उन सब में रहनेवाला जो गोत्व धर्म है उसमें भेद न होने से उसका जातित्व युक्त है; क्योंकि वह एक और अनेकानुगत है।

और, जहाँ धर्मी में भेद नहीं है, धर्म में ही भेद है, वहाँ जाति की कल्पना युक्त नहीं है। उदाहरण के लिए: देवदत्त युवा है, वृद्ध है, स्थूल है, कृश है—यहाँ

या प्रकाशन के द्वारा प्रचार ही होता है। यही अर्थ समुचित और सिद्ध भी है। इसीलिए, मन्त्रद्रष्टा को ही ऋषि कहा गया है 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः'। इससे सिद्ध हो जाता है कि उक्त दृष्टान्त से वेद का पौरुषेय सिद्ध नहीं कर सकते। बल्कि, उससे अपौरुषेय ही सिद्ध होता है।

पहले अनुमान में वर्ण या शब्द में जो अनित्यत्व का साधन किया था उसका उत्तर तो 'सोऽयं गकारः' इस प्रत्यभिज्ञा के विरोध से शब्द अनित्य नहीं हो सकता यह पहले ही दिया जा चुका है। इस पर नैयायिकों ने 'यही यह गकार है, इस प्रकार की जो प्रत्यभिज्ञा होती है, उसका विषय गत्व जाति है न व्यक्ति नहीं। इसी प्रकार छिन्नपुनर्जात केश में भी केशत्व जाति वही है, न कि छिन्न केश में। अतः 'सोऽयं गकारः' इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा-रूप जो प्रत्यक्ष है उसका मूल कारण सत्त्व रूप जाति का ऐक्य ही है इसलिए प्रत्यभिज्ञा का विरोध हो जायगा यह जो उत्तर पूर्व में कहा था वह ठीक नहीं है।

अब यहाँ यह विचार करना है कि जातिमूलक प्रत्यभिज्ञा कहाँ होती है। एक तो बलवान् बाधक के होने से दूसरा व्यभिचार के देखने से। इसलिए प्रमाण है जहाँ व्यक्ति के भेद का निश्चय हो जाय वहीं बलवद् बाधक होता है। 'सोऽयम्' वही यह है, इस प्रकार का नियम ऐक्य के रहने पर ही होता है और कहीं ऐक्य के न रहने पर भी, जैसे छिन्न पुनर्जात केश में, वही यह है, इस प्रकार की जो प्रत्यभिज्ञा देखी जाती है वह उसी उक्त नियम का व्यभिचार दर्शन है। इस प्रकार कहीं पर किसी प्रकार का व्यभिचार देखकर यदि सर्वत्र उसी की सम्भावना करें, तब तो सकल व्यवहार ही लुप्त हो जायगा। इसमें स्वतः प्रमाणवादी का कहना है—

'कल्प्येत हि यो मौहाद्यशातमपि बाधकम्।
स सर्वव्यवहारेषु संशयात्मा विनश्यति ॥'

अर्थात्, जो मनुष्य अज्ञान से अज्ञात बाधा की सम्भावना करता है वह समस्त सांसारिक व्यवहार में संशयग्रस्त होकर नष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह कि कोई मनुष्य किसी काम के लिए जाता हुआ मोटर से दबकर मर गया या कहीं रेल आदि की दुर्घटना से मर गया तो उसको देख या सुनकर कोई शङ्का करे कि कदाचित् मैं भी इन कारणों से मर जाऊँगा तब तो सकल व्यवहार ही लुप्त हो जायगा। क्योंकि, वह शङ्का से किसी काम में प्रवृत्त नहीं होगा। इसलिए, कहीं व्यभिचार देखने से ही सर्वत्र उसकी आशङ्का नहीं करनी चाहिए। इसलिए, प्रत्यभिज्ञा के सामान्यविषयक होने में जो द्वितीय हेतु व्यभिचार दर्शन दिया है, वह युक्त नहीं है यह सिद्ध होता है।

बलवद् बाधक होने से सामान्यविषयक प्रत्यभिज्ञा होती है यह जो प्रथम हेतु दिया है उसका विचार किया जाता है—पूर्वपक्षी का तात्पर्य है कि यही यह गकार है इस प्रकार की जो प्रत्यभिज्ञा होती है उसका विषय गत्व जाति है न व्यक्ति नहीं परन्तु यह भी युक्त नहीं है क्योंकि अनेक गव्यक्ति के न होने के कारण गत्व जाति की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है। जाति का लक्षण है 'नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्' (जाति)।

इसी विषय को प्रकारान्तर से भी आचार्यों ने लिखा है। पूर्वपक्षी का यही कहना है कि विरुद्ध अनेक धर्मों के अध्यास से वर्णों का अनेक होना सिद्ध है। उसके उत्तर में सिद्धान्ती उनसे पूछते हैं—वर्ण में तारत्व, मन्दत्व अनुनासिकत्व आदि धर्म भासित होते हैं, क्या वे वर्णों के वास्तविक धर्म हैं या आरोपित? वास्तविक तो कह नहीं सकते; क्योंकि वास्तविक मानने से वर्णभेद मानना आवश्यक हो जायगा। इस स्थिति में, दस बार गकार का उच्चारण किया इस प्रकार का जो सार्वजनीन व्यवहार लोक में देखा जाता है, वह नहीं हो सकता। बल्कि, दस गकार का उच्चारण किया, इस प्रकार का व्यवहार होना चाहिए, परन्तु ऐसा व्यवहार होता नहीं। इसलिए, गकारादि वर्णों को एक और नित्य मानना आवश्यक हो जाता है।

द्वितीय विकल्प—अकारादि वर्णों में अनुनासिकत्वादि धर्मों को आरोपित मानें, तो वर्णों का वास्तविक भेद सिद्ध नहीं होता क्योंकि उपाधि के भेद होने से स्वाभाविक ऐक्य का विघात नहीं हो सकता। जैसे, दर्पण के भेद होने से वास्तविक मुख में भेद नहीं होता। इसलिए, वर्णों में जो भेद की प्रतीति होती है वह अभिव्यञ्जक ध्वनि के भेद के कारण ही है वर्णों में स्वाभाविक भेद होने से नहीं, यह सिद्धान्त सिद्ध हो जाता है।

इसी प्रकार जाति के खण्डन प्रस्ताव में आचार्य कुमारिलभट्ट ने कहा है—

'प्रयोजनन्तु यज्जातेस्तद्वर्णादेव लप्स्यते।
व्यक्तिलभ्यन्तु नादेभ्य इति गत्वादिधीर्वृथा॥'

तात्पर्य यही है कि गकारादि व्यक्ति के एक होने के कारण गकारादि वर्णों में गत्वादि जाति नहीं रह सकती; क्योंकि जाति अनेकानुगत होती है, यह पहले ही बता चुके हैं। दूसरा कारण यह है कि जाति के स्वीकार करने का प्रयोजन यही है कि 'यह घट है यह पट है' इस प्रकार की प्रतीति को उत्पन्न करे, वर्णों के एक मान लेने पर भी इस प्रकार की प्रतीति होती ही है इसलिए पृथक् जाति की कल्पना व्यर्थ ही है। इसी प्रकार दूसरा भी श्लोक है—

'प्रत्यभिज्ञा यदा शब्दे जागर्ति निरवग्रहा।
अनित्यत्वानुमानानि सैव सर्वाणि बाधते॥'

जबतक 'यही यह गकार है', इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा प्रवाह-रूप से वर्तमान है तबतक यही अनित्यत्व के सकल अनुमानों का बाध करता रहेगा। तात्पर्य यह है कि शब्द के अनित्यत्व साधन करने के लिए जितने प्रकार के अनुमान हो सकते हैं, उन सबका बाध यही यह गकार है इस प्रत्यभिज्ञा से हो जायगा। यदि शब्द को अनित्य मानें तो प्रतिक्षण उसकी उत्पत्ति और नाश मानना होगा। इस स्थिति में, जो गकार आदि शब्द पूर्व में उच्चरित होकर नष्ट हो गया, और पुनः दूसरे क्षण में जो गकार उच्चरित होता है, वह पूर्व गकार से भिन्न ही होगा। इस अवस्था में, यही यह गकार है इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा कदापि नहीं हो सकती; क्योंकि वह उससे भिन्न है। और, प्रत्यभिज्ञा प्रवाह रूप से अवश्य होती है, इसलिए शब्द को नित्य मानना आवश्यक है।

युवत्वादि धर्म के भिन्न-भिन्न होने पर भी धर्मी देवदत्त के एक होने के कारण देवदत्तत्व को जाति नहीं माना जाता; क्योंकि वृद्धत्व, युवत्व-प्रयुक्त देवदत्त में जो भेद प्रतीत होता है वह युवत्वादि अवस्था प्रयुक्त है, वास्तविक नहीं। इसी प्रकार, यह गकार द्रुत है यह विलम्बित है, इत्यादि जो भेद गकारादि वर्णों में प्रतीत होता है वह द्रुतत्वादि धर्मों के भेद से ही। वस्तुतः धर्मी गकारादि वर्णों में कोई भेद नहीं है इसलिए गत्वादि जाति की कल्पना अयुक्त है। दूसरे शब्दों में वर्ण में जो द्रुतत्वादि का अवभास होता है वह उच्चारण-क्रिया का ही है, वर्ण का नहीं। जैसे यह गकार द्रुत उच्चरित है यह गकार विलम्बित उच्चरित है इसी प्रकार का अवभास होता है। यह गकार द्रुत है या विलम्बित है, इस प्रकार का व्यवहार नहीं होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि धर्म में भेद होने पर भी धर्मी वर्ण में भेद नहीं होता है। वर्ण में भेद न होने से गत्वादि जाति की भी सिद्धि नहीं होती।

अब पुनः पूर्वपक्षी की आशङ्का होती है कि कृशत्व स्थूलत्व आदि जो धर्म हैं, वे क्रमशः आनेवाले हैं ये दोनों धर्म समान काल में एक व्यक्ति में नहीं रहते; परन्तु काल-भेद से एक देवदत्त में भी कृशत्व और स्थूलत्व धर्म क्रमशः रह सकते हैं। परन्तु, अनुनासिकत्व, उदात्तत्व आदि जो धर्म हैं वे क्रमवर्ती नहीं हैं, क्योंकि समान काल में भी अनेक वक्ता से उच्चरित अकारादि वर्णों में अनुनासिकत्व उदात्तत्व आदि अनेक धर्मों का समावेश देखा जाता है यदि एक ही वर्ण माना जाय, तो विरुद्ध अनुनासिकत्व आदि अनेक धर्मों का एक आकार में जो अनेक वक्ता से समान काल में उच्चरित है समावेश नहीं बनता। इसलिए, भिन्न भिन्न अकारादि वर्णों को मानना आवश्यक हो जाता है। अकारादि वर्णों को भिन्न भिन्न मानने से अत्व, गत्वादि जाति की भी सिद्धि अवश्य हो जाती है।

इसके उत्तर में मीमांसकों का कहना है कि यह बात तभी ठीक हो सकती है जब उदात्तत्व अनुनासिकत्व आदि धर्म अकारादि वर्णों के यथार्थ हों। परन्तु ऐसा नहीं है। वास्तव में अनुनासिकत्वादि धर्म अकारादि वर्णों की अभिव्यञ्जक जो ध्वनि है उसी के हैं और वे व्यञ्जक वर्णों में अवभासित होते हैं। जिस प्रकार छोटे बड़े दो दर्पणों में एक काल में यदि मुख देखा जाय तो एक काल में ही मुख में छोटापन, बड़ापन दोनों प्रतीत होंगे। यहाँ दर्पण के भेद होने से ही एक ही मुख में विरुद्ध नाना धर्म छोटापन बड़ापन आदि भासित होते हैं। इसी प्रकार, वर्णों के एक होने पर भी वर्ण की अभिव्यञ्जक जो ध्वनि है उसमें अनुनासिकत्व आदि अनेक धर्म के रहने से उससे अभिव्यक्त होनेवाले वर्णों में भी ये धर्म भासित होते हैं। वास्तव में ये वर्ण के धर्म नहीं हैं। इसीलिए, वर्ण एक ही है यह सिद्ध होता है। वर्ण के एक होने से गत्वादि जाति की भी सिद्धि नहीं हो सकती। जाति की सिद्धि न होने से जातिविषयक प्रत्यभिज्ञा भी नहीं हो सकती। और वही यह गकार है इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा अबाध रूप से होती है। यह प्रत्यभिज्ञा वर्ण के नित्य और एक मानने में ही सम्भावित है। इसलिए, वर्णों को नित्य और एक मानना आवश्यक है। इससे वर्ण एक और नित्य है, ऐसा मीमांसकों का पक्ष सिद्ध हो जाता है।

लघुत्व, महत्त्व, स्थूलत्व कृशत्व आदि जो धर्म हैं, वे वस्तुतः मुख के धर्म नहीं हैं, किन्तु सम्बन्ध से मुख में भासित होते हैं उसी प्रकार अभिव्यञ्जक ध्वनि में रहनेवाले जो उत्पत्ति विनाश आदि धर्म हैं वे शब्द में भी भासित होते हैं। वस्तुतः, ये शब्द के धर्म नहीं हैं, इसलिए शब्द के नित्य होने में ये बाधक नहीं हो सकते।

अब दूसरी शङ्का यह होती है कि शब्द को यदि नित्य और व्यापक मानते हैं, तो सर्वदा सब शब्दों का भान होना चाहिए। क्योंकि व्यापक और नित्य होने से सर्वत्र सर्वदा उसकी सत्ता रहती है, अतः अभिव्यञ्जक ध्वनि की सहायता से सर्वदा सब शब्दों का भान होना आवश्यक है। परन्तु, ऐसा होता नहीं है। यदि शब्द को व्यापक मानें, तब तो जिस देश में शब्द नहीं है, वहाँ अभिव्यञ्जक के रहने पर भी शब्द नहीं होना चाहिए। अतः, शब्द को व्यापक या अव्यापक कुछ भी नहीं मान सकते।

इस पर मीमांसकों का उत्तर यह है कि यद्यपि शब्द व्यापक ही है तथापि यह सर्वदा सब जगह उत्पन्न नहीं होता, कारण यह है कि यद्यपि शब्द व्यापक होने से सब जगह रहता है, तथापि जहाँ अभिव्यञ्जक ध्वनि से संस्कृत होता है वहीं अभिव्यक्त होता है अन्यथा नहीं। इसलिए, शब्द के व्यापक होने में भी कोई आपत्ति नहीं होती।

इस प्रकार, वर्णात्मक शब्द के नित्यत्व और व्यापकत्व-व्यवस्थापनपूर्वक वेद का अपौरुषेयत्व स्थापित किया गया। वेद के अपौरुषेय होने से पुरुष-कृत दोष की सम्भावना वेद में नहीं रही, इसी कारण वेद का स्वतःप्रामाण्य भी इनके मत में सिद्ध होता है।

प्रामाण्यवाद का विवेचन

अब प्रामाण्य का तात्पर्य क्या है? प्रामाण्य स्वतः है या परतः? स्वतः और परतः का अर्थ क्या है? इत्यादि विषयों का विवेचन किया जा रहा है। प्रमाणों का जो भाव अर्थात् धर्मविशेष है, उसीको प्रामाण्य कहते हैं। यथार्थ अनुभव का नाम प्रमाण है। इसीको प्रमा भी कहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि यथार्थ अनुभव में रहनेवाला जो विशेष धर्म है उसी का नाम प्रामाण्य है। इसीको प्रमात्व और प्रमाणत्व भी कहते हैं। इसी प्रकार, अयथार्थ अनुभव में रहनेवाला जो विशेष धर्म है, वही अप्रामाण्य है। इसीको अप्रमात्व और अप्रमाणत्व भी कहते हैं।

इस प्रामाण्य के कारण विषय में जो वाद है वही प्रामाण्यवाद कहलाता है। यह प्रामाण्यवाद दो प्रकार का होता है—एक जनककारणविषयक दूसरा ज्ञापक कारणविषयक। जनक कारण उसको कहते हैं जिससे कार्य उत्पन्न होता है। ज्ञापक कारण वह है, जिससे कार्य का ज्ञान होता हो। प्रामाण्य का कारण स्व है अथवा पर? इस प्रकार का जो संशय होता है वही वाद का बीज है। यहाँ इस शब्द में प्रामाण्य प्रामाण्य का आश्रय ज्ञान और ज्ञान कारण की सामग्री, इन तीनों का ग्रहण किया जाता है। पर शब्द से इन तीनों से

नित्यानित्यत्व-विचार

वाचस्पति मिश्र ने मानमनोहर नाम के ग्रन्थ में शब्द के अनित्य होने में यह अनुमान दिखाया है—शब्द (पक्ष) अनित्य है (साध्य) इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य विशेष गुण होने के कारण (हेतु) रूप के सदृश (दृष्टान्त)। जिस प्रकार, चक्षु-इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य रूप अनित्य है उसी प्रकार श्रोत्र-इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य शब्द गुण भी अनित्य होगा। परन्तु इस प्रकार के सब अनुमानों का उक्त प्रत्यभिज्ञा से बाध हो जाता है। दूसरा कारण यह है कि मीमांसक लोग शब्द को गुण मानते ही नहीं वे शब्द को द्रव्य मानते हैं। इस स्थिति में, यदि शब्द गुण ही नहीं है, तो विशेष गुण किस प्रकार हो सकता है। अतः, पक्षभूत शब्द में विशेषगुणत्व-रूप हेतु के न रहने से स्वरूपासिद्धि नाम का हेत्वाभास हो जाता है। एक कारण और भी है कि अभावयत्व उपाधि से यह अनित्यत्वानुमान दूषित भी हो जाता है। जैसा पहले ही कह चुके हैं जो साध्य का व्यापक और साधन का अव्यापक है वही उपाधि है। प्रकृत में जहाँ-जहाँ अनित्यत्व-रूप साध्य है वहाँ-वहाँ अभावयत्व अवश्य है जैसे घटादि में। और, जहाँ जहाँ इन्द्रियग्राह्य विशेषगुणवत्ता-रूप हेतु है वहाँ नियमेन अभावयत्व नहीं रहता; क्योंकि शब्द में ही व्यभिचार हो जाता है। शब्द अभावरूप नहीं किन्तु भावरूप ही है। साध्य के व्यापक और साधन के अव्यापक होने से अभावयत्व उपाधि हो जाती है। सोपाधिक हेतु के हेत्वाभास होने से अनित्यत्व का अनुमान नहीं हो सकता। इसलिए, शब्द नित्य है ऐसा ही मीमांसकों का सिद्धान्त है। इसी प्रकार, उदयनाचार्य ने भी कहा है कि शब्द का अनित्यत्व तो प्रत्यक्ष-प्रमाण से ही सिद्ध होता है—'उत्पन्नः कोलाहलः, विनष्टः कोलाहलः' इस प्रकार कोलाहल अर्थात् शब्द में उत्पत्ति और नाश का प्रत्यक्षतः अनुभव होता है।

यहाँ उदयनाचार्य जो शब्द की उत्पत्ति और विनाश को प्रत्यक्ष मानते हैं से यह प्रश्न होता है कि शब्द के विनाश का प्रत्यक्ष किस प्रकार हो सकता है; क्योंकि शब्द का विनाश शब्द का ध्वंसाभाव ही होगा और अभाव का प्रत्यक्ष उसके आश्रय के प्रत्यक्ष के अधीन होगा; क्योंकि अभाव-ज्ञान में उसके आश्रय का ज्ञान कारण होता है। और शब्द का आश्रय जो आकाश है वह अतीन्द्रिय होने से प्रत्यक्ष नहीं है। इस स्थिति में, शब्द के अभाव-रूप विनाश का प्रत्यक्ष कैसे होगा ?

इसके समाधान में उदयनाचार्य का कहना है कि अभाव के प्रत्यक्ष में आश्रय का ज्ञान कारण है इस प्रकार का नियम युक्त नहीं है; क्योंकि वायु में रूपाभाव का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है और उसका आश्रय जो वायु है उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि अभाव-प्रत्यक्ष में आश्रय कारण नहीं होता इसलिए शब्द में उत्पत्ति और विनाश के प्रत्यक्ष अनुभव होने से शब्द अनित्य है यह सिद्ध होता है।

इसके उत्तर में मीमांसकों का कहना है कि शब्द में जो उत्पत्ति और विनाश की प्रतीति होती है वह औपाधिक है वास्तविक नहीं। जिस प्रकार, दर्पण में विद्यमान

लघुत्व, महत्व, स्थूलत्व, कृशत्व आदि जो धर्म हैं, वे वस्तुतः मुख के धर्म नहीं हैं, किन्तु सम्बन्ध से मुख में भासित होते हैं, उसी प्रकार अभिव्यञ्जक ध्वनि में रहनेवाले जो उत्पत्ति विनाश, आदि धर्म हैं वे शब्द में भी भासित होते हैं। वस्तुतः, ये शब्द के धर्म नहीं हैं, इसलिए शब्द के नित्य होने में ये बाधक नहीं हो सकते।

अब दूसरी शङ्का यह होती है कि शब्द को यदि नित्य और व्यापक मानते हैं, तो सर्वदा सब शब्दों का भान होना चाहिए। क्योंकि व्यापक और नित्य होने से सबका सर्वदा उसकी सत्ता रहती है, केवल अभिव्यञ्जक ध्वनि की सहायता से सर्वदा सब शब्दों का भान होना आवश्यक है। परन्तु, ऐसा होता नहीं है। यदि शब्द को व्यापक मानें, तब तो जिस देश में शब्द नहीं है, वहाँ अभिव्यञ्जक के रहने पर भी शब्द नहीं होना चाहिए। अतः, शब्द को व्यापक या अव्यापक कुछ भी नहीं मान सकते।

इस पर मीमांसकों का उत्तर यह है कि यद्यपि शब्द व्यापक हो है तथापि वह सर्वदा सब जगह उत्पन्न नहीं होता, कारण यह है कि यद्यपि शब्द व्यापक होने से सब जगह रहता है, तथापि वहीं अभिव्यञ्जक ध्वनि से संस्कृत होता है, वहीं अभिव्यक्त होता है अन्यथा नहीं। इसलिए, शब्द के व्यापक होने में भी कोई आपत्ति नहीं होती।

इस प्रकार, वर्णात्मक शब्द के नित्यत्व और व्यापकत्व-व्यवस्थापनपूर्वक वेद का अपौरुषेयत्व स्थापित किया गया। वेद के अपौरुषेय होने से पुरुष-कृत दोष की सम्भावना वेद में नहीं रही, इसी कारण वेद का स्वतःप्रामाण्य भी इनके मत में सिद्ध होता है।

प्रामाण्यवाद का विवेचन

अब प्रामाण्य का तात्पर्य क्या है? प्रामाण्य स्वतः है या परतः? स्वतः और परतः का अर्थ क्या है? इत्यादि विषयों का विवेचन किया जा रहा है। प्रमाणों का जो भाव अर्थात् धर्मविशेष है उसीको प्रामाण्य कहते हैं। यथार्थ अनुभव का नाम प्रमाण है। इसीको प्रमा भी कहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि यथार्थ अनुभव में रहनेवाला जो विशेष धर्म है उसी का नाम प्रामाण्य है। इसीको प्रमात्व और प्रमाणत्व भी कहते हैं। इसी प्रकार अयथार्थ अनुभव में रहनेवाला जो विशेष धर्म है, वही अप्रामाण्य है। इसीको अप्रमात्व और अप्रमाणत्व भी कहते हैं।

इस प्रामाण्य के कारण विषय में जो वाद है, वही प्रामाण्यवाद कहलाता है। यह प्रामाण्यवाद दो प्रकार का होता है—एक जनककारणविषयक दूसरा ज्ञापक-कारणविषयक। जनक कारण उसको कहते हैं जिससे कार्य उत्पन्न होता है। ज्ञापक कारण वह है जिससे कार्य का ज्ञान होता है। प्रामाण्य का कारण स्व है अथवा पर? इस प्रकार का जो संशय होता है वही वाद का बीज है। यहाँ स्व शब्द से प्रामाण्य प्रामाण्य का आश्रय-ज्ञान और ज्ञान कारण की सामग्री, इन तीनों का ग्रहण किया जाता है। पर शब्द से इन तीनों से

विषय का ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार, अप्रामाण्य के विषय में भी स्व और पर शब्द का अर्थ विचारणीय है।

जिनके मत में प्रामाण्य या अप्रामाण्य की उत्पत्ति पर अर्थात् दूसरे से होती है, वे परतःप्रामाण्यवादी कहे जाते हैं। जिनके मत में प्रामाण्य स्वयम् अर्थात् अपने आश्रय ज्ञान से अथवा ज्ञान-सामग्री से उत्पन्न होता है, वे स्वतःप्रामाण्यवादी कहे जाते हैं। कौन स्वतःप्रामाण्य मानता है और कौन परतः, इस विषय में पूर्वाचार्यों ने लिखा है—

'प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः।
नैयायिकास्ते परतः सौगताश्चरमं स्वतः॥
प्रथमं परतः प्राहुः प्रामाण्यं वेदवादिनः।
प्रमाणत्वं स्वतः प्राहुः परतश्चाप्रमाणताम्॥'

तात्पर्य यह है कि सांख्यों के मत में प्रमाणत्व और अप्रमाणत्व, दोनों का जन्म स्वतः होता है। नैयायिक दोनों का जन्म परतः मानते हैं। बौद्धों के मत में अप्रामाण्य का जन्म स्वतः और प्रामाण्य का परतः माना जाता है। वेदवादी मीमांसकों के मत में प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः माना जाता है। इस प्रकार उन आचार्यों के परस्पर मतभेद होने पर भी मीमांसक स्वतःप्रामाण्य को ही युक्त मानते हैं। नैयायिक इस बात को नहीं मानते। वे परतःप्रामाण्य मानते हैं। अतः, मीमांसकों से इनका प्रश्न होता है—स्वतःप्रामाण्य का तात्पर्य क्या है? क्या प्रामाण्य का स्वतः जन्म होता है अर्थात् ज्ञानगत जो प्रामाण्यरूप धर्म है क्या वह स्वयं उत्पन्न हो जाता है अथवा अपने आश्रय-ज्ञान से या ज्ञान की कारण-सामग्री से उत्पन्न होता है? ये तीन विकल्प हैं। चौथा विकल्प है कि ज्ञान के जितने साधारण कारण हैं उनसे उत्पन्न जो ज्ञान-विशेष है क्या उसीमें प्रामाण्य रहता है?

ज्ञानगत प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न होता है यह पहला पक्ष तो मान नहीं सकते, क्योंकि कार्य-कारण में भेद का रहना वास्तव में स्वाभाविक है। यदि कार्य अपने से ही उत्पन्न होने लगे तब तो कार्य-कारण में भेद नहीं रहेगा और भेद सामानाधिकरण्य का नियम भङ्ग हो जायगा। यदि स्वाश्रय ज्ञान से प्रामाण्य की उत्पत्ति मानें तो भी ठीक नहीं है। कारण यह है कि ज्ञान से यदि उत्पत्ति मानेंगे तो ज्ञान को समवायी कारण मानना होगा। ज्ञान गुण है वह समवायी कारण हो नहीं सकता; क्योंकि समवायी कारण द्रव्य ही होता है, यह नियम है—'समवायिकारणत्वं द्रव्यस्यैवेति विज्ञेयम्'।

तात्पर्य यह है कि ज्ञान आत्मा का गुण है वह किसी का समवायी कारण नहीं होता। यदि प्रामाण्य का कारण मानते हैं तो सिद्धान्त-भङ्ग हो जायगा। अतः, द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं हुआ। ज्ञान-सामग्री से जन्य यह तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं है। कारण यह है कि प्रामाण्य को जाति या उपाधि कुछ भी मानें तो उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि वह नित्य है। तात्पर्य यह है कि प्रमात्वरूप अनेक ज्ञान में रहनेवाला या सर्वानुगत धर्मविशेष है वही प्रामाण्य है। इसी प्रकार के

धर्मविशेष का नाम सामान्य भी है। सामान्य दो प्रकार का होता है—एक जाति, दूसरा उपाधि। इसमें यह सिद्ध होता है कि प्रामाण्य जाति-स्वरूप होगा अथवा उपाधि-स्वरूप। यदि प्रामाण्य को जाति स्वरूप मानते हैं, तब तो उसके नित्य होने से उत्पत्ति नहीं बनती क्योंकि जाति नित्य है। यदि प्रत्यक्ष के साथ सांकर्य, जो जाति का बाधक है होने से प्रामाण्य को जाति न माना जाय तो उपाधि ही मानना होगा। उपाधि भी दो प्रकार की होती है—अखण्ड और सखण्ड। प्रामाण्य का यदि अखण्डोपाधि मानें तो भी वह नित्य होगा उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। सखण्डोपाधि नित्य और अनित्य दोनों होती है क्योंकि वह द्रव्य आदि का अन्यतम रूप ही है। उदाहरण के लिए : शरीरत्व जाति नहीं होता; क्योंकि पृथिवीत्व के साथ सांकर्य हो जाता है। सांकर्य जाति का बाधक होता है। इसलिए, शरीरत्व उपाधि है। शरीर में जो चेष्टाश्रयत्व है वही शरीरत्व है दूसरा नहीं। चेष्टाश्रयत्व का अर्थ है—चेष्टाश्रय का भाव। और, वह चेष्टाश्रय-स्वरूप ही होगा क्योंकि प्रकृति-जन्य बोध में प्रकारीभूत धर्म का नाम भाव है। हित प्राप्ति और अहित-परिहार के लिए जो क्रिया होती है, वही चेष्टा कहलाती है।

इस स्थिति में, शरीरत्व के क्रियात्म उपाधिस्वरूप होने से उसका अनित्यत्व सिद्ध होता है। परन्तु, यहाँ प्रामाण्य के विषय में यह बात नहीं है। कारण यह है कि प्रामाण्य यथार्थानुभवत्व-रूप ही है यह पहले कह चुके हैं। इसका अर्थ है यथार्थानुभव में रहनेवाली यथार्थता। और, स्मृति से भिन्न जो ज्ञान है, उसको अनुभव कहते हैं। अनुभव की यथार्थता बाध के अत्यन्ता-भाव का रूप ही है। अर्थात्, जिसका कभी बाध न हो वही यथार्थ है। जो ज्ञान बाधित होता है वह अयथार्थ है। इस स्थिति में यही सिद्ध होता है कि अनुभवात्मक जो ज्ञान है उसका बाधात्यन्ता भाव ही उपाधि है इसलिए प्रामाण्य का स्वरूप बाधात्यन्ताभाव सिद्ध होता है। अत्यन्ताभाव नित्य है इसलिए प्रामाण्य के उपाधि-स्वरूप होने पर भी उत्पत्ति नहीं हो सकती। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रामाण्य को जाति-स्वरूप मानें अथवा उपाधि-स्वरूप दोनों अवस्थाओं में उसकी उत्पत्ति नहीं बनती इसीलिए तृतीय विकल्प भी ठीक नहीं होता। यह उत्तर प्रथम और द्वितीय विकल्प का भी हो सकता है। क्योंकि दोनों म प्रामाण्य का जन्म नित्य होने से असम्भव है।

ज्ञान-सामान्य-सामग्री से उत्पन्न जो ज्ञान-विशेष है उसका आश्रित प्रामाण्य है यह जो चतुर्थ विकल्प किया है वह भी युक्त नहीं होता; क्योंकि अयथार्थ ज्ञान में भी उक्त प्रामाण्य-लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है। उदाहरण के लिए : दूषित इन्द्रियवाले पुरुष को वास्तविक शुक्ति में यह रजत है इस प्रकार का जो ज्ञान होता है, वह अयथार्थ ज्ञान है। यह ज्ञान भी ज्ञान की सामान्य-सामग्री से ही उत्पन्न हुआ है। ज्ञान की सामान्य-सामग्री, इन्द्रियार्थ के सन्निकर्ष और प्रकाश आदि हैं। यह रजत है इस प्रकार का जो अयथार्थ ज्ञान है वह यद्यपि दोषयुक्त इन्द्रिय से उत्पन्न होता है तथापि दोषयुक्त इन्द्रिय इन्द्रिय नहीं है ऐसा नहीं कह सकते। जिस प्रकार, काना मनुष्य में भी मनुष्यत्व रहता है, उसी प्रकार दुष्ट इन्द्रियों में भी

इन्द्रियत्व रहता ही है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अयथार्थ ज्ञान में भी ज्ञान-सामान्य-सामग्री-जन्यत्व रहती है उसका निषेध नहीं होता। इस स्थिति में उक्त जो अयथार्थ ज्ञान है वह ज्ञान की सामान्य-सामग्री से उत्पन्न और ज्ञानविशेष ही है और इसके आश्रित अप्रामाण्य है। इस अप्रामाण्य में भी उक्त प्रामाण्य-लक्षण की प्रवृत्ति होने से अतिव्याप्ति-दोष हो जाता है। इसलिए चतुर्थ विकल्प भी युक्त नहीं होता है, यह सिद्ध हुआ।

यद्यपि अयथार्थ ज्ञान ज्ञान-सामान्य-सामग्री से उत्पन्न है तथापि उस अयथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति में एक दोष भी अधिक कारण हो जाता है, इसलिए ज्ञान-सामान्य-सामग्री-मात्र से जन्य नहीं है इसलिए अतिव्याप्ति-दोष नहीं होगा इसी अभिप्राय से पञ्चम विकल्प किया है जिसमें ज्ञान की सामान्य-सामग्री-मात्र से उत्पन्न ज्ञानविशेष का स्वतः प्रामाण्य का आश्रित होना बताया गया है। परन्तु, यह पक्ष भी युक्त नहीं है; क्योंकि इसमें भी दो विकल्पों का समाधान नहीं होता है। जैसे उक्त पञ्च विकल्पों में ज्ञान-सामग्री-मात्र से जन्य का क्या तात्पर्य है दोषाभाव से सहकृत ज्ञान-सामग्री से जन्य उसका तात्पर्य है अथवा दोषाभाव से असहकृत ज्ञान सामग्री से जन्य ? जिस प्रकार, अयथार्थ ज्ञान-स्थल में ज्ञान की सामान्य-सामग्री की अपेक्षा एक दोष भी अधिक कारण रहता है जिसकी व्यावृत्ति-मात्र पद से करते हैं उसी प्रकार यथार्थ ज्ञान-स्थल में भी सामान्य-कारण-सामग्री की अपेक्षा एक दोषाभाव भी अधिक कारण रहता है, उसकी व्यावृत्ति पद मात्र से करते हैं या नहीं ? यदि पद मात्र से उसकी व्यावृत्ति करते हैं तब तो प्रामाण्य-लक्षण का कोई भी उदाहरण नहीं मिल सकता इसलिए असम्भव-दोष हो जाता है। दोषाभाव की व्यावृत्ति नहीं होती, इसी अभिप्राय से प्रथम पक्ष का उपन्यास किया और यथार्थ ज्ञान-स्थल में दोषाभाव कारण होता ही नहीं इसलिए उसकी व्यावृत्ति करने पर भी कोई क्षति नहीं है इस अभिप्राय से द्वितीय पक्ष का उपन्यास किया।

दूसरे शब्दों में यथार्थ ज्ञान-स्थल में दोषाभाव कारण नहीं होता इसका क्या तात्पर्य है ? क्या दोषाभाव ज्ञान के उत्पन्न करने में इन्द्रियों का सहायक-मात्र होता है स्वतन्त्र कारण नहीं यह अभिप्राय है ? या स्वरूप रहित होने से दोषाभाव किसीका कारण होता ही नहीं ?

पहला पक्ष तो कह नहीं सकते क्योंकि ज्ञानोत्पत्ति में इन्द्रियों की सहायता दोषाभाव अवश्य करता है; क्योंकि दोषाभाव के रहने पर यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है, और दोषाभाव के न रहने पर यथार्थ ज्ञान उत्पन्न नहीं होता इस अन्वयव्यतिरेक से यथार्थ ज्ञान के प्रति दोषाभाव कारण अवश्य होता है, यह सिद्ध होता है। यदि स्वरूपरहित होने से दोषाभाव कारण नहीं होता यह कहें तो उनसे यह प्रश्न होता है कि अभाव कार्य होता है या नहीं ? यदि अभाव कार्य नहीं होता यह कहें, तब तो घट के प्रागभाव-रूप कार्य के न होने से घट नित्य होने लगेगा। यदि अभाव को कार्य मानते हैं तब तो कार्य के सदृश कारण भी अवश्य होगा। उदयनाचार्य ने भी कुसुमाञ्जलि में लिखा है कि 'भावो यथा तथाऽभावः कारणं कार्यवन्मतः' अर्थात्

जिस प्रकार भाव कारण और कार्य दोनों होता है, उसी प्रकार अभाव भी कार्य के सदृश ही कारण भी होता है। यद्यपि अभाव किसीका समवायी कारण नहीं होता, तथापि निमित्त कारण होने में कोई बाधक नहीं है। अतः, अभाव निमित्त कारण होता है, यह सिद्ध हुआ।

इस प्रकार, स्वतःप्रामाण्य के पाँच प्रकार के जो निर्वचन किये गये उनमें एक भी ठीक नहीं होने से स्वतःप्रामाण्य-पक्ष सिद्ध नहीं होता, बल्कि नैयायिकों का परतःप्रामाण्य सिद्धान्त ही सिद्ध होता है। परतःप्रामाण्य अनुमान से भी सिद्ध होता है—विवादास्पद प्रामाण्य (पक्ष)-ज्ञान का हेतु अतिरिक्त हेतु के अधीन है (साध्य) कार्य होकर ज्ञानविशेष के आश्रित होने के कारण (हेतु) अप्रामाण्य के सदृश (दृष्टान्त)। प्रकृत में, ज्ञान के कारण जो इन्द्रिय आदि हैं उनसे भिन्न दोषाभाव-रूप कारण भी प्रामाण्य की उत्पत्ति में विद्यमान है इस कारण परतःप्रामाण्यवाद नैयायिकों का सिद्ध हो जाता है।

जिस प्रकार, प्रामाण्य की उत्पत्ति परतः होती है उसी प्रकार उसका ज्ञान भी परतः होता है; इसमें भी अनुमान प्रमाण दिया जाता है—प्रामाण्य परतः ज्ञान का विषय है, अनभ्यास-दशा में संशययुक्त होने के कारण, अप्रामाण्य के सदृश। इसका तात्पर्य यह है कि जिन इन्द्रियादि के द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है उन्हींके द्वारा उसके प्रामाण्य का बोध नहीं होता उसके लिए दूसरे प्रमाण की आवश्यकता होती है। जैसे अज्ञात मार्ग से जाता हुआ मनुष्य दूर से ही कहीं जल का ज्ञान करता है, जल का ज्ञान होने पर बाद में यह जल ज्ञान यथार्थ है या नहीं, इस प्रकार का संशय उत्पन्न होता है। अनन्तर, समीप में जाकर जब जल प्राप्त करता है तब उसका संशय निवृत्त होता है। और, पूर्व में उत्पन्न जल ज्ञान प्रमा था सफल प्रवृत्ति के जनक होने के कारण। जो प्रमा नहीं है वह सफल प्रवृत्ति का जनक नहीं है जैसे अप्रमा। इस अनुमान से जलज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय करता है। यदि ज्ञान की ज्ञापक सामग्री से ही प्रामाण्य का ज्ञान मानें, तब तो ज्ञान के उत्पत्ति-काल में ही, उसमें रहनेवाला प्रामाण्य का भी ज्ञान होना अनिवार्य होगा। इस स्थिति में संशय की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिए, प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति (ज्ञान) दोनों में ही परतः प्रामाण्य है यह नैयायिकों का मत सिद्ध हो जाता है। यहाँ तक नैयायिकों का आक्षेप है।

इसके उत्तर में मीमांसक कहते हैं कि नैयायिकों का यह कहना कि स्वतः प्रामाण्य का निर्वचन नहीं बनता इसलिए परतः प्रामाण्य मानना चाहिए, यह सब व्यर्थ का वाद है। स्वतः प्रामाण्य का निर्वचन अच्छी भाँति युक्तियुक्त सिद्ध हो जाता है। प्रामाण्य का स्वतःसिद्धत्व यह है कि जो विज्ञान-सामग्री से जन्य और उससे भिन्न हेतु से अजन्य हो वही प्रामाण्य है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस सामग्री से विज्ञान उत्पन्न होता है उसीसे उस विज्ञान में रहनेवाला प्रामाण्य भी उत्पन्न होता है, प्रामाण्य की उत्पत्ति में गुण या दोषाभाव कोई भी दूसरा हेतु नहीं होता है। दोष तो केवल प्रमा का प्रतिबन्धक मात्र है। यह मीमांसकों का मत है। स्वतः प्रामाण्य में

इनके मत म अनुमान का स्वरूप—विवादास्पद प्रामाण्य (पक्ष) विज्ञान-सामग्री से जन्य और उससे भिन्न हेतु से अजन्य है (साध्य) अप्रमा के अप्रामाण्य होने के कारण (हेतु) घटादि प्रमा के सदृश (दृष्टान्त)।

यहाँ एक बात और जान लेना चाहिए कि पक्ष का एक देश भी यहाँ साध्यत्वेन निश्चित है दृष्टान्त म लिया जाता है। जिस प्रकार सकल प्रपञ्च को पक्ष मानकर कार्यत्व हेतु से सकर्तृकत्व सिद्ध करने में घट को दृष्टान्त लिया जाता है, जो पक्ष का एक देश ही है। इसलिए, प्रकृत म जो प्रमा का दृष्टान्त घट लिया है वह युक्त ही है। यदि यह कहें कि पूर्वोक्त उदयनाचार्य के अनुमान से प्रामाण्य का स्वतःसिद्ध होना निश्चित हो चुका है इसलिए परतःप्रामाण्य ही युक्त मानना चाहिए, तो इसके उत्तर म मीमांसकों का कहना है कि उदयनाचार्य का जो अनुमान है, वह सत्प्रतिपक्ष दोष से दूषित होने से अप्रमाण है। प्रमा (पक्ष) दोषहेतु के और ज्ञान के सामान्य हेतु के जो अतिरिक्त है उससे जन्य नहीं है (साध्य) ज्ञानत्व होने से (हेतु), अप्रमा के सदृश (दृष्टान्त)। यहाँ दोष हेतु के अतिरिक्त विशेषण इसलिए दिया है कि अप्रमा-ज्ञान ज्ञानहेतु के अतिरिक्त दोष से भी जन्य होता है अतः दृष्टान्त नहीं हो सकता। यह अनुमान उदयनाचार्य के अनुमान का प्रतिपक्ष है इसलिए साध्याभाव के साधक होने से सत्प्रतिपक्ष नाम का हेत्वाभास हो जाता है अतएव उनका अनुमान ठीक नहीं है। अतः, परतःप्रामाण्य युक्तियुक्त न होने से स्वतःप्रामाण्य ही मान्य है, यह मीमांसकों का सिद्धान्त है।

अब यह आशङ्का होती है कि दोष यदि अप्रमा का हेतु होता है, तो दोषाभाव भी प्रमा के प्रति हेतु अवश्य होगा अतः परतःप्रामाण्य मानना युक्त होता है। इसके उत्तर में मीमांसकों का कहना है कि यह शङ्का युक्त नहीं है कारण यह है कि दोषाभाव अप्रमा का प्रतिबन्धकमात्र है इसलिए यह अन्यथासिद्ध है। और, अन्यथासिद्ध कारण नहीं होता यह नैयायिकों को भी मान्य है जिस प्रकार दण्डत्व या दण्डरूप अन्यथासिद्ध होने स नियत पूर्ववर्ती रहने पर भी घट के प्रति कारण नहीं होता। यदि यह कहें कि कारण नहीं है तो दण्डरूप कार्य से घट नियत पूर्ववर्ती कैसे हुआ। इसका उत्तर यह है कि घट के प्रति कारणत्वेन अभिमत जो दण्ड है वह दण्डत्व या दण्डरूप के बिना रह नहीं सकता इसलिए दण्डत्व और दण्डरूप ये दोनों अन्यथासिद्ध हैं।

इसी प्रकार, प्रमा-ज्ञान के प्रति दोषाभाव नियत पूर्ववर्ती होने पर भी प्रमा का कारण नहीं होता। दोषाभाव प्रमा के प्रति नियत पूर्ववर्ती इसलिए है कि दोष अप्रमा का हेतु है। इसी कारण दोष रहने पर प्रमा की उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए, प्रमा ज्ञान स्थल म नियत पूर्ववर्ती जो दोषाभाव है उससे अप्रमा का प्रतिबन्धमात्र होता है। प्रमा के उत्पादन म दोषाभाव का कोई उपयोगी व्यापार नहीं होता है इसलिए दोषाभाव प्रमा के प्रति अन्यथासिद्ध होने से कारण नहीं हो सकता। एक शङ्का और होती है कि ज्ञान के उत्पत्तिकाल में ही यदि प्रामाण्य की उत्पत्ति मान लें तब तो संशय का अवकाश ही नहीं होता। और संशय होता है इससे यह समझा जाता है कि प्रामाण्य का ज्ञान स्वतः नहीं किन्तु परतः है।

इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि ज्ञान की सम्पूर्ण कारण-सामग्री के रहने पर भी यदि संशय उत्पन्न होता है, तो यही समझना चाहिए कि प्रामाण्य के प्रतिबन्धक दोष का समवधान कुछ अवश्य है। दोष का समवधान ही प्रामाण्य-ज्ञान का प्रतिबन्धक हो जाता है, जिससे संशय उत्पन्न होता है। इसलिए, प्रामाण्य के स्वतःसिद्ध होने में कोई बाधक नहीं है, अतः स्वतःप्रामाण्य सिद्ध हो जाता है।

अब नैयायिकों के प्रति सिद्धान्ती का यह अन्तिम प्रश्न होता है—परतःप्रामाण्य का साधक जो आपका अनुमान है, वह स्वतः है अथवा परतः? यदि स्वतः कहें तो ठीक नहीं होता; क्योंकि आपके सिद्धान्त न प्रतिकूल है। और, प्रामाण्य परतः ग्राह्य है, यह जो आपका नियम है, वह व्यभिचरित हो जाता है, इसलिए आपके अनुमान म अनैकान्तिक नाम का हेत्वाभास हो जाता है। यदि परतः कहें, तो भी ठीक नहीं होता कारण यह है कि उक्त अनुमान क प्रामाण्य क लिए अनुमानान्तर की आवश्यकता होगी पुनः उसके प्रामाण्य क लिए अन्य की। इस प्रकार अनवस्था-दोष परतःप्रामाण्यवादी के गलेपतित है, इसलिए स्वतःप्रामाण्यवाद ही युक्त और मान्य है यह सिद्धान्ती मीमांसक का मत है।

एक बात और है कि किसी अत्यन्त अभिलषित पदार्थ को देखते ही उसे प्राप्त करने के लिए झटिति प्रवृत्ति हो जाती है। किन्तु परतः प्रामाण्य के लिए अनुमानादि किसी प्रमाणान्तर की अपेक्षा होगी। इससे शीघ्र प्रवृत्ति जो होती है, वह नहीं बनती अतः स्वतः प्रामाण्य मानना समुचित होता है।

नैयायिकों का कहना है कि प्रवृत्ति में ज्ञान प्रामाण्य की अपेक्षा नहीं होती, किन्तु प्रामाण्य-निश्चय के बिना ही इच्छामात्र से झटिति प्रवृत्ति हो जाती है। जितनी अधिक इच्छा होगी, उतनी ही शीघ्र प्रवृत्ति भी होगी इसम प्रामाण्य की आवश्यकता नहीं है। उदयनाचार्य ने कुसुमाञ्जलि में लिखा है—'प्रवृत्तिर्हीच्छामपेक्षते तत्प्राचुर्यञ्चेच्छाप्राचुर्यम्, इच्छा चेष्टसाधनताज्ञानम्, तच्चेष्टजातीयत्वलिङ्गानुभवम् सोऽपीन्द्रियार्थसन्निकर्षम् प्रामाण्यग्रहणन्तु न क्वचिदुपयुज्यते।' अर्थात् प्रवृत्ति इच्छा की अपेक्षा करती है प्रवृत्ति का प्राचुर्य इच्छा की प्रचुरता की अपेक्षा करता है अर्थात् जैसे जैसे इच्छा बलवती होगी वैसे ही अधिक तीव्रगति से प्रवृत्ति होगी। इच्छा का कारण इष्टसाधनता का ज्ञान है अर्थात् वस्तु में इष्टसाधनता का ज्ञान जितना अधिक होगा, उतनी ही इच्छा भी बलवती होगी। इष्टसाधनता के ज्ञान में इष्ट जातीयता के लिङ्ग का अनुभव कारण होता है और इस अनुभव में इन्द्रिय और विषय का सन्निकर्ष कारण होता है प्रामाण्य ज्ञान का उपयोग कहीं पर भी नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रवृत्ति में प्रामाण्य ज्ञान का कहीं भी उपयोग नहीं है केवल इच्छा की अधिकता होने से ही प्रवृत्ति में तीव्रता होती है इसलिए स्वतःप्रामाण्य नहीं बनता; किन्तु परतः प्रामाण्यवाद ही सिद्ध होता है।

इसक उत्तर म मीमांसक कहते हैं कि उदयनाचार्य का यह कहना कि प्रवृत्ति में प्रामाण्य ज्ञान का कहीं उपयोग नहीं है सर्वथा असत्य और युक्ति असंगत है। कारण यह है कि इच्छा क प्रति इष्टसाधनता का ज्ञान कारण

होता है, यह उन्होंने कहा है। अब उनसे यह पूछना है कि यह इष्टसाधनता का ज्ञान जिस इच्छा का कारण मानते हैं, प्रामाणिक होना चाहिए या अप्रामाणिक? अप्रामाणिक तो कह नहीं सकते; क्योंकि युक्ति और न्याय से यह असङ्गत है। यदि प्रामाणिक मानते हैं तब तो उस प्रामाण्य को स्वतः सिद्ध मानना ही होगा; क्योंकि अनुमान से उसका निश्चय नहीं होता। तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु के लिए मनुष्य की प्रवृत्ति तभी होती है जब उस वस्तु की इच्छा हो, और इच्छा तभी होगी, जब यह ज्ञान हो कि यह वस्तु हमारे इष्ट का साधन है और यह इष्ट-साधन होने का ज्ञान प्रामाणिक होना चाहिए, नहीं तो सन्देहात्मक ज्ञान से इच्छा या प्रवृत्ति कुछ भी नहीं हो सकती। किन्तु, प्रवृत्ति होती है, इससे सिद्ध होता है कि इष्टसाधनता का ज्ञान प्रामाणिक है और यह प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न हुआ है।

एक बात और भी है कि संशय से निश्चित प्रवृत्ति यदि कहीं भी एक जगह हो, तब तो प्रमाण-निश्चय के बिना ही सर्वत्र प्रवृत्ति होने लगेगी, इस स्थिति में प्रमाण का निश्चय भी व्यर्थ हो जायगा। इससे सिद्ध होता है कि संशय से कहीं भी प्रवृत्ति नहीं होती, इसीलिए कहा गया है कि अनिश्चित वस्तु का तत्त्व दुर्लभ है यदि अनिश्चित का भी तत्त्व सुलभ होता तब तो प्रामाण्य का उपयोग ही कुछ नहीं होता। इसलिए, सद्वस्तु का बोधक होने के कारण ही बुद्धि का प्रामाण्य होता है। शुक्ति आदि वस्तुओं के रजतादि रूप से जो अवभास है उससे उत्पन्न दोषज्ञान प्रामाण्य का प्रतिबन्धक होता है—

'तस्मात्सद्बोधकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता।
अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादपोद्यते॥'

इस प्रकार, विधि, अर्थवाद, मन्त्र और नामधेय इन चार भागों में विभक्त जो वेद है वह धर्म के विषय में स्वतः प्रमाण है यह सिद्ध हो जाता है। अज्ञात अर्थ का ज्ञापक जो वेदवाक्य है वह विधि है—'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' यह वाक्य अन्य प्रमाण से अप्राप्त स्वर्गफलवाले होम का विधान करता है इसलिए विधि है। प्रशंसा या निन्दापरक वेदवाक्य को अर्थवाद कहते हैं। 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' वायु देवता की इस स्तुति द्वारा 'वायव्यं श्वेतमालभेत' इस विधि की प्रशंसा करता है। 'सोऽरोदीद्यद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' इससे रजत की निन्दा का बोधन करता है। प्रयोग में समवेत अर्थ के स्मारक वेदवाक्य को मन्त्र कहते हैं। 'स्योनं ते सदनं कृणोमि' इस मन्त्र का पुरोडाश के सुखकर आसन द्वारा यज्ञादि कर्म में उपयोग होता है। अर्थ का स्मरण मन्त्र से ही करना चाहिए, इसलिए मन्त्रों का आम्नान होता है। नामनिर्देशपूर्वक याग के विधान को नामधेय कहते हैं—'श्येनेनाभिचरन् यजेत' 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इत्यादि नामधेय कहलाते हैं।

वेदान्त-दर्शन

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये ही चार पुरुषार्थ माने गये हैं। इनमें भी केवल मोक्ष परम पुरुषार्थ है। इन चारों को ही चतुर्वर्ग कहते हैं। मोक्ष को आत्यन्तिक परम पुरुषार्थ इसलिए मानते हैं कि उससे बढ़कर दूसरा कोई सुख नहीं है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए विभिन्न दर्शनकारों ने विभिन्न प्रकार के साधन बताये हैं। वेदान्त में भी मोक्ष के स्वरूप और उसके साधन का बड़े विस्तार से विवेचन किया गया है।

वेदान्त-शास्त्र सब शास्त्रों का शिरोमणि है। जिसमें समस्त वेदों का अन्तिम लक्ष्य वर्णित हो, वही वेदान्त है। उपनिषद् को ही वेदान्त कहा गया है; क्योंकि समस्त वेदों का चरम लक्ष्य इसीमें निहित है। चर, अचर, समस्त जगत् का जो मूल कारण ब्रह्म है उसका पूर्ण विवेचन जैसा उपनिषदों में किया गया है वैसा कहीं नहीं मिलता। इसलिए, वेदों का अन्तिम रहस्य होने के कारण इसको वेदान्त माना गया है। लिखा भी है—'वेदान्तो नाम उपनिषत्प्रमाणम्'। अर्थात्, उपनिषत्प्रमाण को ही वेदान्त कहते हैं। परन्तु उपनिषदों का रहस्य अत्यन्त गूढ़ होने के कारण सबकी समझ में नहीं आ सकता था। इसलिए, परम कारुणिक भगवान् वेदव्यास ने उसका सार को सूत्र-रूप में रखा, जिसे ब्रह्मसूत्र या वेदान्त-सूत्र कहते हैं। यह अल्पकाय होने पर भी बड़ा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है और सभी आचार्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार इस पर भाष्य लिखे हैं।

ब्रह्म-सूत्र में चार अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद हैं। प्रत्येक अध्याय का नाम प्रतिपाद्य विषय के अनुसार ही रखा गया है। प्रथम अध्याय का नाम समन्वयाध्याय है क्योंकि इसमें सभी वेदान्त श्रुतियों का ब्रह्म में ही समन्वय दिखाया गया है। द्वितीय अध्याय में सांख्य आदि विरोधी तर्कों का निराकरण हुआ है, इसलिए इसका नाम अविरोधाध्याय है। ब्रह्मविद्या का साधन तृतीय अध्याय में बताया गया है इसलिए इसका नाम साधनाध्याय है। चतुर्थ अध्याय में ब्रह्म-विद्या का फल बताया गया है, अतएव इसका नाम फलाध्याय है।

प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में जिन उपनिषद् वाक्यों में ब्रह्म का लिङ्ग (चिह्न) स्पष्ट है उसकी मीमांसा की गई है। द्वितीय पाद में जिन उपनिषद्-वाक्यों में ब्रह्म का लिङ्ग अस्पष्ट है उनका विवेचन है। तृतीय पाद में अस्पष्ट परन्तु ज्ञेय विषयों का विवेचन है। और, चतुर्थ पाद में 'महतः परमव्यक्तम्' इस कठ श्रुति में अव्यक्त पद और 'अजामेकाम्' इत्यादि श्वेताश्वतर उपनिषद्-वाक्य में 'अजा' पद सांख्याभिमत प्रकृति का अथवा ब्रह्म का प्रतिपादक है। द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में सांख्य, योग वैशेषिक आदि स्मृतियों के विरोध का परिहार किया गया है। द्वितीय पाद में, सांख्य आदि मतों में दोष दिखाया गया है। दोष दिखाने का तात्पर्य है

अपने मत का श्रेष्ठ बताना। दूसरे के मतों का खण्डन और अपने सिद्धान्तों का व्यवस्थापन ही 'विचार' कहा जाता है। तृतीय पाद में, पञ्चमहाभूतपरक और जीवपरक श्रुतियों में जो परस्पर-विरोध है, उसका परिहार किया गया है। चतुर्थ पाद में, लिङ्ग शरीर के विषय में जो श्रुतियाँ हैं उनमें परस्पर विरोध का परिहार किया गया है। तृतीय अध्याय के प्रथम पाद में जीव के परलोक-गमनागमन के विचार के साथ वैराग्य का विचार किया गया है। द्वितीय पाद में, 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'तत्' और 'त्वम्' का अनुसन्धान किया गया है। तृतीय पाद में सगुण विद्याओं के विषय में गुणोपसंहार किया गया है। विभिन्न स्थानों में प्रतिपादित जो उपास्य गुण हैं उनके एक स्थान पर संग्रह करने का नाम गुणोपसंहार है। चतुर्थ पाद में, निर्गुण ब्रह्म विद्या का जो अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग साधन है—जैसे, ब्रह्मचर्य वानप्रस्थ आदि आश्रम हैं और यज्ञ आदि बहिरङ्ग साधन तथा शम दम आदि अन्तरङ्ग साधन हैं—उन पर विचार किया गया है। चतुर्थ अध्याय के प्रथम पाद में पाप पुण्य के अभावरूप मुक्ति का विचार किया गया है। इसीको जीवन्मुक्ति कहते हैं। द्वितीय पाद में मरण के उत्क्रमण का प्रकार दिखाया गया है। तृतीय पाद में सगुण ब्रह्म की उपासना के उत्तर मार्ग का कथन है। चतुर्थ पाद में विदेह कैवल्य ब्रह्मलोकावस्थान आदि मुक्तियों का वर्णन है। निर्गुण ब्रह्मज्ञानियों की विदेह-मुक्ति और सगुण ब्रह्मज्ञानियों का ब्रह्मलोक में अवस्थान बताया गया है। ब्रह्मसूत्र के प्रतिपाद्य विषयों का यह संक्षेप में निदर्शन हुआ।

प्रत्येक पाद में अनेक अधिकरण हैं। उनके विषयों में भी विवेचना आवश्यक प्रतीत होता है। किसी प्रकरण के अन्तर्गत एक अवान्तर प्रकरण होता है जिसमें एक विषय को लेकर संशय पूर्वपक्ष के प्रदर्शनपूर्वक सिद्धान्त का व्यवस्थापन किया जाता है उसीको अधिकरण कहते हैं। अधिकरण में पाँच अवयव होते हैं—(१) विषय (२) संशय (३) पूर्वपक्ष (४) निर्णय और (५) संगति। इस प्रकार, वेदान्त-सूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में ग्यारह अधिकरण हैं। द्वितीय पाद में सात तृतीय पाद में चौदह और चतुर्थ में आठ हैं। कुल मिलाकर प्रथम अध्याय में ४ अधिकरण हैं। द्वितीय अध्याय में ४७ तृतीय में ६७ और चतुर्थ में १८। कुल मिलाकर चारों अध्यायों में १९१ अधिकरण हैं। प्रत्येक अधिकरण में संशय और पूर्वपक्ष के प्रदर्शनपूर्वक सिद्धान्त का व्यवस्थापन किया गया है। उदाहरण के लिए प्रथम अध्याय का प्रथम सूत्र लीजिए—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस अधिकरण का विषय है—'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।' यह बृहदारण्यक श्रुति का मन्त्र है जिसका तात्पर्य है—श्रवण मनन निदिध्यासन-रूप ब्रह्म का विचार करना चाहिए या नहीं? इस संशय का कारण यह है कि जानने की इच्छा अनभिज्ञ वस्तु के सम्बन्ध में नहीं होती और न उस वस्तु के सम्बन्ध में ही होती है, जिसमें कोई प्रयोजन न हो। उदाहरणार्थ : कौए के कितने दाँत होते हैं यह जानने की इच्छा किसीको नहीं होती। उनके जानने से कोई काम नहीं होता; क्योंकि, उस प्रकार का ज्ञान निरर्थक होता है।

ब्रह्म की जिज्ञासा तथा ब्रह्म-विचार-शास्त्र की प्रयोजनीयता

ब्रह्म जिज्ञासा में यह प्रश्न उठता है कि ब्रह्म ज्ञात है अथवा अज्ञात? यदि ज्ञात है, तो सन्देह होगा ही नहीं, तो फिर जिज्ञासा कैसी? किंवा यदि उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता तो भी कोई जिज्ञासा सिद्ध नहीं हो सकती। अब ब्रह्म जिज्ञास्य है या नहीं, यह पूर्वपक्ष है। वह असंदिग्ध है, क्योंकि 'अयमात्मा ब्रह्म', इसमें 'मैं' का प्रत्यक्षात्मक अनुभव प्राणिमात्र को ही है। 'मैं हूँ अथवा नहीं' यह किसीको सन्देह नहीं होता। इस पर यह शङ्का होती है कि 'मैं गोरा हूँ, काला हूँ, दुबला हूँ, मोटा हूँ', यही क्या 'मैं' का स्वरूप है? उत्तर में निवेदन है कि गोरा काला या दुबला, पतला होना तो देह का धर्म है आत्मा का नहीं। देह से अतिरिक्त आत्मा का मान बड़ी कठिनाई से होता है। शरीर से अहम् का जो बोध है, उसमें बाल्यावस्था में प्राप्त क्रीडा-रस का अनुभव, युवावस्था में प्राप्त विषय रस का अनुभव और वृद्धावस्था में प्राप्त विरक्ति का अनुभव, इन सबका स्मरण होने के कारण यह स्पष्ट है कि यह इन बदलते हुए तत्त्वों के भीतर से अपने आपमें अक्षय और अखण्ड है। बाल्यकाल में जो शरीर था, वह युवावस्था में नहीं है। जो आज है, वह कल बदल जायगा। यह हम सभी को अनुभव है और अन्य का जो अनुभूत है, उसका अन्य स्मरण नहीं करता यह नियम सर्वसिद्धान्त है। कुसुमाञ्जलि में आया है—'नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यः', अर्थात् दूसरे का अनुभव दूसरे को स्मरण नहीं होता। इस अवस्था में देह आदि के अतिरिक्त आत्मा ही 'अहम्' है ऐसा सिद्ध होता है। इसलिए, आत्मा असंदिग्ध है। उसकी जिज्ञासा नहीं हो सकती। यह पूर्वपक्ष सिद्ध होता है।

पुनः दूसरी शङ्का है कि जिस प्रकार पीलुपाक-प्रक्रिया और पिठरपाक प्रक्रिया इन दोनों पक्षों में एक घटादि वस्तु में भी काल भेद से परिमाण का भेद युक्त माना गया है उसी प्रकार एक शरीर नामक वस्तु में भी काल भेद से परिमाण-भेद के मान लेने पर भी बाल्यावस्था युवावस्था वृद्धावस्था के शरीर के एक होने में कोई आपत्ति नहीं है। अर्थात्, बाल्यावस्था युवावस्था वृद्धावस्था आदि परिणाम-भेद होने पर भी देह एक ही है और वही 'अहम्' है। चार्वाक-मत में देह आत्मा से अभिन्न है। जब देह अहम् का विषय होता है तब आत्मा सन्दिग्ध ही रहता है इसलिए उसकी जिज्ञासा हो सकती है और उसके लिए शास्त्र का आरम्भ भी आवश्यक हो जाता है यह शङ्का करनेवालों का तात्पर्य है। इसके उत्तर में पूर्वपक्षी कहते हैं कि यह भी ठीक नहीं है। जैसे योगी या मान्त्रिक योगबल या मन्त्रबल से अनेक शरीर धारण करता है वैसे जीवात्मा भी कर्मबल से अनेक प्रकार के शरीर धारण करता है। यहाँ आत्मा से देह भिन्न है यह स्पष्ट प्रतीत होता है। इसलिए, देह से भिन्न आत्मा ही 'अहम्'-प्रतीति का विषय है यह स्पष्ट है।

जिस प्रकार, शरीर 'अहम्'-प्रतीति का विषय नहीं होता उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी 'अहम्'-प्रतीति का विषय नहीं होतीं। कारण यह है कि यदि इन्द्रियों को 'अहम्' मानें तो चक्षुरिन्द्रिय के नष्ट हो जाने पर जो रूप की प्रतीति होती है वह नहीं हो सकती।

क्योंकि अन्य की जो दृष्ट वस्तु है उसका अन्य स्मरण नहीं करता, यह नियम प्रसिद्ध है। जिस प्रकार, चैत्र ने जिस वस्तु को देखा उसका स्मरण मैत्र नहीं कर सकता, उसी प्रकार जिस वस्तु को चक्षु ने देखा है उस वस्तु का स्मरण चक्षु के नष्ट हो जाने पर नहीं हो सकता। क्योंकि, देखनेवाला चक्षु अब नहीं है और चक्षु के न रहने पर उस रूप का स्मरण होता है। इससे सिद्ध है कि इन्द्रिय भी अहम् का विषय नहीं है। इसी प्रकार, मन आदि जो अन्तःकरण हैं वे भी अहम् का विषय नहीं होते। क्योंकि साधन का नियत धर्म है साधन होने से कर्ता से भिन्न होना निश्चित है। मन आदि अन्तःकरण भी कर्ता के ज्ञान का साधन होने से ज्ञान के प्रति साधन है। इसलिए, ज्ञान का कर्ता जो अहम् शब्दार्थ है उससे भिन्न अन्तःकरण है यह सिद्ध है। जैसे आरी आदि हथियार बढ़ई के साधन हैं फिर भी वे बढ़ई से भिन्न ही रहते हैं वैसे ही आत्मा से अन्तःकरण भिन्न ही रहता है। इसलिए, आत्मा और अन्तःकरण के तादात्म्य न होने से अहम् का अर्थ अन्तःकरण भी नहीं होता।

अब यहाँ एक सन्देह रह जाता है कि यदि शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण से आत्मा को अत्यन्त भिन्न मानते हैं तो 'मैं स्थूल हूँ, कृष्ण हूँ, अन्ध हूँ, बधिर हूँ, कामी हूँ, क्रोधी हूँ' इत्यादि व्यवहार जो लोक में होता है, उसका उच्छेद ही हो जायगा। इसके उत्तर में पूर्वपक्षी का कहना है कि व्यवहार का उच्छेद नहीं होगा। कारण यह है कि लोक और शास्त्र में दो प्रकार से शब्दों का प्रयोग किया जाता है। एक अभिधावृत्ति से और दूसरी लक्षणावृत्ति से। लक्षणावृत्ति को ही गौणी वृत्ति कहते हैं। जहाँ मुख्य अर्थ अनुपपन्न रहता है वहाँ गौण अर्थ की ही विवक्षा की जाती है। जैसे, 'मञ्चाः क्रोशन्ति' मचान चिल्लाते हैं यहाँ क्रोशन (चिल्लाना)-रूप क्रिया जो चेतन का धर्म है अचेतन मञ्च में अनुपपन्न है इसलिए मञ्च शब्द का मञ्चस्थ अर्थात् मचान पर रहनेवाले पुरुष में लक्षणा की जाती है। इसलिए, 'मञ्चाः क्रोशन्ति' का अर्थ मचान पर रहनेवाले चिल्लाते हैं किया जाता है। वैसे ही यहाँ प्रकृत में भी अहम् शब्द से सिद्ध जीवात्मा की प्रतीति होती है उसमें स्थूलत्व कृशत्व गौरत्व कृष्णत्व आदि धर्म का होना असम्भव है इसलिए स्थूलत्व आदि धर्म से युक्त जो शरीर है उससे युक्त अर्थ में लक्षणा मानी जाती है। अतएव 'गौरोऽहम्' 'स्थूलोऽहम्' इस प्रकार व्यवहार किया जाता है। व्यवहार का उच्छेद नहीं होता।

यदि कहें कि अहम्-प्रत्यय से गम्य (प्रतीयमान) जो आत्मा है उसकी जिज्ञासा नहीं करते किन्तु श्रुति से सिद्ध आत्मा का बोध होता है उसकी जिज्ञासा कर रहे हैं और वह आत्मा अहम् प्रत्यय से प्रतीत नहीं होता इसलिए जिज्ञासा करनी चाहिए और जिज्ञासा होने से शास्त्र भी आरम्भणीय सिद्ध हो जाता है। इसके उत्तर में पूर्वपक्षी का कहना है कि श्रुति से सिद्ध आत्मा की प्रतीति होती है वही आत्मा अहम् प्रत्यय से भी प्रतीत होता है। अर्थात्, 'अहम्' प्रत्यय से प्रतीयमान जीवात्मा और श्रुति से प्रतीयमान परमात्मा में कुछ भेद नहीं है यह पूर्वपक्षी का सिद्धान्त है। इस उक्ति में श्रुति का ही प्रमाण दिया जाता है। जैसे, 'सर्वं

ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस तैत्तिरीय श्रुति से ब्रह्म का बोध होता है। और, 'अहमात्मा ब्रह्म', इस बृहदारण्यक-श्रुति और 'तत्त्वमसि' इस छान्दोग्य-श्रुति से अहम् प्रत्ययगम्य जो जीवात्मा है, उसीका बोध होता है, उससे भिन्न का नहीं। इसलिए, अहम्-प्रत्ययगम्य आत्मा के प्रत्यक्षतः सिद्ध होने से जिज्ञासा की आवश्यकता नहीं होती। यहाँ शङ्का होती है कि जीवात्मा तो सांसारिक दुःख का भागी है और श्रुतिगम्य ब्रह्म को 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' 'अप्राणोऽह्यमनाः' 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छान्दोग्य) इत्यादि श्रुतियों से निष्कल निष्क्रिय, नित्य, शुद्ध और बुद्ध बताया गया है। यदि जीवात्मा और परमात्मा में अभेद मानें तब तो उक्त श्रुतियों से विरोध हो जाता है। इसके उत्तर में पूर्वपक्षी का कहना है कि 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' इत्यादि पूर्वोक्त श्रुति अर्थवाद होने के कारण जीवात्मा का केवल प्रशंसापरक है स्वरूपबोधक नहीं इसलिए विरोध नहीं हो सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि श्रुति से भी प्रतीयमान जो आत्मा है उसका भी अहम् प्रतीति से प्रत्यक्ष हो ही जाता है। इसके लिए, जिज्ञासा के निष्फल होने से *विचार-शास्त्र की आवश्यकता नहीं है। इसीलिए, ब्रह्मविचार-शास्त्र* अनारम्भणीय है, यह सिद्ध होता है।

यहाँ पूर्वपक्षी का अनुमान भी इस प्रकार होता है—असन्देहास्पद ब्रह्म (पक्ष) अजिज्ञास्य है (साध्य) असन्दिग्ध होने से (हेतु), हस्ततल में स्थित आँवले के सदृश (दृष्टान्त)। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार हाथ में स्थित आँवले के विषय में किसीको जिज्ञासा नहीं होती क्योंकि उसमें किसीको सन्देह ही नहीं है कि आँवला है या अन्य कोई वस्तु, बरन् निश्चित आँवला का स्पष्ट ज्ञान है; उसी प्रकार, अहम् (मैं) इस प्रत्यय से देहादि के अतिरिक्त जीवात्मा का गौण अबाधित रूप से प्रतिभास जो विदित है, किसीको भी सन्देह नहीं है। इसलिए, ब्रह्म-जिज्ञासा के हेतु आत्म विचार शास्त्र की आवश्यकता नहीं है यह पूर्वपक्ष सिद्ध हो जाता है। जिज्ञासा के न होने का दूसरा कारण यह है कि जिज्ञासा का व्यापकधर्म प्रयोजनत्व भी है। अर्थात् जहाँ-जहाँ जिज्ञासा है, वहाँ-वहाँ जिज्ञासा का सप्रयोजन होना भी अनिवार्य है; क्योंकि व्यापक सप्रयोजनत्व धर्म के रहने से व्याप्य जो जिज्ञास्यत्व धर्म है वह कभी नहीं रह सकता। जैसे अग्नि के बिना धूम नहीं रहता। प्रकृत में जिज्ञासा का फल जिसको अद्वैतवादी वेदान्ती मानते हैं वस्तुतः फल ही नहीं है। क्योंकि इनका कहना है कि पुरुषार्थ वही है, जिसको विद्वान् चाहें। विवेकशील विद्वान् निरुपम और निरतिशय सुख को ही पुरुषार्थ मानते हैं। ऐहिक या पारलौकिक जो सुख है, उसको विवेकशील विद्वान् पुरुषार्थ नहीं मानते। अनेक प्रकार के जो सांसारिक सुख हैं, वे सब तारतम्य भाव से अनुभूत होते हैं अर्थात् किसीकी अपेक्षा अधिक होने पर भी किसी सुखविशेष की अपेक्षा वे अपकृष्ट भी होते हैं। इसमें कोई सुख भी सर्वोत्तम नहीं है। राज्य सुख भी स्वर्ग-सुख की अपेक्षा अल्प है। इसी दृष्टान्त से स्वर्ग सुख भी किसीकी अपेक्षा अपकृष्ट ही है। पारलौकिक सुख सांसारिक सुख की अपेक्षा कुछ ही विलक्षण है इसलिए सांसारिक सुख के सदृश ही पारलौकिक सुख भी सातिशय ही है निरतिशय नहीं। जो निरतिशय सुख है वही सब सुख से विलक्षण होने के

कारण निरुपम भी है इसलिए विचारशीलों की दृष्टि से वही पुरुषार्थ माना जाता है। वह ऐसा सुख है कि उसमें किसी प्रकार के दुःख का भी लेश नहीं रहता। अर्थात् वह ऐसा है जिसमें दुःख की सम्भावना भी नहीं रहती इसलिए वह सुखमय है। इससे बढ़कर कोई भी सुख नहीं है इसलिए वह पुरुषार्थ कहा जाता है। जिसमें दुःख का लेश-मात्र भी रहता है वह पुरुषार्थ नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि पुरुषार्थ का विरोधी वास्तविक दुःख ही है और दुःख का मूल भी विवेक-दृष्टि से दुःख ही है। इसलिए, दुःखों के मूल का ही त्याग करना विवेक-दृष्टि से समुचित प्रतीत होता है। इससे दुःख का मूल ही त्याज्य है यह सिद्ध होता है। दुःख का मूल अविद्या ही है। अविद्या का ही पर्याय 'संसार' या 'अज्ञान' है। यही कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि सकल अनर्थों के उत्पादक होने से दुःखों का मूल कहा जाता है। इसीका नाम मूलाज्ञान भी है। इसी मूलाज्ञान या अविद्या-शब्द का जो अर्थ है वही वेदान्त दृष्टि से 'संसार' है।

संसार शब्द में जो सम् उपसर्ग है उसका अर्थ एकीकरण होता है। 'आत्मानं देहेन एकीकृत्य स्वर्गनरकमार्गयोः सरति पुमान् येन स संसारः'। अर्थात् मनुष्य आत्मा को देह के साथ एककर स्वर्ग या नरक (अच्छा या बुरा) के मार्ग पर जिसके द्वारा जाता है वही संसार है। संसार के ही द्वारा मनुष्य देह में आत्म-बुद्धि मानकर सकल सांसारिक व्यवहार का सम्पादन करता है। संसार का ही पर्यायवाचक शब्द तम्मोह या तद्भ्रम है। इससे सिद्ध होता है कि संसार अज्ञान अविद्या इत्यादि शब्द का वाच्य जो दुःख है उसीका त्याग करना ब्रह्म जिज्ञासा का प्रयोजन है। इसी अभिप्राय से आचार्यों ने लिखा है—

'अविद्यास्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृता।'

अर्थात् अविद्या का नाश होना ही मोक्ष है और अविद्या बन्ध को कहते हैं। संसार ही बन्ध है। इससे छुटकारा पाना ही मोक्ष है। यह इसका रहस्य है। यही ब्रह्म-विचार का फल है ऐसा वेदान्तियों का सिद्धान्त है। इस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि आत्मा के यथार्थ साक्षात्कार से ही संसार की निवृत्ति होती है यह जो वेदान्तियों का कहना है यह युक्त नहीं है। कारण यह है कि आत्मयाथात्म्यानुभव (आत्मा जिस प्रकार की है उसी प्रकार का अनुभव) के साथ ही यह संसार अनुवर्तमान है। अर्थात्, संसार और आत्मानुभव ये दोनों धर्म अविरुद्ध भाव से साथ-साथ रहते हैं। ये दोनों परस्पर विरोधी धर्म नहीं हैं इसलिए इनमें परस्पर बाध्य-बाधक (निवर्त्य निवर्तक) भाव नहीं होने से आत्मयाथात्म्यानुभव से संसार का नाश नहीं हो सकता। इसलिए, आत्मविचार का फल अविद्या शब्द-वाच्य जो संसार है उसकी निवृत्ति होना है यह भी समुचित नहीं प्रतीत होता।

यदि यह कहें कि अहम् अनुभव से गम्य जो जीवात्मा है वह संसार के अनुभव के साथ-साथ अनुवर्तमान है इसलिए दोनों में अविरोध होने से निवर्त्य निवर्तक भाव न हो किन्तु वेदान्तगम्य जो शुद्ध अद्वय ब्रह्म का ज्ञान है (जो संसार के साथ अनुवर्तमान नहीं है) उसके साथ निवर्त्य-निवर्तक भाव हो सकता है, क्योंकि वे

दोनों तम और प्रकाश के सदृश परस्पर-विरुद्ध धर्म हैं। इसलिए आत्मविचार-शास्त्र का शुद्ध अद्वय ब्रह्म-स्वरूप का ज्ञान ही फल है, यह सिद्ध होता है। परन्तु, यह भी ठीक नहीं है। कारण यह है कि अहम्-अनुभव से गम्य जो आत्म-तत्त्व है उससे अतिरिक्त कोई ब्रह्म-तत्त्व है ही नहीं।

यदि यह कहें कि अहम्-अनुभवगम्य के अतिरिक्त शुद्ध अद्वितीय आत्म तत्त्व का ज्ञान यद्यपि मूर्खों को न हो, परन्तु 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि वेदान्त-शास्त्रों के अनुशीलन करनेवाले जो विद्वान् हैं उनको शुद्ध अद्वितीय आत्म-तत्त्व का अनुभव होना सम्भव है, यह भी ठीक नहीं है। कारण यह है कि 'अहम्, इदम्' इत्यादि जो द्वैत का प्रत्यक्ष होता है उसका बाध श्रुति-वाक्यों से नहीं हो सकता। इसलिए, द्वैत के प्रत्यक्ष से श्रुति का बाध मानना ही युक्त है, अर्थात् प्रत्यक्षतः अनुभूयमान जो द्वैत प्रत्यक्ष है उसका श्रुति के बल पर किसी प्रकार भी अपलाप नहीं कर सकते। इसी अभिप्राय से भगवान् शङ्कराचार्य ने लिखा है—'नह्यागमाः सहस्रमपि घटं पटयितुमीशते', अर्थात् हजारों श्रुतियाँ मिलकर भी घट को पट-रूप नहीं बना सकतीं। इससे यह सिद्ध होता है कि अद्वैत-प्रतिपादक श्रुति प्रत्यक्ष द्वैत-प्रतिभास का निवृत्त नहीं कर सकती। इसलिए, वह अप्रमाण ही है। जिस प्रकार 'ग्रावा प्लवन्ते' पत्थर तैरते हैं यह वाक्य अप्रमाण होता है, उसी प्रकार अद्वैत-प्रतिपादक श्रुति भी अप्रमाण मानी जा सकती है। क्योंकि जिस प्रकार पत्थर का तैरना असम्भव है उसी प्रकार अद्वैत आत्मा का अनुभव भी असम्भव ही है और असम्भव अर्थ के प्रतिपादक जो वाक्य हैं वे भी अप्रमाण ही हैं।

अब यहाँ दूसरी शङ्का होती है कि यदि अद्वैत-प्रतिपादक जो श्रुतियाँ हैं, उनको अप्रमाण माना जाय, तब तो इस विषय में 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः', इस अध्ययन-विधि का व्याकोप हो जायेगा। तात्पर्य यह है कि अध्ययन का अर्थ, ज्ञान के द्वारा कर्म में उपयोग माना गया है और असम्भव अर्थ के प्रतिपादक जो वाक्य हैं, उनका तो उस प्रकार का उपयोग नहीं हो सकता, इसलिए ऐसे वाक्यों के विषयों में जो अध्ययन का विधान है वह व्यर्थ ही हो जायगा।

इसके उत्तर में पूर्वपक्षी का कहना है कि गुरु (प्रभाकर) के मत से ऐसे वाक्यों का कर्म में उपयोग नहीं होने पर भी 'हुं फट्' इत्यादि के सदृश जप आदि में उपयोग होता ही है। तात्पर्य यह है कि प्रभाकर के मत में स्वाध्यायोऽध्येतव्यः यह वाक्य अपूर्व-विधि नहीं है। किन्तु, अध्यापन-विधि से सिद्ध अध्ययन का अनुवाद माना है। यह पूर्वमीमांसा में लिख चुके हैं और अध्ययन विधि पाठ-मात्र का ही आक्षेप करता है, अर्थ का अवबोध नहीं। इसलिए, अर्थ ज्ञान की, विधि के अनुसार, सर्वत्र आवश्यकता नहीं होती। जहाँ सम्भव अर्थ हो वहाँ ग्रहण करना चाहिए और जहाँ असम्भव अर्थ हो उसको त्याग देना चाहिए। और, उन मन्त्रों का उपयोग 'हुं फट्' इत्यादि मन्त्रों के सदृश जप-मात्र में ही समझना चाहिए।

आचार्य के मत में अवदान-रूप दृष्टार्थ के उद्देश्य से अध्ययन-विधि की प्रवृत्ति होती है। इनके मत में जहाँ वाच्य अर्थ सम्भव न हो, वहाँ 'यजमानः प्रस्तरः'

वाक्य के तरह अर्थवाद अथवा यथार्थानुवाद से प्रशंसापरक मानकर उपयोग समझना चाहिए। इस स्थिति में उनका अप्रामाण्य भी नहीं होगा। अतः, ब्रह्मप्रतिपादक जितने वेदान्त-वाक्य हैं उनका जीव की प्रशंसा में तात्पर्य मानकर उपयोग हो जायगा। इसलिए, अध्ययन-विधि भी व्यर्थ नहीं होती। इस प्रकार, प्रयोजन के अभाव होने से ब्रह्मविचार-शास्त्र की आवश्यकता नहीं है, यह सिद्ध हो जाता है। इसका अनुमान भी इस प्रकार होता है—विवादास्पद ब्रह्म (पक्ष) विचार के योग्य नहीं है (साध्य) निष्फल होने के कारण (हेतु) काकदन्त-परीक्षा के तरह (दृष्टान्त)। भगवान् शङ्कराचार्य ने भी कहा है—

'अहं विचारमन्तरा सिद्धेश्चैव ब्रह्मात्मनः।
तन्मात्रान्मुक्त्यभावाच्च जिज्ञासा नावकल्पते ॥'

तात्पर्य यह है कि अहम् (मैं)-बुद्धि से आत्मा की सिद्धि स्पष्ट हो जाती है और वही आत्मा ब्रह्म भी है। और, इस अहम् ज्ञान से मुक्ति भी नहीं होती, इसलिए जिज्ञासा की आवश्यकता नहीं है।

अब यहाँ यह भी एक शङ्का होती है कि उक्त अनुमान में अफलत्व जो हेतु है वह असिद्ध है; क्योंकि भेदेन अध्यस्त जो भेद है, उसका निवृत्ति होना ही ब्रह्म-जिज्ञासा का फल सिद्ध है। अर्थात् अद्वितीय ब्रह्म में मिथ्या रूप से जो आरोपित भेद आदि प्रपञ्च-समूह हैं उनकी निवृत्ति अद्वितीय ब्रह्म विचार से होती है। इसलिए, यह ब्रह्म-विचार का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है अतएव अफलत्व हेतु असिद्ध है। इस शङ्का के उत्तर में पूर्वपक्षी का कहना है कि व्यापक की निवृत्ति से व्याप्य की निवृत्ति होती है इस न्याय से भेद का जो ज्ञान है वह भेद के अज्ञान का प्रतिबन्धक जो भेद का संस्कार है उसकी अपेक्षा करता है। क्योंकि भेद-ज्ञान का व्यापक भेद संस्कार है। जिस प्रकार व्यापक अग्नि के अभाव में व्याप्य धूम का उदय नहीं होता उसी प्रकार, व्यापक जो भेद-संस्कार है उसके अभाव में भेद के अध्यास का भी उदय नहीं हो सकता। अतः, भेदाध्यास भेद के संस्कार की अपेक्षा करता है। भेद का संस्कार ही भेद के अज्ञान का नाश करता हुआ भेदाध्यास को उत्पन्न करता है। जैसे इस प्रकार का रजत होता है ऐसा भासमान जो रजत-संस्कार है वह रजत के अज्ञान का नाश करता हुआ 'यह रजत है' इस प्रकार की यथार्थ या अयथार्थ रजत प्रवृत्ति को उत्पन्न करता है। जिसको रजत का संस्कार नहीं है, उसको यह ज्ञान नहीं होता और संस्कार भी बिना यथार्थ अनुभव के उत्पन्न नहीं होता। यद्यपि अयथार्थ अनुभव से भी कहीं संस्कार उत्पन्न देखा जाता है तथापि वह अयथार्थ अनुभव भी संस्कारपूर्वक ही होगा यह निश्चित है। इसलिए, कहीं पर यथार्थ अनुभव का होना संस्कारोत्पत्ति के लिए अनिवार्य है। इसलिए, भेद-संस्कार का जनक प्राथमिक (पहला) भेद का यथार्थ अनुभव अवश्य स्वीकरणीय है। यदि भेद का यथार्थ अनुभव सत्य है तो ब्रह्म विचार से भी उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिए ब्रह्म-विचार अफल है यह बात सिद्ध हो जाती है। अतः ब्रह्मविचारात्मक वेदान्त-शास्त्र अनारम्भणीय है यह सिद्ध हो जाता है।

यहाँ अनुमान का स्वरूप भी इस प्रकार है—विवादास्पद आत्मा और अनात्मा (पक्ष) भेदेन प्रसिद्ध हैं (साध्य), अर्थात् दोनों म का परस्पर भेद है, वह यथार्थ है दोनों में अभेद की योग्यता न रहने से (हेतु), अर्थात् आत्मा और अनात्मा में अभेद नहीं होने के कारण। जैसे, तम और प्रकाश (दृष्टान्त)। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार तम और प्रकाश में अभेद नहीं हो सकता, उसी प्रकार आत्मा और अनात्मा म अभेद नहीं हो सकता। यदि कहें कि यहाँ अभेदायोग्यत्व जो हेतु है, वह असिद्ध है इसलिए दोनों के भेद का साधक नहीं हो सकता, तो अभेदवादी स पूछना चाहिए कि क्या आप दोनों में अभेद की योग्यता मानते हैं, अर्थात् दोनों का अभेद एक में दूसरे का लय होने से समझते हैं। जैसे जल में बुद्बुद का लय होना। तो इस स्थिति में, यहाँ पुनः प्रश्न होता है कि आत्मा में अनात्मा का लय होगा, अथवा अनात्मा में आत्मा का? यदि आत्मा में ही अनात्मा का लय मानें, तब तो आत्मा ही अवशिष्ट रहेगा, अनात्मा नहीं। क्योंकि, वह तो आत्मा में ही लीन हो गया है। इस स्थिति में, जिस प्रकार मुक्ति-दशा में जगत् अस्त हो जाता है, उसी प्रकार, संसार-दशा में भी दृश्यमान जगत् का विलय हो जायगा। इसलिए, आत्मा को ही परिशेष नहीं कर सकते।

यदि अनात्मा में ही आत्मा का लय मानें तो भी ठीक नहीं है क्योंकि इस अवस्था में आत्मा का लय और जडवर्ग का ही परिशेष रहने से जगत् अन्धवत् हो जायगा; क्योंकि आत्मा जडवर्ग में ही लीन हो गया है। इस अवस्था में, जगत् का अन्ध होना अनिवार्य हो जाता है। इसलिए, आत्मा और अनात्मा में अभेद होने की अयोग्यता अवश्य है, यह स्वीकार करना ही होगा। दूसरी बात यह है कि तम और प्रकाश के सदृश आत्मा अर्थात् द्रष्टा और अनात्मा अर्थात् दृश्य इन दोनों क परस्पर विरुद्ध स्वभाव होने से भी दोनों में अभेदायोग्यत्व मानना ही होगा। जब आत्मा और अनात्मा में अभेद की योग्यता नहीं है अर्थात् दोनों परस्पर यथार्थ में तम और प्रकाश क सदृश भिन्न-भिन्न हैं तब प्रपञ्चरूप जडवर्ग का आत्मा में अध्यास नहीं हो सकता है और प्रपञ्च के वास्तविक होने से तद्विषयक जो आत्मा का ज्ञान होता है वह भी यथार्थ ही होगा। इसलिए, ज्ञान का भी आत्मा में अध्यास नहीं कर सकते। इस प्रकार जब अध्यास ही असम्भव है, तब तो ब्रह्म-विचार का अध्यास देह आदि की निवृत्ति-रूप जो फल बताया गया है वह भी असम्भव हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्म-विचार के असफल होने के कारण ब्रह्मविचारात्मक जो शारीरिक मीमांसा-शास्त्र है, उसका अनारम्भणीयत्व सिद्ध हो जाता है। यह पूर्वपक्षी का सिद्धान्त है। यहाँ तक पूर्वपक्षी का साधक-बाधक-प्रदर्शनपूर्वक सिद्धान्त का व्यवस्थापन किया गया। इस पर सिद्धान्ती का कहना यह है कि अहम् पद का वाच्य जो आत्मा है, उसके अतिरिक्त कोई आत्म-तत्त्व नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि समस्त उपाधि से रहित अद्वितीय निर्विशेष आत्म-तत्त्व श्रुति स्मृति आदि में प्रसिद्ध है। तात्पर्य यह है कि अहम् शब्द से जिस जीवात्मा की प्रतीति होती है, वह उपाधि-रहित नहीं है। इसलिए अहम् (मैं) ऐसा भासित होता है। अहन्ता आदि जितने धर्म हैं वे सोपाधिक ही होते हैं निरुपाधिक नहीं।

इसलिए, 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि श्रुतियों में प्रसिद्ध जो ब्रह्मपरवाक्य निरुपाधिक आत्म तत्त्व है उसका निर्णय करने के लिए ब्रह्मविचार शास्त्र की आवश्यकता हो जाती है।

ग्रन्थ-तात्पर्यनिर्णायक-निरूपण

पूर्वपक्षी ने जो यह कहा है कि 'सदेव सोम्य' इत्यादि वेदान्त-वाक्य गौणार्थ हैं, और जीव के केवल प्रशंसापरक हैं यह ठीक नहीं है। कारण यह है कि श्रुति का मनमाना अर्थ करना युक्त नहीं है। उपक्रम उपसंहार आदि जो छह प्रकार के तात्पर्य के निर्णायक लिङ्ग हैं, उन्हीं के द्वारा जो निश्चित अर्थ है, वह सर्वमान्य होता है और वही युक्त भी है। उपक्रम आदि छह प्रकार के निर्णायक लिङ्ग इस प्रकार हैं—

'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥'

उपक्रम और उपसंहार, अभ्यास अपूर्वता फल अर्थवाद और उपपत्ति— ये छह किसी ग्रन्थ के तात्पर्य के निर्णय में लिङ्ग अर्थात् प्रमाण होते हैं। प्रकरण का प्रतिपाद्य जो अर्थ है उसका प्रकरण के आदि में निर्देश करने का नाम उपक्रम है। प्रकरण-प्रतिपाद्य अर्थ का अन्त में निर्देश करना उपसंहार है। ये दोनों मिलकर एक लिङ्ग होता है। प्रकरण प्रतिपाद्य वस्तु का, प्रकरण के बीच-बीच में, पुनः पुनः प्रतिपादन करना अभ्यास है। प्रकरण-प्रतिपाद्य वस्तु का प्रमाणान्तर से सिद्ध न होना अर्थात् प्रमाणान्तर का अविषय होना, अपूर्वता कहा जाता है। प्रकरण में जहाँ-तहाँ श्रवणादि जो प्रयोजन है वही फल है। प्रकरण की प्रतिपाद्य जो वस्तु है उसकी महत्ता का नाम अर्थवाद है और प्रकरण प्रतिपाद्य वस्तु का साधन करनेवाली जहाँ-तहाँ सुनमाई जो युक्ति है वह उपपत्ति कही जाती है। इन्हीं छह प्रकार के लिङ्गों से किसी भी प्रकरण के तात्पर्य का निर्णय करना युक्त माना जाता है। जैसे छान्दोग्य उपनिषद् में 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्' अर्थात् हे सौम्य पूर्व में एक अद्वितीय सत् ही था। इस प्रकार, प्रकरण के आदि में एक अद्वितीय ब्रह्म का उपक्रम कर अन्त में 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं स आत्मा तत्त्वमसि' इत्यादि उपसंहार किया। मध्य में 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य से अद्वितीय ब्रह्म का नव बार पुनः पुनः प्रतिपादन किया यही अभ्यास है और उक्त ब्रह्म को प्रमाणान्तर से गम्य नहीं बताया यही अपूर्वता है। 'तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इत्यादि श्रुति में केवल उपनिषद् से ही ब्रह्म का अधिगम्य होना बताया गया है। दूसरा कोई प्रमाण ब्रह्म के विषय में नहीं कहा गया है। यह अपूर्व है। 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा एक ब्रह्म के ज्ञान से सबका ज्ञान होना बताया गया है यही फल है। और उसी अभिन्न ब्रह्म के द्वारा सृष्टि स्थिति नियमन प्रभृति आदि बताये गये हैं, यही अर्थवाद है। जैसे 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' 'यतो वा इमानि भूतानि' इत्यादि में सृष्टि बताई गई है। 'अमूर्त्ताः सोम्यमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' इत्यादि श्रुति से स्थिति और नियमन भी बताया गया है। 'सा परस्यां देवतायाम्' इसमें प्रलय और इत्यादिकों

देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि', इस श्रुति से प्रवेश भी बताया गया है। इस प्रकार, श्रुति से प्रतिपादित जो सृष्टि, स्थिति, नियमन प्रलय प्रवेश—यह पाँच प्रकार की जो ब्रह्म की प्रशंसा है, वही अर्थवाद है। 'यथा सौम्येनेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं भवति वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्', इत्यादि श्रुतियों के द्वारा अद्वितीय ब्रह्म के साधन में जो युक्ति बताई गई है, वही उपपत्ति है। इसी प्रकार, बृहदारण्यक तैत्तिरीय मुण्डक आदि उपनिषदों में भी इन्हीं उपक्रम आदि छह लिङ्गों के द्वारा तात्पर्य का निश्चय रामतीर्थ प्रणीत वेदान्त-सार की विद्वन्मनोरञ्जनी टीका में किया गया है। इन पूर्वोक्त छह प्रकार के लिङ्गों से समस्त वेदान्तों का तात्पर्य नित्य-शुद्ध-बुद्ध मुक्तस्वभाव ब्रह्म में ही निश्चित किया जाता है इसलिए इसको औपनिषद आत्म-तत्त्व कहते हैं। इस नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त औपनिषद आत्म-तत्त्व का भान अहम् (मैं)-अनुभव में नहीं होता है इसलिए अहम्-अनुभव का विषय अध्यस्त आत्मा है, शुद्ध आत्मा नहीं यह सिद्ध होता है।

'अहम्' अनुभव के विषय का विवेचन

तात्पर्य यह है कि 'अहम्' अनुभव का विषय देह होता है किन्तु उसी देह में आत्मत्व का आरोप है। अर्थात्, आरोपित आत्मत्वविशिष्ट जो देह है, वही अहम् का विषय होता है। एक बात और भी मान लेना चाहिए कि यहाँ आरोप जो होता है, वह अनाहार्य आरोप है। भ्रममूलक जो आरोप है वही अनाहार्य आरोप है। जैसे, शुक्ति रजत-रूप से भासित होती है, वह 'अनाहार्यारोप' है। और, जिस प्रकार शुक्ति रजतरूप से भासित होती है उसी प्रकार देह भी आत्मा रूप से अहम् अनुभव में भासित होता है। इसलिए, अहम्-अनुभव का विषय अध्यस्त आत्मा होता है शुद्ध आत्मा नहीं। इससे शुद्ध आत्मा के विचार के लिए वेदान्त शास्त्र आरम्भणीय है यह सिद्ध होता है। क्योंकि अहम् अनुभव में शुद्ध ब्रह्म का भान न होने से वह सन्दिग्ध ही रहता है।

अब इसमें भी यह सन्देह होता है कि अहम् अनुभव का विषय जो आरोपित आत्मत्वविशिष्ट देह को बताया गया है वह ठीक नहीं है। कारण यह है कि यद्यपि निर्विशेष शुद्ध ब्रह्म का अवभास अहम्-अनुभव में नहीं होता तथापि जीवात्मा का तो अवभास अहम् अनुभव में अवश्य होता है। नैयायिकों और वैशेषिकों के मत में ब्रह्म के अतिरिक्त प्रति शरीर में भिन्न-भिन्न जीवात्मा को माना ही गया है इसलिए वही जीवात्मा अहम् अनुभव का विषय होगा। पुनः अध्यस्त आत्मत्वविशिष्ट देह को अहम्-अनुभव का विषय मानना अनुचित ही है।

सिद्धान्ती का कहना है कि यह भी ठीक नहीं है। कारण यह है कि ब्रह्म से भिन्न जीवात्मा के होने में कोई प्रमाण नहीं है। दूसरी बात यह है कि ब्रह्म के अतिरिक्त जीवात्मा को यदि नैयायिक आदि के समान मान भी लें तो ठीक नहीं होता; क्योंकि नैयायिक और वैशेषिक जिस प्रकार आत्मा को मानते हैं, वह 'अहम्' अनुभव से

बाधित नहीं होता है। क्योंकि वैशेषिक आदि आस्तिक आत्मा को व्यापक मानते हैं। इस स्थिति में 'मैं इस घर को जानता हूँ' इस प्रकार का जो अनुभव होता है, वह नहीं हो सकता है। 'मैं इस घर में जानता हुआ हूँ' यहाँ 'मैं' शब्द से आत्मत्व, 'घर में' इस शब्द से प्रादेशिकत्व, और 'जानता हुआ हूँ' इस शब्द से ज्ञातृत्व ये तीनों धर्म एक में ही प्रतीत होते हैं। अर्थात्, ज्ञाता आत्मा और प्रादेशिक तीनों एक ही प्रतीत होते हैं। ये तीनों धर्म देह के नहीं हो सकते; क्योंकि देह आत्मा नहीं है और वह ज्ञाता भी नहीं हो सकता। यदि आत्मा के कहें तो भी ठीक नहीं। क्योंकि आत्मा विभु है, वह प्रादेशिक नहीं हो सकता। और 'घर में' इस शब्द से प्रादेशिकत्व की प्रतीति होती है। यदि यह कहें कि विभु का आत्मा के घर में रहना यद्यपि असम्भव है तथापि आत्मा का एक देश तो घर आदि प्रदेश में भी रह सकता है। इसलिए, एकदेशीय है ऐसी प्रतीति हो सकती है। परन्तु, यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि अन्यत्र वन आदि प्रदेश में भी आत्मा के अंश का रहना व्यापक होने के कारण सम्भव ही है। इस स्थिति में घर में रहनेवाले को भी 'वन में हूँ' इस प्रकार की प्रतीति हो जानी चाहिए, किन्तु ऐसी प्रतीति होती नहीं है इसलिए, अध्यास से ही इस प्रकार की प्रतीति को मानना युक्त है। दूसरी गति इस प्रकार की प्रतीति के उपपादन में नहीं है। यहाँ यह भी कह सकते हैं कि आहार्यारोप से भी इस प्रकार की प्रतीति का उपपादन कर सकते हैं। बाध-ज्ञान के रहते हुए भी जो आरोप किया जाता है वह आहार्यारोप है। जैसे 'यह माणवक सिंह है', यहाँ माणवक में सिंहत्व के आरोप-काल में भी यह सिंह नहीं है इस प्रकार का बाध-ज्ञान रहता ही है। यहाँ आरोप दो प्रकार का हो सकता है। एक आत्मा के धर्म का देह में आरोप। दूसरा देह के धर्म का आत्मा में आरोप। जब आत्म धर्म का देह में आरोप करते हैं तब यह शङ्का होती है कि आरोपित आत्मत्वविशिष्ट देह भी अहम्-प्रतीति का विषय हो सकता है। जैसे धर्मगुप्त राजा के सभी कार्यों का सम्पादन करनेवाला जो महागुप्त है, उसको धर्मगुप्त कहता है कि महागुप्त मेरी आत्मा है। यहाँ महागुप्त में धर्मगुप्त के आत्मत्व के आरोप काल में भी महागुप्त उसका आत्मा नहीं है इस प्रकार का बाध-ज्ञान रहता ही है। इस बाध ज्ञान के रहते हुए भी जिस प्रकार आहार्यारोप से महागुप्त मेरा आत्मा है ऐसा व्यवहार होता है, उसी प्रकार देह आत्मा नहीं है ऐसा बाध-ज्ञान रहने पर भी आहार्यारोप से देह में भी अहम् शब्द का उपचार होता है। इसलिए, आरोपित आत्मत्वविशिष्ट देह की अहम्-प्रतीति के विषय होने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। परन्तु, यह भी युक्त नहीं है। कारण यह है कि आरोपित आत्मत्वविशिष्ट देह में भी वस्तुतः ज्ञातृत्व नहीं हो सकता। जैसे अपने समान आकारवाले शिलापुत्रक (पत्थर की मूर्ति) में वस्तुतः ज्ञातृत्व नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार पाषाण-प्रतिमा में शिव के सदृश अचेतन होने के कारण ज्ञातृत्व नहीं रहता उसी प्रकार 'मैं इस घर में जानता हुआ हूँ' इस प्रतीति में जानता हुआ इस प्रकार ज्ञानाश्रयत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती।

यदि कहें कि देह में जिस प्रकार आत्मत्व की कल्पना करते हैं, उसी प्रकार ज्ञातृत्व का भी आरोप कर सकते हैं। अर्थात् देह में आत्मत्व के सदृश ज्ञातृत्व को भी काल्पनिक ही मान लेने में कोई आपत्ति नहीं रहती। परन्तु, यह भी कहना ठीक नहीं है। कारण यह है कि प्रयोग करनेवाले को अपने ज्ञान का प्रकाशक प्रयोग करने में ज्ञातृत्व का उपचार नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि ज्ञाता जब अपने ज्ञान का प्रकाशन करना चाहता है तब अपने ज्ञान के अनुसार मुख्यवृत्ति या गौणवृत्ति से वाक्य का प्रयोग करता है। वही प्रयोग करनेवाला जब गौणवृत्ति से प्रयोग करना चाहता है, तब जो धर्म जहाँ नहीं है उसकी भी वह कल्पना कर लेता है। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञाता प्रयोक्ता, और कल्पक एक ही व्यक्ति है और वही अहम् शब्द का वाच्य भी होता है।

यदि अहम्-कल्पित ज्ञातृत्वविशिष्ट देह है, तो वही अपने अन्तर्गत ज्ञातृत्व का कल्पक किस प्रकार हो सकता है। दूसरी बात यह है कि देह में जो ज्ञातृत्व है वह कल्पित है वास्तविक नहीं। इसलिए, वस्तुतः ज्ञातृत्व नहीं होने से वह प्रयोक्ता भी नहीं हो सकता। क्योंकि, कल्पित वस्तु परमार्थ कार्य करनेवाला नहीं होता। जैसे 'अग्निरयं माणवकः', यह माणवक अग्नि है यहाँ माणवक में आरोपित जो अग्नि है, वह यथार्थ दाह का जनक नहीं होता।

यदि द्वितीय पक्ष, अर्थात् देह का जो प्रादेशिकत्व धर्म है उसका आत्मा में आरोप मानकर उक्त व्यवहार की उपपत्ति मानें, तो भी ठीक नहीं होता। कारण यह है कि जहाँ बुद्धिपूर्वक अन्यधर्म का अन्यत्र आरोप किया जाता है वहाँ आरोप्यमाण (जिसका आरोप किया जाता है) और आरोप-विषय (जहाँ आरोप किया जाता है) इन दोनों का भेदज्ञान आवश्यक होता है। जैसे, 'सिंहोऽयं माणवकः', यहाँ माणवक में सिंहत्व का आरोप करते हैं। क्योंकि, आरोप का विषय जो माणवक है और आरोप्यमाण जो सिंहत्व है इन दोनों में परस्पर भेद का ज्ञान प्रसिद्ध है। इस भेद-ज्ञान के रहने से ही माणवक में सिंहत्व का आरोप कर 'सिंहोऽयं माणवकः', ऐसा व्यवहार होता है। यह आरोप साम्प्रतिक (कादाचित्क) है निरूढ गौणत्व नहीं है। क्योंकि इस प्रकार माणवक में सिंह शब्द का प्रयोग बराबर नहीं होता।

निरूढ गौण वह होता है जहाँ गौण शब्द भी विशेष प्रयोग होने के कारण मुख्यार्थ शब्द के समान ही सर्वदा प्रयुक्त होता है। जैसे तैल शब्द 'तिल से भरा' इस योग-बल से तिल-रस का वाचक है परन्तु सरसों के रस में भी निरन्तर प्रयुक्त होता है। यहाँ तिल-रस और सर्षप-रस में विद्यमान जो भेद है, उसके स्थिर जाने के कारण गौणी वृत्ति से सर्षप रस में तैल शब्द का प्रयोग निरन्तर होता है। यहाँ सार्षप रस में प्रयुज्यमान तैल शब्द गौण है। इस प्रकार की प्रतीति भी किसी भेद-ज्ञानवाले को ही होती है, सबको नहीं; क्योंकि यह रूढगुण्य है। इसलिए, यह तैल शब्द निरूढ है। इससे यह सिद्ध हुआ कि आहार्यारोप-स्थल में सर्वत्र आरोप्यमाण और आरोप-विषय इन दोनों में भेद होना आवश्यक है। इसलिए, जहाँ-जहाँ गौणत्व है वहाँ-वहाँ भेद मानना आवश्यक है, यह व्याप्ति भी सिद्ध

हो जाती है। इससे प्रकृत में यह सिद्ध हुआ कि आत्मा देह से भिन्न लोक-व्यवहार में नहीं प्रतीत होता, इसलिए वहाँ अध्यारोप नहीं कर सकते। अर्थात्, अध्यारोप से गौणी वृत्ति का जो आश्रयण किया है, वह युक्त नहीं है। यदि यह कहें कि 'मेरा शरीर' इस प्रकार की प्रतीति में भेद का मान अवश्य होता है, इसलिए अध्यारोप से गौणी वृत्ति का जो आश्रयण किया है, वह युक्त ही है। यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि, अस्मद् शब्दार्थ देह के अतिरिक्त पृथक् लोक में प्रतीत नहीं होता। यदि लोक व्यवहार में देह से पृथक् आत्मा की प्रतीति होगी, तब तो देहात्मवादी चार्वाक के मत का ही उच्छेद हो जायगा। क्योंकि चार्वाक-मत का उदय देह से पृथक् आत्मा की प्रतीति नहीं होने के कारण ही हुआ है। जब देह के अतिरिक्त आत्मा का मान लोक में मान लें तब लोकायत मत का उच्छेद होना स्वाभाविक हो जाता है। 'मम शरीरम्', यहाँ आत्मा से पृथक् जो शरीर में भेद का मान होता है वह 'राहोः शिरः' के सदृश औपचारिक ही है। अर्थात् जिस प्रकार 'राहोः शिरः' यहाँ राहु और शिर में भेद नहीं होने पर भी किसी प्रकार भेद की कल्पना कर 'राहोः' में षष्ठी विभक्ति का निर्वाह करते हैं, उसी प्रकार 'मम शरीरम्' इसमें भी किसी प्रकार भेद की कल्पना कर 'मम' पद में षष्ठी की उत्पत्ति हो जायगी।

देह से आत्मा के अभिन्न प्रतीत होने में एक यह भी हेतु है कि जो 'मम शरीरम्' यह कहता है उसके प्रति भी यदि प्रश्न किया जाय कि तू कौन है तो वह भी अपने वक्षःस्थल पर हाथ रखकर कहता है कि 'अयमहमस्मि' अर्थात् मैं यह हूँ। यहाँ शरीर को ही आत्मा बताया गया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि लोक में शरीर से पृथक् आत्मा की प्रतीति नहीं होती और देह में ही आत्मा का अनुभव सकललोकप्रसिद्ध है। देह में आत्मभ्रम होने पर भी यह भ्रान्त है, यह किसीको भी प्रतीति नहीं होती है बल्कि लोग उसका वचन प्रमाणत्वेन ग्रहण करते हैं। लिखा भी है—

> 'देहात्मप्रत्ययो यद्वत् प्रमाणत्वेन कल्पितः।
> लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणन्त्वात्मनिश्चयात् ॥'

इसका तात्पर्य यह है कि देह में जो आत्मा का अनुभव होता है वह जिस प्रकार प्रमाण-भाव से माना जाता है उसी प्रकार लौकिक प्रमाण भी आत्मा के साक्षात्कार-पर्यन्त प्रमाण भाव से माना जाता है। यहाँ 'आ आत्मनिश्चयात्' इस पद में आ—आत्मनिश्चयात् ऐसा पदच्छेद कर आत्मनिश्चय-पर्यन्त ऐसा अर्थ होता है। भाव यह है कि जबतक आत्मा का साक्षात्कार न हो जाय तबतक कल्पित भी प्रमाण प्रमेय-भाव प्रमाण-भाव से ही माना जाता है। वह सब कल्पित है यह किसीको भान नहीं होता है। इससे प्रकृत में यह सिद्ध होता है कि गौणत्व का व्यापक जो भेद का मान है उसके न होने के कारण व्याप्य जो गौणत्व है वह स्वयं निवृत्त हो जाता है। अब यहाँ दूसरी शङ्का यह होती है कि यद्यपि 'मैं स्थूल हूँ' इस प्रतीति के विरुद्ध होने के कारण 'मेरा शरीर है' इस अभिज्ञा से देह और जीवात्मा में भेद सिद्ध नहीं होता तथापि 'सोऽहम् अस्मि' वही मैं हूँ, इस प्रत्यभिज्ञा से देह और जीवात्मा में

इसलिए उनको प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती और प्रत्यभिज्ञा के न रहने से भेद की सिद्धि भी नहीं हो सकती।

एक बात और है कि 'सोऽहमस्मि' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा होने पर भी भ्रम की निवृत्ति नहीं होती। कारण यह है कि परोक्ष ज्ञान से प्रत्यक्ष भ्रम की निवृत्ति नहीं हो सकती। जैसे रज्जु में जो सर्प-प्रत्यक्ष का भ्रम होता है उसकी निवृत्ति 'यह सर्प नहीं है', इस आप्त वाक्य से नहीं होती। आप्त वाक्य से केवल यह ज्ञान होता है कि यह सर्प-ज्ञान भ्रम है। भ्रमत्वेन भ्रम के ज्ञान होने पर भी भ्रम की निवृत्ति नहीं होती। भ्रम की निवृत्ति तो तब होती है जब 'यह रज्जु है' इस प्रकार रज्जु का साक्षात्कार होता है। इसी प्रकार, देह में जो आत्मभ्रम प्रत्यक्ष है उसकी निवृत्ति 'सोऽहमस्मि', इस प्रत्यभिज्ञा-वाक्य से नहीं हो सकती।

देहात्मभ्रम की निवृत्ति तो तब होती है जब ब्रह्म का साक्षात्कार होने लगता है। इसी अभिप्राय में भगवान् भास्कर ने लिखा है—'पश्वादिभिश्चाविशेषात्', (ब्र. सू. १।१।१ भा.)। इस पर वाचस्पति मिश्र ने भी लिखा है—शास्त्रचिन्तकाः खल्वेवं विचारयन्ति न प्रतिपत्तारः। इसका तात्पर्य यह है कि शास्त्रों के मनन में जो कुशल हैं और जिनको आत्मसाक्षात्कार नहीं हुआ है उनका व्यवहार भी लोक में पशुओं के सदृश ही होता है। जिस प्रकार पशु किसी मारनेवाले पुरुष को लाठी लेकर अपनी ओर आता हुआ देखकर भाग जाता है और हाथ में घास लेकर आता हुआ अपने स्वामी या अपना खिलानेवाले को देखकर उसके समीप आ जाता है उसी प्रकार शास्त्रीय ज्ञानसम्पन्न विद्वान् या महात्मा पुरुष हिंसक क्रूर आदि प्रतिकूल व्यक्तियों को देखकर उनसे पृथक् हट जाते हैं और अनुकूल भक्त को देखकर उनके समीप चले जाते हैं। इस प्रकार के प्रमाण प्रमेय-व्यवहार में पशु और पामर के तुल्य ही शास्त्रचिन्तकों का व्यवहार लोक में देखा जाता है। इसलिए, प्रत्यभिज्ञा से देह से भिन्न जीवात्मा को सिद्ध कर अहम्-प्रत्यय का विषय जीवात्मा को मानकर, प्रत्यभिज्ञा और अनुमान दोनों से आत्मा को अभिन्नत्व बताया है वह युक्त नहीं है। और, अहम् अनुभव का विषय अध्यस्त आत्मतत्त्वविशिष्ट देह ही होता है यह सिद्ध होता है।

जैनदर्शन के मतानुसार आत्मस्वरूप-विवेचन

अब जैनदर्शन के मतानुसार आत्मस्वरूप का विवेचन किया जाता है। जैनों के मत में जीव को व्यापक नहीं माना जाता। किन्तु आत्मा का परिमाण देह के तुल्य होता है यह माना जाता है। अर्थात् देह का परिमाण जितना छोटा या बड़ा होता है उतना ही छोटा या बड़ा जीवात्मा का भी परिमाण होता है ऐसा स्वीकार करने से 'मैं इस घर में जानता हुआ हूँ' इस प्रकार के पूर्वोक्त अनुभव से जीवात्मा के एक देश में रहने का जो अनुभव होता है वह युक्त है। इसलिए, उस उक्त आदेशिकत्व अनुभव का सामञ्जस्य भी सिद्ध हो जाता है। परन्तु जैनों का यह कहना युक्त नहीं होता। कारण यह है कि आत्मा को यदि देह-परिमाण मानें तो देह जिस प्रकार सावयव होने से अनित्य होता है उसी प्रकार जीव भी सावयव होने से अनित्य होने लगेगा।

इस अवस्था में, 'कृतहान' और 'अकृताभ्यागम' दोष हो जाते हैं। अर्थात्, जो आत्मा इस जन्म में शुभ या अशुभ कर्म करता है, उसका फल वही आत्मा दूसरे जन्म में भोगता है। यदि आत्मा को, मध्यमपरिमाण होने से, अनित्य मानें तो आत्मा ने जो कर्म किया, उसका फल उसे न मिला। क्योंकि, अनित्य होने से वह नष्ट हो गया। यही कृतहान-दोष है और शुभाशुभ कर्म का फल जो सुख-दुःख है, उसका भोग करनेवाला जो जीवात्मा है वह बिना कुछ कर्म किये ही भोग करता है, यह अकृताभ्यागम-दोष है। यदि इस दोष के परिहार के लिए अवयवों के संघात को आत्मा मानें, तो उनके प्रति यह प्रश्न होता है कि क्या प्रत्येक अवयव चैतन्य है? अथवा संघात का चैतन्य है? यदि प्रत्येक अवयव को चेतन माना जाय तब तो अनेक चेतनों के तुल्यसामर्थ्य होने से स्वभाव में विलक्षणता होने के कारण, परस्पर वैमनस्य होना अनिवार्य हो जाता है। इस स्थिति में एक ही शरीर में एक जीवात्मा यदि पूर्व की ओर जाना चाहता है, तो दूसरा पश्चिम की ओर। और एक शरीर से एक काल में अनेक देशों में जाना असम्भव है, इसलिए अनेक चेतनों से विरुद्ध देश में आकर्षण होने के कारण शरीर ही विदीर्ण हो जायगा। अथवा अनेक चेतनों के आकर्षण-विकर्षण से प्रतिबन्ध होने के कारण शरीर का कहीं भी गमन न हो सकेगा। इस स्थिति में, शरीर क्रिया-रहित ही हो जायगा।

यदि संघात को चेतना मानें तो यहाँ भी विकल्प उपस्थित होता है कि संघातापत्ति क्या शरीरोपाधिकी है या स्वाभाविकी, अथवा यादृच्छिकी? ये तीन विकल्प होते हैं। यदि शरीरोपाधिकी मानें, तब तो हाथ या पैर या अँगुली या उसमें भी किसी छोटे शरीरावयव के छिन्न हो जाने पर जीव के उतने अवयव कट जाने से जीव का विनाश ही हो जायगा। अर्थात् चेतन-तत्त्व ही नष्ट हो जायगा। संघात को स्वाभाविक या यादृच्छिक मान लेने से यह दोष नहीं होता। कारण यह है कि शरीरावयव का छेद जीव के अवयवच्छेद का प्रयोजक नहीं होता।

द्वितीय पक्ष, अर्थात् संघात, को स्वाभाविक मानें, वह भी ठीक नहीं है क्योंकि यदि संघात को स्वाभाविक मानते हैं, तो स्वभाव से किसीका नाश नहीं होता, इस कारण किसी स्वरूप भी अवयव का विच्छेद नहीं हो सकता। क्योंकि स्वभाव के अविनाशी होने से नियमेन एक प्रकार से अवयवों का सदा संश्लिष्ट रहना अनिवार्य है। परन्तु जैन दार्शनिक ऐसा मानते नहीं हैं। बाल्य युवत्व आदि अवस्था के भेद से या जन्मान्तर के भेद से शरीर में भेद होने पर उसमें ही भेद जीव के होते हैं ऐसा जैनों का सिद्धान्त है।

तृतीय (आकस्मिक) मानने पर भी नहीं ठीक होता। क्योंकि, संश्लेष के सदृश विश्लेष को भी यादृच्छिक (आकस्मिक) मानने से सुखपूर्वक बैठा हुआ आदमी भी अकस्मात् अचेतन हो सकता है। इसलिए, जीव को शरीरपरिमाण मानना युक्त नहीं होता। यदि यह कहें कि इस पर मैं जानता हुआ हूँ इस प्रकार जीव की प्रादेशिकत्व-सिद्धि के लिए जीव को अणुपरिमाण मान लेना ही युक्त है। विभु मानने से जीव का किसी प्रदेश में होना युक्त नहीं होता। परन्तु, यह मत भी

ठीक नहीं है। कारण यह है कि जीव के अणु मान लेने से प्रादेशिकत्व का ग्रहण यद्यपि उपपन्न हो जाता है, परन्तु 'स्थूलोऽहम्', 'कृशोऽहम्' इत्यादि जीव में जो स्थूलता आदि की प्रतीति होती है, उसकी उपपत्ति अणु मानने से कदापि नहीं हो सकती। इसलिए, अणु मानना युक्त नहीं है।

बौद्धों के मतानुसार आत्मस्वरूप-विवेचन

अब यहाँ आत्मा को विज्ञान-स्वरूप माननेवाले बौद्धों के मत में आत्मा के निश्चल सावयवत्व न होने के कारण वह पूर्वोक्त दोष नहीं आता, यह दिखाया जाता है। भाव यह है कि बौद्धों के मत में विज्ञान को ही आत्मा माना जाता है। वही विज्ञान स्वरूप आत्मा आध्यात्मिक देहादि के आकार में अहम् (मैं) के रूप में भासित होता है। इनके मत में ज्ञान के साकार होने से इस प्रकार का प्रतिभास युक्त होता है। इस अवस्था में जीवात्मा में जो प्रादेशिकत्व और स्थूलत्व आदि की प्रतीति होती है वह सब उपपन्न हो जाता है। अर्थात् प्रादेशिकत्व और स्थूलत्व की उपपत्ति नहीं होती। यह दोष जो पूर्व में दिखाया गया है इनके मत में युक्त नहीं होता। और शरीर के अवयवच्छेद होने से आत्मा का छेद होना भी, जो पूर्व में दोष बताया गया है, युक्त नहीं है। कारण यह है कि बौद्धों के मत में विज्ञान प्रतिक्षण भिन्न भासित होता रहता है। अर्थात् जिस समय जैसा शरीर का संस्थान होता है, उस समय उसी प्रकार विज्ञान भी भासित होता है। अर्थात् विज्ञान के अवयव शरीर के अवयवों के सदृश ही हो जाता है। विज्ञान का निश्चल अवयव कोई भी नहीं है। निश्चल अवयव उसीको कहते हैं; जिसकी उत्पत्ति अवयवान्तर के अधीन न हो। यहाँ तो विज्ञानावयव की उत्पत्ति शरीरावयव के अधीन ही है इसलिए निश्चल नहीं है। यहाँ मूर्त परमाणुओं के समाज का नाम शरीर है और जो आन्तर विज्ञान है वह स्कन्धों का समवाय है। और वह भी कल्पनामय स्वप्न-वस्तु के सदृश है। इसी कारण इनके अवयव पृथक् सिद्ध नहीं होते। यह विज्ञानवादी बौद्धों का तात्पर्य है। परन्तु, यह भी युक्त नहीं है। कारण यह है कि इनके मत में भी अहम् (मैं) प्रतीति का मुख्य विषय कोई नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जो मैं सोया था वही मैं इस समय जगा हूँ इस प्रकार का जो अनुभव होता है उस अनुभव में अहम् (मैं)-अनुभव का विषय कोई स्थिर वस्तु प्रतीत होती है और क्षणभङ्गी बौद्धों के मत में कोई स्थिर वस्तु नहीं है। किन्तु, क्षणिक होने से ही अस्थिर में स्थिरत्व के भ्रम होने के कारण इनके मत में भी अध्यास अपरिहार्य हो जाता है। क्योंकि भ्रम का ही नाम अध्यास है।

यद्यपि बौद्ध लोग विज्ञान-संस्थान को आत्मा मानते हैं परन्तु यह भी युक्त नहीं होता। कारण यह है कि यह संस्थान संस्थानी से भिन्न है, अथवा अभिन्न ? इस विकल्प का उत्तर इनके यहाँ नहीं है। कारण यह है कि भिन्न तो कह नहीं सकते; क्योंकि विज्ञान से भिन्न इनके मत में कुछ है नहीं। भिन्न मान लेने से अपसिद्धान्त हो जाता है। यदि अभिन्न मानते हैं तो पूर्वोक्त दूषण गलेपतित हो जाता है। बौद्धों के

मत में विज्ञान के अतिरिक्त कोई भी तत्व नहीं माना जाता। बुद्धिस्वरूप विज्ञान ही ग्राह्य और ग्राहक, इन दोनों आकारों में परिणत होकर अपने से भिन्न और अपने सदृश ही बाह्य घट-पटादि पदार्थों की कल्पना कर लेता है। इस स्थिति में, 'मैं स्थूल हूँ', इस प्रकार की जो प्रतीति होती है, उसको औपचारिक मानना अनिवार्य हो जाता है। परन्तु औपचारिक मानना भी युक्त नहीं होता। कारण यह है कि औपचारिक-स्थल में भेद का भान होना आवश्यक है, और यहाँ भेद का भान होता नहीं। क्योंकि, इनके मत में विज्ञान से भिन्न कोई भी पदार्थ नहीं माना जाता। और भेद का भान होने पर ही औपचारिक होता है, यह पहले ही कहा जा चुका है।

आत्मस्वरूप-विचार-समन्वय

इस सन्दर्भ से यह सिद्ध हुआ कि 'अहम्' (मैं), इस प्रकार की जो प्रतीति होती है, उसका विषय शुद्ध निर्लेप आत्मा नहीं है किन्तु अध्यस्त आत्मा ही अहम् का विषय है। इसलिए, अध्यास की निवृत्ति ही वेदान्त-शास्त्र का प्रयोजन और सन्दिग्ध आत्मा ही इसका विषय भी सिद्ध हो जाता है। इसलिए, वेदान्त-शास्त्र आरम्भणीय है, यह सिद्ध हो जाता है। इसमें अनुमान इस प्रकार का होता है—विवादास्पद वेदान्त-शास्त्र (पक्ष) विषय और प्रयोजन-सहित है (साध्य) अनादि अविद्यापरिकल्पित जो बन्ध है, उसके निवर्तक होने के कारण (हेतु) सुप्तोत्थित बोध के सदृश (दृष्टान्त)। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सोया हुआ मनुष्य स्वप्न में अपनी इष्ट वस्तु के नाश आदि अनेक अनिष्ट स्वप्नों को देखकर अपने को दुःखार्त मानता है और जग जाने पर समस्त स्वप्नजन्य दुःखों से अपने को मुक्त और स्वस्थ सुखी समझता है, उसी प्रकार अनादि अविद्यारूप संसार-चक्र से ग्रस्त प्राणी स्वप्न के सदृश अनेक प्रकार के दुःखों से अपने को आक्रान्त समझता है। जब वेदान्त वाक्यों से यथार्थ आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है तब अविद्या से उत्पन्न होनेवाले सकल दुःखों से रहित अपने को पाता है। जिस प्रकार स्वप्नावस्था में मायापरिकल्पित अनेक प्रकार के दुःखों के निवर्तक सुप्तोत्थित का जो बोध है उसका विषय सुखपूर्वक बैठे हुए सुप्तोत्थित पुरुष का देह ही है। स्वप्नावस्था में जो बोध है उसका विषय वह देह नहीं होता। स्वप्नावस्था के बोध का विषय स्वप्नावस्था का परिकल्पित शरीर ही होता है। और स्वप्नावस्था में जो मायापरिकल्पित अनेक प्रकार के अनर्थ हैं उसकी निवृत्ति ही सुप्तोत्थित पुरुष के बोध का प्रयोजन है। इसी प्रकार, श्रवण मनन आदि से उत्पन्न होनेवाला जो परोक्ष ज्ञान है उसके द्वारा अध्यास-परिकल्पित जो कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि अनेक अनर्थ हैं उनका निवर्तक जो वेदान्त-शास्त्र है उसका विषय जीवात्मभूत सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्म ही है। क्योंकि उस आत्मस्वरूप सच्चिदानन्द ब्रह्म की प्रतीति अहम् शब्द से नहीं होती। इसलिए, शुद्ध ब्रह्म ही वेदान्त-शास्त्र का विषय है और अध्यास की निवृत्ति उसका फल। इसलिए, 'अप्रसक्तत्वात्' इस हेतु से पूर्वपक्षी द्वारा निर्दिष्ट शास्त्र की अनारम्भणीयता खण्डित हो जाती है। लिखा भी है—

'बुद्धिग्राह्यमतत्त्वन्तु नाहं बुद्ध्यावगम्यते ।
यदि चेत् कस्मात् मोहाद्यसम्भवस्तद्विपर्यये ॥'

इसका तात्पर्य यह है कि केवल बुद्धिमात्र से अधिगम्य (जानने योग्य) जो आत्मतत्त्व है वह अहम्-प्रतीति का विषय नहीं होता। क्योंकि 'अहम्' इस प्रकार की जो प्रतीति होती है उसमें अहङ्कार और आत्मा का तादात्म्याध्यास ही कारण होता है। शुद्ध आत्मा अहम् का विषय नहीं होता। शुद्ध आत्मा के अप्रत्यक्ष होने पर भी प्रकाश के सदृश स्वच्छता से उसमें मोह होना सम्भव है। परन्तु मिथ्याज्ञानरहित शुद्ध आत्मा में किसी प्रकार भी मोह होना असम्भव है। इसी कारण 'असन्दिग्धत्वात्' यह जो हेतु पूर्वपक्षी ने दिखाया है वह भी असिद्ध हो जाता है।

यदि यह कहें कि जीवात्मा की प्रतीति तो प्राणी-मात्र को अबाधित रूप से होती है—जैसे 'मैं हूँ'। इस प्रकार की प्रतीति सबको होती है और, 'मैं नहीं हूँ' इस प्रकार की प्रतीति किसीको भी नहीं होती। इससे जीवात्मा की प्रतीति असन्दिग्ध सिद्ध हो जाती है। और, 'वह ब्रह्म तुम्हीं हो' इत्यादि वेदान्त-वाक्यों से जीवात्मा ही ब्रह्म है यह सिद्ध हो जाता है। इसलिए, यद्यपि आत्मतत्त्व असन्दिग्ध है ऐसा सिद्ध हो जाता है तथापि सामान्यतः जीवात्मा के ज्ञान होने पर भी विशेष ज्ञान के लिए जिज्ञासा होना अनिवार्य है। कारण यह है कि प्रत्येक आचार्य आत्मा के भिन्न-भिन्न स्वरूप मानते हैं। जैसे चार्वाक लोग चैतन्यविशिष्ट देह को ही आत्मा मानते हैं और उसमें से कुछ लोग इन्द्रियों को ही और कुछ लोग अन्तःकरण को ही। ये सब चार्वाक के अन्तर्गत हैं। बौद्ध लोग क्षणभङ्गुर विज्ञान सन्तान को ही आत्मा मानते हैं। जैन आत्मा को देहपरिमाण मानते हैं। नैयायिक आत्मा को ब्रह्म से भिन्न कर्तृत्वादि धर्मों से युक्त मानते हैं और मीमांसकों का कहना है कि द्रव्य तथा बोध ये दोनों आत्मा के स्वभाव हैं। इनके कहने का तात्पर्य यह है कि 'आत्मानन्दमयः' इस तैत्तिरीय-श्रुति में जो 'आनन्दमय' शब्द है उसमें प्राचुर्य-अर्थ में मयट् प्रत्यय है। इसलिए, आनन्द के अधिक होने पर भी इसके विरोधी द्रव्य अंश का आत्मा में अंशतः भी विद्यमान रहना आवश्यक हो जाता है। इसलिए, सुप्तोत्थित पुरुष का ऐसा जो ज्ञान होता है कि 'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्' अर्थात् मैं सुखपूर्वक ऐसा सोया कि कुछ भी नहीं जाना। इस ज्ञान में दो प्रकार का परामर्श प्रतीत होता है। एक तो 'मैं सुखपूर्वक सोया'। इस ज्ञान में प्रकाश अंश प्रतीत होता है। यदि प्रकाश-अंश को न मानें तो सुषुप्ति में कोई साक्षी नहीं है। इस प्रकार का जो परामर्श है वह नहीं बनता। अर्थात्, सुषुप्ति बिना साक्षी की है यह परामर्श अनुपपन्न हो जायगा। इसलिए, प्रकाशांश मानना आवश्यक है। और दूसरी प्रतीति है 'न किञ्चिदवेदिषम्' अर्थात् कुछ भी नहीं जाना इस परामर्श से अप्रकाश-रूप द्रव्य अंश की भी सिद्धि हो जाती है। इसलिए, इनके मत में द्रव्य और बोध उभयस्वरूप आत्मा माना जाता है। सांख्यों के मत में केवल भोक्ता ही आत्मा है, कर्ता नहीं ऐसा माना जाता है। वेदान्ती लोगों का कहना है कि कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि से रहित और ब्रह्म से अभिन्न चित् स्वरूप आत्मा है। इस प्रकार, धर्मी आत्मा के प्रसिद्ध होने पर भी कौन आत्मा है इस विशेष ज्ञान में संशय रहता ही है।

इसलिए, संशय होने से ब्रह्म जिज्ञास्य, अर्थात् विचार करने के योग्य है, यह सिद्ध होता है और ब्रह्म के विचार करने योग्य होने के कारण, ब्रह्म का विचारक जो ब्रह्म-मीमांसा-शास्त्र है, उसका आरम्भणीय होना भी निर्बाध सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार, 'जन्माद्यस्य यतः' यहाँ से अन्त-पर्यन्त समस्त शास्त्र विचार के ही अधीन है, इसलिए, इस अधिकरण का सबसे पहले लिखना सङ्गत भी हो जाता है।

ब्रह्म में प्रमाण

अब दूसरा विचार यह होता है कि इस प्रकार के ब्रह्म के होने में प्रमाण क्या है? प्रत्यक्ष तो कह नहीं सकते क्योंकि ब्रह्म अतीन्द्रिय पदार्थ है। और, अतीन्द्रिय पदार्थ का प्रत्यक्ष होता नहीं। अनुमान को भी प्रमाण नहीं कह सकते। कारण यह है कि जहाँ साध्य का व्याप्य सिद्ध रहता है, वहीं अनुमान होता है। जैसे, अग्नि का व्याप्य जो धूम है वही अग्नि का अनुमापक होता है। प्रकृत में ऐसा कोई भी ब्रह्म का व्याप्य सिद्ध नहीं है, जिससे ब्रह्म का अनुमान कर सकें। उपमान आदि प्रमाण तो नियत विषय हैं। इसलिए, उनकी तो शङ्का भी नहीं हो सकती। आगम भी ब्रह्म में प्रमाण नहीं हो सकता क्योंकि 'यतो वाचो निवर्तन्ते', इत्यादि श्रुति से ही ब्रह्म को आगम से अगम्य बताया गया है। इसलिए, ब्रह्म में प्रमाण सिद्ध नहीं होता, यह पूर्वपक्षी शङ्का का तात्पर्य है।

यहाँ सिद्धान्ती का कहना है कि यह ठीक नहीं है; क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के विषय नहीं होने पर भी ब्रह्म के बोधन में श्रुति का ही प्रमाण पर्याप्त है। अतीन्द्रिय पदार्थ के ही बोधन में श्रुति का सार्थक्य भी है। यदि कहें कि 'यतो वाचो निवर्तन्ते', इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म का श्रुति-गम्य होना भी निषेध करती हैं तो उनसे यह कहना चाहिए कि श्रुति ही निषेध करती है और श्रुति ही आगमगम्य होने का विधान भी करती है। जैसे 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्', 'आनन्दो ब्रह्म', इत्यादि अनेक श्रुतियों से ब्रह्म का श्रुतिगम्य होना भी बताया गया है। श्रुतिप्रतिपादित अर्थ के अनुपपन्न होने पर भी वैदिकों की बुद्धि खिन्न नहीं होती बल्कि उनके उपपादन के मार्ग का ही विचार करते हैं। इसलिए, निषेधक और विधायक दोनों प्रकार के वाक्यों का समन्वय समुचित है। यहाँ निषेधक और विधायक दोनों वाक्यों की एकवाक्यता इस प्रकार होती है कि वाक्यजन्य स्पष्ट स्फुरणरूप अर्थ के निषेध में निषेध-श्रुति की चरितार्थता है और अज्ञान रूप आवरण के भङ्ग करने में विधायक-श्रुति की। इसलिए, दोनों प्रकार की श्रुतियाँ चरितार्थ होती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जिस समय घट आदि का ज्ञान होता है, उस समय अन्तःकरण विशेषरूप जो बुद्धि-तत्त्व है जिसमें स्वाभ्यन्तर्गत चिदाभास भी है वह घट को व्याप्त करता है। वहाँ बुद्धि-रूप व्याप्ति से घट का अज्ञानरूप जो आवरण है उसका नाश होता है। और, चिदाभास की जो व्याप्ति है उससे घट का स्फुरण होता है। क्योंकि घट तो जड़ है, उसका स्वयम्प्रकाश हो नहीं सकता। इसलिए, चिदाभास की व्याप्ति मानना अनिवार्य हो जाता है। स्वामी विद्यारण्य आचार्य ने भी लिखा है—

'बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम्।
तत्राज्ञानं धिया नश्येद् आभासेन घटः स्फुरेत्॥'

इसका तात्पर्य यही है कि बुद्धि और उसमें स्थित चिदाभास—ये दोनों घट को व्याप्त करते हैं, यहाँ बुद्धि की व्याप्ति से अज्ञान का नाश होता है और चिदाभास की व्याप्ति से घट का स्फुरण। यहाँ स्फुरण शब्द से ज्ञान में अपने आकार का समर्पण ही विवक्षित है। 'जानाति' में ज्ञा धातु का अर्थ (फल) आवरणभङ्ग और स्फुरण दोनों सिद्ध होते हैं। आवरणभङ्ग-रूप फल के मानने से ही 'घटं जानाति' में घट का कर्मत्व सिद्ध होता है। अन्यथा ज्ञान-रूप फल के घट में न रहने से घट की कर्मता सिद्ध नहीं होगी।

प्रकृत में 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों से आत्मा का ज्ञान उत्पन्न होता है। यहाँ बुद्धि-वृत्ति की व्याप्ति से अज्ञान-रूप आवरण का नाश-रूप फल उत्पन्न होता है। आवरण के भङ्ग होने पर शीघ्र ही स्वयम्प्रकाश-स्वरूप आत्मा का स्फुरण होने लगता है। इसलिए, स्फुरण के स्वयं सिद्ध होने से वाक्य-जन्य ज्ञान का यह फल नहीं हो सकता। इसी अभिप्राय से ब्रह्म का ज्ञान का विषय होना भी श्रुति बताती है। इस तरह दोनों प्रकार की श्रुतियाँ चरितार्थ होती हैं। इसी अभिप्राय से आचार्यों ने भी कहा है—

'अवाच्यत्वेन श्रुतेर्ब्रह्म न गोचरः।
प्रमेयं प्रमितौ तु स्वाकाराकारसमर्पणात्॥
न प्रकाश्यं प्रमाणेन प्रकाशो ब्रह्मणः स्वयम्।
तदन्यावृत्तिमात्रं न प्रमेयमिति गीयते॥'

इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्म श्रुति का विषय नहीं होता, क्योंकि स्वयं स्फुरण रूप जो ब्रह्म है उसमें श्रुति स्फुरण-रूप फल उत्पन्न नहीं कर सकती। किन्तु, ब्रह्म को जो प्रमेय कहा जाता है वह ज्ञान में अपने आकार के समर्पण करने के हेतु से ही है। जिस कारण ब्रह्म स्वयम्प्रकाश है उसी कारण प्रमाणान्तर से वह प्रकाश्य नहीं होता। किन्तु प्रमाण से आवरण का भङ्ग होता है। इसलिए, प्रमेय कहा जाता है।

इस सन्दर्भ से सत् चित् आनन्द एकरस जीवात्मभूत ब्रह्म ही प्रकृत शास्त्र का विषय है यह व्यवस्थापन किया गया। इसके बाद पहले जो लिखा है कि अध्यास-निवृत्ति शास्त्र का प्रयोजन है, इसमें अध्यास क्या वस्तु है? और, वह क्यों माना जाता है? इत्यादि विषयों का विवेचन किया जाता है।

अध्यासवाद-विवेचन

यहाँ एक बात जानना चाहिए कि जो अनेक प्रकार के वाद विभिन्न आचार्यों ने माने हैं उनमें प्रधान तीन ही वाद हैं—जैसे आरम्भवाद, परिणामवाद और विवर्तवाद। आरम्भवाद नैयायिकों और वैशेषिकों का है, तथा परिणामवाद सांख्यों का और विवर्तवाद वेदान्तियों का है। विवर्तवाद का ही नाम अध्यासवाद है।

आरम्भवादी लोगों का कहना है कि पूर्व में असत् जो घट, पट आदि अवयवी पदा
वे अपने अवयवों से ही आरब्ध होते हैं, इसलिए आरम्भवाद माना जाता है।
परमाणु-संयोग से द्व्यणुक की और द्व्यणुक के संयोग से त्र्यणुक की उत्पत्ति होती
इसी क्रम से पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाशादि पञ्चभूतों की उत्पत्ति और
द्वारा इस दृश्यमान सकल प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है, यही आरम्भवाद है। इस
यह प्रपञ्च सत्य है, अध्यस्त नहीं ऐसा नैयायिकों और वैशेषिकों का कहना
अध्यास के न होने से अध्यास की निवृत्ति-रूप जो शास्त्र का प्रयोजन माना गय
वह सिद्ध नहीं होता, यह आरम्भवाद का सिद्धान्त है। परन्तु, यह युक्त नहीं
कारण यह है कि परमाणु निरवयव होता है और संयोग सावयव पदार्थ
अवयव के साथ ही होता है। क्योंकि संयोग अव्याप्यवृत्ति धर्म है, यह अवय
साथ ही होता है। और, परमाणु का कोई अवयव है नहीं। इसलिए, परमाणु
संयोग न होने से द्व्यणुकादिक क्रम से जो प्रपञ्च की उत्पत्ति कही गई है, वह सिद्ध
होती है, इसलिए आरम्भवाद युक्त नहीं है।

इसी प्रकार, सांख्यों का अभिमत जो परिणामवाद है उसके विषय
समझना चाहिए। परिणाम उसको कहते हैं जो अपने स्वरूप का त्याग कर स्वरूपान
परिणत हो जाता है। जैसे दुग्ध अपने रूप द्रवत्व का छोड़कर कठिन दधि के
परिणत हो जाता है। इसलिए, दुग्ध का परिणाम दधि कहा जाता है। सांख्य
मत में प्रपञ्च को ही प्रकृति का परिणाम माना जाता है। प्रकृति महत्तत्त्व के
परिणत होकर तथा बुद्धि अहङ्कार के रूप में, और अहङ्कार पञ्चतन्मात्रा के रूप में प
होकर पञ्चभूतों के द्वारा सकल प्रपञ्च का कारण बनता है। यही परिणामवा
परन्तु यह भी युक्त नहीं है। कारण यह है कि सांख्यों के मत में प्रकृति अ
पदार्थ है, इसलिए चेतन के साथ सम्बन्ध के बिना उसमें परिणाम होना असम्भव
और, चेतन जो पुरुष है उसको सांख्य लोग सर्वथा उदासीन मानते हैं। इस प्रकार
उसका अचेतन के साथ सम्बन्ध हो नहीं सकता। इसलिए, परिणामवा
युक्त नहीं होता।

यदि यह कहें कि आरम्भवाद और परिणामवाद के असम्भव होने पर संसा
नित्य ही मान लें, तो क्या हानि है? यह ठीक नहीं है। क्योंकि, संसार की म
होती है। इसलिए, इसका अपलाप भी नहीं कर सकते। यदि प्रतीति होने से
सत् ही मान लें, तो भी ठीक नहीं होता। क्योंकि, ज्ञानी की दृष्टि से आत्मा के साक्षा
होने पर सकल प्रपञ्च मिथ्या प्रतीत होता है। अर्थात् आत्मसाक्षात्कार होन
संसार का बाध हो जाता है और सत्य पदार्थ का बाध होता नहीं। इसलिए, य
और बाध दोनों की उपपत्ति के लिए अध्यासवाद का स्वीकार करना आव
हो जाता है। इसलिए, प्रपञ्च अध्यस्त है ऐसा सिद्ध होता है और अध्यास की निवृ
शास्त्र का प्रयोजन है, यह भी सिद्ध हो जाता है।

यह विवर्त सत् और असत् दोनों से विलक्षण अनिर्वचनीय माना गया
यदि सत् मानें तो उसका बाध नहीं होगा और यदि असत् मानें तो

प्रतीति नहीं होगी। इसलिए, विवर्त दोनों से विलक्षण अनिर्वचनीय सिद्ध होता है। जिसका ज्ञान से बाध हो, उसे अनिर्वचनीय कहा जाता है। विवर्त का लक्षण यह माना गया है कि जो अपने स्वरूप का त्याग न कर दूसरे के स्वरूप से भासित हो, वह विवर्त है। जैसे, शुक्ति का अपने स्वरूप को न छोड़कर, रजत रूप से भासित होना।

जिस प्रकार, शुक्ति में रजत और रज्जु में सर्प विवर्त अर्थात् कल्पित है उसी प्रकार ब्रह्म में सकल प्रपञ्च कल्पित है। उसीको सत्यमिथ्यात्मकावभास और अध्यास भी कहते हैं। यहाँ अध्यास और अवभास पर्यायवाचक शब्द हैं।

प्रकृत में आत्मा सत् है और अहङ्कारादि सकल प्रपञ्च मिथ्या। एक बात और है कि अहङ्कार आदि जो आत्मा से भिन्न पदार्थ हैं उनमें आत्मा के स्वरूप का अध्यास नहीं होता किन्तु आत्मा के सम्बन्ध का अध्यास होता है। और आत्मा में मिथ्याभूत अनात्मप्रपञ्च के स्वरूप का ही अध्यास होता है। इसीका नाम सत्यमिथ्यात्मकावभास है। शुक्ति में जो रजत का अध्यास है, वह भी इसी प्रकार का समझना चाहिए। अर्थात्, रजत में शुक्ति के सम्बन्ध का अध्यास और शुक्ति में रजत के स्वरूप का अध्यास होता है।

अध्यास दो प्रकार का होता है। एक अर्थाध्यास और दूसरा ज्ञानाध्यास। शुक्ति में मिथ्याभूत रजत का जो अध्यास है वह अर्थाध्यास है; और मिथ्याभूत ज्ञान का आत्मा में जो अध्यास है, वह ज्ञानाध्यास है। शास्त्रकारों ने भी लिखा है—

'प्रमाणदोषसंस्कारजन्मान्यस्य परात्मता ।
तद्धीरध्यास इति हि बुधमिदं मनीषिभिः ॥

इसका तात्पर्य यह है कि प्रमाण दोष और संस्कार इन तीनों से उत्पन्न होनेवाली जो अन्य वस्तु की अन्यात्मता है अर्थात् वस्त्वन्तर के स्वरूप में परिणत होना है वह और ऐसी वस्तु का जो ज्ञान है ये दोनों अध्यास कहे जाते हैं। यहाँ प्रमाण शब्द से चक्षु आदि इन्द्रियों का ग्रहण है और दोष दूरत्व आदि का। संस्कार वह है जो पूर्व में रजत आदि के अनुभव से आत्मा में उत्पन्न हुआ है। इन तीनों के रहने पर ही शुक्ति में 'यह रजत है', इस प्रकार का भ्रम उत्पन्न होता है। इन तीनों में एक के भी नहीं रहने से अध्यास नहीं हो सकता। और भी अध्यास दो प्रकार का होता है—एक निरुपाधिक दूसरा सोपाधिक। यथा—

दोषेण कर्मणा वापि क्षोभिताज्ञानसम्भवः ।
तत्त्वविद्याविरोधी च भ्रमोऽयं निरुपाधिकः ॥
उपाधिसंनिधिप्राप्तक्षोभाविद्याविजृम्भितम् ।
उपाध्यपगमापोह्यमाहुः सोपाधिकं भ्रमम् ॥'

भाव यह है कि दोष अथवा कर्म से क्षोभित जो अज्ञान है उससे उत्पन्न होनेवाला तत्त्वज्ञान का विरोधी जो भ्रम है उसे निरुपाधिक भ्रम कहते हैं। उपाधि के संनिधान से प्राप्त है क्षोभ जिसमें उस अविद्या से उत्पन्न होनेवाला और उपाधि के नष्ट होने से नष्ट हो जानेवाला जो भ्रम है उसे सोपाधिक कहते हैं।

आत्मा में अहङ्कार का जो स्वरूपेण अध्यास है, वह निरुपाधिक भ्रम है। जैसे उपाधिरहित इदम् अंश में रजत-संस्कार के सहित, अविद्या के कारण, रजत का अध्यास होता है। तद्वत्, पूर्ववर्ती अहङ्कार आदि अथवा कर्म से शोभित जो अविद्या है, उसीसे उपाधिरहित चिद्-रूप आत्मा में अहंकार का जो अध्यास होता है, वही निरुपाधिक भ्रम है। और, एक ही अखण्ड ब्रह्म में उपाधि के भेद से जीव ईश्वर आदि भेद का जो अवभास होता है, वही सोपाधिक भ्रम कहा जाता है। और, उसी ब्रह्म में स्वरूप से जो अहंकार का अध्यास होता है, उसे निरुपाधिक अध्यास कहा गया है। अन्य आचार्यों ने भी कहा है—

नीलिमेव वियत्येषा आत्मनि ब्रह्मणि संसृतिः।
घटव्योमेव भोक्तृत्वं भ्रान्त्या भेदेन न स्वतः॥'

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार आकाश में नीलिमा की प्रतीति होती है उसी प्रकार ब्रह्म में, भ्रान्ति के कारण संसार की प्रतीति होती है। और, जिस प्रकार महाकाश में घट उपाधि से घटाकाश का भेद प्रतीत होता है उसी प्रकार अखण्ड आत्मा में शरीर आदि उपाधि के कारण भ्रान्ति से ही भोक्ता आदि का भेद प्रतीत होता है। वस्तुतः, स्वतः भेद नहीं है।

इसी अभिप्राय से शङ्कराचार्य ने अपने शारीरक भाष्य के अध्यास-निरूपण प्रसङ्ग में लोकानुभव के दो ही उदाहरण दृष्टान्त-रूप से दिये हैं—जैसे 'शुक्तिका रजतवदवभासते एकश्चन्द्रः स द्वितीयवदिति।' तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार शुक्तिका रजत के रूप में भासित होती है, उसी प्रकार ब्रह्म इस प्रपञ्च के आकार में भासित होता है और जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा दो प्रतीत होता है उसी प्रकार एक ही ब्रह्म में जीव-ईश्वरादि अनेक प्रकार के भेद प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार, वेदान्तियों के मतानुसार दो ही पदार्थ सिद्ध होते हैं। एक द्रष्टा दूसरा दृश्य। इसीको 'सत्यानृत या सत्यमिथ्या' इत्यादि शब्दों से आचार्यों ने अनेकधा वर्णन किया है। यथा—'सत्यानृते मिथुनीकृत्य ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' इत्यादि। विस्तार के भय से यहाँ विशेष नहीं लिखा जा रहा है। जिज्ञासुविशेष के लिए शाङ्करभाष्य द्रष्टव्य है।

अख्यातिवादी मीमांसक (प्रभाकर) के मतानुसार अध्यास-निरूपण

इस प्रकार, अध्यासवादी शाङ्कर वेदान्त का मत-प्रदर्शन संक्षेप में किया गया। अब अख्यातिवादी मीमांसक विशेषतया प्रभाकर, का मत थोड़े में दिखाया जाता है। प्रभाकर अध्यासवाद को नहीं मानते। इनका कहना है कि 'शुक्तिका रजतवदवभासते' यह जो शङ्कराचार्य का दृष्टान्त है वह युक्त नहीं है। कारण यह है कि शुक्ति में होनेवाला 'यह रजत है' इस प्रकार का जो ज्ञान है वह भ्रम नहीं है किन्तु यथार्थ ही है। 'इदम् रजतम्' इस प्रकार का जो ज्ञान है वह एक नहीं है। यहाँ 'इदम्' शब्द से जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष है और 'रजतम्' इस प्रकार का जो ज्ञान होता है, वह पूर्व में देखे गये जो रजत हैं उनकी स्मृति के आकार का प्रदर्शनमात्र है। यहाँ 'इदम्'

इस प्रसङ्ग में आगे रहनेवाला (पुरोवर्ती) द्रव्य-मात्र का ग्रहण होता है। और, इस द्रव्य में रहनेवाला जो शुक्तित्व है उसका दूरत्वादि दोष से ग्रहण नहीं होता। यहाँ गृहीत जो द्रव्य मात्र है वह रजत के सदृश होने के कारण रजत के संस्कार का उद्बोधन द्वारा रजत-स्मृति को उत्पन्न कर देता है। वह स्मृति यद्यपि गृहीत ग्रहण स्वभाववाली है तथापि दोष के वश से गृहीतत्व अंश का त्याग हो जाता है। केवल ग्रहण मात्र अवशिष्ट रह जाता है अर्थात् उस स्मृति में दूरत्वादि दोष से शुक्ति-अंश का भान नहीं होता केवल ज्ञान-मात्र रहता है। इस स्थिति में प्रत्यक्ष और स्मरण ये दोनों ज्ञान स्वरूप से या विषय से परस्पर भिन्न होते हुए भी, दोषवश, भेद के ज्ञान न होने के कारण 'इदम् रजतम्' यह रजत है इस अभेद ज्ञान को प्रवृत्त करा देते हैं। और रजतार्थी की जो प्रवृत्ति उत्पन्न होती है वह पुरोवर्ती पदार्थ में वह रजत नहीं है इस प्रकार के रजत भेद के ज्ञान न होने के कारण ही। एक बात और भी है कि "इदम् रजतम्" ऐसी जो रजत की प्रतीति है उस रजत प्रतीति का आलम्बन अर्थात् विषय शुक्ति नहीं हो सकती। कारण यह है कि जिस ज्ञान में जो भासित होता है वही उसका आलम्बन (विषय) होता है। प्रकृत में यदि रजत के अनुभव का विषय शुक्ति को मानते हैं तो नियमविरुद्ध हो जाता है।

इसलिए, शाङ्कर वेदान्तियों का यह कहना कि शुक्ति रजत रूप से भासित होती है अर्थात् अन्य का अन्य रूप से भान होता है युक्त नहीं है। प्रभाकरमतानुसारी पण्डित शालिकनाथ ने भी प्रकरण-पञ्चिका के न्यायवीथी नामक चतुर्थ प्रकरण में लिखा है—

> 'यत्र भूमो न पदार्थों यस्तां संविदि भासते।
> वेद्य स एव नान्यद्धि वेद्यवेद्यस्य लक्षणम्॥
> इदं रजतमित्यत्र रजतम्वभासते।
> तदेव तेन वेद्य स्यान्न तु शुक्तिरवेदनात्॥
> तेनान्यस्यान्यथाभाना प्रतीत्यैव पराहतः।
> अन्यस्मिन् भासमाने हि न परं भासते यतः॥

तात्पर्य यह है कि जिस ज्ञान में जो अर्थ भासित होता है वही अर्थ उस ज्ञान का विषय होता है। अन्य कोई भी पदार्थ उस ज्ञान का विषय नहीं होता। 'इदम् रजतम्' इस ज्ञान में रजत ही भासित होता है इसलिए इस ज्ञान का विषय रजत ही हो सकता है दूसरा नहीं। अर्थात् 'रजतम्' इस ज्ञान का विषय शुक्ति नहीं हो सकती। क्योंकि उसका भान नहीं होता। इसी कारण अन्य का अन्य प्रकार से अवभास होना प्रतीति से ही तिरस्कृत हो जाता है; क्योंकि दूसरे का भान होने पर दूसरा भासित नहीं होता।

इसलिए, वेदान्तियों का जो अन्यथाख्याति सिद्धान्त है वह किसी प्रकार युक्त नहीं होता। यही भ्रम के बारे में प्रभाकर का सिद्धान्त है।

वेदान्तियों का इसके उत्तर में कहना है कि मीमांसक लोग जो यह कहते हैं कि अयथार्थ ज्ञान होता ही नहीं। 'इदम्' इस प्रत्यक्ष और रजत के स्मरण इन दोनों

ज्ञानों से ही रजतार्थी की प्रवृत्ति होती है, अयथार्थ ज्ञान के कारण नहीं यह सर्वथा अयुक्त है। कारण यह है कि किसी भी बुद्धिमान् आदमी की प्रवृत्ति दो ही चीज़ों के लिए होती है। एक तो अभीष्ट वस्तु के लिए, दूसरी समीहित वस्तु के साधन के लिए। रजतार्थी की प्रवृत्ति तभी हो सकती है, जब समीहित रजत का उसे ज्ञान हो। केवल शुक्तिका-खण्ड रजतार्थी को रजत का अनुभव कभी नहीं करा सकता और शुक्तिका-खण्ड न तो रजतार्थी को समीहित है और न वह समीहित रजत का साधन ही है। समीहित के साधन ज्ञान के बिना किसी बुद्धिमान् की प्रवृत्ति कभी नहीं हो सकती और पुरःस्थित शुक्ति में ही रजत बुद्धि से मनुष्य की प्रवृत्ति देखी जाती है। इसलिए, यह सिद्ध होता है कि रजत का ज्ञान उसे होता है। यदि यह कहें कि रजत के स्मरण से ही उसकी प्रवृत्ति होती है तो भी ठीक नहीं होता। कारण यह है कि स्मरण अनुभव के परतन्त्र होता है। जिस देश में अनुभव हुआ है, उसी देश में वह प्रवृत्ति का कारण हो सकता है। क्योंकि, स्मरण अनुभव का ही अनुकारी होता है। इसलिए, अप्रेक्षित शुक्ति में रजत का अनुभव नहीं कह सकते। अतः रजत के स्मरण-मात्र से प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

यदि कहें कि पुरोवर्ती शुक्ति और स्मृत रजत के भेद का अज्ञान ही प्रवृत्ति का कारण होता है, तो भी युक्त नहीं है। कारण यह है कि किसी चेतन के व्यवहार का कारण ज्ञान ही होता है, अज्ञान नहीं। लोक में ज्ञानप्रयुक्त व्यवहार ही सर्वत्र देखा जाता है। अज्ञान से कोई भी किसी व्यवहार में प्रवृत्त नहीं होता। इसलिए, भेद का अज्ञान प्रवृत्ति का कारण है, यह नहीं कह सकते। तात्पर्य यह है कि मीमांसक लोगों के मत में, शुक्ति में जो रजत का व्यवहार होता है, वह अध्यास, अर्थात् आरोपपूर्वक नहीं है, किन्तु प्रत्यक्षात्मक और स्मरणात्मक इन दोनों ज्ञानों के परस्पर भिन्नत्वेन जो अज्ञान है, अर्थात् दोनों में जो भेद-ज्ञान का अभाव है, तत्पूर्वक ही शुक्ति में रजत का व्यवहार होता है, और उसके लिए मनुष्यों की प्रवृत्ति होती है। यही मीमांसकों का परम सिद्धान्त है। परन्तु इनका यह सिद्धान्त किसी प्रकार भी युक्त नहीं हो सकता। कारण यह है कि रजतार्थी की जो शुक्ति के विषय में प्रवृत्ति होती है, वह नहीं बनती; क्योंकि शुक्ति रजतार्थी का समीहित नहीं। अन्वय-व्यतिरेक से रजत ही रजतार्थी का समीहित है। समीहित इष्ट वस्तु का नाम है। इष्ट वस्तु के ज्ञान होने पर ही प्रवृत्ति होती है, और इष्ट वस्तु के ज्ञान के अभाव में प्रवृत्ति नहीं होती। यही अन्वय-व्यतिरेक है। इस अन्वय-व्यतिरेक से समीहित जो रजत है उसीका ज्ञान होना प्रवृत्ति का कारण है, यह अवश्य स्वीकार करना होगा। इसलिए, प्रकृत में रजत का स्मरणात्मक जो ज्ञान है वही मीमांसकों को मानना होगा। परन्तु यह युक्त नहीं होता। कारण यह है कि ज्ञान और इच्छा के समानविषयत्व सिद्ध होने पर भी इच्छा और प्रवृत्ति के समानविषयत्व नियम का भङ्ग हो जायगा। तात्पर्य यह है कि 'जानाति इच्छति, ततः प्रवर्तते' अर्थात् पहले ज्ञान होता है बाद में इच्छा तब प्रवृत्ति। अर्थात्, ज्ञान इच्छा और प्रवृत्ति इन तीनों का समान-विषय होना आवश्यक नियम है। अर्थात् जिस विषय का ज्ञान होगा, उसीकी

इच्छा होगी और जिसकी इच्छा होगी उसीमें प्रवृत्ति यह नियम है। जिसका ज्ञान नहीं होता उसकी इच्छा भी नहीं होती और जिसकी इच्छा नहीं होती, उसकी ओर प्रवृत्ति भी नहीं होती। प्रकृत में इच्छा का विषय रजत है, वह प्रवृत्ति का विषय नहीं है। क्योंकि प्रवृत्ति तो 'इदम्' का अर्थ जो पुरोवर्त्तित शुक्ति है, उसकी ओर होती है। इस अवस्था में, जिसके प्रति प्रवृत्ति होती है उसीको ज्ञान और इच्छा का विषय किसी भी प्रकार मानना ही होगा नहीं तो ज्ञान इच्छा और प्रवृत्ति का जो समानविषयक होना नियम है, वह भंग हो जायगा। और, इदमर्थ जो पुरोवर्ती शुक्ति है वह इच्छा और प्रवृत्ति का विषय तभी हो सकती है, जब उसमें रजत का आरोप मानें। इदमर्थ शुक्ति में इच्छा के विषयीभूत रजत के आरोप के बिना शुक्ति की ओर जो प्रवृत्ति होती है, वह कभी सिद्ध नहीं हो सकती। यदि मीमांसक, पुरोवर्ती वस्तु रजत-भिन्न है ऐसा ज्ञान न होने के कारण प्रवृत्ति होती है यह मानते हैं, तो उन्हींके मतानुसार पुरोवर्ती वस्तु रजत है ऐसा भी ज्ञान नहीं होता। इसलिए, उसमें रजतार्थी की प्रवृत्ति किसी प्रकार नहीं हो सकती। इसलिए, रजतार्थी की प्रवृत्ति के लिए पुरोवर्ती शुक्ति में रजत का आरोप अवश्य मानना ही होगा। इसीलिए, अख्यातिवादी मीमांसकों का मत अयुक्त है।

बौद्धमतानुसार अध्यास का विवेचन

यहाँ शून्यवादी माध्यमिकों का कहना है कि रजत का जो भ्रम शुक्ति में होता है उस भ्रम का आलम्बन शून्य ही है, कोई सत् नहीं। इनके मत का विवेचन पृथक् बौद्धदर्शन में किया गया है। इनके मत में सकल पदार्थ-मात्र शून्य है, ऐसा माना जाता है इसलिए इनके मत में शुक्ति भी कोई परमार्थ वस्तु नहीं है, किन्तु शून्य ही है इसलिए रजत भ्रम का आलम्बन असत् ही है यह सिद्ध होता है। इनका कहना है कि 'असत्प्रकाशनशक्तिमती' जो वासना है, वह स्वयं असत्स्वरूप होने पर भी सत् के सदृश भासित होती है। यह प्रकाश अनादिकाल से ही निरन्तर धारा प्रवाह रूप से चला आ रहा है। असत्प्रकाशनशक्तिमती जो वासना है वह असत् विज्ञान को भी सत् के सदृश प्रकाशित करती है और अपने सदृश असत् प्रकाशन-शक्ति को भी प्रकाशित करती है। इनके वासना-विज्ञान में जो असत् प्रकाशन शक्ति है वह स्वप्न के दृष्टान्त से सिद्ध होती है। जिस प्रकार, स्वप्न में असत् पदार्थ का ही भान होता है उसी प्रकार संसार में असत् पदार्थ का ही सदा भान होता रहता है। इसी असत्-प्रकाशन-शक्ति को अविद्या और संवृत्ति भी कहते हैं। इसलिए, असत्प्रकाशनशक्तिमती अविद्या से ही असत् जो यह प्रपञ्च है वह सत् के सदृश भासित होता है। इसलिए, प्रकृत में भ्रम का आलम्बन जो शुक्ति है वह भी असत् ही है यह सिद्ध हो जाता है। परन्तु बौद्धों का यह शून्यवाद-सिद्धान्त भी युक्त नहीं होता। कारण यह है कि असत् किसीका कारण नहीं होता। और, दूसरी बात यह है कि असत् को प्राप्त करने की इच्छा से उसमें किसीकी प्रवृत्ति भी नहीं होती और प्रकृत में रजतार्थी की शुक्ति के अभिमुख प्रवृत्ति देखी जाती है।

यदि यह कहें कि विज्ञान में, वासनादि स्वकारणवश और स्वमादि दृष्टान्त से, एक प्रकार का विशेष धर्म आ जाता है, जिससे असत् शुक्ति आदि भी सत् के ही सदृश भासित होते हैं, इसलिए रजत-बुद्धि से उसमें प्रवृत्ति अनिवार्य है, सो भी युक्त नहीं है। कारण यह है कि इससे ख्याति का निरूपण नहीं होता।

तात्पर्य यह कि असत्प्रकाशनशक्तिमान् जो विज्ञान है उसीको ख्याति माना गया है। और, उस विज्ञान से अपनी शक्ति द्वारा प्रकाशित घट आदि वस्तुओं को ख्याप्य कहा जाता है। अब यहाँ यह विकल्प होता है कि वह ख्याप्य विज्ञान का कार्य है अथवा ज्ञाप्य? जन्य, अर्थात् उत्पन्न होनेवाली वस्तु का नाम कार्य है। जैसे, दण्ड-चक्र आदि कारणों से उत्पन्न होनेवाली घट आदि वस्तुएँ कार्य कही जाती हैं। और, जन्य ज्ञान का जो विषय है, उसको ज्ञाप्य कहते हैं। प्रकृत में घट आदि वस्तुओं को कार्य नहीं कह सकते। क्योंकि, कार्य तभी हो सकता है जब उसका कोई उपादान कारण हो। और, बौद्धों का अभिमत जो विज्ञान है वह स्वयं शून्य है, वह किसीका उपादान नहीं हो सकता। इसलिए, ख्याप्य को कार्य नहीं कह सकते।

यदि ज्ञाप्य कहें तो भी नहीं बनता। कारण यह है कि ख्याप्य को ज्ञान उनके मत में स्वीकार किया गया है। वह ज्ञाप्य हो नहीं सकता। दूसरी बात यह कि घटादि ख्याप्य को यदि ज्ञाप्य मानें, तो उस विज्ञान का ज्ञापकत्व अर्थतः सिद्ध हो जाता है। और, ज्ञापक का ज्ञाप्य के साथ साक्षात् सम्बन्ध होता नहीं। किन्तु, स्वजन्य ज्ञान के द्वारा ही सम्बन्ध होता है। जिस प्रकार, ज्ञापक जो प्रदीपादि हैं वे घटादि ज्ञान के जनक हैं, यह मानना होगा। और, उस विज्ञान से उत्पन्न घटादिविषयक दूसरा कोई ज्ञान विज्ञान से भिन्न उपलब्ध नहीं होता। यदि द्वितीय ज्ञान की उपलब्धि मानें तो द्वितीय ज्ञान का ख्याप्य जो घटादि अर्थ हैं उनको कार्य मान नहीं सकते। क्योंकि उसका कारण असत् विज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए, ज्ञाप्य मानना होगा। इस प्रकार, स्वीकृत जो द्वितीय ज्ञान है उसका भी घटादि का ज्ञापक होना अर्थतः सिद्ध हो जाता है। ज्ञापक भी ज्ञान का जनक ही होता है; क्योंकि ज्ञापक का साक्षात् सम्बन्ध ज्ञाप्य के साथ नहीं होता, किन्तु वह ज्ञान के द्वारा ही होता है यह पहले ही कह चुके हैं। इसलिए, द्वितीय ज्ञान से जन्य एक भिन्न तृतीय ज्ञान को स्वीकार करना होगा। और, उसका भी पूर्वोक्त रीति से ज्ञापक होने से उससे जन्य चतुर्थ ज्ञान को मानना होगा। इस प्रकार, पञ्चमादि ज्ञान के मानते रहने से अनवस्था-दोष हो जाता है। इसलिए, असत्-विज्ञानवादी बौद्धों का मत भी असत्-प्रलाप ही प्रतीत होता है। इस प्रकार, वेदान्तियों के मत से बौद्धमत का संक्षेप में निराकरण किया गया। अब अन्यथा ख्यातिवादी नैयायिकों के मत का संक्षेप में निदर्शन किया जाता है।

नैयायिकों के मत से अध्यास-निरूपण

नैयायिकों का यह कहना है कि 'नेदं रजतम्' यह रजत नहीं है इस प्रकार का रजत का जो निषेध होता है इससे आन्तर विज्ञानाकार रजत की सिद्धि यद्यपि नहीं होती तथापि असन्निहित स्थानादि में वर्तमान रजत की सिद्धि उक्त निषेध से हो जाती है।

तात्पर्य यह है कि नैयायिक लोग अन्यथाख्यातिवाद को मानते हैं। अन्य वस्तु की अन्य रूप से प्रतीति को ही अन्यथाख्याति कहते हैं। अन्य वस्तु की अन्य रूप से प्रतीति अन्यत्र कहीं सत्ता रहने पर ही हो सकती है। अत्यन्त असत् वस्तु की प्रतीति होती ही नहीं; क्योंकि प्रतीति का विषय सत् पदार्थ ही होता है असत् नहीं। इसलिए, अवभासित रजत की अन्यत्र सत्ता अवश्य सिद्ध हो जाती है अर्थात् अत्यन्त असत् वस्तु का निषेध नहीं होता परन्तु जो सत् वस्तु है उसीका निषेध होता है। इसी अभिप्राय से न्यायकुसुमाञ्जलि में उदयनाचार्य ने लिखा है—

व्यावर्त्याभाववत्तैव भाविकी हि विशेष्यता।
अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता॥

यहाँ व्यावर्त्य का अर्थ है प्रतियोगी। जिसका निषेध किया जाता है वही प्रतियोगी है। और प्रतियोगी वह होता है जिसमें अभाव रहे। इसका भाव यह है कि अत्यन्त तुच्छ जो शश-शृङ्ग आदि असत् वस्तुएँ हैं और प्रामाण-प्रतिपन्न शुक्ति में जो रजत आदि हैं वे अत्यन्त निरूप्य अर्थात् असत् हैं। सत् वस्तु नहीं है यह प्रसिद्ध है और तुच्छ वस्तु न किसीका विशेष्य होता है और न प्रतियोगी, अर्थात् विशेषण ही होता है। यह अभिप्राय है। इसका तात्पर्य यह है कि सम्बन्ध किसी दो पदार्थों का होता है; उनमें एक विशेषण है जिसको प्रतियोगी कहते हैं और एक विशेष्य है जिसको अनुयोगी कहते हैं। ये ही दोनों सम्बन्धी हैं जिनका सम्बन्ध होता है। प्रतियोगी को विशेषण और अनुयोगी को विशेष्य कहते हैं। 'घटवद्भूतलम्' अर्थात् घटयुक्त भूतल इस प्रयोग में घट विशेषण और भूतल विशेष्य और इन दोनों का संयोग सम्बन्ध है। यहाँ घटवत् कहने से भूतल में घट के अभाव की व्यावृत्ति होती है। व्यावर्त्य का विरोधी व्यावर्तक होता है। घटाभाव के निषेध से घट की सत्ता सिद्ध हो जाती है। घटाभाव के अभाव की प्रतीति घट पद से ही होती है। इसलिए, घट घटाभाव का अभाव-स्वरूप है यह सिद्ध हो जाता है। यहाँ घटाभाव का व्यावर्तक (निषेधक) घटाभाव का अभाव हुआ। व्यावर्त्य जो घटाभाव है इसका व्यावर्तक जो घटाभाव का अभाव है उस अभाव से युक्त होना ही भूतल में विशेष्यता है। अर्थात् भूतल में घटाभाव के अभाव का रहना ही भूतल की विशेष्यता स्वरूप है और घटाभाव का जो विरह अर्थात् अभाव है तत्स्वरूपत्व ही, अर्थात् तत्स्वरूप ही पारमार्थिक वस्तु प्रतियोगी होती है। इस स्थिति में प्रकृत स्थल में 'यह रजत नहीं है' इस प्रकार जो निषेध होता है इस निषेध का प्रतियोगी जो रजत है उसका पारमार्थिक होना अनिवार्य हो जाता है। अर्थात्, शुक्ति में रजत के निषेध होने से अन्यत्र कहीं रजत का रहना सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार, ब्रह्म में जो प्रपञ्च का आरोप है उसका 'नेति-नेति' इत्यादि प्रपञ्चनिषेधक वाक्यों से प्रपञ्च का जो निषेध होता है उस निषेध का प्रतियोगी जो प्रपञ्च है उसका भी कहीं पारमार्थिक सत् होना अनिवार्य हो जाता है। इस स्थिति में वेदान्तियों के मत से द्वैतापत्ति दोष हो जाता है। यह अन्यथाख्यातिवादी नैयायिकों का मत है। इस मत से जगत् का मिथ्यात्व भी सिद्ध नहीं होता है।

परन्तु, यह ठीक नहीं है। वेदान्तियों का कहना है कि जिस प्रकार असत् संसर्ग निषेध का प्रतियोगी होता है, अर्थात् असत् संसर्ग का भी निषेध होता है उसी प्रकार असत् रजत का भी निषेध होने में कोई आपत्ति नहीं है। तात्पर्य यह है कि रूप रस से संयुक्त नहीं है। यहाँ रूप और रस के समानाधिकरण के बल से कल्पित जो संयोग है, वही निषेध का प्रतियोगी होता है, अर्थात् उसी कल्पित संयोग का निषेध किया जाता है क्योंकि अन्यत्र कहीं भी रूप का संयोग नहीं देखा जाता है। इसी प्रकार, प्रकृत में 'नेदं रजतम्', इस निषेध का प्रतियोगी कल्पित रजत के होने में कोई आपत्ति नहीं है।

अब यहाँ दूसरी आशङ्का यह होती है कि 'इदं रजतम्', इस प्रकार का जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान एक है अथवा अनेक? एक तो कह नहीं सकते क्योंकि वेदान्तियों के मत में सिद्धान्त में दो ज्ञान माने गये हैं। यह आगे दिखाया जायगा। और, एक ज्ञान यहाँ असम्भव भी है। जैसे शुक्ति में 'इदं रजतम्' इस प्रकार का ज्ञान होता है। यहाँ वस्तुतः शुक्ति रूप जो इदम् का अंश है, वही चक्षु-इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध है, इसलिए चक्षु इन्द्रिय के द्वारा वहाँ गया हुआ जो अन्तःकरण है, उसी अन्तःकरण का इदम् के आकार में परिणाम होता है। इसी विषयाकार में परिणत जो अन्तःकरण है, उसीको वृत्ति या ज्ञान कहते हैं। रजत इस ज्ञान का विषय नहीं होता। कारण यह है कि रजत के उस शुक्ति देश में वस्तुतः नहीं रहने से इन्द्रिय का सम्बन्ध उसके साथ नहीं है। यदि कहें कि इन्द्रिय के सन्निकर्ष नहीं रहने पर भी वह ज्ञान का विषय होता है सो ठीक नहीं है। कारण यह है कि इन्द्रिय से असन्निकृष्ट वस्तु भी यदि ज्ञान का विषय होता है, यह मान लें तो सब जन सर्वज्ञ होने लगेंगे। क्योंकि सकल असन्निकृष्ट पदार्थ उनके ज्ञान का विषय हो जाता है इसलिए असन्निकृष्ट रजत को ज्ञान का विषय किसी प्रकार नहीं कह सकते।

यदि यहाँ यह शङ्का करें कि शुक्ति-देश में चक्षु इन्द्रिय के सन्निकर्ष होने के पहले रजत का ज्ञान नहीं होता है और चक्षु के सन्निकर्ष के बाद ही रजत का ज्ञान होता है, इस अन्वय-व्यतिरेक से रजत का ज्ञान चक्षु इन्द्रिय से जन्य है, ऐसी कल्पना की जा सकती है। यह भी ठीक नहीं। क्योंकि इदम् अंश के ज्ञान के विषय होने में चक्षु-इन्द्रिय का उपयोग हो जाता है। यदि यह कहें कि रजत का जो संस्कार है उसीसे रजत-ज्ञान का जन्म होता है, तो यह भी ठीक नहीं है। कारण यह है कि संस्कार से जन्य होने से स्मृति लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है। इसलिए, रजत ज्ञान को संस्कारजन्य भी नहीं कह सकते।

यदि यह कहें कि इन्द्रिय-दोष ही इसमें कारण है अर्थात् इदम् अंश के प्रत्यक्ष अनुभव में एकगत मेन्त्रता में रहनेवाले रजत की जो विषयत्वेन प्रतीति होती है, उसमें दोष ही कारण होता है। यह भी युक्त नहीं है। कारण यह है कि दोष ज्ञान का स्वतन्त्र कारणत्व नहीं होता। जैसे देवदत्त में रहनेवाला व्यसन आदि जो दोष है वे देवदत्त के द्वारा ही देवदत्त से संसर्ग रखनेवाले यज्ञदत्त को दूषित करते हैं। संसर्ग नहीं रखनेवाले अन्य मनुष्यों को दूषित नहीं करते। इसी प्रकार, प्रकृत में

इन्द्रिय-दोष भी इन्द्रिय के द्वारा ही किसी कार्य के प्रति कारण हो सकता है, स्वतन्त्र नहीं। इसलिए, इन्द्रिय से असंयुक्त रजत के ज्ञान का विषय होने में दोष किसी प्रकार कारण नहीं हो सकता। और प्रत्यक्षात्मक तथा स्मरणात्मक ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञान होता भी नहीं। इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं और संस्कारजन्य ज्ञान को स्मरण। इसके अतिरिक्त दोषजन्य कोई ज्ञान नहीं है। इदम् अंश का जो प्रत्यक्ष होता है उसमें रजत का किसी प्रकार भी विषयतया प्रवेश नहीं होता। इसी कारण इदम् अंश और रजत के तादात्म्यविषयक एक विज्ञान किसी प्रकार भी उत्पन्न नहीं होता है। इसलिए, पूर्वोक्त एक ज्ञान नहीं कह सकते। यदि द्वितीय विकल्प अनेक ज्ञान मानें, तो वह भी युक्त नहीं होता। अख्यातिवाद की आपत्ति हो जाती है अर्थात् मीमांसकों का मत ही स्वीकार्य हो जाता है।

वेदान्तियों का समाधान इस प्रकार होता है कि पहले पुरोवर्ती शुक्ति-द्रव्य में दोषकलुषित चक्षु इन्द्रिय का जो सम्बन्ध होता है उससे दोष का कारण शुक्ति अंश का ग्रहण नहीं होता है। किन्तु इदन्ताकार ही अन्तःकरण की वृत्ति उत्पन्न होती है और वही वृत्ति इदन्तावच्छिन्न चैतन्य की अभिव्यक्ति का प्रतिबन्धक जो आवरण है उसे दूर कर देती है। तत्पश्चात् इदन्ता में और इदन्ता का ग्राहक जो वृत्ति है उसमें चैतन्य प्रतिबिम्बित होकर उसी रूप में अभिव्यक्त होता है। परन्तु शुक्ति अंश से चैतन्य की अभिव्यक्ति नहीं होती। कारण यह है कि दोष के कारण शुक्ति के अंश से अवच्छिन्न चैतन्य को आवृत करनेवाला जो चैतन्यावरण है उसका भंग नहीं होता। इदम् अंश से युक्त चैतन्य का शुक्तिरूप से जो अनवभास है अर्थात् इदम् अंश शुक्तिरूप से जो अभिव्यक्त नहीं होता है वह, और इसी कारण तदाकार वृत्तिरूप से उस चैतन्य का जो अनवभास है वह अविद्या है। उस अविद्या का आश्रय इदम् अंश से अवच्छिन्न और इदमाकार वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य ही है। उसमें प्रथम, अर्थात् इदम् अंश से अवच्छिन्न चैतन्य का शुक्तिरूप से अनवभास-रूप जो अविद्या है उसका आश्रय इदमंश से अवच्छिन्न चैतन्य है और तदाकार वृत्तिरूप से चैतन्य का अनवभास-रूप जो अविद्या है उसका इदमाकार वृत्तिरूप चैतन्य आश्रय है।

ये दोनों प्रकार की अविद्याएँ दोषवश संक्षुभित होती हैं। वहाँ इदम् अंश से अवच्छिन्न चैतन्य में रहनेवाली जो अविद्या है वह संक्षुभित होकर चाकचिक्य आदि देखकर रजत के संस्कार का उद्बोधन करती है और उसकी सहायता से रजत के आकार में परिणत भी हो जाती है और वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य में रहनेवाली जो अविद्या है वह रजत का ग्रहण करनेवाली वृत्ति के संस्कार का उद्बोधन द्वारा उसकी सहायता से वृत्तिरूपेण परिणत हो जाती है। ये दोनों परिणाम अपने-अपने आश्रयभूत साक्षि चैतन्य भासित होते हैं। इसीको क्रमशः अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यास कहते हैं।

यहाँ यह भी शङ्का होती है कि जिस प्रकार विषय के आकार में परिणत अन्तःकरणवृत्ति से विषय का अवभास होता है उसी प्रकार, उस वृत्ति का भी

अवभास उस वृत्ति के आकार में परिणत अन्तःकरण के वृत्त्यन्तर से होगा, और पुनः उस वृत्ति के वृत्त्यन्तर से। इस प्रकार अनवस्था-दोष हो जाता है। यह शङ्का का तात्पर्य है।

इसके उत्तर में वेदान्तियों का कहना है कि जिस प्रकार घटादि पदार्थों का प्रकाशक जो प्रदीप है, वह घटादि का जिस प्रकार प्रकाशक होता है, उसी प्रकार, अपना भी प्रकाशक होता है। प्रकाशान्तर की अपेक्षा नहीं रखता। प्रदीप स्वयं प्रकाशक, अर्थात् स्वविषयक भी है। इसी प्रकार प्रकृत वृत्ति-स्थल में भी वृत्ति के वृत्त्यन्तर की अपेक्षा नहीं होने पर भी स्वविषयक मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होती अर्थात् वृत्ति (ज्ञान) जिस प्रकार विषय का अवभासक होती है, उसी प्रकार अपना भी अवभासक होती है प्रदीप के सदृश। इससे सिद्ध हुआ कि सद्वृत्ति अविद्या भी साक्षिभास्य है; क्योंकि अविद्या तो साक्षिभास्य ही है। इससे प्रकृत में यह सिद्ध हुआ कि इदमाकार जो वृत्ति है, वह अन्तःकरण के परिणामस्वरूप है और रजताकार जो वृत्ति है, वह अविद्या की है अर्थात् अविद्या के परिणामस्वरूप है। ये ही दो वृत्तियाँ हैं। वृत्ति को ही ज्ञान कहते हैं इसलिए वेदान्तियों के यहाँ भी दो ज्ञान सिद्ध हो जाते हैं।

यदि कहें कि ज्ञान यहाँ दो हैं तो 'इदं रजतम्' इस स्थल में एक ही ज्ञान होता है और इस प्रकार का वेदान्तियों का जो व्यवहार होता है वह अनुपपन्न हो जाता है। इसका उत्तर यह होता है कि ज्ञान के दो होने पर भी फल में एक होने से ज्ञान में एक होने का आरोप किया जाता है। इसलिए, एक ज्ञान है, इस प्रकार का व्यवहार किया जाता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान तो वृत्तिस्वरूप है और उसका फल विषय का अवभास है और वह अवभास तथा विषय विषय के अनुसार ही होता है। इसलिए अवभास विषय के ही अधीन होता है और वह विषय 'इदम् रजतम्' इस प्रकृत स्थल में सत्य जो इदम् अंश है और अनृत जो रजत है, इन दोनों का अन्योन्यात्मक, अर्थात् परस्परात्मक होने के कारण एकत्व-भाव हो गया है। इसी कारण विषय के अवभास-रूप फल ऐसे स्थलों में एक ही सिद्ध प्रतीत होता है। इसलिए, फलैक्य का व्यवहार किया जाता है। आचार्यों ने भी लिखा है—

> 'इदमंशचैतन्यस्थिताविद्या विजृम्भते।
> रागादिदोषसंस्कारसचिवा रजतात्मना॥
> वृत्त्याकारवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्था तथाविद्या।
> विवर्तते तद्ग्रहणमात्रात्मकमात्मवत्॥
> सत्यमिथ्यात्मनोरैक्याद्वस्तुनोरिव मम।
> तदाकाराचैतन्याध्यासौकमुपचर्यते ॥

इसका भाव पूर्वोक्त ही है। शुक्ति के इदम्-अंश से युक्त चैतन्य में स्थित जो अविद्या है वह रागादि दोष के संस्कार की सहायता से रजत के आकार में परिणत हो जाती है। इन दोनों ज्ञान का विषय सत्य और मिथ्या के अन्योन्याध्यासमूलक,

अर्थात् परस्परात्मरूप होने के कारण एकत्वरूप को प्राप्त ही है, अर्थात् दोनों का विषय एक ही है, और विषय के एक होने से उसके अधीन जो अवभास रूप है, वह भी एक ही है, इस प्रकार का उपचार होता है। इसी अभिप्राय से पञ्चपादिका नामक शाङ्कर भाष्य की टीका में पद्मपादाचार्य ने लिखा है कि 'सा चैकमेव ज्ञानमेकफलं जनयति' अर्थात् वह अविद्या एक ही अवभास-रूप फल को उत्पन्न करती है।

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि शुक्ति के प्रदेश में प्रतीयमान जो रजत है उसको वहीं यदि सत्य मान लिया जाय तब तो 'नेदं रजतम्' (यह रजत नहीं है), यह जो निषेध होता है, वह कैसे होगा। क्योंकि सत्य का तो निषेध होता नहीं।

इसका उत्तर यह होता है कि यद्यपि शुक्ति प्रदेश में रजत का प्रतिभास होने से प्रातिभासिक सत्यत्व है, तथापि व्यावहारिक सत्यत्व न होने के कारण लौकिक में उसका निषेध होना युक्त ही है। अर्थात् शुक्ति के प्रदेश में ही 'नेदं रजतम्' ऐसा निषेध होता है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि इस प्रकार के निषेध का प्रतियोगी शुक्ति में भासमान रजत नहीं हो सकता। कारण यह है कि अविद्या के परिणामभूत जो रजत है वह किञ्चित्कालपर्यन्त ही स्थायी है, और निषेध तो 'यह कभी रजत नहीं है' इस प्रकार काल से अनवच्छिन्न ही प्रतीत होता है, फिर भी व्यावहारिक सत्यत्वविशिष्ट जो रजत है उसका तो वहाँ अभाव ही है। इसलिए, व्यावहारिक सत्यत्वविशिष्ट जो औपाधिक रजत है उसका निषेध होने में कोई आपत्ति नहीं है। तीन प्रकार की सत्ताओं का विवरण पञ्चपादिका विवरण में किया गया है।

ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिकी है। वह त्रिकालाबाध्य है अर्थात् उसका बाध तीनों काल में भी नहीं होता। आकाशादि प्रपञ्च का जो सत्त्व है वह व्यावहारिक है। व्यावहारिक का तात्पर्य है अर्थक्रियाकारी, अर्थात् जिससे कुछ व्यवहार होता हो। यह आकाशादि प्रपञ्च मायोपाधिक है। अर्थात् माया की उपाधि से ही इस प्रपञ्च की सत्ता प्रतीत होती है और अविद्योपाधिक जो सत्त्व है वही प्रातिभासिक है। इन तीन प्रकार की सत्ताओं का विवेचन अन्यान्य वेदान्त-ग्रन्थों में भी किया गया है। जैसे—

> 'ज्ञानकाले व्यवहारकाले प्रतीतिसमये तथा।
> बाधाभावात् पदार्थानां सत्त्वं त्रैविध्यमिष्यते॥
> पारमार्थिकं ब्रह्मणः सत्त्वं व्योमादेर्व्यावहारिकम्।
> शुक्त्यादेर्रजतस्य प्रातिभासिकमिष्यते॥
> लौकिकेन प्रमाणेन यद्बाध्यं लौकिके स्थिते।
> तत् प्रातिभासिकं सत्त्वं बाध्यं सत्येन भासते॥
> वैदिकेन प्रमाणेन यद्बाध्यं वैदिके स्थिते।
> तद् व्यावहारिकं सत्त्वं बाध्यं सत्त्वं तदेव तत्॥

भाव यह है कि पदार्थों की सत्ता तीन प्रकार की होती है—ज्ञानकाल में बाध न होने से, व्यवहारकाल में अर्थात् व्यवहार काल में बाध न होने से और प्रतीति समय में बाध न होने से।

ब्रह्म की सत्ता तात्त्विक, अर्थात् पारमार्थिक है। आकाश आदि की सत्ता व्यावहारिक है। शुक्ति आदि में रजत आदि की जो प्रतीति होती है वह प्रातिभासिक है।

व्यवहार-काल में ही लौकिक प्रमाण से जिसका बाध हो और उस समय प्रमाता का बाध न हो वह प्रतिभासिक सत्य है। शुक्ति आदि में जो रजत की प्रतीति होती है, उसका बाध प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाण से व्यवहार-काल में ही यह रजत नहीं है, इस प्रकार का बाध हो जाता है। उस समय औपाधिक भी देवदत्त आदि प्रमाता का बाध नहीं होता।

वैदिक काल में वैदिक प्रमाण के द्वारा जिसका बाध होता है और जिस काल में प्रमाता का भी बाध हो जाता है वह व्यावहारिक सत्ता है। तात्पर्य यह है कि आकाशादि प्रपञ्च की सत्ता व्यावहारिक है क्योंकि व्यवहार-काल में उसका बाध नहीं होता। किन्तु 'तत्त्वमसि' इत्यादि वैदिक वाक्यों के द्वारा जब श्रवण-मननादि से सम्पन्न अधिकारी को आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है, तब आकाशादि प्रपञ्च का भी बाध हो जाता है। और, उस समय प्रमाता का प्रमातृत्व भी प्रतीत नहीं होता। इसलिए, प्रमाता भी बाधित हो जाता है। यहाँ प्रतीति का अभाव ही बाध है, निषेध नहीं।

इस सन्दर्भ से यह सिद्ध होता है कि शुक्ति में रजत की ख्याति और बाध तबतक सिद्ध नहीं होता, जबतक सत् असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति न मानें। तात्पर्य यह है कि शुक्ति में रजत की जो प्रतीति होती है वह असत् नहीं है; क्योंकि उसकी प्रतीति होती है और सत् भी नहीं कह सकते; क्योंकि उसका प्रत्यक्षादि प्रमाण से यह रजत नहीं है इस प्रकार का भी बाध होता है और ख्याति और बाध इन दोनों का एकत्र समावेश तभी हो सकता है, जब उसका अनिर्वचनीयत्व स्वीकार करें। अन्यथा ख्याति और बाध दोनों अनुपपन्न हो जाता है। इसलिए, अनिर्वचनीय ख्याति मानना आवश्यक हो जाता है। सत् और असत् से जो विलक्षण है, उसीको अनिर्वचनीय कहते हैं और ऐसा अनिर्वचनीय माया का ही परिणाम हो सकता है। इसलिए, इसका मायामय होना भी सिद्ध हो जाता है।

अनिर्वचनीय की परिभाषा चित्सुखाचार्य ने लिखी है—

> प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं न यत्।
> गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवेदिनः॥

तात्पर्य यह है कि जो सत्वेन असत्वेन और सद्-असद् उभयत्वेन विचार का विषय न हो वही अनिर्वचनीय कहा जाता है। अर्थात्, जो सत् नहीं है और असत् भी नहीं है। सत् असत् उभयरूप भी नहीं है वही अनिर्वचनीय है। अनिर्वचनीय माया का यही स्वरूप वेदान्तियों ने स्वीकार किया है।

माया और अविद्या में भेदाभेद का विचार

इसमें विचार का कारण यह होता है कि कहीं प्रपञ्च को मायामय, कहीं अविद्यामय बताया गया है इससे यह प्रतीत होता है कि दोनों एक ही पदार्थ हैं। परन्तु शुक्ति में रजत का जो भान है वह अविद्या का ही परिणाम है माया का नहीं। यह भी वेदान्तों में वर्णित है। इसलिए, यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि वे दोनों परस्पर भिन्न हैं अथवा अभिन्न। पञ्चदशी में माया को शुद्धसत्त्वप्रधान और अविद्या को मलिनसत्त्वप्रधान बताया गया है और जीव ईश्वर में भेद भी माया और अविद्या के उपाधि भेद से ही बताया गया है। अर्थात्, मायोपाधि से युक्त चेतन को ईश्वर और अविद्योपाधि से युक्त चेतन को जीव कहा गया है। यथा—

> 'सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते।
> मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः॥
> अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा।'

भाव यह है कि सत्त्व की विशुद्धि-अविशुद्धि होने के कारण ही माया और अविद्या ये दोनों परस्पर भिन्न पदार्थ कहे गये हैं। माया में प्रतिबिम्बित चेतन माया को अपने वश में करके ईश्वर कहा जाता है और अविद्या के वश में होकर वह जीव कहा जाता है और अविद्या के वैचित्र्य से वह अनेक प्रकार का होता है। इससे माया से भिन्न अविद्या है यह सिद्ध होता है। और भी अनेक स्थलों में इस प्रकार के लक्षण मिलते हैं—

'स्वाश्रयमव्यामोहयन्ती कर्तुरिच्छामनुसरन्ती माया तद्विपरीता अविद्या।'

अर्थात् अपने आश्रय को भ्रान्त नहीं करती हुई कर्ता की इच्छा का अनुसरण करनेवाली माया है और इसके विपरीत अविद्या। शुक्ति में प्रतीयमान जो रजत है उसका उपादान कारण अविद्या ही है क्योंकि अविद्या का आश्रय जो द्रष्टा है उसको भ्रान्त बना देती है और उसकी इच्छा का अनुसरण भी नहीं करती; क्योंकि उसकी इच्छा नहीं रहने पर भी उसका परिणाम होता ही रहता है। इन लक्षणों से भी माया और अविद्या में भेद प्रतीत होता है परन्तु यह युक्त नहीं है। कारण यह है कि अनिर्वचनीय होना, सत्य प्रतीति का प्रतिबन्धक होना और विवर्त्त अर्थात् विपरीत ज्ञान का उत्पादक होना—ये तीनों लक्षण माया और अविद्या में समान रूप से रहते हैं इसलिए माया और अविद्या परमार्थ में एक ही वस्तु हैं। एक बात और है कि आश्रय अव्यामोहयन्ती इस लक्षण से जो अविद्या से माया में भेद दिखाया गया है वहाँ यह विकल्प होता है कि आश्रय पद से किसका ग्रहण है—द्रष्टा का अथवा कर्ता का! आशय यह है कि माया के परिणामीभूत पदार्थों को जो देखता है वह मायाश्रय है अथवा माया का जो उत्पादनकर्त्ता है वह मायाश्रय है। प्रथम पक्ष अर्थात् द्रष्टा तो कह नहीं सकते; क्योंकि मन्त्र या औषधि आदि से जो माया देखता है वहाँ उसका देखनेवाला जो जन समुदाय है वह भ्रान्त हो जाता है और द्रष्टा को ही माया का आश्रय मानता है किन्तु लक्षण में माया को आश्रय को अभ्रान्त करनेवाली बताया गया है।

यह विरुद्ध हो जाता है। द्वितीय पक्ष अर्थात् माया के कर्ता को यदि मायामय मानें, तो भी युक्त नहीं होता क्योंकि भगवान् विष्णु की आश्रिता जो माया है, उससे स्वयं विष्णु को रामावतार में भ्रम हुआ है, जो लक्षण से विरुद्ध होता है। इसलिए, दोनों को एक ही मानना युक्त है। अतएव 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' इत्यादि श्वेताश्वतर-श्रुति में भी सम्यग्-ज्ञान से निवृत्त होनेवाली अविद्या का ही माया शब्द से व्यवहार किया गया है। और भी—

> तरत्यविद्यां विततां हृदि यस्मिन्निवेशिते।
> योगी मायाममेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः॥'

इस स्मृति में अविद्या और माया का एकत्वेन व्यवहार स्पष्ट किया गया है और भाष्य में भी अविद्या माया अविद्यात्मिका मायाशक्ति इत्यादि व्यवहार स्पष्ट ही है। इसलिए, माया और अविद्या में अभेद ही सिद्ध होता है।

लोक में और कहीं-कहीं वेदान्त ग्रन्थों में भी जो भेद का वर्णन और व्यवहार मिलता है, वह केवल औपाधिक ही। किसी-किसी ग्रन्थ में तो आवरण-शक्ति और विक्षेप-शक्ति के प्राधान्य से अविद्या और माया में भेद का व्यवहार किया गया है, परन्तु वह भी औपाधिक ही है। यथा—

> 'माया विक्षेपदज्ञानमीशेच्छा वशवर्तिता।
> अविद्याच्छादयत्तत्त्वं स्वातन्त्र्यानुविधायिका॥

तात्पर्य यह है कि अज्ञान की शक्ति दो प्रकार की है। एक आवरण-शक्ति और दूसरी विक्षेप-शक्ति। जैसे, शुक्ति में रजत-प्रतिभास-स्थल में आवरण शक्ति से शुक्ति का सत्-स्वरूप भी आवृत हो जाता है और विक्षेप-शक्ति से असत् रजत का भी भान होने लगता है। इसी प्रकार, अनादि अज्ञान की जो आवरण-शक्ति है उससे ब्रह्म का सत्-स्वरूप भी आवृत हो जाता है और विक्षेप शक्ति से असत्-रूप से भी जगत् भासित होता है। यहाँ आवरण-शक्ति के प्राधान्य से अविद्या और विक्षेप-शक्ति के प्राधान्य में माया शब्द का व्यवहार किया जाता है। यह सब व्यवहार उपाधि के द्वारा ही होता है, इसलिए यह औपाधिक ही है।

श्लोक का भाव यह हुआ कि विक्षेप-शक्ति विशिष्ट परमात्मा की इच्छा के वशवर्ती जो अज्ञान है वह माया शब्द से व्यवहृत होता है और आवरणशक्तिविशिष्ट एवं स्वतन्त्र जो अज्ञान है उसका अविद्या शब्द से व्यवहार किया जाता है। इससे भी निष्कर्ष यही निकलता है कि केवल अवस्था और उपाधि के भेद होने से ही माया और अविद्या में भेद भासित होता है। वस्तुतः कोई भेद नहीं है। इससे माया और अविद्या एक ही वस्तु है यह सिद्ध हो जाता है।

अविद्या में प्रमाण

अब यह प्रश्न होता है कि अविद्या के होने में क्या प्रमाण है? इसका उत्तर यह है कि 'अहमज्ञः मामन्यञ्च न जानामि' अर्थात् मैं अज्ञ हूँ अपने को और दूसरे को भी नहीं जानता हूँ। इस प्रकार का प्रत्यक्ष अनुभव जो प्राणियों का होता है,

यही अविद्या में प्रमाण है। इस अनुभव में आत्मा के आश्रित और आत्माध्यास में व्याप्त एक अज्ञानात्मिका अविद्या-शक्ति अनुभूत होती है और यह अनुभूयमान अज्ञान ज्ञान का अभावस्वरूप नहीं है; किन्तु ज्ञान से भिन्न भावस्वरूप एक अतिरिक्त पदार्थ है; क्योंकि यह भावस्वरूप दृश्यमान जगत् का उपादान होता है। यदि ज्ञानाभावस्वरूप इसको मानें तो दृश्यमान भावरूप जगत् का उपादान नहीं हो सकता; क्योंकि अभाव किसीका उपादान नहीं होता है यह सर्वतन्त्रसिद्धान्तसिद्ध है। यहाँ नैयायिकों और सांख्यों का कहना है कि 'अहमज्ञः इस अनुभव का विषय ज्ञानाभाव ही है। अज्ञान भावरूप कोई पदार्थ नहीं है। और दृश्यमान जगत् का उपादान कारण तो प्रकृति अथवा परमाणु ही है अज्ञान नहीं। इसलिए, उक्त अनुभव से भावरूप अज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती। वेदान्तियों का कहना है कि यह युक्त नहीं है; क्योंकि अभाव को ग्रहण करनेवाला एक अनुपलब्धि नाम का अतिरिक्त ही प्रमाण है। भूतल में घट नहीं है, इस प्रकार का भासमान जो घटाभाव का ज्ञान है वह अनुपलब्धि-प्रमाण का ही जन्य है और अनुपलब्धि-प्रमाण से जन्य जो अभाव का ज्ञान है, वह परोक्ष ही रहता है। 'भूतले घटो नास्ति' यह ज्ञान परोक्ष ही है, प्रत्यक्ष नहीं और 'अहमज्ञः' इस प्रकार का जो अनुभव है वह प्रत्यक्ष है परोक्ष नहीं। इसलिए, इसको अभावस्वरूप नहीं मान सकते। एक बात और है कि अनुमान आदि प्रमाणों से भी अभाव का ज्ञान माना गया है परन्तु उनके मत में भी अभाव का प्रत्यक्ष कभी नहीं माना जाता। इसलिए, 'अहमज्ञः' इस प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय ज्ञानाभाव कभी नहीं हो सकता।

यदि यह कहें कि 'अहमज्ञः यह ज्ञान भी प्रत्यक्ष नहीं है परोक्ष ही है तो यह भी युक्त नहीं है। कारण यह है कि यदि परोक्ष मानेंगे तो अनुमान आदि किसी प्रमाण से ही उसका ग्रहण मानना होगा। और अनुमान शब्द अर्थापत्ति इन तीनों में किसीसे भी इसका ज्ञान नहीं हो सकता। कारण यह है कि प्रत्यक्षेतर जितने प्रमाण माने गये हैं उनके कारण का ज्ञान होने पर ही वे सब ज्ञान के कारण होते हैं। जैसे अनुमान प्रमाण का हेतु है लिङ्ग का ज्ञान अर्थात् जो ज्ञात लिङ्ग है वही अनुमिति का जनक होता है। अग्नि के ज्ञान में धूम जो लिङ्ग है वह तभी कारण होता है जब धूम का ज्ञान हो। अज्ञात धूम स्वरूपतः रहने पर भी अग्नि का अनुमापक नहीं होता। इसी प्रकार, शाब्दजन्य बोध में भी शब्द का ज्ञान और अर्थापत्ति-स्थल में अनुपपद्यमान अर्थ का ज्ञान कारण होता है। अज्ञात शब्द भी शाब्दबोध का कारण नहीं होता। इसलिए बधिर को शाब्दबोध नहीं होता। अर्थापत्ति-स्थल में भी दिन में नहीं खाने पर भी देवदत्त की स्थूलता का ज्ञान ही रात्रि भोजनरूप अर्थ का बोधक होता है। 'अहमज्ञः' इस प्रकृत स्थल में लिङ्ग आदि का ज्ञान असम्भव ही है। इसलिए, किसी प्रकार भी इसको परोक्ष प्रतिभात नहीं कर सकते।

यदि यह कहें कि 'अहमज्ञः' इस स्थल में लिङ्ग आदि के ज्ञान न होने पर भी अनुपलब्धि-प्रमाण से उसका ज्ञान उत्पन्न हो जायगा। जैसे, भूतल में घट की अनुपलब्धि से घटाभाव का ज्ञान होता है वैसे ही ज्ञानाभाव की अनुपलब्धि से

ज्ञानाभाव का भी ज्ञान हो जायगा। परन्तु, यह भी युक्त नहीं होता कारण यह है कि जिस अनुपलब्धि से ज्ञानाभाव का ज्ञान करते हैं वह यदि अज्ञात है तब तो उससे ज्ञानाभाव का ग्रहण हो नहीं सकता। क्योंकि, प्रत्यक्ष से इतर प्रमाण ज्ञात होने पर ही बोध का जनक होता है। यदि उसको भी ज्ञात मानें, तो यह प्रश्न उठता है कि उस अनुपलब्धि का ज्ञान किससे हुआ? यदि उसके ज्ञान के लिए अन्य अनुपलब्धि को कारण मानें, तो उसको भी ज्ञात होना चाहिए। इस प्रकार का अनवस्था-दोष हो जाता है। जैसे घट की अनुपलब्धि का तात्पर्य यह है कि घट की उपलब्धि का अभाव। यदि अनुपलब्धि-प्रमाण से ही उसका ज्ञान मानें तब तो उपलब्धि के अज्ञान से उपलब्धि के अभाव का ज्ञान होता है, यह मानना होगा। इस अवस्था में उपलब्धि प्रमाण की अनुपलब्धि भी ज्ञान होने पर ही कारण होगा। इसलिए, पुनः उसमें अन्य अनुपलब्धि को कारण मानना होगा और उसके ज्ञान के लिए पुनः अन्य अनुपलब्धि की इस प्रकार की पुनः-पुनः जिज्ञासा होने से अनवस्था-दोष हो जाना स्वाभाविक है। एक शङ्का यहाँ और होती है कि नैयायिक आदि के मत में योग्यानुपलब्धि ज्ञात अथवा अज्ञात दोनों प्रकार से सहकारिणी होती है। इसी प्रकार, हमारे मत में भी ज्ञात अथवा अज्ञात दोनों प्रकार की अनुपलब्धियाँ कारण हो सकती हैं। तात्पर्य यह है कि नैयायिकों और वैशेषिकों के मत में अनुपलब्धि को प्रमाण नहीं माना गया है और भूतल में घट के अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष-प्रमाण से ही माना जाता है। योग्यानुपलब्धि केवल सहकारी-मात्र होती है। यदि यहाँ घट होता तो अवश्य उपलब्ध होता, इस प्रकार जहाँ कहा जा सके, वहीं योग्यानुपलब्धि है। और, वह अनुपलब्धि ज्ञात हो अथवा अज्ञात, दोनों प्रकार से सहकारिणी है इसलिए अनवस्था नहीं होती। इसी प्रकार, हमारे मत में अनुपलब्धि को प्रमाण मानने पर भी यह ज्ञात-अज्ञात दोनों ही प्रकार से कारण हो सकती है। इसलिए, अज्ञात अनुपलब्धि का कारण मान लेने पर दूसरी अनुपलब्धि की अपेक्षा नहीं होती, अतः अन्योन्याश्रय होने की सम्भावना ही नहीं होती।

इसका उत्तर यह होता है कि यद्यपि सहकारी ज्ञात होने पर ही बोधक होता है यह नियम नित्य नहीं है तथापि जिसको कारण मानते हैं उसका तो ज्ञात होना आवश्यक हो जाता है अन्यथा घटाभाव भूतल में भी अज्ञात घटानुपलब्धि के रहने से घटाभाव का ज्ञान हो जाना चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि यद्यपि सहकारी का ज्ञात होना नियम नहीं है, तथापि कारण को तो ज्ञात होकर ही बोध का जनक मानना परमावश्यक है। एक बात और भी है कि अनुपलब्धि को पृथक् प्रमाण माननेवालों के मत में अज्ञात अनुपलब्धि का कारण मानने पर भी कोई दोष नहीं होता। कारण यह है कि उस अनुपलब्धि से ज्ञानातिरिक्त घटादि के अभाव का ही ज्ञान कर सकते हैं। ज्ञान के अभाव का ग्रहण उससे नहीं कर सकते। यह बात आगे स्पष्ट हो जायगी।

इस सन्दर्भ से यह सिद्ध किया गया कि अनुपलब्धिप्रमाणवादी के मत में सहसा इस प्रकार का जो ज्ञानाभाव का अनुभव होता है यह परोक्ष नहीं है किन्तु प्रत्यक्ष ही है। इसके बाद नैयायिकों के जो अनुपलब्धि को प्रमाण नहीं मानते और

भाव को प्रत्यक्ष ही मानते हैं और 'अहमज्ञः' इस प्रत्यक्ष अनुभव का विषय ज्ञानाभाव है, भावरूप अज्ञान नहीं इस प्रकार मानते हैं, उस मत का विमर्श किया जाता है।

'अहमज्ञः' इस स्थल में भी ज्ञानाभाव को प्रत्यक्ष का विषय नैयायिक आदि मानते हैं, उनके प्रति यह प्रश्न होता है कि 'अहमज्ञः' इस प्रत्यक्ष का विषय ज्ञान सामान्य का अभाव है अथवा ज्ञानविशेष का? ज्ञान सामान्य का अभाव तो कह नहीं सकते; क्योंकि 'अहम्' इस प्रकार से ज्ञानाभाव के धर्मी रूप से आत्मा का ज्ञान वर्तमान ही है। और, अभाव के प्रतियोगी रूप से ज्ञान का भी बोध है ही। इसलिए, ज्ञान-सामान्य के अवश्य विद्यमान रहने से ज्ञान सामान्य का अभाव किसी प्रकार भी नहीं कह सकते। यदि यह कहें कि धर्मी और प्रतियोगी का ज्ञान नहीं है, तो भी ठीक नहीं। कारण यह है कि अभाव के ज्ञान में प्रतियोगी का ज्ञान और अधिकरण का ज्ञान कारण होता है, यह नियम सर्वसिद्धान्तसिद्ध है। भूतल में घट के अभाव का ज्ञान तभी हो सकता है जब अधिकरण अर्थात् भूतल और प्रतियोगी अर्थात् घट का ज्ञान हो, अन्यथा नहीं। इस स्थिति में धर्मी और प्रतियोगी ज्ञान के बिना अभाव का ज्ञान नहीं होता यह मान लेने पर अहमज्ञः इस स्थल में ज्ञानाभाव ज्ञान सामान्याभाव का प्रत्यक्ष किसी प्रकार नहीं हो सकता। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि प्रत्यक्ष या अन्य किसी प्रमाण के द्वारा ज्ञानसामान्याभाव का ग्रहण होना असम्भव ही है। अब द्वितीय पक्ष रहा ज्ञानविशेषाभाव यह भी युक्त नहीं हो सकता। कारण यह है कि ज्ञानविशेष में दो प्रकार का ज्ञान है एक स्मृति और दूसरा अनुभव। 'अहमज्ञः' इस प्रत्यक्ष का विषय स्मृति का अभाव तो कह नहीं सकते। क्योंकि अभाव के ज्ञान में प्रतियोगी का स्मरण कारण होता है। इसलिए, स्मरणाभाव के प्रत्यक्ष होने में अभाव का प्रतियोगी जो स्मरण है उसका ज्ञान रहना आवश्यक हो जाता है। स्मरण के रहने पर स्मरण का अभाव हो नहीं सकता। अतः स्मरणाभाव 'अहमज्ञः' इस प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता यह सिद्ध हो जाता है। यदि कहें कि अनुभव का अभाव उक्त प्रत्यक्ष का विषय है यह भी युक्त नहीं है। कारण यह है कि किसी रूप में अनुभव तो वहाँ अवश्य ही रहेगा।

तात्पर्य यह है कि 'अहमज्ञः' इस प्रकार का ज्ञानाभावविषयक जो ज्ञान होता है वह अनुभवस्वरूप ही है। इसलिए, अनुभव का वहाँ होना अनिवार्य है। और अनुभव के रहते अनुभव का अभाव रह नहीं सकता। इसलिए, अहमज्ञः इस प्रत्यक्ष का विषय अनुभव का अभावरूप ज्ञानविशेष का अभाव है यह भी नहीं कह सकते। एक बात और है कि आत्मा में घट के अनुभव का अभाव ही प्रत्यक्ष का विषय होता है। तब तो अहमज्ञः इस स्थल में ज्ञानसामान्यवाची जो ज्ञा धातु है उसका आत्मस्वरूपविशेषविषयक अनुभव अर्थ में प्रयोग तो लक्षणा ही से हो सकता है अभिधावृत्ति से तो ज्ञानसामान्य ही उसका अर्थ है। आत्मस्वरूपविशेष-विषयक अनुभव में लक्षणा से ही ज्ञा धातु का प्रयोग करना होगा। परन्तु लक्षणा तभी की जाती है जब सम्बन्ध और अनुपपत्ति का ज्ञान रहे। जैसे 'गङ्गा में घोष है' इस वाक्यार्थ में 'गङ्गा' पद से गङ्गा-तीर में लक्षणा की जाती है। वहाँ गङ्गा शब्द से

प्रवाह और तीर के साथ गङ्गा का सम्बन्ध ऐसा ज्ञान होता ही है और शब्दार्थतः प्रवाह में घोष का रहना असम्भव है इस अनुपपत्ति से प्रवाह के सम्बन्ध से तीर का बोध किया जाता है। इसी प्रकार 'अहमज्ञः' इस प्रकृत स्थल में ज्ञा धातु का शक्य अर्थ जो ज्ञानसामान्य है, और लक्ष्य अर्थ जो आत्मस्वरूपविशेषविषयक अनुभव है, इन दोनों में समानाधिकरण-सम्बन्ध है क्योंकि घट का प्रत्यक्ष रूप जो एक व्यक्ति है उसमें शक्यार्थ ज्ञानत्व और लक्ष्यार्थ विशेषानुभवत्व दोनों वर्तमान हैं। इसी प्रकार, ज्ञानसामान्य और ज्ञानविशेष में व्याप्य-व्यापक-भाव सम्बन्ध भी है। यहाँ ज्ञानत्व व्यापक और ज्ञानविशेष अनुभवत्व व्याप्य धर्म है। इस प्रकार सम्बन्ध का ज्ञान तो है परन्तु जिस प्रकार 'गङ्गायां घोषः' इस स्थल में गङ्गा के शक्यार्थ प्रवाह में घोष का होना असम्भव-रूप जो अनुपपत्ति है, वह 'अहमज्ञः' इस स्थल में नहीं देखी जाती। इसलिए अनुपपत्ति के अभाव में लक्षणा नहीं हो सकती और लक्षणा के बिना आत्मस्वरूप विशेषविषयक अनुभवरूप विशेष ज्ञान, ज्ञा धातु का हो नहीं सकता। अतः, लक्षणा का आश्रयण किसी प्रकार करना ही होगा और लक्षणा तबतक नहीं हो सकती, जबतक लक्षणा की बीजभूत अनुपपत्ति न हो।

यहाँ लक्षणा के लिए अनुपपत्ति इस प्रकार दिखाई जाती है जैसे 'अहमज्ञः' यहाँ नञ् जो अव्यय है इसका अर्थ अभाव है। इस नञर्थ अभाव से ज्ञान के सामान्याभाव, अर्थात् ज्ञानमात्र का अभाव तो कह नहीं सकते क्योंकि 'मैं अज्ञ हूँ' इस प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान आत्मा को हो रहा है। दूसरी बात यह भी है कि ज्ञान आत्मा का धर्म है अतः ज्ञानमात्र का अभाव हो नहीं सकता और ज्ञानविशेषरूप जो विशेष अनुभव है उसको भी वैसा नहीं कह सकते। कारण यह है कि ज्ञानसामान्यार्थक ज्ञा धातु का ज्ञानविशेष अनुभवरूप अर्थ हो नहीं सकता, और ज्ञानमात्र का अभाव है नहीं। 'मैं अज्ञ हूँ' इस प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान उसको है ही, और 'अहमज्ञः' इस वाक्य को निरर्थक भी नहीं कह सकते, क्योंकि किसी उन्मत्त का यह प्रलाप नहीं है। किन्तु ज्ञानसम्पन्न विद्वान् भी अपने अज्ञान का अनुभव करते रहते हैं। इस स्थिति में 'अहमज्ञः' इस प्रकार का जो ज्ञान होता है, उस ज्ञान का विषय क्या है ? इसका निर्वचन नहीं कर सकते। इसी अनुपपत्ति से लक्षणा मानकर ज्ञा धातु का अर्थ ज्ञान-विशेष अर्थात् अनुभव, किया जाय, तो युक्त होता है परन्तु इस प्रकार की अनुपपत्ति मानकर लक्षणा स्वीकार करने से तो वेदान्तियों का अभिमत भावरूप अनिर्वचनीय अज्ञान की ही सिद्धि हो जाती है। तात्पर्य यह है कि लक्षणा की बीजभूत अनुपपत्ति दिखाने में जो यह कहा गया कि 'अहमज्ञः' इस प्रत्यक्ष का विषय इस प्रकार का ज्ञान है, ऐसा निर्वचन नहीं हो सकता ऐसा कहकर जो अनिर्वचनीयत्व दिखाया गया वही अनुपपत्ति अविद्या है और यही नञ् का अर्थ है। अभावरूप अर्थ नञ् का नहीं है, क्योंकि अभाव रूप अर्थ स्वीकार करने में पूर्वोक्त रीति से अनुपपत्ति के अनुसन्धानपूर्वक लक्षणा स्वीकार करने में अति गौरव हो जाता है।

एक बात और है कि 'अहमज्ञः' इस प्रकार के अनुभव काल में अविद्यमान का

ज्ञानविशेषरूप अनुभव है उसका स्मरणपूर्वक ही ज्ञाता का अनुभव होता है और ज्ञाता वही है, जो विषय के आकार में परिणत होता है, अर्थात् विषयाकार परिणाम का जो आश्रय है वही ज्ञाता है और केवल अन्तःकरण का परिणाम होता नहीं। क्योंकि अन्तःकरण जड़ है, उसका इस प्रकार का परिणाम नहीं हो सकता और केवल आत्मा का भी परिणाम नहीं हो सकता; क्योंकि वह अपरिणामी है। एक बात और है कि धर्मान्तर से आविर्भाव का नाम परिणाम है और आत्मा निर्धर्मक है। इसीलिए, उसका धर्मान्तर से आविर्भावरूप परिणाम नहीं हो सकता। किन्तु, जब अन्तःकरण में आत्मा के अभेद का भ्रम हो जाता है उस समय आत्मा और अन्तःकरण में भेद की प्रतीति नहीं होती। जिस अन्तःकरण में आत्मा का अध्यास है उसी अन्तःकरण का विषयाकार में परिणाम होता है और उस परिणाम का जो आश्रय है उसीको ज्ञाता कहा जाता है। अध्यास का ही नाम अविद्या है। इसलिए, 'अहमज्ञः' इस प्रत्यक्ष अनुभव से अविद्या की सिद्धि हो जाती है। इससे अविद्या में प्रत्यक्ष प्रमाण है यह सिद्ध हो जाता है। अविद्या में अनुमान-प्रमाण भी दिया जाता है जिसका निर्देश आगे प्रस्तुत है।

अविद्या में अनुमान-प्रमाण

विवादास्पद प्रमाण (पक्ष), स्वप्रागभाव से भिन्न स्वविषयावरण, स्वनिवर्त्य और स्वदेश में रहनेवाला जो प्रमाण-ज्ञान से भिन्न वस्तु है, तत्पूर्वक होता है (साध्य) अप्रकाशित अर्थ के प्रकाशक होने के कारण (हेतु), अन्धकार में प्रथम उत्पन्न प्रदीप की प्रभा के सदृश (दृष्टान्त)। यहाँ इस अनुमान से प्रमाण-ज्ञान का वस्त्वन्तरपूर्वक साधन करना है। अर्थात् प्रमाण ज्ञान के पहले प्रमाण ज्ञान से भिन्न एक कोई वस्तु अवश्य है यह दिखाना है और वह वस्तु प्रमाण ज्ञान के ही देश में रहनेवाला हो और स्वनिवर्त्य, अर्थात् प्रमाण ज्ञान से जिसकी निवृत्ति होती हो और स्वविषयावरण और अपने प्रागभाव से भिन्न हो इन चार विशेषणों से युक्त वस्त्वन्तर अविद्या के अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता। इस अनुमान से अविद्या की सिद्धि होती है। जैसे यह घट है इस प्रमाण-ज्ञान-काल में प्रमाण-ज्ञान से पहले अविद्या है। यह अविद्या प्रमाण-ज्ञान की अपेक्षा भिन्न है और प्रमाण-ज्ञान का आश्रय जो आत्मरूप देश है उसमें वर्तमान होने से स्वदेशगत भी है और प्रमाण ज्ञान से उसका नाश होने से स्वनिवर्त्य भी है और प्रमाण-ज्ञान का विषय जो घट है उसका आवरण होने से स्वविषयावरण भी है और वह अपने प्रागभाव से भिन्न भी; क्योंकि प्रमाण-ज्ञान का जो प्रागभाव है उससे अविद्या को भिन्न माना गया है।

यदि इन विशेषणों से युक्त अविद्या से भिन्न कोई भी वस्तु होती तो उसीमें अनुमान चरितार्थ हो जाता और अविद्या की सिद्धि नहीं होती। परन्तु ऐसी कोई भी वस्तु अविद्या से भिन्न नहीं है जिससे पूर्वोक्त सब विशेषण सार्थक हों। इसलिए, अविद्या की सिद्धि हो जाती है। साध्य अंश में जो अनेक विशेषण दिए गये हैं, उनमें एक विशेषण भी यदि कम कर दें तो अविद्या से भिन्न वस्तु की सिद्धि हो जाती है।

इसलिए, गुरुभूत शास्त्र का निर्देश किया गया। विस्तार के भय से परक्रम नहीं दिखाया गया। यहाँ तक अविद्या में प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाण दिखाये गये हैं।

अविद्या में शब्द-प्रमाण

'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' इस श्वेताश्वतर उपनिषद् में विश्वमाया शब्द से अविद्या का ही निर्देश किया गया है। इसका भाव है कि परमात्मा के ध्यान आदि साधनों से मोक्षकाल में विश्वमाया अर्थात् अविद्या की निवृत्ति हो जाती है।

तरत्यविद्यां विततां हृदि यस्मिन्निवेशिते।
योगी मायाममेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः॥

अर्थात् योगी ध्यान के द्वारा हृदय में जिस परमात्मा के निवेश कर लेने पर विद्या से विरुद्ध विस्तृत इस माया को तर जाता है, उस अमेय ज्ञानस्वरूप परमात्मा को नमस्कार है।

इस श्रुति से विद्या से विरुद्ध भावरूप अविद्या की सिद्धि हो जाती है। इसके अतिरिक्त और भी अनेक श्रुतियाँ हैं जिससे उक्त अविद्या की सिद्धि हो जाती है। विस्तार भय से उसका निर्देश नहीं किया जाता। यहाँ तक प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द इन तीनों प्रमाणों से अविद्या की सिद्धि होती है, यह दिखाया गया है।

इसके बाद अविद्या माया, प्रकृति इनमें भेद है अथवा अभेद? अविद्या का आश्रय कौन है इसका भी विचार किया जाता है।

वेदान्त-शास्त्रों के अनुसार प्रकृति, अज्ञान, अविद्या माया ये सब एक ही पदार्थ हैं। इनमें वास्तविक भेद नहीं है। कार्य के वश से भिन्न-भिन्न नामों से व्यवहार किया जाता है जैसे प्रपञ्च के उपादान होने से प्रकृति कही जाती है। विद्या का विरोधी होने से अविद्या या अज्ञान कहा जाता है और अघटन-घटना में पटीयसी होने से माया कही जाती है। तात्पर्य यह है कि जो बात पहले साधक नहीं है अर्थात् असम्भव है, उसका भी सम्पादन कर देने में जो समर्थ है वही माया है। एक ही वस्तु का विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न नामों से व्यवहार किया जाता है। एक ही त्रिगुणात्मक ब्रह्मशक्ति, जो सत्व, रज तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था है, वह प्रकृति शब्द से व्यवहार वेदान्त-शास्त्रों में किया गया है।

जब उसमें रजोगुण और तमोगुण तिरोहित रहता है और सत्त्वगुण प्रधान होता है तब शुद्धसत्त्वप्रधान होने से उस माया कहते हैं और जब सत्त्वगुण तिरोहित रहता है और रजोगुण एवं तमोगुण का आधिक्य होता है तब मलिनसत्त्वप्रधान होने से उसको अविद्या शब्द से व्यवहार किया जाता है। विद्यारण्यमुनि ने कहा है—

'सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये च ते मते।

अर्थात् सत्त्वगुण की शुद्धि रहने पर माया और सत्त्वगुण की अविशुद्धि रहने पर अर्थात् मलिनतत्व रहने पर अविद्या कही जाती है। द्वितीय मत है कि आवरण शक्ति की प्रधानता होने पर अविद्या और विक्षेप शक्ति की प्रधानता में माया शब्द का

व्यवहार किया जाता है। वस्तु के स्वरूप को छिपा देना, अर्थात् आवृत कर देना आवरण-शक्ति का काम है और वस्तु के स्वरूप को अन्यरूप से दिखाना विक्षेप-शक्ति का काम है। जैसे, शुक्ति में आवरण-शक्ति से शुक्ति का ज्ञान नहीं होता और विक्षेप-शक्ति से रजत के रूप से उसका ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार, अवस्था-भेद से औपाधिक भेद होने पर भी वस्तुतः माया और अविद्या एक ही पदार्थ है, यह सिद्ध होता है।

अविद्या का आश्रय

वाचस्पतिमिश्र के मतानुसार अविद्या का आश्रय जीव और विषय ब्रह्म होता है। अर्थात्, ब्रह्मविषयक अविद्या जीव के आश्रित है, यह सिद्ध होता है। इनका कहना यह है कि ब्रह्म को यदि अविद्या का आश्रय मानते हैं तब तो ब्रह्म भी ब्रह्म होने लगेगा। इसलिए, जीव को ही अविद्या का आश्रय मानना युक्त होता है। परन्तु संक्षेपशारीरक और विवरणकार आदि के मत से अविद्या का आश्रय शुद्ध चेतन को ही माना गया है। उनका कहना है कि जीव तो औपाधिक है। अविद्या उपाधि लगने के बाद ही जीव संज्ञा होती है। उसके पहले उसका आश्रय विशुद्ध ब्रह्म ही हो सकता है। इसलिए, संक्षेपशारीरक में लिखा है—

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः॥

भाव यह है कि केवल निर्विशेष ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय और विषय दोनों है; क्योंकि पूर्वसिद्ध जो अविद्या है उससे पश्चिम अर्थात् बाद में उसीकी उपाधि से होनेवाला जीव न अविद्या का आश्रय होता है और न विषय ही होता है। इसलिए, इनके मत में अविद्या का आश्रय ब्रह्म ही होता है यह सिद्ध होता है।

इसका विशेष विवेचन न्यायमकरन्द में किया गया है। विस्तार के भय से यहाँ अधिक नहीं दिया गया। इसी माया का परिणामभूत भौतिक और अव्याकृत जगत् है।

अद्वैत मत में तत्त्व और सृष्टि-क्रम

अद्वैत वेदान्तियों के मत में परमार्थ में एक ही दृक्-रूप पदार्थ है। इसीको आत्मा या ब्रह्म कहते हैं। द्वैत तो अविद्या से कल्पित है। इनके अनुसार आत्मा और दृश्य ये दो पदार्थ होते हैं। इनमें दृक् तीन प्रकार का होता है—जीव, ईश्वर और साक्षी। कारणीभूत माया-रूप उपाधि से विशिष्ट होने से ईश्वर कहा जाता है। अन्तःकरण और उसके संस्कार से युक्त अज्ञान उपाधि से विशिष्ट होने से जीव कहा जाता है। ईश्वर और जीव तत् उपाधि से युक्त है और स्वयं उसको साक्षी कहते हैं। प्रपञ्च को दृश्य पदार्थ कहते हैं।

दृश्य भी तीन प्रकार का होता है। अव्याकृत, मूर्त्त और अमूर्त्त। अव्याकृत भी चार प्रकार का होता है। (१) अविद्या (२) अविद्या के साथ चित् का सम्बन्ध। (३) अविद्या में चित् का आभास और (४) जीवेश्वर विभाग। इनको अव्याकृत कहते हैं।

अविद्या से उत्पन्न जो शब्द, स्पर्श रूप, रस और गन्ध ये पञ्चसूक्ष्ममहाभूत हैं और अविद्या से उत्पन्न जो तम है उनको अमूर्त कहते हैं। पञ्चीकरण के पहले पञ्चसूक्ष्म महाभूतों की मूर्त्तावस्था नहीं होती। अन्धकार भी अमूर्त ही है। अमूर्त अवस्था में जो-जो शब्द आदि सूक्ष्मभूत हैं उन प्रत्येक के सात्त्विक अंश से एक-एक ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है।

इन्हीं सूक्ष्मभूतों को पञ्चतन्मात्र भी कहते हैं। शब्दतन्मात्र से श्रोत्र-इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। स्पर्शतन्मात्र से त्वक् इन्द्रिय की और रूपतन्मात्र से चक्षु-इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। रसतन्मात्र से रसना इन्द्रिय की और गन्धतन्मात्र से घ्राणेन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। समस्त पञ्चतन्मात्रों के सात्त्विक अंश से मन की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार, सूक्ष्मावस्था में वर्तमान जो शब्दादि पञ्चभूततन्मात्र हैं उनके प्रत्येक राजस अंश से क्रमश वाक् पाणि पाद पायु उपस्थ इन पाँच कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। सृष्टि-क्रम का वर्णन विद्यारण्य मुनि ने 'पञ्चदशी' में इस प्रकार किया है—

'सत्त्वांशैः पञ्चभिस्तेषां क्रमाद्धीन्द्रियपञ्चकम्।
वाक्पाणिपादपायूपस्थाभिधानानि जज्ञिरे॥'

इसके बाद सूक्ष्म पञ्चमहाभूतों का पञ्चीकरण होता है। परस्पर सम्मिश्रण का नाम पञ्चीकरण है। इसकी परिभाषा विद्यारण्य मुनि ने इस प्रकार की है—

'द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात् पञ्च पञ्च ते॥'

इसका भाव यह है कि प्रत्येक सूक्ष्मपञ्चभूत के दो-दो हिस्से कर दें। उनमें प्रत्येक के एक हिस्से को चार भागों में बाँट दें। उन चार भागों को अपने से भिन्न चार सूक्ष्मभूतों में मिला दें। इस प्रकार, प्रत्येक भूत में आधा अंश अपना रहता है और आधा अंश में चार का सम्मिश्रण। और इस प्रकार, पञ्चीकरण से मूर्त्तावस्था सम्पन्न होती है। इस पञ्चीकरण से ही समस्त भूमण्डल आदि प्रपञ्च उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार, अद्वैत वेदान्त के मत से तत्त्व और सृष्टि-क्रम का संक्षेप में वर्णन किया गया।

उपसंहार

इसके पूर्व भूत और भौतिक समस्त प्रपञ्च को मूर्त्त अमूर्त और अव्याकृत तीन रूपों में जो विभक्त किया गया है वे सब माया के ही परिणाम हैं। माया के साथ तथा माया के परिणाम के साथ चेतन का जो सम्बन्ध है वही बन्ध कहलाता है। इसका अनुभव 'मैं ब्रह्म हूँ' 'मैं देही हूँ' इस रूप में होता है। एतन्मूलक ही सुख-दुःख का अनुभव होता है अर्थात् देह में जबतक अहन्ता या ममता का भान रहता है तभी तक सुख-दुःख का अनुभव होता है। श्रुति भी कहती है—'न ह वै सशरीरस्य सतः प्रिया प्रिययोरपहतिरस्ति' अर्थात् शरीर के साथ सम्बन्ध रहते प्रिय और अप्रिय का नाश नहीं होता। प्रिय संसर्ग को ही सुख और अप्रिय संसर्ग को ही दुःख कहा जाता है। यही प्रियाप्रिय का संसर्ग बन्ध कहा जाता है। इसीसे छुटकारा पाने का नाम

मोक्ष है। प्रिय और अप्रिय का असंस्पर्श, अर्थात् संस्पर्श न होना ही मोक्ष-शब्द का अर्थ है। इस मोक्ष में कुछ अपूर्व वस्तु की प्राप्ति नहीं होती है। किन्तु अपने मूलरूप से अवस्थान का ही नाम मोक्ष है। यद्यपि बद्धावस्था में आत्मा का मूलस्वरूप से ही अवस्थान रहता है; क्योंकि निर्विकार आत्मा में कदापि किसी प्रकार विकार नहीं होता तथापि बद्धावस्था में अनादि अविद्या के सम्बन्ध होने से उसका ज्ञान नहीं होता इसलिए अविद्या का विनाश ही मोक्ष है, यह सिद्ध होता है। लिखा भी है—

'अविद्यास्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृता।'

अर्थात्, अविद्या का नाश होना ही मोक्ष है और अविद्या ही बन्ध कही जाती है। अविद्या का नाश-रूप मोक्ष केवल विद्या के ही द्वारा होता है। आत्मा के साक्षात्कार को ही अद्वैत वेदान्त के मत में विद्या कहा जाता है। आत्मा के साक्षात्कार हो जाने पर जीवित रहते हुए भी मुक्त ही है। इसीको जीवन्मुक्त कहा जाता है। इस अवस्था में द्वैत के भान होने पर भी कोई हानि नहीं होती। जैसे नेत्र-दोष से दो चन्द्रमा का भान होने पर भी यह दूसरा चन्द्र कहाँ से आ गया इस प्रकार की शङ्का ही नहीं होती क्योंकि उसको वास्तविक ज्ञान है कि चन्द्रमा एक ही होता है। यह द्वित्व का भान दोष से है, अतएव मिथ्या है।

इसी प्रकार, जीवन्मुक्तावस्था में संसार का भान होने पर भी कोई हानि नहीं होती। क्योंकि, आत्मसाक्षात्कार होने से उसको वास्तविक ज्ञान हो गया है कि यह सकल द्वैत प्रपञ्च मिथ्या है। यही आत्मसाक्षात्कार मोक्ष है। यही आनन्दमय है इससे उत्तम कोई दूसरा आनन्द नहीं है। इसमें किसी प्रकार के दुःख का लेश भी नहीं है। इसमें किसी प्रकार के अन्यत्व का भान नहीं होता। अखण्ड एकरस आनन्दस्वरूप आत्मा ही अवशिष्ट रहता है। इसको पाकर कोई भी वस्तु प्राप्त करने योग्य नहीं रह जाती। 'यल्लब्ध्वा न परं किञ्चिल्लब्धव्यमवशिष्यते' 'यल्लाभान्नापरो लाभः सुखान्नसुखान्तरम्' अर्थात् जिसको प्राप्त कर अन्य कोई भी वस्तु प्राप्त करने योग्य नहीं रह जाती वही द्वैत से रहित अखण्ड आनन्दमय है। तत्प्राप्ति ही मोक्ष है।

संसार में जितने वैषयिक सुख हैं उनके प्राप्त हो जाने पर भी उससे अधिक सुख के लिए आकांक्षा बनी ही रहती है। इसलिए, ये सब वैषयिक सुख सातिशय कहे जाते हैं। केवल ब्रह्मानन्द का ही सुख नित्य और निरतिशय है। इसके प्राप्त हो जाने पर किसी भी वस्तु की अभिलाषा नहीं होती। इस सुख के सामने सब सुख फीका लगने लगता है। इसीकी प्राप्ति के लिए बड़े-बड़े महात्मा तपस्वी निरन्तर तपस्या करने में ही लगे रहते हैं।

आत्मसाक्षात्कार का विषय आत्मा ही होता है। यद्यपि मोक्षप्रतिपादक श्रुतियों में इस ज्ञान का विषय अनेकार्थ भासित होता है परन्तु उन सब श्रुति वाक्यों का तात्पर्य परमार्थ में एक ही होता है। जैसे 'आत्मवित्' इत्यादि श्रुति-वाक्यों में ज्ञान का विषय आत्मा आत्म शब्द से ही निर्दिष्ट हुआ है। 'यस्मिन् सर्वाणि

भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः' इत्यादि श्रुतियों में विज्ञान से आत्मस्वरूप की सम्पत्ति बताई गई है। यह श्रुति भी वेदन का विषय आत्मा को ही बताती है, बल्कि 'आत्मैवाभूद् विजानतः' यहाँ एक शब्द से आत्मा से इतर के ज्ञान का विषय होने का निषेध भी करती है। स्वरूप की सम्पत्ति ज्ञान के अनुरूप ही होती है। इस श्रुति के अनुरोध से 'एकत्वमनुपश्यतः' में दर्शन का विषय जो एकत्व दिखाया गया है उसे आत्मैकत्व ही समझना चाहिए। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों में भी ब्रह्म शब्द से आत्मा का ही बोध होता है क्योंकि आत्म शब्द और ब्रह्म शब्द दोनों पर्यायवाची ही वेदान्त में व्यवहृत होते हैं। 'तस्मिन् दृष्टे परावरे' इस मुण्डक-श्रुति में परावर शब्द से आत्मा का ही ग्रहण होता है। इसी प्रकार, प्रायः सब मोक्षप्रतिपादक श्रुतियों में वेदन का विषय आत्मा को ही बताया गया है। इसलिए, साक्षात्कार का विषय आत्मा ही सिद्ध होता है।

यहाँ तक जितना वर्णन किया गया है, उसका निष्कर्ष यही है कि शाङ्कर वेदान्त के अनुसार परमार्थ में एक ही ब्रह्मतत्त्व कूटस्थ नित्य पदार्थ है। इसके अतिरिक्त जो चराचरात्मक जगत् प्रतीयमान हो रहा है, वह माया का ही विलास है अर्थात् अविद्या का ही परिणाम है। जैसे शुक्ति रजत-रूप से भासित होती है और रज्जु सर्प-रूप से, वैसे ब्रह्म भी प्रपञ्च-रूप से भासित होता है इसीको अध्यास अथवा विवर्त कहते हैं। जिस प्रकार, शुक्ति और रज्जु का ज्ञान हो जाने पर रजत और सर्प का भान बिलकुल ही नहीं रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर प्रपञ्च का भान नहीं रहता। और, ब्रह्म ही आत्मा है। शाङ्कर मत में जीवात्मा और परमात्मा एक ही पदार्थ हैं। इनमें भेद नहीं है। भेद की जो प्रतीति होती है, वह केवल उपाधिकृत है। और, व्यवहार में ही भेद की प्रतीति होने से व्यावहारिक ही भेद है। परमार्थ में दोनों एक ही हैं। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' 'अयमात्मा ब्रह्म', 'तत्त्वमसि' इत्यादि अनेक श्रुतियाँ हैं, जिनसे अद्वैतवाद का सिद्धान्त सिद्ध होता है। ये श्रुतियाँ भी इसमें प्रमाण-रूप से विद्यमान हैं।

आत्मसाक्षात्कार कैसे होता है? इसी शङ्का के समाधान के लिए वेदान्त-शास्त्र की रचना हुई है। आत्मा के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान से ही भ्रम की निवृत्ति होने पर आत्मसाक्षात्कार होता है। अविद्या के अतिरिक्त संसार भी कोई वस्तु नहीं है इसलिए विद्या से अविद्या के नाश के द्वारा साक्षात्कार होना सिद्ध होता है। यही ब्रह्म साक्षात्कार है। मुक्ति मोक्ष कैवल्य निर्वाण अपवर्ग आदि शब्दों से इसीका अभिधान किया जाता है। यही चरम लक्ष्य है। इस चरम लक्ष्य तक जिज्ञासुओं को पहुँचाने में यदि कोई शास्त्र सफल हुआ है, तो वह वेदान्त-शास्त्र ही है।

पारिभाषिकशब्द विवरणिका

अकृताभ्यागम-दोष—नहीं किये हुए कर्मों का फल प्राप्त होना या फल भोगना।

अखण्डोपाधि—जहाँ जाति का बाध होता है, वहाँ सामान्य का भेद उपाधि माना जाता है जिसका विभाग न हो, ऐसी नित्य उपाधि।

अख्याति
अख्यातिवाद }—(द्र० पृ० सं० ५६)

अचित्वर्ग—चित्, अर्थात् आत्मा से भिन्न जगत् (जड़ प्रपञ्च)।

अजपामन्त्र—ऐसा मन्त्र जो बिना जपे स्वयं श्वास-प्रश्वास में उच्चारित रहता है, जिसमें 'हंसः' या 'सोऽहं' की भावना की जाती है।

अतिदेश—सदृश वस्तु का बोध करानेवाला वाक्य अतिदेश-वाक्य है (द्र० पृ० सं० १२)।

अतिव्याप्ति—अलक्ष्य (जिसका लक्षण न करते हों) में लक्षण का जाना।

अदृष्टवादी—जो भाग्य ईश्वर आदि अदृष्ट पदार्थ को मानता हो।

अधिकरण—आश्रय, अधिष्ठान (विचारणीय वस्तु के भाव या अभाव का स्थल)।

अध्यास—वस्तु का अन्य रूप से भान होना, जैसे रस्सी का सर्प-रूप से भासित होना।

अध्यासवादी—अध्यास को माननेवाला।

अवभास—भान होना, अर्थात् किसी वस्तु का अन्य रूप से भासित होना।

अनवस्था-दोष—परस्पर आश्रित होने से एक के बिना दूसरे की कहीं निश्चित स्थिति न होना।

अनात्मप्रपञ्च—आत्मा से भिन्न जड़-जगत्।

अनारम्भक संयोग—जिस संयोग न होने से किसी वस्तु का आरम्भ न हो (द्र० पृ० सं० १६२)।

अनाहार्यारोप—अधिष्ठान के ज्ञानाभाव में होनेवाला भ्रममूलक आरोप (द्र० पृ० सं० १)।

अनुपद समाधि—चित्त की संस्कारमात्रशेष अन्तिम अवस्था, जिसे असम्प्रज्ञात समाधि भी कहते हैं (द्र० पृ० सं० १६६)।

अनुग्राहक—किसी प्रमाण के स्वीकार करने में सहायता करनेवाला प्रमाणान्तर (द्र० पृ० सं० ११)।

अनुपलब्धि—जिससे अभाव का प्रत्यक्ष होता है, वह प्रमाण विशेष (द्र० पृ० सं० २२)।

अनुपपत्ति—यह बाधा का बीज है। इसका शब्दार्थ 'युक्ति-विरुद्ध' होता है (द्र० पृ० सं० १८)।

अनुबन्ध—विषय प्रयोजन सम्बन्ध और अधिकारी, इन चारों की संज्ञा अनुबन्ध है इन्हीं के ज्ञान से ग्रन्थों के पढ़ने में प्रवृत्ति होती है (द्र० पृ० सं० १०६)।

अनुमानाभास—जिस अनुमान में असत् हेतु हो।

अनुमिति—परामर्श या अनुमान से उत्पन्न या सिद्ध होनेवाला ज्ञान।

अनुयोगी—जिसमें अभाव हो या जिसमें सादृश्य हो।

अनुस्मृति—अनुभवजन्य संस्कार से होनेवाला स्मरण।

अनैकान्तिक—वह हेतु, जो व्यभिचरित होता है।

अन्यथाख्याति—किसी दोष से वस्तु का अन्य रूप में भासित होना (द्र० पृ० सं० ५८)।

अन्यथाभाव—दूसरे रूप में बदल जाना जैसे—दूध से दही।

अन्यथासिद्ध—दोष आदि से भी उत्पन्न होनेवाला ज्ञान (द्र० पृ० सं० २४)।

अन्योन्याध्यास ग्रन्थि—अध्यस्त रजत आदि में शुक्ति आदि अधिष्ठानगत इदन्त्व आदि का अध्यास (द्र० पृ० सं० ११)।

अन्योन्याभाव—जो स्वरूपतः एक दूसरे से भिन्न होता है जैसे—घट पट नहीं है।

अन्योन्याश्रय-दोष—परस्पर आश्रित रहनेवाला दोष।

अन्वय-व्यतिरेक—जो किसी वस्तु के होने पर हो वह अन्वय है और जो किसी वस्तु के न होने पर न हो वह व्यतिरेक है।

अन्वयव्याप्ति—कारण के रहने पर ही कार्य का होना अन्यथा नहीं जैसे—जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ आग है।

अपकर्षण—निराकरण करना, हटाना।

अपसिद्धान्त—सिद्धान्तविरुद्ध।

अपरिणामी—जिसका परिणाम न होता हो।

अपाकरण—निराकरण।

अपराधस्तोत्र—पाप के निराकरण के लिए जो भगवत्स्तुति आदि के श्लोक पढ़े जाते हैं।

अपेक्षाबुद्धि—जिस बुद्धि से द्वित्वादि संख्या की उत्पत्ति होती है या अनेक में एकत्व-बुद्धि।

अभिनिवेश—मरण का भय। यह योगशास्त्र के क्लेश का एक अङ्ग है (द्र० पृ० सं० २)।

अभ्युपगम—अपना सिद्धान्त न होने पर भी कुछ देर के लिए मान ली जानेवाली बात (द्र० पृ० सं० १२१)।

अयोगव्यवच्छेद—अयोग, अर्थात् सम्बन्ध के अभाव का व्यवच्छेद (व्यावृत्ति), अर्थात् आवश्यक सम्बन्ध।

अर्थवाद—अत्यधिक प्रशंसा या निन्दापरक वेदवाक्य।

अर्थापत्ति—जिसके बिना जो न हो उससे उसका आक्षेप करना (द्र० पृ० सं० १९)।

अवघात नियम—यज्ञ में धान से चावल निकालने का नियम यथा—मूसल के अवघात से ही चावल निकालना नख आदि से नहीं।

अवयवसमवेतत्व—अवयव में समवाय-सम्बन्ध से रहनेवाला धर्म आदि।

अवस्थापरिणाम—एक अवस्था को छोड़कर अवस्थान्तर में परिणत होना (द्र० पृ० सं० १६२)।

अवान्तरमहत्त्व—जिसमें परम महत्त्व न रहे और जो महत्त्व का आश्रय हो (द्र० पृ० सं० १४१)।

अवान्तरापूर्व—अङ्ग-सहित यज्ञ के अनुष्ठान से एक परमापूर्व (अदृष्ट) उत्पन्न होता है जो स्वर्ग का साक्षात् साधन है परमापूर्व के उत्पन्न होने में अपूर्व सहायक।

अव्याकृताकाश—दिशा का ही नाम अव्याकृताकाश है यह प्रलय में भी विकार-रहित रहता है और जो भूताकाश से भिन्न है।
अव्याप्यवृत्ति—द्रव्य के एक देश में रहनेवाला गुण आदि।
असत्कारणवाद—मूल कारण को असत्-रूप मानने का सिद्धान्त।
असत्कार्यवाद—कार्यमात्र को असत् मानना।
असत्ख्यातिवाद—शून्यवादी माध्यमिक के मत में कार्य का कोई सत् रूप नहीं है शून्य ही अविद्या कार्यरूप से भासित होता है, यही असत्ख्याति है (द्र० पृ० सं० ५६)।
असद्विज्ञानवादी—विज्ञान को सत् नहीं माननेवाला।
असमवायिकारण—जो कारण कार्य में समवाय-सम्बन्ध से रहे और उसके नाश होने से ही कार्य का नाश हो, जैसे—पट में दो तन्तुओं का संयोग।
असमवायिकारणासमवेत—असमवायी कारण में समवाय-सम्बन्ध से न रहनेवाला।
असमवायिकारणभिन्नसमवेत—असमवायी कारण से भिन्न में समवाय-सम्बन्ध से रहनेवाला।
असमवेत—समवाय-सम्बन्ध से न रहनेवाला।
असम्प्रज्ञात समाधि योग की अन्तिम समाधि जिसमें ध्येय के अतिरिक्त ध्यान का भी भान नहीं होता।
अस्मिताबुद्धि—अहङ्कारयुक्त बुद्धि
अष्टावधानी—जो आठ काम एक बार करता है।
आत्मयाथात्म्यानुभव—आत्मा का यथार्थ अनुभव।
आत्मैकत्वविज्ञान—सब आत्माओं को एक समझना।
आर्वाचिक—जो प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानता है।
आन्वीक्षिकी—न्याय विद्या।
आमिक्षा—दुग्धनिर्मित पनीर द्रव्यविशेष (छेना)।
आम्नाय—वेद; किसी भी सम्प्रदाय का मूल वाक्य।
आयतन—रहने का स्थान (घर आदि)।
आरम्भक अवयव—जिन अवयवों से कार्य का आरम्भ होता है।
आरम्भवाद—कारण अपने से भिन्न कार्य को उत्पन्न करता है, इस प्रकार का न्यायवैशेषिकीय सिद्धान्त।
आवाप—(द्र० पृ० सं० २४)
आश्रयप्रतियोगी—जिसका अभाव होता है वह प्रतियोगी है और जिसका प्रतियोगी आश्रय हो, वह आश्रयप्रतियोगी है (द्र० पृ० सं० १७)।
आहार्यारोप—भ्रममूलक न होने से हठात् किया जानेवाला आरोप (द्र० पृ० सं० ३)।
इदन्ता—इदम् (यह), इस प्रकार का भाव।
इदन्त्वावच्छिन्न चैतन्य—इदम् अंश में रहनेवाला चैतन्य।
इन्द्रियार्थसन्निकर्ष—इन्द्रियों और विषयों का सम्बन्ध।
इष्टसाधनता—इष्ट के साधन का भाव।

इष्टापत्ति—जो अपना अभिप्रेत है वही होना।

ईश्वरप्रणिधान—कर्म या उसके फल का ईश्वर में समर्पण।

उत्पत्तिप्रध्वंसी—उत्पन्न होते ही नष्ट हो जानेवाला।

उदूखल—यज्ञ में वेदी बनाने का एक प्रकार का साधन।

उपबीज—कारण।

उपन्यास—यज्ञ में रखने का विधान।

उपनय—हेतु का उपसंहार-वचन।

उपमिति—सादृश्य से उत्पन्न यथार्थ ज्ञान।

उपराग—एक प्रकार की छाया; चन्द्र सूर्य का ग्रहण।

उपलब्धि-प्रमाण—जो प्रत्यक्ष उपलब्ध हो।

उपादानोपादेय-भाव—उपादान (कारण) उपादेय (कार्य) का सम्बन्ध।

[illegible]—प्रतीकोपासना; ॐकार प्रतिमा आदि की उपासना।

एकदेशी माध्यमिक—बौद्धों के एक आचार्यविशेष।

औपचारिक षष्ठी – राहोः शिरः आदि प्रयोगों में सम्बन्ध के अभाव में भी होनेवाली षष्ठी विभक्ति।

औपाधिक—उपाधि से युक्त।

काकतालीय न्याय—संयोग से जो काम हो जाता है फिर भी ऐसा लगता है कि अमुक के कारण यह कार्य हुआ। जैसे—एक कौआ उड़ता हुआ एक तालवृक्ष के ऊपर आ बैठा ठीक उसके बैठते ही ताड़-फल टपक पड़ा।

[illegible]—तन्त्र की एक पुस्तक का नाम।

कारणमात्र विभागजविभाग—कारणमात्र के विभाग से उत्पन्न होनेवाला।

प्रधानकारणवाद—प्रधान (अचेतन प्रकृति) को ही जगत् का कारण मानने का सिद्धान्त।

कारणाकारणविभाग—कारण और अकारण दोनों का विभाग। } (द्र पृ सं १६५)
कारणाकारणविभागजविभाग—कारण अकारण दोनों के विभाग से उत्पन्न होनेवाला। } (द्र पृ सं १६५)

कालात्ययापदिष्ट—हेत्वाभास का एक भेद (द्र पृ सं १९६)।

कृतप्रणाश—किये हुए कर्म का फल नहीं प्राप्त होना।

कृतहान—किये हुए कर्म का फल नहीं प्राप्त होना।

गन्धासमवेत—गन्ध में समवाय-सम्बन्ध से न रहनेवाला।

चित्तभूमि—सम्प्रज्ञात समाधि में चित्त की एक अवस्था का नाम, जो मधुमती आदि चार भागों में विभक्त है (द्र पृ स १६६)।

चित्तवृत्ति—चित्त की विषयाकार में परिणति।

चिदाभास—अविद्या पर पड़नेवाला चित् का प्रतिबिम्ब (द्र पृ सं १ ८)।

जगन्मिथ्यात्ववाद—जगत् को मिथ्या मानने का सिद्धान्त।

जडप्रपञ्च—अचेतन सृष्टि।

पिठरपाक—अवयवी में ही पाक होना।
पितृयान—शरीरान्तर में गमन के लिए छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित एक मार्ग।
पीलु—परमाणु।
पीलुपाक—परमाणु में पाक होना।
प्रकृति—जगत् का मूल कारण।
प्रकृति-कैवल्य—प्रकृति का मोक्ष।
प्रतितन्त्रसिद्धान्त—जो समान तन्त्र से सिद्ध हो और दूसरे तन्त्र से असिद्ध हो (प्रत्येक शास्त्रों का स्वतन्त्र सिद्धान्त)।
प्रतिपन्न—जिसे आत्मसाक्षात्कार हो गया है।
प्रतिपत्ति-कर्म—उपयुक्त द्रव्य का विनियोग।
प्रतिबिम्बवाद—अविद्या या माया में जगत् को चित् का प्रतिबिम्ब मानना।
प्रतियोगी—वह वस्तु जिसका अभाव होता है तथा सादृश्य भी।
प्रत्यभिज्ञा—'सोऽयम्' वही यह है इस प्रकार का ज्ञान।
प्रत्ययसमवनिरोध—वह निरोध जिसके होने पर परवैराग्य का उदय होकर आयु तथा भोग का बीज समाप्त हो जाता है (द्र० पृ० सं० २१४)।
प्रत्याहार—विषयासक्त चित्त को अन्तर्मुख करना।
प्रध्वंसाभाव—उत्पन्न होकर नष्ट होनेवाला अभाव।
प्रमाण-प्रमेय भाव—यह प्रमाण है यह प्रमेय है इस प्रकार का व्यवहार।
प्रमाणव्यक्ति—प्रमाण का ही नामान्तर।
प्रमातृ-प्रमेय भाव—प्रमाता (प्रमाण करनेवाला) और प्रमेय (प्रमाण होनेवाला) का भाव।
प्रमिति—प्रमाण से सिद्ध यथार्थ ज्ञान।
प्रमेय—प्रमाण से ग्राह्य।
प्रयाज—यज्ञ का एक विशेष अङ्ग।
प्रातिभासिक—भ्रम से भासित होनेवाला।
प्रामाण्यवाद—प्रामाण्य के विषय में विचार-विमर्श का सिद्धान्त।
बाधात्यन्ताभाव—बाध का अत्यन्त अभाव (बाध न होना)।
बाध्य बाधक भाव—यह बाध्य है यह बाधक है इस प्रकार का भाव।
भूतार्थानुभव—यथार्थ अनुभव।
भेदसामानाधिकरण्य—भेद के साथ एक आश्रय में रहना।
भेदाभास—भेद का भ्रम।
महत्तत्त्व—बुद्धितत्त्व।
मायोपाधिक—जिसमें माया उपाधि लगी है (मायाविशिष्ट)।
मूलप्रकृति—जो किसी से उत्पन्न नहीं है और जिससे समस्त जगत् उत्पन्न है।
मूलाज्ञान—अविद्या।
मूलाधार—योगशास्त्र में प्रसिद्ध, गुदा और लिङ्ग के बीच का स्थान, जहाँ चतुर्दल कमल की भावना की जाती है।

यादृच्छिक—आकस्मिक।

रसेश्वरवादी—पारद आदि के योग से शरीर को अजर अमर बनाना ही जिनका ध्येय है, वे रसेश्वरवादी हैं।

रूपहानि-दोष—जाति का बाधक दोष (द्र० पृ० सं० १५१)।

लिङ्गशरीर—पञ्चभूत, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय मन और प्राण इन १५ तत्त्वों को लिङ्ग या सूक्ष्मशरीर कहते हैं।

लीलाशरीर—ईश्वर के अवतारिक शरीर का नाम।

विज्ञानवादी—बौद्धों की एक शाखा (जो विज्ञान को ही जगत् का कारण मानता है)।

विज्ञान-सन्तति—विज्ञान की धारा।

विज्ञानस्कन्ध—बौद्धों के पञ्चस्कन्धों में एक का नाम।

विज्ञानावयव—विज्ञान का अवयव।

विधिमुखप्रत्यय—जिसका अभावार्थक न आदि शब्दों से उल्लेख न किया जाय।

विप्रतिपत्ति—संशय।

विवर्तवाद—अध्यास (भ्रम) का दूसरे रूप में भासित होना।

विशेषाधिकरण—विशेष का आधार।

वैभाषिक—चार प्रकार के बौद्ध दार्शनिकों में एक, जो मूल त्रिपिटक की विभाषा को प्रमाण मानता है।

व्यतिरेक-व्याप्ति—कार्य के अभाव में कारण का अभाव जैसे—जहाँ आग नहीं है वहाँ धूम भी नहीं है।

व्यत्यय—वैपरीत्य।

व्यधिकरण—एक अधिकरण (आधार) में न रहनेवाला।

व्यभिचार—हेतु का दोष।

व्यष्टिलिङ्गशरीर—प्रत्येक प्राणी का पृथक् पृथक् लिङ्गशरीर।

व्याघात-दोष—वह दोष जिससे वस्तु की सत्ता का उसी वस्तु के कथन द्वारा विरोध किया जाय; अपनी बात से अपनी ही बात का विरोध; जैसे—कोई कहे कि मेरे मुँह में जीभ नहीं है।

व्याप्ति—जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य है इस प्रकार के साहचर्य का नियम।

व्याप्यजाति—वह जाति जो अल्प देश में रहे, जैसे—प्राणिमात्र में रहनेवाली प्राणित्व जाति की अपेक्षा केवल मनुष्य में रहनेवाली मनुष्यत्व-जाति।

व्याप्य-व्यापक भाव—व्याप्य और व्यापक का सम्बन्ध।

व्यावर्त्य—व्यावृत्ति के योग्य।

व्यावृत्ति—निराकरण।

शतावधानी—अनेक कामों को सावधानी से एक समय करनेवाला।

शाखाच्छेद—एक वर्जित कर्म की संज्ञा।

शब्दवाद—स्फोटवाद।

शून्यवादी—शून्य माननेवाले बौद्ध।

श्रावण प्रत्यक्ष—श्रोत्र इन्द्रिय से शब्द का ग्रहण।

श्रौत—श्रुति को मुख्य प्रमाण माननेवाला; श्रुति से सिद्ध वस्तु।

सखण्डोपाधि—जिससे जाति का ज्ञान होता है वह उपाधि है। यह दो प्रकार की है—अखण्ड और सखण्ड। सखण्ड नित्य और अनित्य दोनों होता है जैसे—शरीरत्व आदि।

सत्कारणवाद—जगत् के मूलकारण को सत् मानने का सिद्धान्त।

सत्कार्यवाद—कार्यमात्र को सत् मानने का सिद्धान्त।

सत्ख्यातिवाद—समस्त भ्रमस्थलों में सत्पदार्थ का ही भासमान मानने का सिद्धान्त, (द्र० पृ० सं० ५८)।

सत्प्रतिपक्ष—एक हेत्वाभास (जिस हेतु का प्रतिपक्ष हेतु वर्तमान हो) (द्र० पृ० सं० १९५)।

सत्यमिथ्यात्वावभास—विवर्त (अध्यास) का पर्याय (द्र० पृ० सं० १९२)।

सत्ताजाति—द्रव्य गुण और कर्म इन तीनों में रहनेवाले सामान्य धर्म का नाम।

सत्तावाली—जिसकी सत्ता वर्तमान है जैसे—मृत्तिका आदि पदार्थ।

सप्रतियोगिक—जिसका कोई प्रतियोगी हो।

समवाय-सम्बन्ध—गुण और गुणी; क्रिया और क्रियावान्; जाति और व्यक्ति के बीच होनेवाला सम्बन्ध।

समवेत—जो समवाय-सम्बन्ध से कहीं रहता हो या जिसमें दूसरा कोई धर्म समवाय सम्बन्ध से रहता हो।

समवायान्तर—अन्य समवाय।

समवायिकारण—उपादान-कारण का नाम जो कार्य के साथ रहता है जैसे—मृत्तिका घट के और सूत वस्त्र के साथ।

समवायिकारणासमवेत—समवायी कारण में समवाय-सम्बन्ध से न रहनेवाला।

समानाधिकरण—एक अधिकरण में रहनेवाला।

सर्वतन्त्रसिद्धान्त—जो सर्वमान्य है; किसी शास्त्र से विरुद्ध नहीं।

साक्षाद्व्याप्य—जो परम्परया व्याप्य न होकर साक्षात् व्याप्य हो।

साक्षिचैतन्य—द्रष्टा चैतन्य।

साक्षिभास्य—साक्षी (चैतन्य) से भासित होने योग्य।

साक्षी—चैतन्य।

साध्य-साधक भाव—साध्य और साधक का सम्बन्ध।

साध्य साधन भाव—साध्य और साधन (हेतु) का सम्बन्ध।

साध्याभाववद्वृत्ति—साध्य के अभाव में रहनेवाला।

सामानाधिकरण्य—एक अधिकरण में रहनेवाले का भाव (धर्म)।

सामान्यनिबन्धन—सामान्य जानकर होनेवाला।

सामान्यविशेष समवाय—नैयायिकों का पदार्थ-विचार (द्र० – न्याय दर्शन-प्रकरण)।

सास्मित समाधि—जिस समाधि में जीव और ईश्वर-स्वरूप का जड़ से भिन्न आत्माकार रूप साक्षात्कार होता है, वही सास्मित समाधि है। उस समय 'अस्मि' इतीका मान होता है इसलिए वह सास्मित है।

सौत्रान्तिक—मूल त्रिपिटक-सूत्र का प्रमाण माननेवाला बौद्ध सम्प्रदाय।

संघातवाद—कारण अपने से भिन्न कार्य को उत्पन्न करता है, इस प्रकार का सिद्धान्त।

संयोग-सम्बन्ध—दो संयुक्त वस्तुओं का सम्बन्ध।

संसर्गप्रतियोगी—सम्बन्ध का प्रतियोगी (जिसका सम्बन्ध हो)।

संसार-दशा—व्यवहार-दशा।

स्कन्ध—बौद्धों के पञ्च स्कन्ध—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान।

स्थूलारुन्धती-न्याय—स्थूल पदार्थों के ज्ञान के द्वारा ही सूक्ष्म पदार्थ का ज्ञान कराया जाना जैसे—सूक्ष्म अरुन्धती (तारा) के ज्ञान कराने के लिए पहले स्थूल वशिष्ठ (तारा) का ही दिखाया जाता है। स्थूल के द्वारा सूक्ष्म का ज्ञान कराना न्याय का भाव है।

स्वतःप्रमाण—जिसमें प्रमाणान्तर की अपेक्षा न हो।

स्वभाववादी—सृष्टि में स्वभाव का ही कारण माननेवाला।

स्वारसिक—यथार्थ मौलिक।

ज्ञातृज्ञेय भाव—ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध।

ज्ञानसन्तान—ज्ञान की सन्तति (धारा)।

ज्ञानाध्यास—मिथ्याभूत ज्ञान का आत्मा में अध्यास (द्र० पृ० सं० १६१)।

अनुक्रमणिका

आ

क

ग

घ

च

फ

ब

भ

म